प्रकाशक : प्राप्तिस्थान

चन्दुलाल जमनादास शाह

संचालक, श्रीलब्धिसूरीश्वर जैन ग्रन्थमाला

छाणी (जि. बडोदरा)

मुद्रक :

लक्ष्मीबाई नारायण चौधरी

निर्णयसागर प्रेस

२६–२८ कोलभाट स्ट्रीट,

मुंबई नं. २

English Foreward Printed by Sharad Krishnaji Sopale
at the Ramkrishna Printing Press, Rukmini Niwas,
Morbaug Road, Dadar Bombay 14

Shri Labdhisurishwar Jain Granthamala No 44

THE
DVADASHARANAYACHAKRAM

OF

SRI MALLAVADI KSHAMASRAMANA

WITH

THE NYAYAGAMANUSARINI COMMENTARY

BY

SRI SIMHASURIGANI VADI KSHAMASRAMANA

PART IV

Edited with
Critical Introduction, Index & Vishamapadavivechana

BY

ACHARYA VIJAYA LABDHI SURI

PUBLISHED BY
CHANDULAL JAMANADAS SHAH

SECRETARY SHRI LABDHI SURISHWAR JAIN GRANTHA MALA
CHHANI (DIST BARODA)

FIRST EDITION [illegible] COPIES

A D 1960] PRICE 6 RUPEES [*V S 2016*

धन्यवाद अने आभार

जैन तर्कशास्त्रना अतिमहत्त्वना आ ग्रन्थरत्न श्रीद्वादशारनयचक्रना त्रण भागो विद्वान् वाचकवर्गना करकमलमां सादर समर्पित कर्या पछी तेना आ चतुर्थ विभागने, प्रकाशित करतां हर्षातिरेकथी पुलकित थईए ए स्वाभाविक छे. प्रस्तुत विभागना प्रकाशन साथे, आ ग्रन्थना प्रकाशननुं भगीरथ कार्य परिपूर्ण थाय छे आ ग्रन्थरत्नमां रहेली विशिष्टता अने खूबीओनो परिपूर्ण परिचय पामवानुं सर्वने सुगम थाय छे मुद्रणकार्यमां वपराता कागळो आदि साधन सामग्री अने मुद्रणना नित्य वधता भावो वच्चे पण अमे आना मुद्रणनुं धोरण साचवी शक्या छीए ते पण गौरव लेवा जेवी हकीकत छे आ संपूर्ण ग्रन्थना मुद्रण माटे उदार द्रव्य साहाय्य करनार सुरतना जैन श्रीसंघना अमे आभारी छीए आ भागना मुद्रण दरमियान प्राप्त थयेली साहाय्य माटे उदारचित्त श्रुतप्रेमी साहाय्यकोनी नामावली आ नीचे आपवा साथे, तेओ सर्वनो धन्यवाद अर्पण करवा पूर्वक आभार मानीए छीए साहाय्य माटे प्रेरणा आपनार गुरुभक्त पूज्यश्री पू. उपाध्यायजी श्रीकमलविजयजी गणिवरनो पण अमे अनेकशः उपकार मानीये छीए

उदारचित्त धर्मभावुक श्रद्धेय शेठ श्री रमणलाल दलसुखभाई श्रॉफ, श्रुतभक्तिना अमारा सत्कार्यमां, औदार्यपूर्ण साहाय्य अनेकशः करी रह्या छे अमो तेओश्रीनी भूरि भूरि अनुमोदना करीए छीए

साहायक सज्जनोनां शुभनामो :

५०१ जैन श्रीसंघ — छाणी
[ज्ञानद्रव्यनी उपजमांथी]

५०१ इडरना श्राविकाओना उपाश्रयनी उपजमांथी — इडर
[पू. तपस्वी साध्वीजी श्रीसुलसाश्रीजीनी प्रेरणाथी]

३०१ श्री शान्तिनाथ जैन पेढी — जलालपोर
[ज्ञानद्रव्यनी उपजमांथी]

१०१ जैन श्रीसंघ — धर्मज
[ज्ञानद्रव्यनी उपजमांथी]

१०१ जैन श्रीसंघ — शाहपुर
[ज्ञानद्रव्यनी उपजमांथी]

५१ शा बाबुभाई उत्तमचंद वसणवाळा
[साध्वीश्री जिनेन्द्रश्रीनी पांचसो आयंबिलनी तपश्चर्या निमित्ते.]

— प्रकाशक

जैनरत्न, व्याख्यान वाचस्पति, कविकुलकिरीट, सूरिसार्वभौम

जैनाचार्य श्रीमद्विजयलब्धिसूरीश्वरजी महाराज

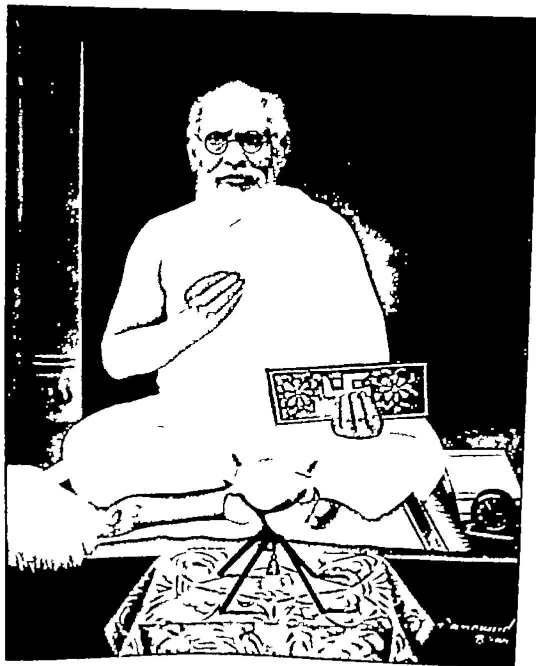

Jainacharya Shrimad Vijaya Labdhisurishwaraji Maharaj
Editor of Dvadashara Nayachakra

॥ अर्हम् ॥

प्राक् कथन

स्याद्वादनी विशिष्टता—जैनदर्शन एटले सर्वसापेक्ष दृष्टिओनुं केन्द्र स्थान। जगतनी आत्मवादमां माननारी सघळी विचार पद्धतिओनो वास्तविक समन्वय एमां थयेलो छे। तलस्पर्शी अध्ययन करवाथी एनुं अनन्त ऊंडाण स्पष्ट बने छे। जगतना प्रत्येक दर्शननी तटस्थ विवेचना एमां समाएली छे। एक न्यायाधीशनी जेम जैनदर्शन अत्यन्त चोकसाई पूर्वक तटस्थ पणे प्रत्येक दर्शनने न्याय आपे छे। एकान्त आग्रहना कारणे अन्य दरेक दर्शनमां प्रतिपक्षिदर्शनोने न्याय आपवामां आव्यो नथी। जैन दर्शन एकान्तमां न अटवातां मध्यस्थपणे जे अपेक्षाए जेनी वात साची होय ते अपेक्षाए तेनी वात स्वीकारी प्रत्येक दर्शनने पूरतो न्याय आपे छे। घी बधा ज माटे आरोग्यप्रद छे आ एकान्त—एकान्त एटले असत्य अथवा अर्धसत्यनी सत्यरीके भ्रमणा तेमज प्ररूपणा, घी पचावी शकनार माटे आरोग्यप्रद छे अने तेने न पचावी शकनार माटे ते आरोग्यप्रद नथी एज अनेकान्त—अनेकान्त एटले ज्यां ज्यां जे सत्य होय त्यां त्यां तेनो स्वीकार अने समर्थन, पचावी शकनार माटे घी आरोग्यप्रद छे ए वात जेटली साची छे तेटली ज साची वात पचावी न शकनार माटे घी आरोग्यप्रद नथी ते छे। आ बन्ने अपेक्षाओ यथार्थपणे समजी न शकनार घीनो यथायोग्य उपयोग नहीं करी शके तेमज करावी पण नहीं शके अने स्व-पर ने हानी करी बेसशे। घीनुं उदाहरण स्थूल भूमिकापर छे पण तेनाथी सिद्ध थती हकीकत सूक्ष्म भूमिकापर पण एटली ज साची छे, एक अपेक्षा स्वीकारी बीजी अपेक्षा प्रत्ये तिरस्कार सेवनारनी गणत्री आग्रहीमां थाय छे अने आग्रही सत्यशोधक बनी शकतो नथी। सत्यनी शोध अनेकान्तद्वारा ज शक्य बने छे। अनेकान्तवाद जैनदर्शननी विशिष्टता छे। जैनदर्शन एकान्ते कोई पण दर्शननुं खंडन कर्या वगर, जे जे अपेक्षाए जे जे दर्शननी वात सत्य होय ते ते अपेक्षाए ते ते दर्शननी वात स्वीकारी सर्वने न्याय अने आवकार आपे छे, आ एनी अप्रतिम विशाल दृष्टि अने उदारतानुं प्रतीक छे। एनी आ सूझीने अन्य कोई पण दर्शन स्पर्शी पण शक्युं नथी। जगतने विनाशना पंथे दोरी रहेला वादविवादो एकान्तना आग्रहमां होवाथी अन्यवादोने समजवा असमर्थ छे त्यारे जैनदर्शननी अनेकान्त दृष्टि ते सर्वने शान्तिपूर्वक समजवा समर्थ छे। अनेकान्तवाद अपनाववाथी आजे पण जगत न्याय, शान्ति अने सुखनुं महान साम्राज्य स्थापी शके छे।

नयनी व्याख्या—अनेकान्तवादनो एक भाग नय छे, नय 'नी' धातुथी बनेलो एक शब्द छे। नीयते प्राप्यते अर्थः अनेन इति नयः, आ छे एनी व्युत्पत्ति। हवे आपणे एनो रहस्यार्थ जोईए। प्रत्येक पदार्थना अनन्त धर्मो छे, जुदी जुदी दृष्टिए आ धर्मो जुदा जुदा छे। धर्मोनो इष्टधर्म समजवा माटेनी दृष्टि-विशेष ते नय। प्रत्येक नय बे प्रकारे छे, नय अने दुर्नय। एक पदार्थना चोक्कस धर्मनुं प्रतिपादन तेना अन्य धर्मोनी उपेक्षा कर्या वगर करे त्यारे ते नय कहेवाय छे अने निषेधपणे करे त्यारे ते दुर्नय कहेवाय छे। जेम कोई कहे के 'वस्तु सद्रूप ज छे' ते वाद दुर्नय छे केमके ते वादमां असद्रूपतानो निषेध करीने मात्र सद्रूपताने ज बताववामां आवे छे। अने 'वस्तु सत् छे' एम कहेवामां आवे ते वाद नय छे कारण तेमां असद्रूपतानो निषेध करातो नथी।

नय अने प्रमाणमां अर्थ भेद—वस्तु अनन्तधर्मात्मक छे। ते वस्तु एक धर्मद्वारा पण जाणी शकाय छे, अने अनेक धर्मद्वारा पण जाणी शकाय छे। अनेक धर्मद्वारा वस्तुनुं जे ज्ञान कराय ते प्रमाण कहेवाय छे। एक धर्म द्वारा वस्तुनुं जे ज्ञान कराय ते नय कहेवाय छे। ते बन्नेथी वस्तुनुं ज्ञान थाय छे। 'प्रमाणनयैरधिगमः' (तत्त्वार्थ १–६) प्रमाणथी वस्तुनुं परिपूर्ण ज्ञान थाय छे, नयथी एक अंशनुं ज्ञान थाय छे अने वस्तुतत्त्वज्ञानमां उपयोगी छे। वस्तुनुं परिपूर्ण स्वरूप दर्शावनार प्रमाण छे, आंशिक स्वरूपने दर्शावनार नय छे। नयो एकान्तवादरूप होवाथी जगतने माटे अनुपयोगी छे। जगतने उपयोगी त्यारे ज बने के द्रव्य क्षेत्र काळ अने भावथी तेनी नाना अवस्थाओनो विचार करवामां आवे। ते ज विचार अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद कहेवाय छे। जगतनो व्यापक होवाथी स्याद्वाद जैनवाद पण कहेवाय छे। आ ज सार नयचक्रनो अभिप्राय छे; एम स्थाने स्थाने अने अन्तमां सुन्दर रूपथी निरूपण करी जैन शासननी सत्यता साबित करी छे।

चक्रनी उपमा अने नयचक्रनी उत्कृष्टता—आ ग्रन्थरत्नुं 'नयचक्र' नाम अन्वर्थ ज छे। सर्वोपरि चक्रवर्ती अवस्था पहेलां जेम समस्त भारतना राजवीओने जीती ले छे कारण के चक्ररत्न जेनी पासे होय तेनो पराजय कोई करी शकतुं नथी—ते सदा विजयी ज रहे छे आ ग्रन्थरत्न पण एवुं ज छे। जेम शस्त्रयुद्धमां चक्ररत्न श्रेष्ठ छे तेम शास्त्रयुद्धमां आ नयचक्ररत्न श्रेष्ठ छे। चक्ररत्नथी राजा महाराजाओमां चक्रवर्ती कहेवाय छे। तेम आ नयचक्रथी वादिओमां चक्रवर्ती थवाय छे। सामर्थ्यनी आ समानता सिद्ध करवा ज प्रस्तुत ग्रन्थरत्नने नयचक्र नाम आपवामां आव्युं हशे एम अनुमान करी शकाय। नयचक्रकार पण ग्रन्थना अन्तमां एम कहे छे के 'जेम चक्रवर्तिओने चक्रवर्तिपणुं प्राप्त करवा माटे चक्ररत्ननी आवश्यकता पडे छे तेम वादि चक्रवर्तिपणाने मेळववा माटे आ नयचक्ररत्ननी आवश्यकता छे। वळी ध्यानपूर्वक जोतां तो ए छे के सामर्थ्यनी अपेक्षाए एनी अने चक्ररत्ननी बन्ने जेवी साम्यता छे तेवी ज साम्यता रचनानी अपेक्षाए एनी अने जैन दर्शनमां काळनी गणत्री माटे स्वीकारेला कालचक्रनी बन्ने छे। नयचक्रमां आर आर छे, कालचक्रमां पण आर आर छे। जेम नयचक्रमां द्रव्यार्थिक अने पर्यायार्थिक एम बे विभाग छे तेम कालचक्रमां पण उत्सर्पिणी अने अवसर्पिणी एम बे विभाग छे। कालचक्रना आ बन्ने विभाग छ छ आराने धरावे छे। ते क्रमसर एक पछी एक अभिक्रमणे आस्वाद करे छे। तेथी नयचक्रने सामर्थ्यनी अपेक्षाए चक्ररत्ननी अने रचनानी अपेक्षाए कालचक्रनी उपमा यथार्थ पणे घटे छे। चक्ररत्नना धारक महासमर्थ चक्रवर्ती उपर संसारमां कोई पण विजय पामी शकतुं न होवा छतां कालचक्र एने सहजमां भरखी जाय छे तेथी चक्ररत्न करतां कालचक्रनी अधिकता सिद्ध थाय छे पण [बन्नेमां] नयचक्ररत्न सर्वोपरि छे। ते फक्त सर्वप्रकारना वादीओनो ज विजय नथी अपावतुं पण जन्ममरणमांथी आत्माने मुक्त करी कालचक्रनी असरथी आत्माने पर करी तेना पर पण विजय प्राप्त करावे छे।

आ ग्रन्थरत्न जैन न्याय ग्रन्थोमां अनन्य छे। तत्त्वनिर्णय करवा माटे नयोनी अति सूक्ष्म विचारणा करतो होवा छतां सुगम रचनाशैलीनो महान् ग्रन्थ बीजो एक पण नथी। आ ग्रन्थकारना नामे 'यदैव केवलज्ञानं तदैव दर्शनम्' ए मत खास प्रचलित छे आ वात केम प्रचलित थई ए प्रश्न ज बनी रहे छे। प्रस्तुत ग्रन्थमां केवलज्ञानो

१ १ ११६, ११११ ११ १

निर्देश आवतो होत छतां तेओथी आ मतांतरने स्पर्श्या पण नथी। तेमणे नथी तो कर्युं सिद्धसेनदिवाकरसूरि महाराजना मतनुं खण्डन के नथी कर्युं जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणना मतनुं खंडन केवलज्ञान अने केवलदर्शन विषे मल्लवादिसूरिमहाराजनो मत जुदो पडे छे ए स्पष्टता टीकाकारे पण करी नथी। हरिभद्रसूरिजी महाराजना समयमां आ मतान्तर प्रचलित होत छतां मल्लवादि सूरिजी महाराजना नामे एनी प्रसिद्धि न हती, अतः आ विषय विद्वानो माटे शोधखोळनो बनी रहे छे।

ग्रन्थकारना नामे चालता प्रवादोः—मल्लवादिसूरिमहाराज पोते हेत्वाभासनुं शुं माने छे ते बाबतो उल्लेख पण तेमणे आ ग्रन्थमां कर्यो नथी। आ ग्रन्थमां तेओश्रीए वस्तु तरीके नयवाद अने स्याद्वादने स्वीकारी मुख्यत्वे तेनी ज विचारणा करी छे। आ ग्रन्थमां जैनदर्शन केटला पदार्थ माने छे, केटला प्रमाणना हेतुओ माने छे, केटला हेत्वाभास माने छे, इत्यादि कशीज चर्चा विशेषकरीने आवती नथी अने ज्यां ज्यां प्रमाणो के हेतुओनी चर्चा करवामां आवी छे त्यां त्यां फक्त अमुक नयवादने आश्रयीने ज करवामां आवी छे। ए उपरान्त मल्लवादिसूरिमहाराजना नामे अमुक नयो द्रव्यार्थिक छे अने अमुक नयो पर्यायार्थिक छे ए भेद पाडवामां आव्या छे। आ बधा गुणनाडा मल्लवादिसूरिमहाराजनो कोई स्वतंत्र ग्रन्थ होय एम अनुमान करवा प्रेरे छे। अथवा सम्मतितर्कनी तेमणे पोते रचेली व्याख्यामां पण कदाच होय! तो ज आ बधा अभिप्रायो संगत बने! आ नयचक्रमां तो द्रव्यार्थिक छ अरोनो व्यवहार, संग्रह अने नैगममां पर्यायार्थिक छ अरोनो ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ अने एवम्भूतमां समावेश कर्यो छे।

नामनी यथार्थता तथा ग्रन्थनी रचनापद्धतिः—नयवादनो छेडो आवी शकतो नथी, एनी न आदि छे न अन्त। एक चक्रनी जेम ते सदा फरतो रही खण्डन अने मण्डन कर्याज करतो होवाथी ग्रन्थकार महर्षिए एनी रचना चक्राकारे करी एने नयचक्र एवुं यथार्थ नाम अर्पण कर्युं छे। आ नयचक्ररत्नमां बार अर छे। प्रत्येक बे अर वच्चे एक अन्तर एम बार अन्तर छे। प्रत्येक चार अर पर एक नेमि [मार्ग] एम त्रण नेमि छे। अने छेल्ले सघळा अरोने पोतानामां समावनारुं—खरेखर तो सघळा अरोनुं अने आगळ वधीने कहिए तो समग्र चक्रनुं आधार स्थान एक तुम्ब छे। प्रत्येक अर एक स्वतन्त्र नयवाद छे। आ चक्रमां छ अर द्रव्यार्थिकदृष्टिविशेषना छे अने बीजा छ अर पर्यायार्थिकदृष्टिविशेषना। प्रथम एक नयनो आधार लईने सामान्य, विशेष अने सामान्यविशेषोभयवादिओना वादो तेनामां आव्या छे। ते पछी तेनुं खण्डन के बे दर्शावता अन्तरनी रचना करवामां आवी छे—पछी अन्य नयमत शरू करवामां आवे छे। ए अन्यनयमत प्रथम बीजा वादिओना मतमतांतरोनुं अन्तरमां खण्डन करी करी पोताना मतविशेषनुं निरूपण करे छे। ते ते अरना अंते ग्रन्थकारे ते ते नय (अर)नो संग्रहादि सात नयोमां कया नयमां समावेश थाय छे, ते बतावीने ते नयने सम्मत शब्द, वाक्य तथा तदर्थने बतावी ते ते नयनो मूळ आधार जैन आगम छे एम निरूपण कर्युं छे। एटले बधा नयो आगमना एक एक वाक्यना विषयने लईने पोताना अभिप्राय मुजब एकान्त वर्णन करे छे एम दर्शाव्युं छे। द्रव्यार्थिक छ नयोमां द्रव्यशब्द अने पर्यायशब्दनो जुदो अर्थ दर्शाववामां आव्यो छे,

१ 'अभिद निउभिम विसो मन्दारणि । २ द्रव्यगुणपर्यायरास १ ७। नी गोमतीपा। ३ १ व्यवहार नय, २, ३ ४ संग्रहनय ५, ६ नैगम ७ ऋजुसूत्र ८, ९ शब्दनय १० समभिरूढनय ११-१२ एवम्भूतनयमां आवे छे।

एम पर्यायार्थिक छ नयोमां पण । आम बारमो नय पूर्ण थया पछी तेनुं उत्तर (खण्डन) गमे ते नय करी शके छे । ते नयनुं पण उत्तर तेना पछीनो नय, एवी रीते खण्डन मण्डन चाल्या करे छे । तेनो अन्त आवतो नथी माटेज तेने चक्र कहेवामां आव्युं छे ।

स्याद्वादरूपी तुम्ब—आ बधा नयोनी तमाम युक्तिओने अवगणित भावथी रजूकरनार स्याद्वादरूपी तुम्बनी रचना करवामां आवी छे जे बारे आर नयोनो (आरोनो) आधार छे । ए तुम्ब सिवाय नयो टकी शकता नथी एम सुस्पष्ट अनेक हेतुओ द्वारा निरूपण करवामां आव्युं छे । आ तुम्बस्वरूप स्याद्वाद विना कोई नय टकी पण शकतो नथी । अन्योन्यसम्बन्धाभावे परस्पर विरोधथी प्रहत थई जाय छे । आ विरोधने टाळीने स्याद्वाद बधा नयोनुं रक्षण करे छे एटले आ स्याद्वाद जोतमे आखीय नयमालामां समर्थ बधा नयवादीओनो परमेश्वर छे केम के परस्पर नयोनो एकान्तस्वरूप विरोध दूर करीने एकीकरण करे छे । आ एकीकरण स्याद्वादज करी शके छे । आ स्याद्वादने अनुसरीने नयो वस्तुनुं निरूपण करे तो ज ते प्रमाणमां स्थान पामी शके छे । स्वतंत्रपणे निरूपण करे त्यारे एकान्त पक्षवादी मिथ्या थाय छे । आम ग्रन्थकारे नयोनुं निरूपण करतां स्थाने स्थाने दर्शाव्युं छे ।

प्रस्तुत ग्रन्थनुं नाम—मूळकारे तथा टीकाकारे ठाम ठाम नयचक्र नामनो ज विशेष उपयोग कर्यो छे । द्वादशारनयचक्रनामनो उल्लेख क्वचित ज करेलो जोवामां आवे छे । एटले सम्भव छे के 'द्वादशारनयचक्र' नाम ज ग्रन्थकारने अभिप्रेत हशे अने उच्चारणनी सुगमता खातर नयचक्र नाम प्रचलित थयुं होय ! सम्मतितर्कनयचक्राध्ययनमांथी उद्धृत आ नयचक्रने तेनाथी जुदुं पाडवा माटे द्वादशारनयचक्र आवुं नामकरण करवामां आवे ए सुसम्भवित छे । मलधारी हेमचन्द्राचार्यमहाराजे पण अनुयोगद्वारनी टीकामां 'इदानीमपि द्वादशारं नयचक्रमस्ति' आ प्रसंगे द्वादशारनयचक्रनुं ज नाम लीधुं छे । आ समय सुधी तो आ ग्रन्थ विद्यमान हशे । द्वादशारनयचक्रनामनो ज व्यवहार हशे ! खुद ग्रन्थकार पण आ ग्रन्थने द्वादशारनयचक्र ज कहे छे । टीकाकार पण ग्रन्थने 'द्वादशारनयचक्रे सिंहप्रतिष्ठिते' आवुं ज नाम आपे छे । गुणरत्नसूरिए षड्दर्शनसमुच्चयनी वृत्तिमां तथा जिनप्रभसूरिए जिनागमस्तवमां नयचक्रवाल नाम आप्युं छे, पण ऊपरना प्रमाणो जोतां ते बराबर लागतुं नथी । आ नयचक्रशास्त्रविषयनी व्याख्यानी एकज प्रतमां प्रतिलिपि करनार, जे प्रतिलिपि (नकल) आजे प्राप्त थती बधी ज प्रतियोनो आधार छे, एवा महान् उपकारी तार्किकचूडामणि परमपूज्य उपाध्याय श्रीयशोविजयजी महाराज पण द्वादशारनयचक्र नामनो ज उल्लेख करे छे ।

नयोनी सत्यासत्यता—जेमके आ नयचक्रनो प्रधानविषय आ ज छे 'विधिनियमभङ्गवृत्तिव्यतिरिक्तत्वादनर्थकवचोवत् । जैनादन्यच्छासनमनृतं भवतीति वैधर्म्यम् ॥' आ सूत्ररूप कारिकामां आ ज वस्तु कहेवामां आवी छे । विधि अने नियमना आधारे बार भङ्ग थाय छे । ते बार भङ्ग बार नय

---

१ तुम्ब तुम्ब आधार छे. आरो आधारभूत होई शकतां नथी. ... बधा चक्र योजवामां आवे छे. ग्रन्थकारना समयमां आम ज हशे । नहीं तो ग्रन्थकारे जेने ज पाछळ स्वतन्त्र रचना करी होय । २. नयचक्र पृ. १४। ३ १ विधि २, विधिविधि ३ विध्युभयं ४ विधिनियमः ५ उभयं ६ उभयविधि ७ उभयोभयं ८ उभयनियमः ९ नियम १० नियमविधि ११ नियमोभयं १२ नियमनियमः इति ।

(आर छे) ते बधा परस्परनिरपेक्ष थईने अजैनशासननी पेठे विचार करे तो असत्यार्थने प्रकाश करनारा होवाथी असत्य छे । अने ते बधा परस्पर मळीने अविरोधपणे विचार करे तो ते जैनशासन होवाथी सत्य छे । केमके वस्तु सामान्यविशेषाद्यनन्तधर्मात्मक छे । ते ज रूपे बधा नयोए मळीने सापेक्षपणे विचार करवो जोईए सापेक्ष निरपेक्ष विचार ज ग्रन्थकारे आ ग्रंथमां दर्शाव्यो छे । आ ग्रन्थमां कोई पण स्थळे नय अने दुर्नयना भेदनी विचारणा करी नथी, फक्त नयोनी विचारणा करी छे । जो के संमतितर्कमां सिद्धसेन दिवाकरसूरि म. ना ग्रन्थमां आ भेद जोवामां आवे छे । छतां मल्लवादि सू० म. आ भेदोने केम स्थान नथी आप्युं ? आ एक महत्त्वनो प्रश्न छे । आ बार आर विधि अने नियमना भङ्ग छे । प्रथम चार आर विधि भङ्ग छे । आ एक मार्ग (नेमि) छे । आगळना चार आर उभय भङ्ग छे आ द्वितीय मार्ग छे । शेष चार आर नियम भङ्ग छे, आ तृतीयमार्ग छे । आ मार्ग [illegible]स्वरूप हेतुओ द्वारा नित्यत्व-नित्यानित्यत्व-अनित्यत्वनी स्थापना करे छे । आ बार नय ज्यारे एकमत थईने परस्पर-अपेक्षा राखीने वर्तन करे छे—'स्यान्नित्यः, स्यान्नित्यानित्यः, स्यादनित्य शब्दः', एवी प्रतिज्ञा करे छे, त्यारे परिपूर्ण अर्थना प्रकाश करावनार होवाथी सम्यक्स्वरूपने बतावनार थाय छे एम नयचक्रना तुम्बमां विवेचन करवामां आव्युं छे । आ ज नयचक्रशास्त्रनुं मुख्य प्रतिपाद्य छे ।

ग्रन्थकर्ता अने तेमनी महत्ता—आ ग्रन्थना रचयिता वादिचूडामणि मल्लवादिक्षमाश्रमणजी छे । जैन न्यायशास्त्रमां आ आचार्यश्री ख्यातनामा छे । नयचक्र टीकाकार कहे छे के—"जयति नयचक्रनिर्जितनिःशेषविपक्षचक्रविक्रान्ताः । श्रीमल्लवादिसूरिर्जिनवचननभस्तलविवस्वान् ॥१॥" अर्थात् नयोना चक्ररूप सुदर्शनचक्रवडे जेमणे समग्रए स्याद्वादना विरोधीओने पराजय आप्यो छे, ते जिनवचनरूपी आकाशमां सूर्य जेवा मल्लवादिसूरि म० जयवंता छे । आ श्लोकमांथी श्रीमल्लवादिसूरि म० नयचक्रना कर्ता छे, वादिओने जीतनार छे अने जिनवचनना प्रकाशक छे, अर्थात् ते समयमां वर्तमान जिनागमोना रहस्यना सम्यक् वेत्ता अने प्रकाशयितृ हता । आ आचार्य पोतानी तर्ककुशळ बुद्धिद्वारा जैन जगतमां अति विख्यात छे । पोताना मतनी सिद्धिमाटे युक्तिओना एक अतिसुन्दर दुर्भेद्य व्यूहनी उपस्थिति करी प्रखरवादिवृन्दोने वादयुद्धमां जीती ले छे । आ वात एमना सर्वश्रेष्ठ महत्त्वपूर्ण आ ग्रन्थथी सारी रीते जाणी शकाय छे । एमनी विद्वत्ता जेम परपक्षनुं निराकरण करवामां कुशळ हती, तेम एमनी लेखनी पण स्वपक्षना मण्डनमां हुनागनीपी चाले छे ।

रचनानो आधार—आ आचार्यश्रीना जन्मस्थान आदिनुं इतिवृत्त प्रभावकचरित्र आदि अनेक ग्रन्थोमां उल्लिखित होवाथी वाचकोने त्यांथी ज जाणी लेवा विनंति करीए छीए । तेओश्रीए प्रस्तुत ग्रन्थनी रचना कोना आधारे क्यां अने क्यारे करी ते विषयमां सामग्रीनो अभाव होवाथी कशुं ज कही शकता नथी । छतां एनो मूळ आधार 'सप्तनयशतार' आदि ग्रन्थो हशे एम लागे छे । ते ग्रन्थो मूळग्रन्थना समयमां हता एम जाणी शकाय छे, परंतु मूळकारे एनो आधार आज छे एम स्पष्टपणे सूचव्युं नथी एटले निश्चयथी ते ज आधार छे एम केवी रीते जाणी शकाय ? आ नयचक्र 'पूर्वमहोदधिसमुत्थितनयप्राभृततरङ्गागमप्रभ्रष्टसिद्धार्थसंग्रहमात्र' छे एम कहीने प्रमाण अने आगमपरम्परा मूलक आ नयचक्र छे एटलुं ज मूळकारे कह्युं छे ।

तेमना स्तावको–आ शासनप्रभावक शक्तिसम्पन्न महापुरुषना नामनो उल्लेख सर्वप्रथम हरिभद्रसूरि म. श्री अनेकान्तजयपताकामां तथा योगबिन्दुनी स्वोपज्ञटीकामां देखाय छे। शान्तिसूरिमहाराजे तो न्यायावतारवार्त्तिकनी वृत्तिमां मल्लवादिसूरिमहाराजनी एक काव्यमां पण अद्भुतस्तुति करी छे। अने वादिवेताल–शान्तिसूरिकृत उत्तराध्ययनसूत्रनी प्राकृत टीकामां तो नयचक्रना नामनो उल्लेख अने नयचक्रनी युक्तिपण मळे छे. भद्रेश्वरसू. म. ए प्राकृत कथावलीमां नयचक्र अने मल्लवादिनो योग्य परिचय आप्यो छे। मलधारी हेमचन्द्राचार्यकृत विशेषावश्यकभाष्यनी टीकामां नयचक्रनो निर्देश छ। कलिकालसर्वज्ञे तो 'अनुमल्लवादिनं तार्किकाः' कहीने सिद्धहेमव्याकरणमां एमनी तार्किकतानी सर्वोत्कृष्टता गाई छे। ते पछी खरतरगच्छीय मुनिसुन्दरसूरि वगेरे अनेकानेक आचार्य भगवंतोए नयचक्र तथा मल्लवादि सूरिने स्मर्या छे। छेल्ले न्यायाचार्य न्यायविशारद यशोविजयउपाध्यायजीए आठ प्रभावकनी सज्झायमां मल्लवादिसूरिने वादिप्रभावक तरीके स्मर्या छे ने द्रव्यगुणपर्यायना रासमां नयचक्रना एक अरनो भारे वार उतारो आपाय छे, आम ग्रन्थ अने ग्रन्थकारने अनेकानेक जैनाचार्योए स्मर्या छे।

आ वादिप्रभावकसूरीश्वरनी वादशक्ति–तर्कशक्ति बरोबर तेमना काळमां परवादिरूपी तारकाओ माटे मध्याह्नकाळना तपता सूर्य जेवी हती, एमनी रचना पण एटली अद्भुत छे के तेमना काळना अने ते पूर्वना पांचेक ग्रन्थो अने ग्रन्थकारोना मतोने लई एमना ज वचनोनो आधार लईने तेमना मतोने के सिद्धान्तोने अनौचित्य दर्शावी अने कोई पण कठोर वचननो प्रयोग कर्या वगर अवास्तविकतानी कोटिए पहोंचाडवानो प्रयत्न कर्यो छे। एमां टांकेला केटलाक ग्रन्थो एवा छे के जे हालमां उपलब्ध थता नथी अने वर्तमानमां उपलब्ध ग्रन्थोमां जोवा न मळे एवा लांबा लांबा पूर्वपक्षो अने लांबी लांबी चर्चाओ के जे जटिल होवा छतां सरल अने सरलरीतिए रजु करी दुर्भेद्य युक्तिओथी निराकरण करवामां जेओ सिद्धहस्त छे। जे एमना ग्रन्थना वांचनार अने मननारने तरत ज माथु धुणावी प्रकाण्ड वादी बनावी दे छे, एवो आ विशाळ अने गम्भीर ग्रन्थरत्न जैन जगतमां अपूर्व छे। कारण के आ आचार्यना पूर्ववर्ती आचार्योए अनेकान्तसिद्धान्तनी स्थापना स्वतन्त्ररूपे करी तो छे पण नयात्मक पूर्वपक्षिओना वादनुं मात्र निराकरण करे छे जेथी स्वतन्त्रपणे पूर्वपक्षवादीओनो मत समजी शकातो नथी। आ आचार्य भगवाने पूर्वपक्षिओना मतनी स्वतन्त्रपणे स्थापना करीने निराकरण कर्युं छे। माटे आ ग्रन्थ अपूर्व छे।

आचार्य सिद्धसेनदिवाकर महाराज।

आ नयचक्रमां ग्रन्थकारे पू. सिद्धसेनदिवाकर सूरि म. नी केटलीक कारिकाओ तथा केटलाक वाक्यो उद्धृत कर्यां छे। आ दिवाकरसूरिजीमहाराज विद्याधरवंशीय आचार्य स्कन्दिलसूरिजीना शिष्य वृद्धवादिसूरिना शिष्यरत्न छे, स्कन्दिलसूरिजी वी० सं. ३७६–४१४ (विक्रम पू. ९४–५६ मां युगप्रधानहता।

१ एवं द्रव्यार्थपर्यायार्थिकमतद्वयात्मका भेदाः, सिद्धान्तविनिश्चयविधायक [illegible] इति [illegible] नयचक्रादिग्रन्थेषु [illegible] इति मल्लवादिप्रभृतयो [illegible]। २. परोक्षे मल्लकृ [illegible] अनु उप सामीप्यवाचकौ, एतेन [illegible] अनु उप [illegible] अनुमल्लवादिनं तार्किकाः [illegible] (नयचक्र पृ. ५१ मां जुओ)

स्कन्दिलाचार्य बे थया छे एक आर्य जीतधर स्कन्दिलाचार्य ने बीजा अनुयोगधर स्कन्दिलाचार्य जेनो निर्देश नन्दिसूत्रनी छव्वीस ने तेत्रीसमी गाथामां करायो छे। 'सामज्जं वन्दे कोसियगोत्तं संडिल्लं अज्जजीयधरं ॥ २६ ॥ तं वन्दे खंदिलायरिए ॥ ३३ ॥' एक वात तो दीवा जेवी स्पष्ट छे के नन्दिसूत्रमां आ महात्माओनो नाम-निर्देश करायो छे माटे तेओश्री नन्दिसूत्रना रचनाकालना पूर्ववर्ती निर्ग्रन्थ शिरोमणि छे।

वात एक ए रही जाय छे के 'संडिल्लं' नो अर्थ स्कन्दिल केवी रीते? भगवान हरिभद्रसूरिम. भगवान मलयगिरि वगेरे टीकाकारोए संडिल्लं नो अर्थ शाण्डिल्य कर्यो छे, एनी सामे एक ज वात कहेवानी छे के ऊपर उल्लिखित नन्दिसूत्रवाळा 'स्कन्दिलायरिए' नो कल्पसूत्रना वीसमा सूत्रमां संडिल्ल शब्दथी नामोल्लेख कर्यो छे।

'थेरस्स णं अज्जजीहस्स कासवगुत्तस्स अज्जधम्मे थेरे अंतेवासी कासवगुत्ते थेरस्स णं अज्जधम्मस्स कासवगुत्तस्स अज्जसंडिल्ले थेरे अंतेवासी' कल्पसूत्र (२०)

आथी आपणे समजी शकीशुं के संडिल्ल शब्दनो स्कन्दिलना अर्थमां पण उपयोग थई शके छे.। अहीं ए संडिल्ल शब्द नंदिमां उल्लिखित 'संडिल्ल'माटे ज वपरायो छे कारणके नंदिनी टीकामां भगवान हरिभद्रसूरिम. शांडिल्य ने सिंहवाचकना शिष्य तरीके निर्देश करे छे एज निर्देश ऊपरना कल्पसूत्रना वीसमा सूत्रमां करायो छे, अलबत्त एमां संडिल्ल [शांडिल्य] ने आर्यसिंहना प्रशिष्य तरीके निर्देश्या छे परन्तु आ परिवर्तन सर्वथा न गण्य छे कारण के एक ज व्यक्तिने अनुक्रमीने टीकामां शिष्य अने मूळमां प्रशिष्य तरीकेनो उल्लेख जोवा मळे छे।

आर्य जीतधर स्कन्दिलाचार्यनो समय वीरनिर्वाण संवत् ३७६–४२१ इतिहासकारोए मान्य कर्यो छे। आ समयमां विद्याधरवंशना आ महापुरुष युगप्रधान तरीके प्रभु शासननी धुरा वहन करता हता। भगवान दिवाकर सू. म. आ ज महापुरुषना प्रशिष्य हता अने श्रीवृद्धवादिसूरिना शिष्य हता। आथी अत्यन्त स्पष्टरूपे निश्चित करी शकाय के भगवान दिवाकरसूरिनो समय वीरनिर्वाणनी पांचमी सदीनो ज होवो जोइये। ज्यारे संवत् प्रवर्तक विक्रमादित्यनुं अनुशासन चालतुं हतुं।

---

१ प्राचीन कालमें मालव नामक गणों का विशेष प्रभुत्व था। ईस्वीपूर्व चतुर्थ शताब्दीमें इनने सिकन्दरके साथ वीरतासे सामना किया था पर सिकन्दरसेनासे लड़नेमें पराजित हो गया था। यही मालव जाति मौर्योंके पतन कालमें पंजाब से चलकर राजपुताने की ओर बढ़ी और मालवामें ईस्वीपूर्व प्रथम द्वितीय शताब्दीमें अपना प्रभुत्व जमाया यह गणराज्य था और विक्रमादित्य इसी गणतंत्रके मुखिया थे. उन्होंने आक्रमणकारी शकोंको परास्त कर विक्रमने शकारिकी उपाधि धारण की और अपने गणराज्यको प्रतिष्ठित किया तभीसे इस संवत का मालवगणस्थिति नाम पड़ा था. (संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ. १०४ में बलदेव उपाध्याय) तथा राजा हाल की गाथा सप्तशती संवाहणसुहरसतोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खम्। चलणेण विक्कमाइत्त चरिअं अणुसिक्खिअं तिस्सा ५–६४ में विक्रमादित्य नामक एक प्रतापी तथा उदार शासक का निर्देश है जिसने शत्रुओं पर विजय करनेके उपलक्ष्य में भृत्योंको लाखों रुपए दिया था वैक्रमकी इस कल्पनाका वर्णन पुष्ट होता है (संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ. १०१).

भगवान दिवाकर विद्याधरवंशीय स्कन्दिलाचार्यना ज प्रशिष्य छे एना माटे प्रभावक चरित्रकार वृद्धवादिसूरिना प्रबन्धमां १७९ थी १७८ श्लोकमां उल्लेख करे छे के वृद्धवादिसूरि विद्याधरगच्छना हता। आथी एक वस्तु सिद्ध थई जाय छे के आर्य जीतधर स्कन्दिलाचार्य के जेओ श्रीवृद्धवादिसूरिना गुरु छे विद्याधर गच्छ (वंश) ना छे एटले भगवान दिवाकरसूरि विद्याधरगच्छना स्कन्दिलाचार्यना ज प्रशिष्य छे नहीं के बीजा स्कन्दिलाचार्यना। आनी सामे एक प्रश्न करी शकाय छे के श्रीवृद्धवादिसूरिना गुरु तरीके आर्य जीतधर स्कन्दिलाचार्यने ज मानवा माटे कोई प्रमाण छे? एना उत्तरमां एक प्रबल वस्तु ए छे के नन्दिसूत्रना पाठक्रममां आर्य जीतधर स्कन्दिलाचार्यना उल्लेख पछी लगभग पांच-छ आचार्योना उल्लेख पछी काश्यपगोत्रीय स्कन्दिलाचार्यनो उल्लेख कर्यो छे ते दिवाकरना संबंधित समयनो अतिक्रम करी जाय छे आथी पण आर्य जीतधर स्कन्दिलाचार्यने ज विद्याधर गच्छीय मानवा ए अधिक न्याय्य छे।

बीजी पण एक वात ए छे के काश्यपगोत्रीय स्कन्दिलाचार्य अनुयोगधर छे एमने आगमनी चोथी वाचना थयेली छे ए निर्विवाद छे। आ वाचना दशपूर्वधर भगवान वज्रस्वामीथी पश्चाद्वर्ती छे अने भगवान वज्रस्वामी भगवान दिवाकरसूरिना उत्तरवर्ती छे एमां अमारी जाण प्रमाणे विवाद छे ज नहि। आथी सिद्ध थयुं के भगवान वज्रस्वामीना उत्तरवर्ती अनुयोगधर स्कन्दिलाचार्य श्रीवृद्धवादिसूरिना गुरु सम्भवी शके ज नहीं एटले एमना गुरु तरीके जे स्कन्दिलाचार्यनो उल्लेख कर्यो छे ए कौशिकगोत्रीय आर्य-जीतधर स्कन्दिलाचार्य ज छे। आ विचारणा असंदिग्धपणे आपणने जणावी जाय छे के भगवान दिवाकर सूरि संवत् प्रवर्तक विक्रमादित्यना समकालीन हता।

'श्रीनागेन्द्रकुले श्रीसिद्धसेनदिवाकरगच्छे अस्माभ्युसाभ्यां कारिता संवत् १०९९' लेखमांना 'चन्द्रप्रभ भगवानना जिनमंदिरमां धातुनी पञ्चतीर्थीप्रतिमाना आ लेखथी सिद्धसेनदिवाकरसूरिना नामथी गच्छ चाल्यो हतो अने आ गच्छ नागेन्द्र (नाग) कुलमां थयो छे आटलुं जाणवा मळे छे। आ प्रतिमालेखमां विद्याधरवंश के विद्याधर कुल के विद्याधर गच्छ आवा नामो न होय ए स्वाभाविक छे कारण के दिवाकर सू. म. ना नामनो एक गच्छ ज प्रवर्तमान थई गयो हतो, छतां प्रसिद्ध सिद्धसेनदिवाकर सू. म. नागेन्द्र कुलमां थया होय तेम संभवतुं नथी केम के आ० सुस्थित सू. म. थी कोटीय (कोटी) गण नीकळ्यो हतो आमनी परम्परामां वज्रस्वामीना शिष्य वज्रसेनना शिष्य आर्य नागिलथी नागेन्द्रकुलनी नीकळी छे।

प्रभावकचरित्रकार नागेन्द्रगच्छ नागेन्द्रशिष्यथी नीकळ्यो छे एम जणावे छे नन्दिस्थविरावलीमां आर्य स्कन्दिलने ब्रह्मदीपिकशाखाना सिंहाचार्यना शिष्य कह्या छे आ शाखा आर्यसमितसूरिथी शरू थई छे। एमनो समय वी. नि. सं. ५८४ छे जेओ वज्रस्वामीना मातुल थाय छे, प्रभावकचरित्रकार विद्याधरगच्छना गुरु म. आटलुं ज प्राचीन गुरु वेली जाय छे।

आ बधु जोतां मसरीपिरा शाखामां थयेला अनुयोगधर स्कन्दिलाचार्य केवी रीते दिवाकरसूरिना प्रगुरु होई शके! सिद्धसेन दिवाकर सूरिने के एओश्रीना गुरु वृद्धवादिसूरि म० ने क्यांइ पण ग्रन्थकारे मसरीपिराशाखाना ओळखाव्या नथी

प० श्रीकल्याणविजयजी पादलिप्तसूरि म० ने वज्रसेनना शिष्य विद्याधरथी प्रसिद्ध थयेला विद्याधर कुळना जणावे छे, पण आर्य सुहस्तिना शिष्ययुगल सुस्थित अने सुप्रतिबद्धना शिष्य विद्याधर गोत्रमथी प्रगट थयेल विद्याधरशाखामां नागहस्तिस्थविर गणवा-मानवा युक्तियुक्त छे, प्राचीनशाखाओ कालान्तरे कुळना नामथी, कुळो गच्छना नामथी, प्रसिद्ध थया छे। आ ज वात नागहस्तिआचार्यना विद्याधर-गच्छना सम्बन्धमां पण बनवा पामी छे। आथी पादलिप्तसूरि म० ने विद्याधर कुळना अथवा वंशना कहेवामां आवे तो कोई हरकत देखाती नथी।

आथी विक्रमसंवत् १५० नी गिरनारनी प्रशस्तिमां जणाववामां आव्युं छे के विद्याधरवंशना पादलिप्ताचार्यनी आम्नाय (वंश)-मां वृद्धवादिसूरिम० थया, आमां कशी शङ्का करवा जेवुं रहेतुं नथी, प्रभावकचरित्रकर्ताए एज प्रशस्तिनुं प्रमाण आप्युं छे त्यारे एमां शङ्का लाववी ए न्याय्य नथी। बीजी वात नागार्जुन के जे पादलिप्तसूरि म० ना गृहस्थशिष्य योगसिद्धतरीके प्रसिद्ध छे ते नन्दिनी स्थविरावलीमां आवता नागार्जुनथी भिन्न छे, गृहस्थ स्थविरावलीमां केवी रीते आवे!

जो के पूज्य पादलिप्तसूरि म ना गुरु आर्य नागहस्ति नथी पण आर्य खपुटाचार्य ज छे कल्प चूर्णिमां पादलिप्तसूरि म० ने वाचक कहेवामां आव्या छे अने नन्दिमां नागहस्ति ने वाचकवंशना कह्या छे। तेथी नागहस्तिना शिष्य पादलिप्तसूरि होवा जोइये आम नन्दिनुं प्रमाण आपीने पादलिप्तसूरि म० ने नागहस्तिना शिष्य ठराववा प्रयत्न थयो छे ते बराबर नथी केम के नन्दिमां आवता 'वड्ढउ वायगवंसो जसवंसो नागहत्थीण' आ वाक्यनो अर्थ फक्त एटलो ज थाय के नागहस्ति आचार्य वाचक वंशना छे पण एमनाथी वाचकवंश शरू थयो ए कशी रीते कहेवाय?

पादलिप्तसूरि म० विक्रमना प्रथम शतकमां थया छे एम केटलाक माने छ ते पण विचारणीय छ। अनुयोगद्वारमां पादलिप्तसूरि म० नी तरङ्गवतीनो नामोल्लेख आवे छे अनुयोगनुं निर्माण वी० सं ४५३ नी पहेलां छे पण पछी तो नथी आ प्रमाणे प्रभावकचरित्रना प्रबन्धपर्यालोचनमां पं० कल्याणविजयजी जणावे छे, एटले पादलिप्तसूरि म० वी० नि० ४५३ नी पूर्वेना आचार्य छे ए वात स्पष्ट थई जाय छे आथी प्रथमस्कन्दिलाचार्य ज वृद्धवादिसूरि म० ना गुरु छे अने सिद्धसेनदिवाकर सूरि म० ना प्रगुरु छे।

अनुयोगधर स्कन्दिलाचार्यनी वाचना समये मङ्ग्वादि पण हता एम 'जैनपरम्परानो इतिहास'मां जणावायुं छे, आ वात जो बराबर होय तो द्वितीयस्कन्दिलाचार्यना प्रशिष्य दिवाकरसूरिम० होइ शकता नथी, पादलिप्तसूरिम नो मुरुण्डनी साथे सम्बन्ध बतावनारमां आव्यो छे अने जैनाचार्योए 'मुरुण्ड' नो राजा तरीके उल्लेख करेलो जोवा मळे छे, आनो इतिहास हजी सुधी अंधकारमां छ।

१-२ आ प्रथमनुं अनुयोगद्वार छे. जुओ दर्शननिर्णय (प्रमाणमीमांसानो उपोद्घात) पृ १०१।
न प्र २

शून्यवादी नागार्जुन अने सिद्धसेनदिवाकरनी कृतिओनुं साम्य देखाडीने दिवाकरसूरिनो पांचमा अथवा चोथा शतकनो समय-निर्णय केटलाक इतिहासकार करे छे ते विचारणीय छे।

शून्यवादना नामोच्चारणमात्रथी दिवाकरजी महाराज नागार्जुनना पश्चात् थयाँ छे एम कही शकाय नहीं, शून्यवादनो उदय नागार्जुनथी ज थयो नथी, शून्यवाद नितान्त प्राचीन छे शून्यवादनुं प्रतिपादन प्रज्ञापारमितासूत्र मां आवे छे, सिद्धसेन बत्रीसीमां मध्यममार्गना अने शून्यवादना निर्देश मात्रथी नागार्जुन पछीना दिवाकरम् छे आवी कल्पना थाय नहीं। हां! जरूर नागार्जुननी युक्तिओ के वचनो लीधां होय तो ए कल्पना साची करी शकाते। दिवाकरम्० म ना ग्रन्थो सूक्ष्मतम ज दृष्टिमां मळे छे। आथी मारो नम्र अभिप्राय छे के ज्यां सुधी प्रत्यक्ष प्रमाणो न मळे त्यां सुधी कल्पनामार्गथी काळनो निर्णय करवानी उतावळ करवी जोइए नहीं।

पू हरिभद्रसूरि दिवाकरसूरिने श्रुतकेवलिनुं मानभर्युं बिरुद आपे छे। आथी पण प्राचीन-अतिप्राचीन होवा जोइए। वळी नागार्जुने मध्यमकारिकानी संस्कृत परीक्षा पृ ४५-५७ मां उत्पत्ति स्थिति अने व्ययनुं के जेनुं निरूपण दिवाकरसूरि म कर्युं छे तेनुं खण्डन कर्युं छे। आथी पण सिद्धसेनसूरि म नागार्जुन थी पूर्ववर्तीत्व सिद्ध थाय छे।

आ आचार्यश्रीए दिगम्बर मतनी कडी आलोचना करी होय तेम समजातुं नथी, एटले वी सं ६०६ अने दिगम्बरोत्पत्ति प्रमाणे वी सं ६०९ मां बे मत नीकळ्या छे आमाथी पूर्ववर्ती दिवाकरम् म होवा जोइए। जेथी बन्ने सम्प्रदाय तेमना ग्रन्थना प्रमाणरूपे उद्धरणो टांके छे।

वी सं १९२ ४९५ मां धर्मसूरि थया एम जाणवामां आवे छे। आ आचार्य भगवानना समयमां आ युगप्रधानाचार्य वृद्धवादिसूरि थया इत्यादि लखनार विचार श्रेणीमां आ सिद्धसेनदिवाकरसूरिने आ आचार्य-ना शिष्य तरीकेनो पण उल्लेख करेलो छे।

सिद्धसेनसूरिना गुरु तरीकेना बे नाम प्राप्त थाय छे। एक वृद्धवादिसूरि अने बीजा आ धर्मसूरि महाराज। जो के सिद्धसेनसूरिए पोताना गुरु तरीके बन्नेमांथी एकनो पण उल्लेख कर्यो होय तेम जोवा जाणवा मळ्युं नथी। जो आ बन्नेयनो सम्बन्ध मानवो होय तो वृद्धवादिसूरि म ने धर्मसूरिना समानकालीन मानवा पडे। जो आ वात साची ठरे तो वृद्धवादिसूरिना गुरु प्रथम स्कन्दिलाचार्य ज छे आ मान्यतामां कशो वांधो आवतो नथी। तेमना समसामयिकपणामां पण कशो ज बाधो आवतो रहेतो नथी। एक बीजुं पण प्रमाण अहीं उद्धृत करीए छीए के सिद्धसेनदिवाकरे कोई व्याकरणनी रचना करी होवी जोइए। ए व्याकरणनुं नाम 'क्षपणक व्याकरण' हतुं। तेमना समयमां जे विद्वानो हता तेमां सिद्धसेनदिवाकर पण एक हता। तेमनो उल्लेख अन्य ग्रन्थकारोए 'क्षपणक' ना नामथी कर्यो छे। कालिदासविरचित 'ज्योतिर्विदाभरण' मां 'धन्वन्तरिः क्षपणकोऽमरसिंहशङ्कु वेतालभट्टघटकर्परकालिदासाः।

१ वैराग्यम् १ ११ १२ श्लोक विज्ञानवादी निर्विकल्पकविज्ञानवादी निर्विशेषवादी माध्यमिक [illegible] मध्यममम्। तस्य आलम्बिना परमशून्यवादी नाम लघुकन्थिनी योऽयं[illegible] पृष्ठ ४'

ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥' २०–१० ॥ जैन ग्रन्थोमां विक्रमनी साथे दिवाकरसूरिनो सम्बन्ध सारी रीते प्रसिद्ध छे । सिद्धसेनदिवाकरसूरिए क्षपणक व्याकरणनी सोपज्ञवृत्ति करी होय तेम पण 'मैत्रेयरक्षिततंत्रप्रदीप' मां आवता उल्लेखथी जणाय छे, 'अत एव नावमात्मानं मन्यते इति विग्रहपरत्वादनेन ह्रस्वत्वं बाधित्वा अमागमे सति नावं मन्ये इति क्षपणकव्याकरणे' इति । तथा उज्ज्वलदत्तविरचित-उणादिवृत्तिमां तो स्पष्ट शब्दोमां जणाव्युं छे 'क्षपणकवृत्तौ अत्र इति शब्द आद्यर्थे व्याख्यात' इति, । जैनेन्द्रव्याकरणमां पण 'वेत्तेः सिद्धसेनस्य' आ प्रमाणे व्याकरणना विषय मां तेमनो मत टांकवामां आव्यो छे । प्रस्तुत नयचक्रमां पण 'अस्ति भवति विद्यति पद्यति वर्ततय सन्निपातषष्ठाः सत्तार्थाः' तथा 'तथा चाचार्यसिद्धसेन आह–यत्र हि अर्थो वाचं व्यभिचरति नाभिधानं तत्' । आ बधा व्याकरण सम्बन्धी वाक्योथी दिवाकरसूरिए व्याकरणनी रचना करी हशे एम मालूम पडे छे अने ते व्याकरणनुं नाम क्षपणक व्याकरण हशे । क्षपणकनी कृती होवाथी आ व्याकरणनी क्षपणकव्याकरणरूपे प्रसिद्धि थइ होय तो विक्रमना नवरत्नोमां क्षपणकनामथी सिद्धसेनदिवाकरसूरि ज आवे सुखी समजाय छे एटले विक्रमना समसामयिकपणामां कशो अन्तराय आवतो नथी ।

न्यायावतार ग्रन्थना कर्ता तरीके सिद्धसेन दिवाकर सू० म० नी प्रसिद्धि छे । आ प्रसिद्धि न्यायावतार अने नयावतारने एक मानीने थई हशे । नयचक्रनी व्याख्यामां सम्मतिनी साथे 'नयावतार' ग्रन्थनुं नाम आवे छे, पण न्यायावतारनुं नाम आवतुं नथी । अथवा आ प्रसिद्धिनुं मूळ कारण न्यायावतारनी एक कारिकाने हरिभद्रसूरिमहाराजे 'महामतिना उक्तं' एम कहीने लीधी छे । ते परथी टीकामां जिनेश्वरसूरिमहाराजे अतिशयप्रज्ञ सिद्धसेन सूरि महाराजना नामनो करेलो उल्लेख हशे । परन्तु आ सिद्धसेनसूरिमहाराज सिद्धसेन दिवाकरसूरिमहाराज छे के बीजा कोई सिद्धसेनसू० म० छे तेनो सावधानीपूर्वक विचार करवो जोइए । आ नयचक्रशास्त्रना अन्तमां नयावतारनो नयशास्त्ररूपे उल्लेख करवामां आव्यो छे, नहि के न्यायावतारनो । न्यायावतारमां तो नयोनी सूचनामात्र जोवामां आवे छे, तेनो कशो ज विचार देखातो नथी । तेमां अधिकपणे प्रमाणनुं ज निरूपण करवामां आव्युं छे । एटले आ न्यायावतार दिवाकरमहाराजने रचेलुं नयशास्त्र नथी । आना कर्ता बीजा कोई सिद्धसेन महामति हशे । प्रख्यात दिवाकर शब्दनो प्रयोग छोडीने महामति शब्दनो उल्लेख बीजा सिद्धसेन सू, म नी संभावना तरफ खेंची जाय छे ।

उमास्वाति महाराज

आ आचार्यश्रीनो बनावेलो 'तत्त्वार्थसूत्र' नामनो ग्रन्थ श्वेतांबर अने दिगम्बर बन्ने जैन संप्रदायोने मान्य छे । नयचक्रकारे 'तत्त्वार्थसूत्र' तथा तेना स्वोपज्ञ भाष्य' ना वाक्यो प्रमाणरूपे उद्धृत कर्यां छे ।

---

१ आ विक्रम जैन छे ए बाबतमां इतिहासकारोमां अभिप्राय भेद प्रवर्ते छे । २ आ आचार्यना व्याकरणविषे नाथुरामजी प्रेमी आशंका करे छे पण व्याकरणना विषयमां आचार्यना मतनो उल्लेख आटले बाब के एमनुं कोइ स्वतंत्र-व्याकरण बनावेलुं होय । जेम 'पुंष्ठ' ए अनुमतिजस्याचार्यना मतमां बने छे. आ रूपनी एमने व्याकरणमां सिद्धि करी छे मात्र कहेवाय छे । दिवाकर सू. म. ना आविर्भावना अन्य पण एमना व्याकरण विषयक मतानी नोंध आ ग्रंथमां छे । माटे क्षपणक व्याकरणना कर्ता आचार्य श्री सिद्धसेनदिवाकर सू. म. छे एमां शंका लावया जेवुं लागतुं नथी । ३ सम्मतिनी साथे ज नयावतारनुं नाम आवे छे आथी सम्मति अने नयावतार एककर्तृक छे । ४–सिद्धीविनिश्चय आदिमां आवता आ सिद्धसेन सू. म. होय ।

'औपचारिकस्य उपचारप्रायो विस्तारार्थो व्यवहारः' आ वचन उपलभ्यमान भाष्यमां उपलब्ध थाय छे। श्वेतांबरो आ भाष्यना कर्ता उमास्वातिम० ने माने छे। मल्लवादिसूरिमहाराजना समय सुधीमां तत्त्वार्थसूत्र उपर आ एक भाष्य ज हशे। आ भाष्य सिवायनी तत्त्वार्थसूत्रनी प्राप्त थती टीकाओमां सहुथी प्राचीन टीका दिगम्बर देवनन्दिनी छे के जेओ पूज्यपादना नामथी ख्यात छे ने तेओ विक्रमनी पांचमी या छठ्ठी शताब्दिना मनाय छे तेमनी छे। आ टीकानुं एक पण वाक्य मल्लवादिसूरिए लीधुं नथी।

आ आचार्यश्रीए तत्त्वार्थमां 'गुणपर्यायवद्द्रव्यम्' अर्थात् गुण अने पर्याय वाळुं द्रव्य कहेवाय गुण अने पर्याय वच्चेना वस्तुतः गुण छे। बन्नेमां भेद नथी केमके भाष्यकारे 'भावान्तरं संज्ञान्तरं च पर्यायः' एम कह्युं छे माटे ज टीकाकारे क्रमभावी अने सहभावी भेदोने गुण कह्या छे अने भाष्यकारनो पण आवो अभिप्राय होवाथी आगळ 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' आ प्रमाणे केवळ गुणनुं ज लक्षण कर्युं छे। गुणथी पर्याय भिन्न विवक्षित होत तो पर्यायनुं पण लक्षण जरूर कर्युं होत। आ ज वातनुं दिवाकरसूरिए स्फुटी-करण कर्युं छे। वळी 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' उमास्वाति म०ना आ सूत्रनुं ज पोषण सम्मतिमां थयुं छे। माटे उमास्वाति म० दिवाकरसूरिथी पूर्ववर्ती छे एटले उमास्वातिम०नो समय विक्रमथी पूर्वनो छे तथा वाचक मुख्यश्रीए तेजो अने वायुने त्रस कह्या छे, अर्थात वायु अने तेजनो मात्र त्रस शब्दथी ज व्यवहार कर्यो छे। त्रसने कंई विशेषण लगाड्युं नथी। पू० शिवशर्म सूरि म० जाणे ए सूत्रनुं निरसन करता न होय तेम वायु अने तेजने केवळ त्रस न कहेता तेने सिद्धान्तनो विरोध न आवे माटे सूक्ष्मत्रस कह्या छे, माटे उमास्वाति म० एमनाथी पण पूर्वना छे। आ नयचक्रनी टीकामां शिवशर्मसूरिनी कर्मप्रकृतिनुं प्रमाण आपेलुं छे। जेओ उमास्वातिम०ने चोथी सदीना अने शिवशर्मसूरिने पांचमी सदीना कहे छे, तेओए पोतानी मान्यतानुं संशोधन करवानी जरूर छे।

आ आचार्यश्रीए ५०० प्रकरणोनी रचना करी छे। जैन साहित्यमां उपलब्ध थती जैन संस्कृत ग्रन्थोनी रचनाओमां सौथी प्रथम आटला संस्कृत ग्रन्थनी रचना आमनी ज देखाय छे।

आ सूरीश्वरजी म० आ तत्त्वार्थने पू० याकिनीमहत्तरासूनु हरिभद्रसूरिजी तो आगम कहे छे। जैन परम्परामां चतुर्दशपूर्वधर के दशपूर्वधर जे ग्रन्थोनी रचना करे छे ते आगम कहेवाय छे। आथी उमास्वातिम० दशपूर्वधर हता दशपूर्वधरोमां अपश्चिमश्रुतधर वज्रस्वामी म० थया छे जेओ छेल्ला दशपूर्वधर थया छे एमनी सत्ता विक्रमनी पहेली सदी मां मनाय छे। आमनाथी उमास्वातिम० पूर्वना होवा जोइए।

वि० सं० १५१ मां उत्तर मथुरामां श्रमण संघने भेळवी पोताना गुरु भाई आ० मधुमित्रना शिष्य आ० गन्धहस्तीए तत्त्वार्थ उपर महाभाष्य रच्युं छे। 'पूर्वस्वामिरोधसोमास्वातिविरचिततत्त्वार्थोपरि अशीतिसहस्र-श्लोकप्रमाणं महाभाष्यं रचितम्, यदुक्तं तद्विरचिताचाराङ्गविवरणान्ते यथा—थेरस्स महुमित्तस्स सेहेहिं तिपुव्वनाण जुत्तेहिं। मुणिगणविवंदिएहिं ववगयरागाइदोसेहिं ॥ १ ॥ बंभद्दीवियसाहामउडेहिं गंधहत्थिविबुहेहिं।

---

१ तत्र के गुणा इति भाष्ये उक्तं टीकायां गुणलक्षणात्पर्यायोऽपि सहभावी च भेदेन भव... सहभाविनो गुणाः क्रमभाविनः पर्याया इति जैनसिद्धि (पृ ४१५)। २. तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः तत्त्वार्थ २ १४। ३ आ टी सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः इत्यस्मिन् विषये पृ २१।

विवरणमेयं रइयं दोसयवासेसु विक्कमओ ॥ २ ॥' आप्रमाणे हिमवंतस्थविरावलीमां जणाव्युं छे। आमांथी आ एक वात तो नक्की थाय छे के उमास्वातिम० ना तत्त्वार्थ ऊपर गन्धहस्ती आचार्ये महान् भाष्य रच्युं छे अने ए गन्धहस्तीम० वि सं २०० मां विद्यमान हता। एटले तत्त्वार्थसूत्रना सूत्रविधा वि सं २०० थी पूर्ववर्ती छे। केटलाको उमास्वाति म० ने यापनीयसंघना कहेवा तत्पर थाय छे पण यापनीयसंघ वि सं. २०५ मां नीकळ्यो छे। एम दिगंबर आचार्य देवसेन कहे छे। ज्यारे उमास्वाति म० नो सत्तासमय विक्रमथी पूर्वनो सिद्ध थाय छे।

निर्युक्ति अने आगमो

निर्युक्तिना कर्त्ता चतुर्दशपूर्वधर आ० भद्रबाहुस्वामी म० छे। प्राचीन आचार्य भगवंतो निर्युक्तिनी रचना वी० सं १७० मां थई छे एम माने छे।

न्यायावतारनी प्रस्तावना पृ० १०३ मां 'निर्युक्तियाँ अपने मौजूदारूपमें सिद्धसेन के बादकी कृतियाँ हैं। अत एव सिद्धसेनपूर्ववर्तीसाहित्यमें स्थान नहीं। भाष्य और चूर्णियाँ तो सिद्धसेन के बादकी हैं ही' सिद्धसेनदिवाकरसूरिने आजना इतिहासकारो चोथी या पांचमी सदीना माने छे अने ते द्वारा निर्युक्तिनी रचना चोथी-पांचमी सदीथी पाछळनी सिद्ध करवानो प्रयत्न करी रह्या छे।

बृहत्कल्पमां छठ्ठा भागनी प्रस्तावनामां 'निर्युक्तिओनी रचना विक्रमना बीजा सैका पूर्वनी छे' आ प्रमाणे जणाव्युं छे। एटले हवे इतिहासवेत्ताओ निर्युक्तिनी रचना बीजा सैकाथी पूर्वनी छे त्यां सुधी तो आव्या छे।

आम निर्युक्तिना निर्माणसमयमां मतभेद प्रवर्ते छे। प्रस्तुत नयचक्रमां निर्युक्तिओनी गाथाओ गूंथेल थयेली छे। एटले विक्रमनी पांचमी सदीथी पूर्वनी निर्युक्तिओनी रचना छे एमां शंकाने स्थान नथी। निर्युक्तिनी जेम आ आचार्यश्रीए नंदिसूत्रनो पण पाठ लीधो छे। अने ते नंदिमा मूळमां निर्युक्तिनी घणी गाथाओ सूत्रकार देववाचकगणीए लीधेली छे, एटले नन्दिनी रचनाथी पण पूर्वनी निर्युक्तिओ छे।

केटलाक इतिहासकारो देववाचकगणिने देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण मानीने नन्दिनो रचनाकाळ वि० सं ९८० नो नक्की करे छे, पण ते ठीक नथी। देवर्द्धिगणिना गुरु देवगणी छे, ज्यारे देववाचकगणीना गुरु दूष्यगणी छे। केटलाक प्राचीनग्रन्थोमां देववाचकगणीने देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण कह्या छे पण ते तो कल्पसूत्रनी स्थविरावलीमां देववाचकने देवर्द्धिगणी कह्या छे ते नामान्तर छे। आगमनाथी आगमोने पुस्तकारूढ करावनार देवर्द्धिगणीक्षमाश्रमण जुदा छे आ वात कल्पसूत्रनी स्थविरावली जोतां मालूम पडशे। ए स्थविरावलीमां देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणनुं नाम बे वखत आव्युं छे। एटले देववाचकगणीनुं बीजुं नाम त्यां पण होवुं जोइए। कल्पसूत्रनी एक स्थविरावलीमां भिन्न भिन्न गोत्रीय देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण अने देवर्द्धिक्षमाश्रमण आम बे नाम आवे छे। एटले देववाचकगणिनुं बीजुं नाम देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण होवुं जोइए। आथी ज केटलाक पूर्वाचार्योए देववाचकजीने देवर्द्धिगणी कह्या छे। पण आगम लखावनार देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणजीने नहीं। पू० मलयगिरिमहाराजे नन्दिनी टीकामां देववाचकजीनो स्पष्ट उल्लेख करेलो छे।

---

१ श्री न्यायावतारनी प्रस्तावना मुजब निर्युक्तिओ सिद्धसेनसूरि म० थी पाछळनी कृतिओ छे तो बृहत्कल्पना छठ्ठा भागनी प्रस्तावना प्रमाणे विक्रमनी बीजी सदीथी पूर्वना दिवाकर म० देखीता ज आगमथी सिद्ध थई जाय छे। २ नमो य सिरिसिरि सुत्तत्थरयणभरिए खमदममद्दवगुणेहिं संपन्ने। देवड्ढिगणिखमासमणं कासवगुत्तं पणमामि ॥ ११ ॥ देवड्ढिखमासमणे कासवगुत्ते पणिवयामि ॥ १४ ॥

नन्दिनी रचना मलयगिरिसूरिथी पण घणी प्राचीन हशे तेम नयचक्रमां नन्दिने आपेल विशेषण उपरथी अनुमानीए छीए। 'भगवदर्हदाज्ञाऽपि तथोपसूत्रे (नय० पृ. ७४९) अर्थात् नन्दिने भगवान् अरिहंतनी आज्ञा कहे छे। वळी निर्युक्तिनी रचना घणी प्राचीन छे ए माटे हवे बहु विचारवानुं रह्युं नथी अने ते बाबतमां कोई पण सद्वाद बचा नथी के बीजा भद्रबाहुनी कल्पना करवामां आवे छे तेमने विक्रमनी छट्ठी सदीना कहेवामां आवे छे। एटले वी. सं. १७० मां थयेला भद्रबाहुस्वामीमहाराज निर्युक्तिना कर्ता छे।

जैनसिद्धान्तोनो मूळ आधार बार अंग छे। तेना रचयिता पांचमा गणधर सुधर्मास्वामी म० छे। ते अंगो उपर उपांगोनी रचना स्थविरभगवंतोए करी छे। ते अंगोनो उपयोग मलयगिरिसूरि म० पुष्कळ कर्यो छे। तेमां आचारांग स्थानांग अने भगवतीजी आ त्रण अंगसूत्रो छे। जीवाभिगम पन्नवणा आदि उपांगसूत्रो छे। ते उपरांत सूत्र तरीके प्रसिद्ध नन्दी अने अनुयोगद्वारनो पण ग्रन्थकारे प्रमाण आप्यां छे। आ बधा ग्रन्थो अने तेना ग्रन्थकारो अतिप्राचीन काळना छे।

कात्यायन

मलयगिरिसूरिए पाणिनिना सूत्रो, वार्तिक अने तेना उपरना पातञ्जलमहाभाष्यनो ठेर ठेर छूटथी उपयोग कर्यो छे। पाणिनिना समय विषे विद्वानोमां मतभेद प्रवर्ते छे। मान्य जर्मन पण्डित मेक्समूलर ई० पू० ३५० प्रो० वेबर ई० पू० ४०० गोल्डस्टकर–डॉ. भण्डारकर अने बेलवल्कर ई० पू० ७०० मि० राजवाडे ई० पू० ८०० भारद्वाचार्य ई० पू० ९०० पण्डितसत्यव्रतसामश्रमी ई० पू० २४०० मीयुधिष्ठिरमीमांसक ई० पू० २८०० पोतपोताना गणे छे। वासुदेव शरण अग्रवाल पाणिनिना प्रथम अध्यायमांथी पुरावाओ रजू करी पाणिनिने युधिष्ठिर अने परीक्षितना समकालीन कहे छे। युधिष्ठिर अने परीक्षितनो काळ पण निश्चित करेलो छे के तेमनी गणत्री मुजब आजथी लगभग ४१६९ वर्ष पूर्वे हतो।

पाणिनिना व्याकरण उपर अनेक वार्तिको रच्या छे। तेमां कात्यायनकृतवार्तिक ज प्रसिद्ध छे। व्या० महाभाष्यमां मुख्यपणे कात्यायनवार्तिकनुं ज व्याख्यान करवामां आव्युं छे। आ वार्तिककारना अनेक नामोमांथी 'वररुचि' नाम पण प्रसिद्ध छे। वैयाकरणोमां आ वार्तिककार प्रामाणिक ग्रन्थकार छे। पतञ्जलिए 'प्रोवाच भगवान् कात्यः' एम कात्यायन माटे भगवान् शब्दनो प्रयोग कर्यो छे। पण शबरस्वामिए मीमांसादर्शन (१ –८–४) मां 'असद्वचनात् पाणिनेर्वचनं प्रमाणम्, असद्वादि नाम कात्यायनस्य' आ वाक्यद्वारा कात्यायनना वचनने अप्रमाण ठराव्युं छे। अर्वाचीन सम्प्रदाय ग्रन्थकारोए कात्यायनने प्रामाणिक मान्या छे। कात्यायन पतञ्जलिथी पूर्ववर्ति छे अने पाणिनिथी उत्तरवर्ती

---

१ ई. स. १६५ वैयुक्ती विचारणा । २. १ कात्यायन, २ मेधाजित् ३ पुनर्वसु ४ कोत्थ ५ वररुचि ६ श्रुतदृष्टि ७ वेदाचार्य वि भगवान्थिकभेदो दृष्टिगोचर छे। ३ स्वर्गस्थ ऐतिहासिके 'अधिकरणोपाध्ययनम्' आ वचन जोईने कात्यायनथी पूर्व वर्तिनी आ वार्तिककार अर्वाचीन छे एम माने छे ते भ्रमयुक्त छे ऐतिहासिको ठरेल गोपालकोशनन्दमां अवतरणयावमां कर्युं छे, कात्यायन आ वार्तिकनी व्याख्यामां लख्युं छे के 'पुरस्तादपवादाश्च' अहीन्द्र काळमां विद्वान् एम विद्वानो कहे कात्यायनाप्रथम् विद्वानवाचकने वैदिको पूर्वपाठकना समयमां 'वाहिनर' पाठ हतो. पछी अहीं आवीने विद्वान् एम लेखे उल्लेख एम थयो छे माटे वररुचिनुं वाहिनर थी अर्वाचीन मानवुं अयुक्त छे।

छे आमना समयविषे विद्वानोमां मतभेद छे। जैनग्रन्थकारो आर्यस्थूलभद्रना पिता अने नंदराजाना महामात्यशकटालना समीन कालीन माने छे एटले वी० सं १७०नी लगभग थया हशे।

पतञ्जलिमहाभाष्यना समय बाबतमां पण विद्वानोनुं ऐकमत्य जोवामां आवतुं नथी योगदर्शनना कर्ता ए ज पतञ्जलि छे के बीजा ? ए हजु सुधी अणउकेल्यो एक प्रश्न छे

वर्तमानमां आपणी समक्ष जे मुद्रित महाभाष्य छे एना अने नयचक्रमां अपायेला महाभाष्यना पाठोमां घणा स्थले भेद आवे छे आनुं कारण ए छे के समये समये महाभाष्य लुप्त थयुं छे अने समये समये एनो उद्धार पण थयो छे। राजतरङ्गिणीमां कल्हणे उल्लेख कर्यो छे के विक्रमनी आठमी शताब्दीमां महाभाष्यनो लोप थयो। बीजो पण आवा उल्लेखो मळे छे। आवा लोप अने उद्धारथवाने प्रसंगमां मारे परिवर्तनोनी सम्भावना काढी नाखवा जेवी नथी, उपर्युक्त पाठ भेदोनुं मूळ आवां परिवर्तनो छे एम निःशङ्कपणे कही शकाय।

नयचक्रना मूळमां 'यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे' इत्यादि श्लोकने महाभाष्यकारे भ्राजसंज्ञक श्लोक कह्यो छे। आ श्लोकना कर्ता कैयट आदि टीकाकारोना मते कात्यायन हशे ! एवुं अनुमान थाय छे। पशुपतिष्य छते छे के 'स्मृतेश्च कर्ता श्लोकानां भ्राजनाम्नां कारक:' अर्थात् भ्राजश्लोक-रचयिता ज कोई स्मृति ना कर्ता छे। आ कात्यायन शब्द गोत्रप्रत्ययान्त छे। कात्यायनकौशिकना पुत्र वररुचि पण कात्यायनना नामथी कहेवाय छे, एणे कोई स्मृतिग्रन्थ पण रच्यो हशे। आ कात्यायने पाणिनिसूत्रोथी केटलाक शब्दोनी सिद्धि नही थवाथी ते सूत्रो पर वार्तिकनी रचना करी। केमके "उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते। तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः ॥" एम वार्तिकनुं लक्षण छे। आ कात्यायनवररुचिनो समय पाणिनिना समयने अनुसरे छे परन्तु महाभाष्यकार पतञ्जलिथी २००—२०० शतक पूर्ववर्ती छे केमके कात्यायनने पतंजलि सम्मान पूर्वक स्मरे छे। केटलाक ऐतिहासिक कात्यायननो समय वि० पू० चोथी सदी कहे छे।

मल्लवादि.

मल्लवादिए कोई पण पोताना ग्रन्थमां पोतानो कशो ज परिचय आप्यो नथी। तेम पोताना गुरुनुं नाम पण साक्षात् आप्युं नथी। नयचक्रग्रन्थमां सिंहगणिक्षमाश्रमणे मल्लवादिना गुरुतरीके जिनानन्दनो उल्लेख कर्यो छे। प्रबन्धचिन्तामणीना टीकाकार पुण्यराजे पण मल्लवादिना गुरु तरीके जिनानन्दनुं नाम लीधुं छे। जिनानन्दनो मत नयचक्र सिवाय अन्यत्र कोई पण ग्रन्थमां जोवा जाणवा मळ्यो नथी। आ बन्ने गुरुशिष्यना मतनी नयचक्र कारे सारी एवी समालोचना करी छे। मल्लवादि पण पोताना गुरुना मतनुं-आ मारा गुरुनो मत छे एम कह्या विना निरूपण करीने खण्डन करी स्वमतनुं निरूपण करे छे।

मल्लवादिना समयविषे घणी थात्री ईर्ष्यो घणी गेरसमज फेलावी दीधी छे। जेथी केटलाक विद्वानो मल्लवादिनो समय विक्रमनी सातमी सदीनुं उत्तरार्ध माने छे। युधिष्ठिर मीमांसक विक्रम सं० ७५ थी पूर्वेनो माने छे। भारतीय जनश्रुतिप्रमाणे मल्लवादि विक्रमादित्यना मोटा भाई छे।

---

१ जुओ हेमचन्द्राचार्यरचित परिशिष्ट पर्व। ८, १-४ ४८८।

नयचक्रमां आवती भर्तृहरिना मतनी समालोचना निहाळतां भर्तृहरि ए शब्दाद्वैतवादी छे । तेमनी दृष्टिमां स्फोट ज एकमात्र परम तत्त्व छे आ जगत् तेना ज विवर्त रूप छे एम स्पष्ट मालूम पडे छे । एटले 'ईत्सिंग भारतवर्षयात्रा' (पृ० २७४) मां भर्तृहरि ए बौद्धमतानुयायी हतो सातवार प्रव्रज्याने ग्रहण करी हती, आम जे जणाव्युं छे ते केवळ भ्रमना व्यामोहथी कर्युं होय अथवा बीजा कोई भर्तृहरि होय । केमके भर्तृहरि पण बे थई गया छे । भट्टिकाव्य, भागवृत्ति, मीमांसाभाष्य शतकत्रय शब्दधातुसमीक्षा ग्रन्थोना कर्ता तरीके भर्तृहरिनुं नाम बोलाय छे । वाक्यपदी, तेनी व्याख्या, महाभाष्यदीपिका अने वेदान्तसूत्रवृत्तिना रचयिता एक ज शब्दाद्वैतवादी भर्तृहरि छे । वसुरातना शिष्य आ भर्तृहरिना विषे ईत्सिंग कशुं जाणतो न हतो एम कहीए तो वधारे पडतुं नथी । माटे तेना आधारे भर्तृहरिनी सातवार बौद्ध भाववी भूल भरेली छे, केमके विक्रमसं० पहेलाना आरम्भ समयमां काश्मीरमां विद्यमान वामन तथा जयादित्ये आठ अध्यायीना ऊपर सम्मिलितरूपथी रचेली सुन्दर विशाळ व्याख्या छे जेनुं नाम काशिकावृत्ति छे तेमां ४-३-८८ सूत्रना उदाहरणमां भर्तृहरिकृत वाक्यपदीनुं उद्धरण छे । आ काशिकाथी पण प्राचीन दुर्गसिंहकृत कातंत्रव्याकरण-वृत्तिमां 'पाचस्थित्समसिद्ध वा' आ वाक्यपदीयकारिकानो उल्लेख छे । एवं शतपथब्राह्मणना टीकाकार हरिस्वामी, जे स्कन्दस्वामीना शिष्य हता, जेओनो सत्ता समय पण एमना उल्लेखथी वि सं० ६९६ नो छे तेओ कुमारिलभट्ट तथा प्रभाकरने पोताना भाष्यमां 'इति प्राभाकराः' आ शब्दथी स्मरण करे छे । "अन्ये तु शब्द ब्रह्मैवेदम् 'विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया' इत्यत्र आहुः" आ रीते शब्दाद्वैतवादी भर्तृहरिने पण कारिकाना उल्लेखनी साथे याद करे छे । वळी कुमारिलभट्ट पण वाक्यपदीनी १-११ मी कारिकानुं उद्धरण करे छे आ हेतुपरम्पराथी भर्तृहरिनो समय कुमारिलभट्टथी पण पूर्वनो सिद्ध थाय छे ।

कोथीना समीपवर्ती चुनारगढना किल्लामां भर्तृहरिनी एक गुफा छे । ए गुफा विक्रमादित्ये बनावी छे एवी त्यां प्रसिद्धि छे । एवी रीते उज्जैनमां के ज्यां विक्रमनी राजधानी हती त्यां पण भर्तृहरिनी गुफा प्रसिद्ध छे । आथी फलित थाय छे के भर्तृहरि अने विक्रमादित्यनो जरूर सम्बन्ध होवो जोईए ।

मध्यमसङ्ग्रहकर्त्ता वाग्भट अने आ नयचक्रना कर्त्ता पण भर्तृहरिनो उल्लेख करे छे । प्रबन्धचिन्ता-मणिमां भर्तृहरिनो महाराजा शूद्रकना भाई तरीके उल्लेख छे । महाराजाधिराज समुद्रगुप्त विरचित 'कृष्णचरित' ना अनुसारे शूद्रक राजा कोई सम्वत्ना प्रवर्त्तक हता । मारा अनुशीलन प्रमाणे आ शूद्रक शुङ्गवंशमां वसुमित्रना पछी आवेल ओद्रक ज होवो जोईए (ओद्रक—अद्रक—शूद्रक एम लेखनमां परिवर्तन थयुं हशे ।) वायुपुराणमां एवी हकीकत आवी छे के राजा वसुमित्र पछी ओद्रक राज्य पामशे वसुमित्रना वेरी ज परदेशी अने परदेशी प्रजा साथे युद्धमां उतरशे । आ ओद्रक ई पू १८ लगभग समयमां हतो । आ राजाए यवनोनी साथे लडाई करी हती । आ राजाए 'पद्मप्राभृतक' नामना नाटकनी रचना करी छे, जे मन्दकाभीग नाम कविना 'चारुदत्त नाटक'नुं ज रूपान्तर छे । आ शूद्रक राजाना विषे इतिहासकारो केवल एक राजा हतो एम कहीने मौन धारण करे छे ।

---

१ कातन्त्रव्याकरण पृ २६२ । २ ईत्सिंगनिये वाक्यनो विरोधकल्पनापरीत करे छे । वाक्यपदीयप्रदीपिका पृ १४-१५ ।

ધર્મકીર્તિના સમસામયિક ગોવિન્દચન્દ્રના પિતા વિમલચન્દ્રસાથે માલવદેશીય રાજશેખરમાં મયેલા કોઈ ભર્તૃહરિમી મગિનીનું લગ્ન થયું હતું એવો કેટલાક સંશોધકોનો મત છે પણ આ ભર્તૃહરિ વાક્યપદીના કર્તાથી ભિન્ન છે। શબ્દબ્રહ્મસિદ્ધાન્તના પ્રતિષ્ઠાપક ભર્તૃહરિને તો વિદ્વાન પણ યાદ કરે છે। માટે ઈત્સિંગનો આધાર લઈને ભર્તૃહરિ, ધર્મકીર્તિ, અને કુમારિલ આદિનો સમયનિર્ણય કરવો એ ઐતિહાસિકોની ભૂલ છે।

કટન્દી

નયચક્રકાર નયચક્રમાં વૈશેષિકમતના નિરૂપણ અને નિરાકરણના પ્રસંગે 'કટન્દી' નામક ગ્રન્થનો ઉલ્લેખ કરે છે। આ ગ્રન્થ કણાદસૂત્રના ઉપર ભાષ્ય યા ટીકારૂપ હશે। એ ગ્રન્થના કર્તાનું નામ આ ગ્રન્થથી જાણવામાં આવતું નથી કેમકે ગ્રન્થકાર કેવળ 'કટન્દીકાર' આવો સામાન્ય ઉલ્લેખ કરે છે। આ કટન્દીકાર વૈશેષિક પણ્ડિત હશે। હાલમાં ઉપલભ્યમાન વૈશેષિક–ગ્રન્થોમાં આ ભાષ્ય કે ટીકાની સાક્ષી કે એના ઉપર ટીકા–ટિપ્પણો કે ઉદ્ધરણો કર્યાં હોય તેમ દેખાતું નથી। પણ 'અનર્ઘરાઘવનાટક' ના પાંચમા અઙ્કમાં કટન્દીનો વૈશેષિક–પણ્ડિત તરીકે રાવણના નામનો ઉલ્લેખ છે–"રાવમ.–ભો ભો લક્ષ્મણ! વૈશેષિકકટન્દી-પણ્ડિતો જગદ્વિસ્મયમાન પર્યટામિ ક્વચિ રામ. ? તેન સહ વિવદિષ્યે" આ પંક્તિથી રાવણ કટન્દીનો કર્તા છે એમ સ્પષ્ટ થાય છે। 'રુચિપતિ ઉપાધ્યાયે કટન્દીનો રાવણભાષ્યતરીકે ઉલ્લેખ કર્યો છે અને આ જ ઠેકાણે વ્યાપકસ્વલક્ષી'નો પુરાવો પણ ટાંક્યો છે। આ રાવણને જ વેદભાષ્યલખનાર 'સાયણાચાર્યે' પોતાના ભાષ્યમાં સ્મરણ કર્યો હશે[1] 'વૈદિકસાહિત્ય' (પૃ. ૧૭) માં બલદેવ ઉપાધ્યાય લખે છે કે 'રાવણે ઋગ્વેદ ઉપર ભાષ્ય પણ લખ્યું છે અને સાથે સાથે પોતાનો પદપાઠ પણ પ્રસ્તુત કર્યો છે'। વાક્યપદીયટીકામાં ટીકાકાર પુણ્યરાજે 'પર્વતાદાગમં લબ્ધ્વા' આ કારિકાની વ્યાખ્યામાં 'પર્વતાત્ ત્રિકૂટૈકદેશવર્તિનિ(ઃ)તિ શાશિરિ, તત્ર પુષ્પકસ્તે રાવણવિરચિતો મૂલભૂતો વ્યાકરણાગમસ્તિષ્ઠતિ' આ ઉલ્લેખમાં આવતો પણ રાવણ કટન્દીકાર જ હશે। તથા વેદાન્ત શાઙ્કરભાષ્યની રત્નપ્રભામામની ટીકામાં લખ્યું છે કે 'રાવણપ્રણીતે ભાષ્યે દૃશ્યતે ઇતિ ચિરન્તનવૈશેષિક-દશા વેદ ભાષ્યમ્' આમ વૈશેષિક–મતમાં રાવણપ્રણીતભાષ્ય ની સત્તા સિદ્ધ થાય છે। આ બધા રાવણ એક જ હોય તો આનો સમય પતઞ્જલિના પહેલાંનો અને ભર્તૃહરિથી પૂર્વેનો સિદ્ધ થાય છે।

૧૯૬૯. વિ૦ સં૦ માં શ્રાકે ઢુણ્ઢુપાદ ગંગાધરશાસ્ત્રીના પુત્ર મહાદેવ શર્માએ સંશોધિત વૈશેષિકદર્શનની પ્રસ્તાવનામાં લખ્યું છે કે 'પદાર્થસઙ્ગ્રહાભિધ-પ્રશસ્તદેવપ્રણીત-વૈશેષિક સૂત્રભાષ્યસ્ય સાક્ષાત્ પરમ્પરયા વા વ્યાખ્યા રૂપૈકા, દ્વિતીયા તુ રાવણપ્રણીતભાષ્ય ભારદ્વાજીયા વૃત્તિરિતિ દ્વે પ્રાચીનતરે રાવણભાષ્યસ્ય સદ્ભાવ કિરણા-વલીભાસ્કરકન્દલનામગ્રન્થનિર્દેશાદવગમ્યતે' આથી અનુમાન થાય છે કે આ ભારદ્વાજીયા વૃત્તિ જ વાક્યગ્રન્થ હશે અને ભાષ્યગ્રન્થ રાવણકૃત કટન્દી છે। આ બન્ને ઉપર પ્રશસ્તમતિની ટીકા છે ટીકાનું નામ શું હશે એ અજ્ઞાત છે। આ પ્રશસ્તમતિ નયચક્રકાર–મલ્લવાદિસૂરિજીના પૂર્વવર્તી છે। આ વાત તો નિશ્ચિત જ છે। પરન્તુ કેટલા પ્રાચીન છે એ અનિશ્ચિત છે। પદાર્થધર્મસઙ્ગ્રહના કર્તા પ્રશસ્તદેવ એમના જેટલા પ્રાચીન નથી એને જ પ્રશસ્તપાદ પણ કહેવામાં આવે છે। આ ભારદ્વાજવૃત્તિનો જ શઙ્કરમિશ્ર પોતાના વૈશેષિકસૂત્રોપસ્કારમાં ઉલ્લેખ

1 જુઓ —વારાણસીય ચૌખમ્બા સંસ્કૃતસીરિઝ મુદ્રિત ન્યાયબિન્દુની પ્રસ્તાવના।

करे छे उपलभ्यमान वैशेषिकसूत्रना टीकाकारो प्रशस्तमतिना मतनो कथित ज उल्लेख करे छे। वैशेषिक दार्शनिक आ प्रशस्तमति मल्लवादिसूरीश्वरना पूर्ववर्ती छे आ तो सिद्ध ज छे।

बीजा अनेक प्राचीन वैशेषिकसूत्रना व्याख्यानग्रन्थो होवा छतां नयचक्रकार कटन्दीनुं ज खण्डन शा माटे करे छे? अवसरमां ए ग्रन्थमां जैनदर्शन तरफथी पूर्वपक्ष करीने तेनुं खंडन करवामां आव्युं छे माटे तेना प्रतिसम्प्रदायोंने ग्रन्थकारे तेनुं ज ग्रहण कर्युं छे एम लागे छे। नयचक्रना अभ्यासथी आ हेतु सहज जाणी शकाय छे।

कटन्दीमां आवता स्याद्वादना खण्डनथी एक अनुमान थाय छे के ते समयमां पण स्याद्वादने व्यापकी दृष्टिए चर्चनामां आवतो हशे। आजे आ कटन्दीग्रंथ लुप्तप्राय थई गयो होवाथी आपणने अप्राप्य थई गयो छे। अमारु तो मानवुं छे के जैन शासनमां अमुक विद्वाने ज व्यापकदृष्टिए प्रथम वस्तुनिरूपण कर्युं छे ते पहेलां सामान्यतया निरूपण थतुं आवी कल्पना करवी निर्मूळ छे।

प्रशस्तमति

आ एक वैशेषिक सूत्रना व्याख्याकार छे आनो उल्लेख जैन-बौद्धवाङ्मयमां घणो जोवा मळे छे। तेमनाथी निर्मित थयो ग्रन्थ छे ते जाणवामां आव्युं नथी तो पछी तेनी प्राप्तिना विषे शुं कहेवुं! फक्त ते ते ग्रन्थोमां एमना नामथी उद्धरेला वाक्यो ज जोवा मळे छे। आ नयचक्रमां टीकाकार 'कटन्द्यां टीकायाम्' (पृ ६२) एम कहेवाथी कटन्दीनी एक टीकानुं नाम जणावे छे। आगळ 'टीकायां प्रशस्तमतौ' (पृ ६२१) नाम जणावीने ते टीकाना कर्ता प्रशस्तमति छे एम आपणने भास करावे छे। आथी वैशेषिकसूत्रनी कटन्दीटीका रावणकृत छे तेना उपर प्रशस्तमतिनी टीका छे एम तात्पर्य नीकळे छे। जेम पूर्वे बतावेल वसुबन्धु अने दिङ्नाग आ बन्नेना मतनुं साथे साथे निराकरण कर्युं छे तेवी रीते अहीं पण कटन्दी अने तेनी टीकानुं साथे ज खण्डन कर्युं छे।

'युक्तिदीपिका' नामनो सांख्यकारिका उपरनो टीकाग्रन्थ छे। तेमां प्रशस्तमतिनुं नामकी तथा दिङ्नाग वगेरे बौद्धपण्डितोना मतनुं खण्डन छे। पण तेमां धर्मकीर्तिनो उल्लेख नथी तेथी आ ग्रन्थ दिङ्नाग अने धर्मकीर्तिना मध्यकालमां रचेलो छे एम अनुमान कराय छे।

कणाद

आ ऋषि वैशेषिक दर्शनना प्रवर्तक छे आ दर्शन घणुं प्राचीन छे भिन्न ग्रन्थोमां 'विशेष' नामना पदार्थ-पर घणो भार मूकवामां आव्यो छे तेना उपरथी ए दर्शननुं 'वैशेषिक' एवुं नाम पड्युं छे। आ दर्शनना रचनार माटे 'कणाद' 'कणभुक्' 'कणभक्ष' अने 'औलूक्य' एवी संज्ञा पण वापरवामां आवे छे। आमां मुख्य प्रतिपाद्य पदार्थ द्रव्य गुण, कर्म सामान्य, विशेष, समवाय अने अभाव छे। जेने अनेक दर्शनकारो एक या बीजारूपथी स्वीकारे छे आ वैशेषिक सूत्रो अतिप्राचीन होवाथी पाठभेद होवानो बहु संभव रहे छे माटे नयचक्रमां आवता पाठो साथे मुद्रित वैशेषिकसूत्रनो पाठभेद देखाय ए स्वाभाविक छे।

---

१ मता विपश्चित्वर वार वैशाखीसमतामभिजनं (महावीरमतामभिजनं) त्वामवेक्ष्य एकपि ग्रन्थी जैनमतनो विचार कर्यो छे।

आ सूत्रोनो सारांश लइने प्रशस्तपादाचार्ये एक भाष्यनुं निर्माण कर्युं जेने 'प्रशस्तपादभाष्य' कहेवामां आवे छे। वस्तुतः आ भाष्यमां भाष्यलक्षण न होवाथी एने भाष्य न कहेवुं जोइए। प्रशस्तपादाचार्य पण आ निबन्धने भाष्य न कहेतां पदार्थधर्मसङ्ग्रह' कहे छे। 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' (पृ ५१२) मां पण 'पदार्थप्रवेशकग्रन्थ' तरीके एनो उल्लेख कर्यो छे। प्रशस्तपादाचार्यनो समय ई० स० पांचमी सदी मनाय छे।

उपनिषद् महाभारत तथा वैदिक ग्रन्थोना घणां उद्धरणो नयचक्रमां आवे छे अने सनिरूपणने मळतुं निरूपण बतावता 'अन्याह' आ प्रमाणे वाक्य मूकीने उपनिषदोनां प्रमाण टांक्यां छे। आ बधानो रचनाकाळ ब्राह्मणग्रन्थिसो घणो प्राचीन मान्यो छे। आ उपनिषद् आध्यात्मिक ज्ञानना सरोवर छे। आ सरोवरथी ज्ञानना भिन्न भिन्न नदीओ निकळीने भारतमां व्यापेली छे। सांख्य-वेदान्त आदि दर्शनोनी आधारशिला छे। आ उपनिषद् वेदना अन्तिमभागमां ज्ञाननुं निरूपण छे उपनिषदोनी संख्या घणी होवा छतां दश उपनिषदने वेदान्तियो प्रधान माने छे।

वैशेषिक मतनुं ज्यारे खण्डन चाल्युं छे त्यारे मल्लवादिसूरिए 'निष्ठासम्बन्धयोरेककालत्वात्' (सप्तमारे) आ वचननो उल्लेख कर्यो छे। उद्योतकरे पण न्यायवार्तिकमां आ वचन लीधुं छे। पण आ वाक्य उद्योतकरनुं नथी। बीजा कोई वैशेषिकसूत्र उपरना प्राचीन ग्रन्थनुं हशे। आ प्राचीन ग्रन्थ वाक्यग्रन्थ हशे। तेथी ज टीकाकारे आगळ जतां 'इति तु वाक्यकाराभिप्रायोऽनुसृतो भाष्यकारैः' आ वाक्य मूकीने वाक्यकारनी सूचना करी छे एम लागे छे। आ वाक्यग्रन्थ उपर कोई भाष्यग्रन्थ हशे। एम पण आ वचनथी ज जाणवा मळे छे। आ भाष्य उपर प्रशस्तमतिनी टीका हशे ए सम्भवित छे। जे टीकानी ग्रन्थकारे स्थळे स्थळे समालोचना करी छे। जो के वादिदेवसूरि म० 'स्याद्वाद रत्नाकर' मां वैशेषिकसूत्र उपर भाष्यकार तरीके आत्रेयनो उल्लेख कर्यो छे। आ भाष्य तेमनुं छे के बीजा कोईनुं ते नक्की करवानुं बाकी रहे छे।

'तंत्रार्थसङ्ग्रहादिभ्योऽवगन्तव्यम्' आ रीते टीकाकार कोई ग्रन्थनी भलामण करे छे। ते तंत्रार्थसङ्ग्रह छे अथवा 'तत्र' आ रीते छोडीने अर्थसङ्ग्रह' नामनो ग्रन्थ अथवा 'तन्त्रार्थ' आम छोडीने सङ्ग्रहादिभ्योऽवगन्तव्या' आ सङ्ग्रह व्याडिनामना आचार्यकृत व्याकरणविषयनो ज ग्रन्थ छे के बीजो कोई ग्रंथ छे आ जाणवुं कठिन छे।

---

१ प्रणम्य हेतुमीश्वरं मुनिं कणादमन्वतः। पदार्थधर्मसङ्ग्रहः प्रवक्ष्यते महोदयः ॥ वैशेषिकसूत्रनी भाष्य भूमिकामा एक विधान करे छे के 'प्रशस्तपादाचार्यकृतं पदार्थधर्मसङ्ग्रहः प्रवक्ष्यते भाष्यतया वैशेषिका व्यवहरन्ति तदयुक्तम्, प्रकरणग्रन्थारम्भ पदार्थधर्मसङ्ग्रहः प्रवक्ष्यते परन्तु [illegible] भाष्यादेरसौ [illegible] न स्पृशेद। २ एक विद्वान आ वचनोद्धरणमा लिखे छे के [illegible] 'न्यायविनिश्चयविवरणम्' नाम ग्रन्थ छे [illegible] आरम्भमां [illegible] 'सा [illegible]' [illegible] मुनि [illegible]' नाम [illegible] विचार कर्यो छे। [illegible] 'सा' शब्द [illegible] [illegible] करे छे, [illegible] विचार [illegible] करीने बतावे छे। [illegible] एवो [illegible] न करत [illegible] उद्योतकर आ [illegible] पूर्ववर्ती छे। उद्योतकर [illegible] निराकरण करे छे [illegible] उद्योतकरथी [illegible] पूर्ववर्ती छे. ([illegible]) आम मान [illegible] 'विद्वानानां [illegible] परिहरन्' आ श्लोकथी [illegible] सूचन करे छे [illegible] छे। [illegible] विचार छे एवो निश्चय करीने [illegible] मन्तव्य मान्यो [illegible] नहि।

"श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षम्" श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानां मनसाऽधिष्ठिता वृत्तिः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेषु यथाक्रमं ग्रहणे वर्तमाना प्रमाणं प्रत्यक्षम्' आ सांख्यसम्मत प्रत्यक्षनुं लक्षण अने व्याख्या छे जेनुं खण्डन आ ग्रन्थकारे कर्युं छे। उद्योतकरना 'न्यायवार्तिक' मां दिङ्नागना 'प्रमाणसमुच्चय' मां सिद्धसेन दिवाकरनी 'द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका' आदि ग्रन्थोमां आ लक्षणनो उल्लेख जोवा मळे छे. पण आ लक्षण कया ग्रन्थमां कोणे बनावेलुं छे ते उद्योतकर आदि कोई ग्रन्थकारे जणाव्युं नथी। हां 'न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका' मां वाचस्पतिमिश्र 'वार्षगण्यस्यापि लक्षणमुच्चमिताय–श्रोत्रादिवृत्तिरिति' आम कह्युं छे तो पण ग्रन्थनुं तो नाम कह्युं ज नथी। 'सांख्यसप्तति' नी व्याख्यारूप 'युक्तिदीपिका' नामनी टीकामां 'श्रोत्रादिवृत्तिरिति वार्षगणा' आ प्रमाणे जोवा मळे छे। आम पण कया ग्रन्थनुं लक्षण छे ए स्पष्ट थतुं नथी।

षष्टितन्त्रम्

परंतु वार्षगण्यनो बनावेलो अतिप्राचीन 'षष्टितन्त्र' नामनो कोई विपुल ग्रन्थ उपलब्ध छे। किन्तु षष्टितन्त्रना प्रणेता 'पञ्चशिखाचार्य छे के वार्षगण्य छे अने पञ्चशिखाचार्य अने वार्षगण्य एक ज व्यक्तिनुं नाम छे के भिन्न भिन्न व्यक्ति छे ए विषयमां ऐतिहासिकोमां मतभेद प्रवर्ते छे।

'योगभाष्य' मां योगपादना १९ मा सूत्रमां 'तथा च शास्त्रानुशासनम्' 'गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति। यत्तु दृष्टिपथप्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्" आ श्लोक आवे छे। तेनी व्याख्यारूप 'तत्त्ववैशारदी'मां वाचस्पतिमिश्रे 'षष्टितन्त्रस्य शास्त्रशासनम्' आ प्रमाणे कह्युं छे। आ ज कारिकाने 'ब्रह्मसूत्र' ना बीजा अध्यायना भाष्यनी 'भामती' नामनी टीकामां वाचस्पतिमिश्रे 'अत एव योगशास्त्रं व्युत्पादयिता आह स्म भगवान् वार्षगण्य' एटले वाचस्पतिमिश्र षष्टितन्त्रना कर्ता वार्षगण्य छे एम माने छे। आ नयचक्रमां तृतीय अरमां 'विभक्तशिष्यके वार्षगणे तन्त्रे [illegible]' अर्थात् मल्लवादिसूरि पण षष्टितन्त्रना कर्ता वार्षगण्यने माने छे। आ वार्षगण्य 'ईश्वरकृष्ण' ना पूर्ववर्ती विक्रमना प्रथम शतकना मध्यमां वर्तमान सांख्ययोगाचार्य छे एम केटलाक ऐतिहासिको माने छे। बीजा केटलाक ऐतिहासिको षष्टितन्त्रना निर्माता पञ्चशिखाचार्य छे ईश्वरकृष्ण पण षष्टितन्त्रना कर्ता पञ्चशिखाचार्य छे एवी मान्यताने धारण करनारा छे। "एतत्पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ। आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन बहुधा कृतं तन्त्रम्॥ शिष्यपरम्परयागतमीश्वरकृष्णेन चैतदार्याभिः। संक्षिप्तमार्यमतिना सम्यग्विज्ञाय सिद्धान्तम्॥ सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य। आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि" आ कारिकाओनो सारी रीते विचार करवामां आवे तो ईश्वरकृष्ण षष्टितन्त्रने पञ्चशिखाचार्यनी कृति माने छे आ वात यथार्थ समजाशे।

---

१ '[illegible]' 'वार्षगणे तन्त्रे' 'तेन बहुधा कृतं तन्त्रं' 'कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य' 'पञ्चशिखेन मुनिना बहुधा कृतं तन्त्रं षष्टितन्त्राख्यं' [illegible] विपुलं तन्त्रं' आ उल्लेखोना आधारे [illegible] षष्टितन्त्र [illegible] छे ते [illegible] नामना आचार्यनी [illegible] वार्षगण्य, वार्षगण्य एम [illegible] कहेवामां आवे छे। आ [illegible] पण कहेवामां आवे छे। [illegible] 'गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति' [illegible] मां कहेवामां आव्युं छे। [illegible] वाचस्पति मिश्र पण भामतीमां 'योगशास्त्रं व्युत्पादयिता आह स्म भगवान् वार्षगण्य' आम लख्युं छे। अथवा [illegible] षष्टितन्त्र योगशास्त्रनो ग्रन्थ छे एम मानवामां [illegible] नथी। आ [illegible] ([illegible]) थयुं होय। [illegible] योगशास्त्र [illegible] प्रयोग कर्यो होय।।

'जयमङ्गला' मां 'पञ्चशिखेन मुनिना बहुधा कृतं तंत्रं षष्ठितन्त्राख्यं षष्ठिखण्डं कृतमिति तत्रैव षष्ठिरर्था व्याख्याता' आ प्रमाणे 'सहृदयाचार्य' पण कहे छे । 'सुवर्णसप्तति' मां पण 'अयं पञ्चशिख' षष्ठिसहस्रगाथात्मकं विपुलं तंत्रं प्रोक्तवान्' ए ज प्रमाणे जोवा मळे छे । आ षष्ठितंत्र वाचस्पतिमिश्रना जोवामां आव्युं नथी एम जणाइ मानवुं छे कारण के 'रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च परस्परेण विरुध्यन्ते सामान्यानि त्वतिशयैः सह प्रवर्तन्ते' आ वाक्यने तत्त्ववैशारदीमां पञ्चशिखाचार्यनुं जणावे छे पण विक्रमनी छठ्ठी शताब्दिमां बनेली युक्तिदीपिकामां 'तथा च भगवान् वार्षगण्य पठति' आ प्रमाणे नामोल्लेखपूर्वक 'रूपातिशया' आ वाक्यने टांक्युं छे । तेमां ज 'तथाच वार्षगणा पठन्ति तदेतत्त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति इत्यत्र प्रतिषेधात् अपेतमप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात् संसर्गाच्च सौक्ष्म्यं सौक्ष्म्याच्चानुपलब्धिरिति' आ वचन आवे छे के जेनो व्यासभाष्यमां पण उल्लेख आवे छे । तेनी व्याख्यामां वाचस्पतिमिश्रे व्यासमहर्षिनुं छे एम जणाव्युं छे । आ वाक्यने केटलाक इति-हासप्रेमिओ न्यायसूत्रना 'वात्स्यायनभाष्य' मां जोईने व्यास अने वात्स्यायनना समयमां पौर्वापर्यनी कल्पना करे छे । आम षष्ठितंत्रना कर्तृविषयमां चोक्कस निर्णय करी शकायो नथी । तेमां 'परमार्थ' नामना बौद्धभिक्षु अने ऐतिहासिकोनुं अणजाणपणुं ज कारण छे ।

अमने तो लागे छे के वार्षगण्य ए व्यक्ति विशेषनुं नाम नथी पण जेम माठर गोत्रनिष्पन्नाम छे पक्षिल-स्वामीनुं वात्स्यायन छे अने उद्योतकरनुं भारद्वाज छे तेम पंचशिखनो ज अपर पर्याय वार्षगण्य हशे ? वृषगण गोत्रथी बनेलुं हशे ? पाणिनि सूत्र 'गर्गादिभ्यो यञ्' आ सूत्रना गर्गादिगणमां वृषगण शब्द छे 'वृषगणस्य गोत्रापत्यं वार्षगण्यः' आ प्रमाणे यञ् प्रत्ययान्त आ शब्द छे । 'नडादिभ्य फक्' आ सूत्रमां आवेला नडादि-गण मां 'अग्निशर्मन् वृषगणे' आ पाठ आवे छे वृषगण गोत्रमां अग्निशर्मन् शब्दथी फक्प्रत्यय आवे छे आ गोत्र पारिभाषिक छे ।

वार्षगण्य ईश्वर कृष्णना गुरु छे प्रथम शासनकर्ता छे आ प्रमाणे परमार्थ कहे छे, पण ते बराबर नथी केमके सुप्राचीन अर्हदागम अनुयोगद्वार, नन्दिसूत्र कल्पसूत्र तथा भगवतीजीमां पण षष्ठितंत्रनुं नाम आवे छे । अर्थात् षष्ठितंत्र घणुं ज प्राचीन छे कोई ठेकाणे षष्ठितंत्रना कर्ता तरीके पञ्चशिखाचार्यनुं नाम आवे छे तो कोई ठेकाणे वार्षगण्यनुं नाम आवे छे ते परस्पर विरुद्ध नथी पण एक गोत्रज नाम छे ज्यारे बीजुं व्यक्तिनुं नाम छे बन्ने एक छे एम लागे छे ।

ईश्वरकृष्ण

नयचक्रकारे ईश्वरकृष्ण विरचित 'सांख्य सप्तति' नी एक पण कारिका लीधी नथी । पण प्रधानपणे षष्ठितंत्रमां निरूपेला ज पदार्थो लीधा छे । वाथी ज श्रेमणे 'विमतरशिष्यते वार्षगणे तंत्रे' आम कहुं छे । ईश्वरकृष्ण विक्रमनी प्रथमसदीना मनाय छे । आ ग्रन्थकारे ज्यां ज्यां खण्डनीय विषय लीधो छे ते सर्वदर्शनो ना मूळभूत ग्रन्थोनो ज आधार लइने । वाथी सांख्यसप्ततिनो आधार नहि लेवायो होय । आ विषयमां विद्वानो विचार करशे ।

आ सांख्यसप्ततिनो खण्डनात्मक ग्रन्थ वसुबन्धुए रचेलो परमार्थसप्तति छे एम बौद्ध ऐतिहासिको माने छे । तेओ कहे छे के एक समये विन्ध्यवासी नामना सांख्याचार्ये वसुबन्धुनी अनुपस्थितिमां तेना गुरु

बुद्धमित्रने वादमां हराव्यो, केटलाक समय पछी गुरुना पराजयने सांभळीने वसुबन्धुए विन्ध्यवासीने शास्त्रार्थ माटे आमंत्रण आप्युं । परन्तु त्यारे ते विन्ध्यवासी मृत्यु पाम्या हता । तेथी पोताना मनने संतोषवा खातर सांख्यसप्ततिना खण्डनमां परमार्थसप्ततिनी रचना करी । परन्तु आ विन्ध्यवासी ईश्वरकृष्ण नथी एम अमने लागे छे । केमके केटलाक ऐतिहासिको एम पण कहे छे के ईश्वरकृष्णनो वसुबन्धुना शिष्य दिङ्नागनी साथे शपथपूर्वक शास्त्रार्थ थयो हतो । तेमां ईश्वरकृष्णे हारी गया होवा छतां बौद्धधर्मने स्वीकार्यो नहीं । त्यारे विपण्ण थई दिङ्नागे ध्यानोपदेश ग्रन्थ करी दीधो । पछी आर्यमञ्जुश्रीनी प्रेरणाथी शान्त थईने प्रमाणसमुच्चयनी रचना करी एम परस्पर विरुद्ध वातोथी संशय थाय छे के आ बे कथनोमां कयुं साचुं छे । गमे तेम होय सांख्यसप्ततिना कर्ता विन्ध्यवासी ईश्वरकृष्ण नथी । केमके बन्नेनो सिद्धान्त भिन्नभिन्न छे । हा, रुद्रिल नामना एक सांख्याचार्य हता । तेनी साथे बुद्धमित्रनो वाद थयो हशे । 'यदेव दधि तत्क्षीरं यत्क्षीरं तद्दधीति च । वदता रुद्रिलेनैव ख्यापिता विन्ध्यवासिता ॥'[1] आ प्राचीन कारिकामां विन्ध्यवासी रुद्रिलनो उल्लेख छे । अनुयोगद्वारमां कनकसप्ततिनो उल्लेख छे आ कनकसप्तति (सुवर्णसप्तति) सांख्यसप्तति मानवामां आवे तो ईश्वरकृष्ण विक्रमराज्य पहेलांनो अथवा तेनाथी पूर्ववर्ती साबित थाय छे । आ वात तो नक्की छे के वसुबन्धु अथवा दिङ्नाग नी साथे ईश्वरकृष्णनो कोई पण सम्बन्ध न हतो ।

शङ्करस्वामी, हरिभद्रसूरि, अने माठराचार्य आ त्रणे विद्वान्, वसुबन्धुना शिष्यो हता । माठराचार्ये सांख्यसप्ततिनी व्याख्या रची छे जेनो चीनीभाषामां अनुवाद परमार्थ महाशये (५ –५६ ई स) कर्यो हतो एम बौद्ध ऐतिहासिको कहे छे । आ वातने इतिहासकार विक्रमशास्त्रि स्वीकारता नथी । अमे पण एम ज मानीये छीए । केमके माठरवृत्ति अने परमार्थना अनुवादमां थोडुं पण साम्य देखातुं नथी । माठरवृत्तिमां ईश्वरकृष्णने बहुमानपूर्वक याद करे छे । माठरनुं नाम पण अनुयोगद्वारना मिथ्याश्रुतना उदाहरणमां आवे छे । श्रीभगवतीसूत्रमां केवल षष्टितन्त्रनो ज उल्लेख छे माटे ईश्वरकृष्ण अने अनुयोगमां पठित माठर ज माठराचार्य होय तो माठराचार्यनो समय श्रीभगवतीजीना पछी अने अनुयोगद्वारथी पहेलानो छे एम सिद्ध थाय छे । अनुयोगद्वारकर्ता आर्यरक्षितसूरिजीनो समय विक्रमसंवत ५२ मां जन्म अने दीक्षा ७४ युगप्रधानपद ११४ स्वर्गवास १२७ मां छे ।

वसुबन्धुना शिष्य हरिभद्रसूरि पण जैनमतप्रसिद्ध अनेकान्तजयपताकादि ग्रन्थोना रचयिता हरिभद्रसूरीश्वरथी जुदा छे । जैनाचार्य हरिभद्रसूरिए तो पोताना ग्रन्थोमां धर्मकीर्ति आदि प्राचीन अर्वाचीन बौद्धोना सिद्धान्तनुं निराकरण कर्युं छे ।

नयचक्रमां मल्लवादि सूरिए प्रथम आरम्भ 'चक्षुर्विज्ञानसमङ्गी नीलं विजानाति नो तु नीलम्' आम 'बुद्धवचन' 'अभिधर्मकोश' तथा तेनी व्याख्यारूप वसुमित्र विरचित 'प्रकरणपाद' नो पण निर्देश

---

१ यदुक्तं वार्त्तिकेन- एवमन्य प्रकृतमात्रात्मकत्वात् रूपैरिति विन्ध्यवासी, प्रधानेभेदान् ततोऽहङ्कारस्तस्माद्भूत... इत्यवगम्य रुद्रिलादि विन्ध्यवासी परिविकल्पसामान्यतः... विन्ध्यवासी ... एवमादिसंख्या... एवं विन्ध्यवासिन ... विन्ध्यवासिनः ... वार्षगण्यादि विन्ध्यवासी, अस्तीति ईश्वरकृष्णादयः ।

कर्यो छे। तथा 'धर्मो नामोऽध्यते नामकाय पदकायो व्यञ्जनकाय' इति अभिधर्मपिटकशास्त्रग्रन्थोना वचनो लेखामां आव्या छे।

बुद्धनो निर्वाण समय ऐतिहासिको नक्की करी शक्या नथी। भारतीयरूपरेखामां जयचन्द्र विद्यालङ्कार ई० पू० ५४४ जणावे छे, बौद्धदर्शनमां पं० बलदेव उपाध्याय वि० पू० ४२६ ई० पू० ४८२ बतलावे छे, ह्युनसाङ्गना समयमां बुद्धदेवनो निर्वाण समय कोई १२०० वर्ष कहेता हता तो बीजाओ १५०० वर्ष कहेता हता केटलाको ९०० वर्ष बोलता हता, फाहियानने कहेलुं एम हतुं के बुद्धनिर्वाण ई० पू० ११०० मां थयुं हतुं केमके मूर्तिनी स्थापना बुद्धना परिनिर्वाण पछी २०० वर्षे थई हती। ते वखते हान देशमां चाऊवंशी महाराजा पिङ्गनुं राज्य हतुं पिङ्गनो शासन काल ई० पू० ७५०—७१९ हतो।

भगवदत्त महाशय बुद्धदेवनुं निर्वाण भारत युद्धनी पछी १२५० वर्षे अर्थात् वि० पू० १७२० मां थयुं हशे एम जणावे छे। पन्यास श्री कल्याण विजयजी 'वीरनिर्वाण संवत् और जैनकाल गणना'मां महावीर निर्वाणथी १४ वर्ष ५½ मास पूर्वमां बुद्धनुं परिनिर्वाण थयुं छे एम जणावे छे आम बुद्धनो निर्वाण समय अचोक्कस छे।

बुद्ध निर्वाणना पछी अल्प वर्षोमां ज प्रथम परिषद् (सङ्गीति) मळी। बीजी परिषद् विक्रम पू० ३२९ मां अने त्रीजी अशोक राजाना राज्यकाळमां थई हती। आ क्रमे सभाओमां सूत्र, विनय, अने अभिधर्मनो क्रमशः सङ्ग्रह थयो। ते पछी पाटलिपुत्रना राजा कुशानवंशीय कनिष्कद्वारा काश्मीरना समीपमां भेगी थयेली चोथी समितिमां द्वितीय वसुमित्र अने अश्वघोषपुरस्सर समितिवासियोए त्रिपिटक ऊपर भाष्य बनाव्यां जेने 'महाविभाषा' कहे छे।

कनिष्कना समयविषे ऐतिहासिकोमां मतभेद चाले छे। केटलाक ऐतिहासिको ई० पू० १०० मां कनिष्कनो शासन काळ कहे छे। आनी राजसभामां पण्डित नागार्जुन अने अश्वघोष हता। अश्वघोष महायान सिद्धान्तना प्रवर्तक छे एम मनाय छे।

नागार्जुन

अश्वघोषना पछी नागार्जुन थया। एमणे 'मध्यमककारिका' 'विग्रहव्यावर्तिनी' आदि ग्रन्थोनी रचना करी छे। गौतमीपुत्र यज्ञश्रीना समसामयिक मनाय छे। जेथी ई० प्रथम शतकनो प्रारम्भकाल आवे छे। आ नागार्जुने पोताना 'सुहृल्लेख' प्रथम यज्ञश्री सातवाहनने परमार्थ अने व्यवहारनी शिक्षा आपी छे। प्रज्ञापारमितामां विस्तृत विवेचन करायेला माध्यमिक मतने तर्क रीतिथी विस्तारपूर्वक विवेचन करनार नागार्जुने माध्यमिक कारिकामां शून्यवादनी प्रतिष्ठापना करी छे। जे बुद्धना प्रतीत्य समुत्पादने विकसित करनार छे। आ कारिकामां नागार्जुन पोतानी तार्किकशक्ति अने अलौकिक प्रतिभानो परिचय करावे छे। आ जगत उत्पत्ति

---

१ मातृचेट एक प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थकार छे। कनिष्कना समयमां ते वृद्ध हता। कनिष्क तेने पोतानी सभामां आववानुं आमंत्रण आप्युं। मातृचेट वृद्धावस्थामां असमर्थ हता। तेथी कनिष्कने पत्र लख्यो। ते पत्र 'महाराज कनिष्कलेख'ना नामथी तिब्बती भाषामां हाल पण विद्यमान छे। आ कनिष्क बुद्धथी ४ वर्षे पछी थया हता। (भारतवर्षका इतिहास पृ ३११) धूमकेतु पण कनिष्क, बुद्ध नि ४ वर्षमां हता एम कहे छे।

सिद्धि अने व्ययरूपथी अनादिअनन्त स्वरूप छे । आ दार्शनिकोनी मान्यता छे । नागार्जुन तो आ मान्यतानुं निराकरण करे छे । कार्यकारणभावनी कल्पना ज टकी शकती नथी एटले उत्पत्ति वगेरे केम थई शके । अने आ कल्पनाओ 'न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः । उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन ॥ (चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः ॥ उत्तरार्ध पाठान्तर) आ माध्यमिक कारिका (१।७) थी निराकरण करेछे । आ ज कारिकाने लईने नयचक्रकारे नियमनियमार (१२) मां विस्तारपूर्वक विचार कर्यो छे । आनी सिद्धि, असिद्धि, असुक्ति, अनुत्पाद, सामग्रीदर्शन अने अदर्शनरूप हेतुओ के जेनुं निरूपण प्रमाणवार्तिकमां पण विस्तारथी करेलुं छे तेम हेतुओ लईने आ ग्रन्थकारे पण शून्यतानुं निरूपण कर्युं छे । अन्ते आम थवानुं अरना अन्तरमां प्रौढ युक्तिओथी निराकरण कर्युं छे ।

आमना शिष्य आर्यदेवे 'चतुःशतक' 'हस्तवालप्रकरण' आदि ग्रन्थोनी रचना करी छे हस्तवाल-प्रकरणनी 'रज्ज्वां सर्प इति ज्ञानं' आ कारिकाने नयचक्रकारे टांकी छे । आ ग्रन्थनुं बीजुं नाम 'मुष्टिप्रकरण' पण छे । आना ऊपर दिङ्नागे एक व्याख्या करी हती ।

वसुबन्धु

आचार्य वसुबंधु बौद्धमतना प्रकाण्ड दार्शनिक हता । राजा कनिष्कना समयमां 'ज्ञानप्रस्थान' ऊपर एक महान् भाष्यनुं निर्माण थयुं हतुं जे विभाषा कहेवाय छे । जेना ऊपर 'महाविभाषाशास्त्र' नामनी एक टीका छे । ए भाष्यनो आधार लईने वसुबन्धुए स्वोपज्ञ अभिधर्मकोशनी रचना करी हती । पूर्वमां आ विद्वान वैभाषिक हता । पछीथी एमना ज ज्येष्ठ भ्राता असंगना संसर्गमां आववाथी योगाचारमतमां आव्या हता । आमने माटे बौद्धविद्वानो कहे छे के पाछळथी पोताना पूर्वजीवनमां करेली महायाननी निन्दाना स्मरणथी भारे ग्लानि थई हती जेथी पोतानी जीभने कापी नाखवा तैयार थई गया हता । ते वखते पण तेमना भाई असंगे बचावी लीधा हता अने तेमणे महायान संप्रदायनी सेवानो भार उठाव्यो हतो । एमणे महायानसंप्रदाय संबंधी घणा ग्रन्थो बनाव्या हता ।

आचार्य मल्लवादिसूरिए अभिधर्मपिटकना प्रत्यक्षविषयक मन्तव्यनुं सयुक्तिक निराकरण करवा केवलए अभिधर्मकोश तथा तेना भाष्यनो विस्तारपूर्वक विचार करीने निराकरण कर्युं छे । ते ज प्रसंगमां प्रथम वसुमित्र-विरचित 'प्रकरणपाद' नुं पण प्रत्याख्यान कर्युं छे ।

आ वसुबन्धुना समयविषे मतभेद प्रवर्ते छे । जापानना विद्वान तकाकुसुए एनो समय ई० स० ५ कह्यो छे पण आ वसुबन्धुना ज्येष्ठ भ्राता असंगना ग्रन्थो ऊपर चीनी भाषामां लगभग ई० स० ४ मां भिक्षुक धर्मरक्षे अनुवाद कर्यो छे माटे धर्मरक्षथी पूर्ववर्ती आ आचार्य छे । काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिकर्ता वामन पण्डिते पोतानी वृत्तिमां 'सोऽयं सम्प्रति चन्द्रगुप्ततनयः चन्द्रप्रकाशो युवा जातो भूपतिराश्रयः कृतधियां दिष्ट्या कृतार्थश्रम' आम कह्युं छे । आ इतिहासकारो 'कृतधियां' पदथी वसुबन्धुने वृत्तिकार याद करे छे एम माने छे । अर्थात् गुप्तवंशीय प्रथम चन्द्रगुप्तना मन्त्री तरीके वसुबन्धुने कहे छे । आ गुप्तवंशीय राजा चौथा शतकना पूर्वार्धमां थयो हतो । वसुबन्धुनो आ ज समय मानवो ठीक छे ।

गुप्तवंशना प्रारम्भसमयविषे इतिहासकारोनी मान्यता अनेकविध छे। केटलाक विद्वानो आंध्रराज्य कालमां ज गुप्तवंश शरू थई गयो हतो आम माने छे। आ गुप्तवंशने ज आंध्रभृत्यवंश कहेवामां आवे छे 'एते प्रणतसामन्ता श्रीमद्गुप्तकुलोद्भवा'। श्रीपार्वतीयांध्रभृत्य-नामानः चक्रवर्तिनः॥' आवी रीते कलियुगराजवृत्तान्तमां उल्लेख छे। आ वंश कृष्णानदीनी दक्षिणदिशामां श्रीशैलनामना पर्वतप्रदेशमां शरूआतमां राज्य करतो हतो। ते वंशमां तृतीय राजा प्रथमचंद्रगुप्त तेनो पुत्र समुद्रगुप्त हतो जेने संगीतविशारद होवाथी गन्धर्वसेन पण केटलाको कहेता हता। तेना पुत्ररत्नने केटलाक ऐतिहासिको पराक्रममां सूर्य जेवो होवाथी विक्रमादित्य द्वितीयचन्द्रगुप्त शकारि साहसाङ्क माने छे। एम मनाय तो आ विक्रमादित्यथी पूर्ववर्ती चहुक्रमु थशे।

चरकसंहिता

आ ग्रन्थक्रममां चरकसुश्रुतना केटलाक वचनो जोवामां आवे छे। वैद्यकने अंगता प्राचीनतम प्रमाणभूत पाछळना वैद्यक ग्रन्थोना मूळभूत चरकसंहिता अने सुश्रुतसंहिता आ बे ग्रन्थ छे। आ बे ग्रंथना पूर्व काळमां पण आयुर्वेद विषयना केटलाक सूत्रो अने शाखो विषमान हता। पुनर्वसु आत्रेये 'छ' शिष्यो ने आयुर्वेद भणाव्यो। पहेला अग्निवेशे रचेला तंत्रनो प्रतिसंस्कार करीने चरके आ संहितानी रचना करी छे। केमके आ संहितामां दरेक अध्यायनी शरूआतमां 'आत्रेय उवाच' तथा स्थळे स्थळे अग्निवेश प्रश्न करे छे अने पुनर्वसु आत्रेय उत्तर आपे छे। आ रीते आ संहिता होवाथी आना मूळ उपदेशक पुनर्वसुआत्रेय छे। आमां अग्निवेशना वचनोने जुदां करी शेष वचन बधांय पुनर्वसु आत्रेयनां कही शकाय एम नथी केमके अध्यायोना अन्तमां 'अग्निवेशकृते तंत्रे चरकप्रतिसंस्कृते' आनो उल्लेख जोवामां आवे छे। एटले पुनर्वसु-आत्रेये उपदेश आप्यो। अग्निवेशे जे तंत्र रच्युं तेनो चरके प्रतिसंस्कार करीने चरकसंहिता करी। प्रतिसंस्कार एटले संक्षिप्तार्थनो विस्तार के अतिविस्तृतनो संक्षेपकरवो, ते पछी पण दृढबले पोताना ४१ अध्यायनो उमेरो कर्यो। आ प्रकारे कुल चरकसंहिताना १२० अध्यायो थाय छे।

प्राचीनकाळमां त्रण आत्रेयनां नाम मळे छे (१) पुनर्वसु आत्रेय (२) कृष्णा आत्रेय अने (३) भिक्षु आत्रेय। 'गान्धर्वं नारदो वेदं कृष्णात्रेयश्चिकित्सितम्' (महाभारत, शां०, अ २१०) आ वचनथी आयुर्वेदना मूळ आचार्य कृष्णात्रेय होवा जोईए। श्रीकंठ टीकाकार 'कृष्णात्रेयः पुनर्वसुः' आ रीते कृष्णात्रेयने ज पुनर्वसु कहे छे। 'अग्निवेशाय गुरुणा कृष्णात्रेयेण भाषितं' (चरक- चि० अ० २८ श्लो० १५१) तथा 'कृष्णात्रेयेण गुरुणा भाषितं वैद्यपूजितम्' आ बधां वाक्योथी पुनर्वसु आत्रेयने ज कृष्णात्रेय कहे छे आथी नक्की थाय छे के पुनर्वसुआत्रेय अने कृष्णात्रेय आ बन्ने एक ज व्यक्तिनां नाम छे।

---

१ एवो कोई पराक्रमी राजा हतो जेनुं नाम विक्रमादित्य हतुं माटे ज बीजा पराक्रमी राजाओ पोताने पराक्रमी दर्शाववा ते ज विक्रमादित्यनो आरोप करीने अमुक राजा विक्रमादित्य छे आवुं नामकरण करे छे आवी मान्यता थोडी छे। २ 'सर्वांश स्त्रवणम्भिर्निवमयाच' चरक. चि अ ८ तथा 'चिकित्सितानातस्तत्र वसुविथाः स्त्रकारान्यायीनां धन्वि कर्मणाम्' चरक. शा अ ६ तथा 'भिषिमानि हि धामानि प्रचरन्ति कोर्के' चरक. चि अ ८। ३ आ पुनर्वसु आत्रेयनो चान्द्रभागिनामथी पण ओळखावमां आवे छे (चर. सू. ११ भेलसंहिता सू. ३१ मां) आ नामथी आ आत्रेय चंद्रभाग नामना स्थळना रहेवासी होय एम लागे छे।

भिक्षु आत्रेय—बौद्धजातकमां मळे छे के बुद्धना समये अथवा थोडाक पूर्वसमयमां तक्षशिलामां वैद्यकविद्याना मुख्य अध्यापक भिक्षु आत्रेय हता। बुद्धना अपोलना अने बिम्बसारना चिकित्सक जीवक कुमारभृत्य आ आत्रेयनी पासे ज वैद्यक शीख्या हता। आ आत्रेय ज चरकसंहिताना मूळ प्रवक्ता पुनर्वसु आत्रेय छे आवो हर्नल महाशयनो मत छे। आ मत युक्त होय तो ई० पू० ६ ०मी आसपास आत्रेय थया हशे। केटलाक इतिहासवेत्ताओ पुनर्वसु आत्रेय अतिप्राचीन छे ने भिक्षु आत्रेयथी अन्य छे एम माने छे। परन्तु पुनर्वसु आत्रेय अने भिक्षु आत्रेय समकालीन छे केमके यज्जःपुरुषीय अध्यायमां पुनर्वसु आत्रेयनी साथे चर्चा करनाराओमां भिक्षु आत्रेयनुं[1] पण नाम छे।

चरक—पाणिनि सूत्रमां 'कठचरकाल्लुक्' थी निर्देश करायेल चरक यजुर्वेदनी शाखाना प्रवर्तक ऋषि छे, पण अग्निवेशतन्त्रना प्रतिसंस्कर्ता चरक नथी। 'पातञ्जलमहाभाष्यचरकप्रतिसंस्कृतैः। मनोवाक्कायदोषाणां हर्त्रेऽहिपतये नमः॥' आ श्लोकथी चरकना टीकाकार चक्रपाणिदत्त टीकाना आरम्भमां चरकना प्रतिसंस्कार कर्ता पतञ्जलिने नमस्कार करे छे तथा पतञ्जलि अने चरकने एक माने छे। तथा योगसूत्रवृत्तिकार भोज योगवार्तिककार विज्ञानभिक्षु तथा वैयाकरण नागेशभट्ट पण चरक अने पतञ्जलिने अभिन्न माने छे केमके चरक मोक्षनुं साधन योग माने छे तथा तत्त्वोनी गणनामां सांख्य—सम्मत तत्त्वोनुं ज अनुसरण करे छे। जो के भर्तृहरि, कैयट आदि महाभाष्यना व्याख्यानकारोए पतञ्जलिनो योगसूत्र के चरकसंहिताना कर्ता तरीके क्यांय पण उल्लेख कर्यो नथी। केटलाको योगसूत्रमां स्फोटवाद अने विज्ञानवादनुं निराकरण आवतुं होवाथी तेना कर्ता पतञ्जलि नथी आम कहे छे पण आ कथनमां आ प्रबल प्रमाण कही शकाय नहीं केमके स्फोटवाद अने विज्ञानवाद जूनो ज छे एम बौद्धो पण कही शके तेम नथी माटे पतंजलिने योगसूत्रकर्ता मानवामां प्रबल विरोध आवतो नथी। केमके एक पतंजलि सामवेदनी शाखाना प्रवर्तक छे। योगसूत्रभाष्यमां वाचस्पतिमिश्र पण कोई पतंजलिनुं वचन टांके छे। युक्तिदीपिकामां पण पतंजलिना सांख्यविषयक वाक्यो जोवामां आवे छे। अंगिरस-पतंजलिनो उल्लेख मत्स्यपुराणमां छे। पाणिनि २–४–६९ उपकादिगणमां पतंजलिनुं स्मरण करे छे। चरकमां सांख्योना चोवीसे तत्त्वोनुं वर्णन छे ने पञ्चशिखे ईश्वरने मूकीने चोवीस तत्त्वनुं वर्णन कर्युं छे। चरकमां तन्मात्रानो उल्लेख नथी। एटले आ चरकने पतञ्जलि मानवामां बाधो नथी। आ पतञ्जलि व्याकरणमहाभाष्यकर्ता पतंजलिथी अन्य छे। पातञ्जलशास्त्र, योगसूत्र अने निदानसूत्रना कर्ता एक ज पतञ्जलि छे। महाभाष्यकार पतंजलि अन्य छे। चरकमां वैशेषिकसूत्रमां कहेला पदार्थोनो उल्लेख छे माटे चरकप्रतिसंस्करण कणाद ऋषिना पछीनुं अने महाभाष्यकार पतंजलिथी पूर्वेनुं होवुं जोइए। प्रख्यात राजाधिराज कनिष्कना दरबारमां एक वैद्य चरक हतो। केटलाक इतिहासकारो आ

1 जुओ चरक सू० अ० २५ यज्जःपुरुषीय अध्याय। २ [illegible] योऽव्यक्तम् [illegible]। [illegible] पंचभूत. चैव [illegible]॥ अहीं जुओ एम २५ तत्त्व आ [illegible] मत छे। पातंजलयोगसूत्र अने महाभारतमां २६ तत्त्व आवे छे। चरकमां २४ तत्त्वो कह्या छे। ३ [illegible] [illegible]। ४ [illegible] ॥ [illegible]। [illegible] ॥ चर० सू० अ० १ श्लो० ४५ ६ ॥

चरकने ज अग्निवेशतंत्रना प्रतिसंस्कर्ता माने छे परन्तु आम्नी सत्यताने मूकीने कोई चोक्खो पुरावो मळतो नथी । आ कनिष्कनो समय वि० पू० ५० नी आसपासनो छे । 'चिकित्सितं यत्न चकार मात्रिः पश्चात्तदात्रेय महर्षिदेगात्' आ रीते बुद्धचरितमां अश्वघोष पण आत्रेयना उपदेशने संहिता करे छे । चरक केवळ प्रति-संस्कर्ता छे कर्ता नथी, एम माने छे । माटे अश्वघोषथी पण प्राचीन होवाथी तेना कर्ता कनिष्ककालीन चरक थई शकता नथी ।

आ चरकसंहितामां ४१ अध्यायने उमेरनार दृढबल काश्मीर प्रान्तना पञ्चनदपुरमां जन्मेला छे । एमणे उमेरेला पाठोना उद्धरणकर्ता चक्रपाणि, दत्त अने विजयरक्षितआदि विद्वानो ते पाठने काश्मीरपाठ कहे छे । दृढबले उमेरेला पाठनुं उद्धरण वाग्भटे कर्युं छे । वाग्भटनो एक पाठ वराहमिहिरे पोताना कान्दर्पिक-प्रकरणमां टांक्यो छे । एटले वराहमिहिरथी पूर्ववर्ती वाग्भट छे । तेनाथी पूर्वकालीन दृढबल छे । वाग्भटने ई० पांचवी सदीनो मानवामां आवे छे । दृढबलनो समय ई० स० ३०० थी ४०० नी वचे मानवामां हरकत नथी । दृढबल कपिलबलनो पुत्र छे । आ कपिलबलनो अष्टाङ्गहृदयमां वाग्भटे उल्लेख कर्यो छे ।

सुश्रुत

दिवोदासधन्वन्तरिए शल्यतंत्र विषे आपेला उपदेशनो सङ्ग्रह करी सुश्रुते आ तंत्र रच्युं । परन्तु वर्तमान सुश्रुतसंहितामां आयुर्वेदना आठे अंगोनुं वर्णन छे । प्रथम पांच स्थानमां १२० अध्याय छे । आने वृद्धसुश्रुत कहे छे । आने वृद्धसुश्रुत पण कहे छे । तेमां पछीथी ६६ अध्यायोनुं उत्तरतंत्र उमेरायुं छे । आ उत्तरतंत्रमां अग्निवेश, भेल, विदेह, पार्वतक, जीवक वगेरेना तंत्रोमांथी अनेक विषयो लीधेला छे । उत्तरतंत्रकारे उत्तरतंत्रने उमेरतां पूर्वना पांच स्थानोमां सुधारो वधारो कर्यो छे के नहीं ए कहेवुं मुश्केल छे । आ उत्तरतंत्रने कोणे उमेर्युं ? ते पहेलां सुश्रुततंत्रनो प्रतिसंस्कार कोइए कर्यो हतो के नहि ? एना उत्तरमां हालनी प्रतिसंस्कृत सुश्रुत-संहिता मौन छे केमके अनेक टीकाकारोए उद्धृत करेला वृद्धसुश्रुतना पाठो आ सुश्रुतमां मळता नथी । सुश्रुतनो प्रतिसंस्कार अनेक वार थयो छे । प्रतिसंस्कारकर्ता तरीके वृद्धवाग्भट, जेज्जट, चन्द्रट अने नागार्जुनना नामो बोलाय छे ।

'विश्वामित्रसुतः श्रीमान् सुश्रुतः परिपृच्छति' 'शालिहोत्रमृषिश्रेष्ठं सुश्रुतः परिपृच्छति' आ वचनथी सुश्रुत विश्वामित्रना पुत्र तरीके जाणवामां आवे छे । पहेलुं वचन सुश्रुतसंहितामां ज छे । ते अश्ववैद्यना विषे शालिहोत्रऋषिने पूछे छे एटले आ सुश्रुत महर्षिओना समसामयिक मानवामां आवे छे । आ सुश्रुतसंहिता मूळभूत सुश्रुत जाणवुं । प्रतिसंस्कृत वर्तमान सुश्रुत चरकना प्रतिसंस्कार पछीना समयनुं छे । अर्थात् ई० स० पांचमा शतकमां उपलब्ध चरक अने सुश्रुतसंहिता तैयार थई गई हती ।

---

१ बौद्ध के नागार्जुने पोताना ग्रन्थोमां कनिष्कना नामनो निर्देश कर्यो नथी अने कनिष्कना शिलालेखो सारनाथ साँची मथुरा वगेरे स्थळेथी मळ्या छे तेमां सं १ थी ४१ सुधीनुं वर्णन आवे छे बौद्ध आ स मे कनिष्कने मानवामां आवे तो नागार्जुन कनिष्कनो समसामयिक सिद्ध थतो नथी । तेम ज नागार्जुनना समसामयिक मनाता कुमारलात के जे सौत्रान्तिक मतना प्रधान आचार्य मनाय छे तेमणे पोताना ग्रन्थमां कनिष्कनुं अतीत कालना स्मृति रूपे वर्णन कर्युं छे ।

२ चरकचिकित्सा स्थान १ ।२ ४

आ सुश्रुतना प्रतिसंस्कारकर्ता तरीके अर्जुन नागार्जुनने कहे छे । नागार्जुनो अनेक थया छे । बौद्ध धर्म्यवादी एक नागार्जुन छे, बीजा एक योगसार, योगशतक आदि ग्रन्थोना कर्ता रसशास्त्रवेत्ता नागार्जुन छे, त्रीजो नागार्जुन शातवाहन राजाना मित्रतरीके हर्षचरितमां नाम कथिए करेल छे । प्रबन्ध-चिन्तामणिमां जैन मुनपरम्परामां शातवाहनना समकालीन नागार्जुनने रसशास्त्रना विद्वान मान्या छे ।

सुश्रुतनो प्रतिसंस्कार ई० स० बीजाथी चोथा शतक वच्चे थयो छे केम के शंकयकारिकामांथी सुश्रुतमां स्पष्ट उतारो करेला छे । माटे कनिष्कना समसामयिक शून्यवाद प्रतिष्ठापक नागार्जुन केवी रीते प्रतिसंस्कर्ता थई शके ? ते ज समयमां चरक वैद्य पण हता एम केटलाको माने छे । अने शातवाहनराजा महाश्रीसातकर्णी कहेवाय छे । अने आथी २० ० वर्ष पूर्वेना नागार्जुनना 'उपायहृदय' नामना दर्शन ग्रन्थमां उद्देशप्रकरण पछी आगमवर्णनना प्रसङ्गमां 'वैद्यकुशलः मैत्रचित्तेन भिषक् सुश्रुत' आ प्रमाणे सुश्रुतनो उल्लेख करवामां आव्यो छे । व्या० महाभाष्यकारे १–१–२ सूत्रना भाष्यमां 'सौश्रुतः' एम उदाहरण आप्युं छे । २–१–१३० सूत्रना 'सामर्थ्ये पार्थिवादीनामुपसंख्यानम्' आ वार्तिकना उदाहरणमां 'कुतसौश्रुत' आ प्रमाणे छे । पाणिनिए पण ६–२–३७ सूत्रना गणपाठमां सौश्रुतपार्थिवशब्द लीधो छे । एटले सुश्रुत आ बधा आचार्योथी पूर्ववर्ती छे । अने सुश्रुत आचार्ये पोताना ग्रन्थमां पूर्वाचार्यरूपे 'सुभूति-गौतम' नो उल्लेख कर्यो छे । आ सुभूति बुद्धना शिष्य सुभूति नथी, जैनग्रन्थोमां अध्यात्मविषयमां ज सुभूतिनो उल्लेख छे । आ सुभूति गौतम वैद्याचार्य अन्य छे । आ सुश्रुतनो समय हार्नेल महाशय वि० पू० ६ ० तथा भास्कर महाशय एम श्री गिरीन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ई० पू० १००० वर्ष माने छे ।

मीमांसा

मीमांसाना बे भेद छे—पूर्वमीमांसा अने उत्तरमीमांसा । पूर्वमीमांसाना सूत्रकार जैमिनि ऋषि छे । उत्तरमीमांसाना सूत्रकार वेदव्यासमहर्षि छे । आ बंने महर्षिओ वेदना कर्मकाण्ड अने ज्ञानकाण्डना प्रखर विवेचक छे । आ बंने ऋषिओ समानकालीन छे केमके जैमिनिसूत्रोमां बादरायण (व्यास) नुं अने ब्रह्मसूत्रमां जैमिनिनो उल्लेख छे । कृष्णद्वैपायने वेदनो व्यास अर्थात् पृथक् करण कर्युं एटले एने वेदव्यास कहेवामां आवे छे । आ व्यासने ज महाभारत-पुराण आदिना रचयिता मानवामां आवे छे । आ विषयमां ऐतिहासिकोनो एक मत नथी । व्यासना शिष्य जैमिनि छे एम केटलाक पण्डितो माने छे । जैमिनिना बार अध्यायना एक पण सूत्रमां जीवोना कोई पण तत्त्व-विचारनो उल्लेख नथी । आ शास्त्र यज्ञ विगेरे कर्मकाण्डनुं प्ररूपक छे । आ शास्त्रमां वस्तुतत्त्वना विचार विषे विशेष ध्यान आपवामां आव्युं नथी । केवळ यज्ञयागादि क्रियाओनी ज चर्चा करवामां आवी छे माटे ज मङ्गलादिसूरि० आ वेदवादिमीमांसकने अज्ञानवादी कह्यो छे । अने वस्तुतत्त्वविचारमां अज्ञानवाद मानवामां आवे तो क्रियानो उपदेश अने शास्त्र पण अव्यवस्थित थई जाय छे माटे अग्निहोत्रादिविधायक शास्त्र व्यर्थ छे एम कहीने विस्तारपूर्वक विवेचन करता छतां

---

१ 'पाटलिपुत्रमां सकलाचार्यनागार्जुनो भाव हैवे च भिक्षुप्रवर्तित्वे ... ' गुलाम ... च एतो वामं (हर्षचरित) २ आम शातवाहन विषे तो नागनारानी पैठणी राज आपनुं माने छे—तेना अंगने शातवाहन पैठणमां आवे छे ।

जैमिनिसूत्र वगेरे मीमांसाना एक पण ग्रन्थ के तेना वचन वगेरेनो उल्लेख कर्यो नथी तेमां शुं कारण हशे ते जाणवुं मुश्केल छे। मात्र बेन्नेनां वचन लइने मीमांसकसम्मत शैलीथी ज निराकरण कर्युं छे। विधि अनुवाद, इतिकर्तव्यता, भावना आदिनो विचार कर्यो छे। मीमांसकमतमां केटलाक आचार्य यज्ञ वगेरे क्रियाने ज धर्म कहे छे। केटलाक आचार्य क्रियाथी थता अपूर्वने धर्म कहे छे। आ बन्ने मतोने लईने मल्लवादि सूरिए विचार कर्यो छे। जो के आ अभिप्राय मूळथी स्पष्ट थतो नथी पण टीकाकारनी व्याख्याथी स्पष्ट थाय छे। एवं वेदनी अपौरुषेयतानुं पण स्थाने स्थाने निराकरण कर्युं छे। एवीज रीते पुरुषवादमां पण कोई ग्रन्थनुं उद्धरण आप्युं नथी। आ बाब पण विचार्य छे। जैमिनिसूत्रोना वार्तिककार तरीके उपवर्षनुं नाम खास आवे छे। पछी भाष्यकार शबर स्वामी छे। आ बन्ने आचार्यो मल्लवादि सूरि म० ना पूर्वे थई गया छे केमके आ आचार्यश्रीना समसमयकाळ पछीना कुमारिलभट्टे श्लोकवार्तिक आदिग्रन्थोमां शबर स्वामीना विचारोने दर्शाव्या छे। अने शबर स्वामीनो समय ई० स० १५० नी आसपासमां मनाय छे परन्तु अर्थथी शाबरभाष्यनी साथे अमुक स्थानमां ज नयचक्रव्याख्यामां सादृश्य जोवामां आवे छे जेम के 'उपदेशादेव म(!) तज्ज्ञानयोग' आ सूत्रनी टीकामां 'कण्व्याया दौहित्र स्मरणवद्' अने वैदिक सर्गादिविषयमां पुत्रविज्ञानकरणाभाव वगेरे। माथ: टीकाकारे शाबरभाष्य जोयुं हशे।

— मल्लवादिसूरि समय मीमांसा —

आचार्य श्रीमल्लवादिसूरिजी पोताना आ ग्रन्थमां अनुयोगद्वार अने नन्दिसूत्रना वचनोनी साक्षी आपे छे माटे आ बन्ने सूत्रकारथी पश्चात्कालीन छे। अनुयोगद्वारना कर्ता पू० आर्यरक्षितसूरि छे एम दाखला सच्चाये विद्वानो कबूले छे, आ सूरि जो वज्रस्वामि म० ना विद्याशिष्य ज होय तो वी० नि० सं० ५९७ पछीना छे। नन्दीसूत्रना कर्ता देववाचकगणी छे के जेओ दूष्यगणिना अन्तेवासी छे। आ गणी आगमोने पुस्तकारूढ करावनार देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणथी भिन्न छे। आ दूष्यगणी आचार्य नागार्जुनना शिष्य भूतदिन्ना शिष्य लोहित्यसूरिना शिष्य छे। आम नन्दीनी स्थविरावलीना क्रमथी जणाय छे। आमां आवेला नागार्जुन, भगेन्द्रसेनना अने अनुयोगधर श्री स्कन्दिलाचार्यना समसामयिक छे।

आ आचार्यनो समय पं० श्री कल्याणविजयजी प्रमाणक पर्यालोचनमां वी० नि० सं० ८२७ थी ८४० (वि सं० १५७–३७०) सुधीनो जणावे छे। आथी नन्दिसूत्रना कर्ता देववाचक गणि वी० नि० सं० ८४० मां तो हता ज पण आ संवत् बराबर मंगत होय तेम मनातुं नथी। पू० मल्लवादिसूरि म० नन्दिसूत्रने 'भगवदर्हदाज्ञापि श्रूयते' अर्थात् भगवान् अरिहंतनी आज्ञा पण संभळाय छे एम गौरवपूर्वक

१ स एव श्रेयस्कर: स एव धर्मशब्देनोच्यते ... ... इति मन्त्रवचन। ... ... (शाबरभाष्य १-१ १. सू १७) ... ... । २ आ मूळ ... ... (द्वा नय टी पृ १९ -९)
३ नन्दिसूत्र ... ... पण ... ... श्री ... ... जणावे छे.

नन्दिसूत्रनुं उद्धरण आपे छे। आथी आ ग्रन्थकर्ताथी नन्दिसूत्रना कर्ता घणा प्राचीन छे। आ देववाचक-गणीना समसामयिक स्कन्दिलाचार्यनो समय वी० नि० सं० ८२७ थी ८४० ए पण ठीक बंध बेसतो नथी। आ आचार्य म० नो समय अमे पाछळ सिद्धसेनदिवाकरसूरि म० नी समयनिर्धारणामां विचारी गया छीए।

आ नयचक्रमां वि० सं० ६०० थी पूर्ववर्ती बौद्धाचार्य धर्मकीर्तिनुं वाक्य के वक्तव्य अथवा मन्तव्य जोवामां आव्युं नथी। आथी धर्मकीर्तिथी पूर्ववर्ती आ नयचक्रकार छे एमां लेशपण शंकाने अवकाश नथी। महाभाष्यकार जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणजीए मल्लवादिना नामथी निर्देश युगपदुपयोगवादनुं खण्डन कर्युं छे। आथी ६४५–६७७ थी पूर्वेना मल्लवादि छे। दिङ्नागनुं खण्डन करनार उद्योतकर के जे धर्मकीर्तिथी पूर्ववर्ती छे तेनो सत्तासमय छठ्ठी सदी छे एमना ग्रन्थनो कशो आधार प्रकृतग्रन्थमां लेवायो होय तेम जणातुं नथी। आथी आ आचार्य म० उद्योतकरथी पण पूर्ववर्ती छे। अमने लागे छे के दिङ्नागथी पाछळना आ आचार्य बहु नजीक पाछळना छे एम एमना ग्रन्थना अवलोकनथी लागे छे। आ वात बराबर होय तो नयचक्रकार उद्योतकरथी निश्चित पूर्ववर्ती छे। दिङ्नागनो समय ई० ३४५–४२५ केटलाक माने छे ते हिसाबे ई० ४५ आसपास नयचक्रकारनो समय सिद्ध थाय छे।

शतपथ ब्राह्मणना भाष्यकार हरिस्वामी के जेओ स्कन्दस्वामीना शिष्य छे। स्कन्दस्वामी ऋग्वेदना भाष्यकार छे अने निरुक्तभाष्यटीकाकार पण छे। ऋग्वेदनुं भाष्य स्कन्दस्वामीए वि० सं० ६८० मां रच्युं। आ स्कन्दस्वामीए पोताना निरुक्त भाष्यवृत्ति ८–२ मां श्लोकवार्तिकनो एक श्लोक अने आ ज प्रकरणमां तंत्रवार्तिकनो एक श्लोक १–१० तथा १०–१९ मां भामहना श्लोकनुं उद्धरण कर्युं छे। हरिस्वामी पण पोताना भाष्यमां 'इति प्रभाकराः' आम कहीने कुमारिलभट्ट अने प्रभाकरना मतनुं स्मरण करे छे। प्रभाकर कुमारिलभट्टना शिष्य छे। आ कुमारिल धर्मकीर्तिना समसामयिक छे। परस्परना ग्रन्थोमां परस्पर नाम अने मतनुं खण्डन करवामां आव्युं छे। आ हिसाबे कुमारिल अने धर्मकीर्ति स्कन्दस्वामीथी (जेमनो सत्तासमय वि० सं० ६८ थी पूर्वेनो छे) एटले ६०० थी पूर्वेना छे ज्यारे मल्लवादिसूरिमहाराजे धर्मकीर्ति तथा कुमारिलनी कोई युक्ति के विचारनो क्षेम कर्यो नथी तेथी पण आ बंने आचार्योथी पूर्ववर्ती छे एमां थोडो पण संशयने अवकाश नथी।

राहुलसांकृत्यायन प्रमाणवार्तिकनी भूमिकामां दिङ्नाग अने धर्मपालमां ई० ४२५ (१) अने ई० ५७५ अर्थात् १५ वर्षनुं अन्तर बतावे छे, एटले दिङ्नागनो समय विक्रमनी चोथी–पांचमी सदीना मध्यमां तो आवे ज। आम मल्लवादि सू म नो जे समय अमे निश्चित कर्यो छे ते समयमां कशो फरक

१ जुओ वरद इतिहास। २ आ युगपदुपयोगवाद मल्लवादिसूरिमहाराजनो ज अभिप्राय छे एम मानी अत्रत्य कहीं चालू छे निश्चेन विचारसरणीना ग्रन्थोमां सन्मतितर्कमां युगपदुपयोगवाद अभेदोपयोगवाद क्रमोपयोगवादमांथी आ पक्षनो विचार जोवामां आवे छे। ३ यदन्यानां करणेभ्युः तत्रिकालानामपि वै। पलालैरिव स्नानान्यायात्वयत्र भाष्यकृतं कृतम्॥ (कलि संवत् ३७१) आम भाष्यना अन्तमां कहे छे के कलि सं ३११ ना बराबर छे पुस्तकनी टिप्पणीमां लेख-वेला तारतम्यथी पण वि० सं० ५५१ कहे छे. आ हरिस्वामी श्रीमत् विक्रमार्कस्य धर्माध्यक्ष छे 'श्रीमतोऽवन्तिनाथस्य विक्रमार्कस्य भूपतेः। धर्माध्यक्षो हरिस्वामी व्याख्यां कुर्वन् यथामति' आम जणावे छे।

आवतो नथी। एटले विक्रमनी पांचमी सदीमां मल्लवादिसूरिजी थया छे ए अन्य प्रमाणथी ज सिद्ध थइ जाय छे अने नयचक्रमां आवता ग्रन्थो अने ग्रन्थकारोनो समय पण आ आचार्यना उक्त समय निर्णयमां बाधक नथी।

वामन कृत 'विश्रान्त विद्याधर' नामना व्याकरण ग्रन्थ उपर मल्लवादीए न्यास कर्यो छे आवो उल्लेख 'गणरत्नमहोदधि' मां वर्द्धमानसूरिए कर्यो छे। 'हैमशब्दानुशासन' नी 'बृहद्वृत्ति' मां पण 'विश्रान्त न्यासकृत्तु असमर्थत्वादणपमितिरिव मन्यते,' 'विश्रान्तन्यासस्तु किरात एव कैरातो म्लेच्छ इत्याह' आ प्रमाणे विश्रान्त न्यासनुं नाम छे। परन्तु आ न्यासना कर्ता नयचक्रकार मल्लवादिसूरिजी नथी। मल्लवादि नामनी व्यक्तिओ घण थई गई छे। एमां कोई मल्लवादि तेना कर्ता हशे। आ नयचक्रकार ज छे एमां कोई प्रमाण नथी। केमके आ ग्रन्थमां व्याकरण सम्बन्धी विचारमां पाणिनि अने भाष्यकारने ज प्रमाण रूपे मूलकारे ग्रहण कर्या छे अने रूपसिद्धिमां पण मूलकार अने टीकाकार पाणिनिना सूत्रोनो ज उल्लेख करे छे। वामनना कोई पण वचननो कोई पण स्थले उल्लेख कर्यो नथी।

वळी नयचक्रकारे 'प्रमाणसमुच्चय' नामना बौद्ध प्रमाण ग्रन्थनी अनेक कारिकाओनुं व्याख्यान करीने प्रबल युक्तियो द्वारा अक्षरे अक्षर निराकरण कर्युं छे, आ प्रमाणसमुच्चयना कर्ता वसुबन्धुना पट्टशिष्यो पैकी एक महान तार्किक अने मततंत्रोनो ज्ञाता दिङ्नाग छे। आ विद्वाननो समय ख्रिस्तीय तृतीय शतकनुं उत्तरार्ध छे। प्रमाणसमुच्चयमां छ परिच्छेद छे हालमां तिब्बतीय भाषामां ज छे ते भाषामांथी संस्कृतमां केवल प्रत्यक्ष परिच्छेद ज मद्रासमां छपेलो प्राप्त थयो छे। आपणा आ ग्रन्थकारना समयमां सम्पूर्ण ग्रन्थ संस्कृतमां कारिकारूपे हतो। आ आचार्यश्रीए प्रत्यक्ष, अनुमान, अपोह अने जातिपरिच्छेदनी कारिकाओनुं निरूपण करीने तेनुं खास करीने निराकरण कर्युं छे। (आ ज दिङ्नागनी आलम्बनपरीक्षा अने तेनी वृत्तीना पण वचनोने लईने खण्डन कर्युं छे.) दिङ्नागे गौतम तथा वात्स्यायनना अवयवलक्षणोनुं सयुक्तिक प्रत्याख्यान करीने त्रण अवयवोनी स्थापना करी छे। आ युक्तियोनुं निराकरण उद्योतकरे न्यायवार्तिकमां विस्तारथी कर्युं छे। श्लोकवार्तिकमां कुमारिलभट्टे पण दिङ्नागनी युक्तियोनुं खण्डन कर्युं छे आ दिङ्नागे आर्यदेवना हस्तवाल प्रकरणनी व्याख्या पण करी छे। आ दिङ्नाग पोताना गुरु वसुबन्धुना सिद्धान्तनुं केटलाक स्थले निराकरण करे छे। ते आ ग्रन्थमां घणा ठेकाणे दर्शाववामां आव्युं छे। विश्वकोशकार आ दिङ्नागनो समय ई० द्वितीय अथवा तृतीय शतक कहे छे सतीशचन्द्र विद्याभूषण महाशयजी पंचम शतकनो अन्त भाग माने छे।

मूलकारे 'ततोऽर्थाद्विज्ञानं प्रत्यक्षम्' आ लक्षण उपर विचार कर्यो छे। आ लक्षण वसुबन्धुकृत वादविधिनुं छे। आ ग्रंथ वसुबन्धु ज्यारे वैभाषिक हता त्यारे रच्यो हशे। मूलकार, उद्योतकर अने वाचस्पति मिश्र पण आ लक्षण वसुबन्धुनुं माने छे। दिङ्नाग तो आ लक्षणनुं निराकरण करीने आवा दोष सहित वादविधिना रचयिता वसुबन्धु केवी रीते थई शके एम परिहास करे छे।

नयचक्रकारे दिङ्नागविरचित आलम्बनपरीक्षानी कोई पण कारिका लीधी नथी पण तेनो भाव तो लीधो ज छे। आजे मुद्रित थएली आलम्बनपरीक्षा अने तेनी वृत्ति तिबेटियन आदि भाषा उपरथी संस्कृतमां

---

१ इत्था पृ. १४९। २। आलम्बनपरीक्षा का. १॥

अनुवादरूपे उपलब्ध छे। संस्कृतथी अन्य भाषामां अने अन्य भाषाथी संस्कृतमां भिन्न भिन्न समये भाषान्तर करनारा विद्वानो द्वारा अनूदित थयेली तेनी कारिका अने वृत्तिमां फेरफार थयो होय ए सम्भवित छे। माटे ज आ नयचक्र अने टीकामां आवती कारिका अने वृत्तिमां भिन्नता रहे ए स्वाभाविक छे। जेम टीकाकारे 'विषयो' वि नाम यस्य इत्यादि जे वाक्य आप्युं छे तेमां अने तिब्बतीमां उपलब्ध संस्कृत आलम्बन—परीक्षा—वृत्तिमां फरक देखाय छे। छतां उद्धरणमां अमोए ए अपेक्षाए ज ते वाक्यने आलम्बनपरीक्षावृत्तिनुं दर्शाव्युं छे। एवी ज रीते 'प्रमाणसमुच्चय' नी कारिकाओमां पण फेरफार जोवामां आवे छे। परिवर्तित संस्कृतग्रन्थोना पाठने आधारे नयचक्र अने तेनी व्याख्यानुं पुनर्निर्माण एकान्त प्रामाणिक मनाय नहि।

बृहत्कल्पभाष्यना कर्ता संघदासगणि क्षमाश्रमण छे। बृहत्कल्पनी एक गाथाने आ ग्रन्थमां पू० मल्लवादि सू० म० ग्रहण करी छे। आ गाथाने निर्युक्तिनी कहेवी के भाष्यनी कहेवी ए मुश्केल छे। जो निर्युक्तिनी आ गाथा होय तो कशुं ज विचारवानुं रहेतुं नथी। पण मुद्रित बृहत्कल्पमां ए गाथाने भाष्यगाथाना नंबरमां मूकवामां आवी छे। जो के बृहत्कल्पभाष्यनी गाथाओ अने निर्युक्तिनी गाथाओने जुदी तारववी ए वर्तमानमां कठिन काम छे मलयगिरि जेवा प्रखर टीकाकारे पण भाष्यगाथा अने निर्युक्तिगाथाने जुदी बताववानी हाम भीडी नथी। छतां य ए गाथाने अमोए मुद्रित कल्पना आधारे उद्धरणमां भाष्यगाथा तरीके मूकी छे।

आ भाष्यना कर्ता संघदासगणिक्षमाश्रमण वसुदेव हिण्डीना कर्ता करतां भिन्न छे आम केटलाक विद्वानो माने छे ते उपरांत वसुदेवहिण्डीना प्रणेताथी बृहत्कल्पना भाष्यकारने अर्वाचीन माने छे। बृहत्कल्पलघु भाष्यना कर्ता संघदासगणि क्षमाश्रमण क्यारे थया [1] आ विषयनो निर्णयात्मक स्फोट हजु सुधी थयो नथी। जो मल्लवादिसूरिए टांकेली गाथा भाष्यनी ज होय तो तो कहेवुं ज पडे के के पांचमी सदीथी पूर्वना छे पण पछीना नथी ज।

केटलाक विद्वानो दासान्त नाम जोईने ज चोथी सदीना आ आचार्य छे जेथी ते पहेलां दासान्त नाम राखवामां आवतुं न हतुं एम माने छे ते ठीक लागतुं नथी। भगवान महावीरना समयनी आवती कथाओमां पण जिनदास आदि दासान्त नाम जोवामां आवे छे। आर्य सुहस्तिना समयमां थएली नर्मदासुन्दरीनी कथामां पण दासान्त नाम आवे छे। तेम ज चतुर्दशपूर्वधर भद्रबाहुस्वामिना चार शिष्योमां एकनुं नाम गोदास हतुं अने तेमना नामथी गोदास गण नीकळ्यो। आ नाम कल्पसूत्रनी स्थविरावलिमां आवे छे। माटे केवल दासान्त नाम जोईने चोथी छट्ठी, अने सातमी सदीनी कल्पना कल्पनामात्र छे यथार्थ नथी। तथा जैनाचार्योमां भाष्यकार अनेक थया छे तेमां सहुथी प्राचीन भाष्यकार संघदासगणि क्षमाश्रमण हशे।

बृहत्कल्पभाष्यना कर्ता संघदासगणि ज यदि निशीथ भाष्यना कर्ता होय तो अनुयोगद्वारनी रचना पण पछीना ज संघदासगणी सिद्ध थाय। केमके अनुयोगद्वारमां निक्षेपाओनुं संपूर्ण अने विस्तृत वर्णन होवा छतां तेमां दव्वखित्तकालभावसंबंधपरिसकिरियमहाभासाए 'मूलोत्तरे य दव्वे' (नि० भा०) 'भक्कगुण

---

[1] विरचना पू. १ ४ थे १४ आलम्बन परीक्षा वृत्ति पृ. ३ ५ ६॥ २ आ प्रमाणसमुच्चय पूर्ण उपलब्ध नथी। इकडे तेना अनुवादवाद अनेकवाद वगेरे परिच्छेदो मेळवी शकाया नथी। आ ग्रन्थमां सूत्रकार अने टीकाकारे अनुमान आदि परिच्छेदोना अधि अने तथी व्याख्याओ उपर जोयेल हशे परन्तु आ ग्रन्थमां प्रत्यक्षवाद अने विवादोनी अन्य ग्रन्थोनी पूर्ति करवामां आवी छे।

निम्वत्तिनो कट्टुत्तिकम्मेवादि, उत्तरगुणनिम्वत्तिनो मूताम्पयारिरे' (नि० चू०) आ प्रमाणे निशीथभाष्यमां उभयम्पतिरिक्त द्रम्यहत्तना मूलोत्तरगुणनिर्वर्तितरूपथी मेद-विशेष देखाडवामां आव्यो छे। ज्यारे अनुयोगद्वारमां आना मेद पाडवामां आवेला नथी, आथी आ एक प्रकारनो विस्तार ज कहेवाय, आ ज कारणे अनुयोगद्वारनी रचना निशीथभाष्यथी पूर्वनी छे अने निशीथभाष्य तथा बृहत्कल्पभाष्यना कर्ता अभिन्न व्यक्ति होय तो बृहत्कल्पभाष्यनी रचना अनुयोगना पछीनी ज सिद्ध थाय। अनुयोगद्वार नन्दिथी पण पूर्वतन छे केमके अनुयोगनुं नाम नन्दिमां आवे छे अने नन्दिना कर्ता घणा प्राचीन छे। आथी एटलुं तो चोक्कस थाय छे के भाष्यकार वि० प्रथम अथवा बीजी सदीथी पाछळना छे पण पूर्वना नहीं। चोथी शदीथी पाछळना नहीं एटले २ थी ४ सदीनी अन्दरना समयमां भाष्यकारनी सत्ता सिद्ध थाय छे।

नयचक्रनी टीकामां टीकाकारे करेला उल्लेखथी नन्दिसूत्रनुं कोई भाष्य हशे। तेवी कल्पना थाय छे। प्रथम पृ० २१९ मां नन्दिनुं सूत्र मूकीने ते पछी 'तद्व्याख्यानमिदर्शनम्' एम कही 'तं जदि आयरिजमा' आ गाथानो उपन्यास कर्यो छे। ते पछी पृ० ४६२ मां आ ज पाठ लीधो छे। त्यां सूत्र तथा भाष्य के व्याख्यानुं नामोच्चारण करवामां आव्युं नथी। तत् पश्चात् पृ० ७२९ मां 'तथा भाष्येऽपि' आ प्रमाणे एक वाक्यनी रचना करीने 'तं पि जदि आयरिजेज्जा' आ गाथा मूकवामां आवी छे। आथी नन्दी उपर तेनुं व्याख्यारूप कोई भाष्य हशे। आवुं अनुमान थाय छे।

आम होवा छतां अहींयां भाष्यरूपे उद्धृत करेली गाथा नहिंवत् फेरफारथी बृहत्कल्पभाष्यमां जोवा मळे छे। ते जेम नन्दिसूत्रकारे निर्युक्तिनी गाथाओ लीधेली छे, तेम कदाच बृहत्कल्पभाष्यनी ज गाथा लीधेली होय। अथवा नन्दिभाष्यनी ज आ गाथाने बृहत्कल्पभाष्यकारे लीधी होय। गमे तेम होय पण नयचक्र टीकाकार तो नन्दिनुं भाष्य ज समजे छे। एमना समयमां नन्दीनुं भाष्य विद्यमान होय अने एमणे आ उल्लेख कर्यो होय। तो नन्दीनुं भाष्य केटली गाथात्मक हशे? एना रचयिता कोण? क्यारे थया? आ बधो विषय उपस्थित थाय छे। मूळकारे आ भाष्यगाथानी साक्षी कोई पण स्थळे आपी नथी। टीकाकारे ज आ भाष्यगाथानी साक्षी आपी छे। हालमां उपलब्ध थता नंदिमां आ गाथासूत्रथी भिन्न भाष्य तरीकेनो उल्लेख देखातो नथी फक्त भाष्य-गाथारूपे सहु प्रथम उल्लेख करनार होय तो नयचक्रटीकाकार आ० सिंहसूरिगणि क्षमाश्रमणजी ज छे। आथी नन्दीभाष्यनी रचना मल्लवादिसूरि पछीनी हशे। अने नयचक्र-टीकाकारथी पूर्वनी छे आटलुं ज हालमां नक्की करी शकाय छे।

मूळकारे पृ० १५३ मां 'उक्तं हि' कहीने कोई ग्रंथकारना वचनरूपे अन्यत्रानुवादादरादिभ्यः' आ प्रमाणे पुनरुक्तनो अपवाद बताव्यो छे। आने मळतो अपवाद गौतमसूत्रमां अन्यत्रानुवादात्' आव्यो य जोवामां आवे छे। आ अपवादोनो संग्रहकरनारी कारिकाओ उपलब्ध थाय छे पण ते ग्रंथकार करतां घणा पाछळना ग्रंथकारोथी उद्धृत छे। न्या० क टी पृ० ४०१ मां, षड्दर्शनसमुच्चय पृ० १५-११, आ० स्थान २ उद्देश ३ नी टीकामां अनुवादादरवीप्साभृशार्थविनियोगहेत्वसूयासु। ईषत् संभ्रमविस्मय गणनास्मरणेष्वपुनरुक्तम्॥ जो के मूळकारनी सामे आवी कारिका हशे के कोई सूत्र हशे। अथवा बीजा ग्रंथोमां छूटी छवाई नोंध हशे। अने तेनो अहीं मूळकारे 'अनुवादादरादिभ्यः' थी संगमन करी होय।

न च ५

टीकाकारे आ नयचक्रने विस्तार करी नाखी अने एवी रीते व्याख्या करी के जाणे कोई कारिकानी व्याख्या करी रह्या होय। खरेखर टीकाकारे उपर बतावेला श्लोकनी प्रतीको आपीने व्याख्या करी हता होय तेथी भास थाय छे ने आवी कारिका तेमांथी तैयार थइ जाय छे जे कारिकानुं रूप 'अनुवादादरवीप्सा' आ प्रमाणे तैयार थई जाय छे।

आ सिवायना बीजा ग्रन्थोमां पण पुनरुक्तनो अभाव दर्शावनार एक गाथा नन्दिनी हारिभ० टीकामां पृ ३ नोंधाई छे— 'सज्झायझाणतवओसहेसु उवएसथुइपयाणेसु। संतगुणकित्तणेसु य न होंति पुणरुत्तदोसाओ'। पुनरुक्त दोषनी चर्चा घणी प्राचीन छे। अहीं ग्रंथकारे पुनरुक्तनी चर्चा खास अनुवाद पूरती ज करी छे।

नयचक्रकारे विधिविध्यर नामना द्वितीय अरमां 'यथा विशुद्धमाकाशं तथेदममृतं शिवं' आ बे कारिकाओ संवादकप्रमाणरूपे ग्रहण करेली छे। आ बे श्लोको जो के घणा ग्रंथकारोए लीधा छे छतां पण तेना मूळ के कर्तानो निर्देश कर्यो नथी। बृहदारण्यकभा० (३-५-४३-४४) मां जोवा मळे छे पण आ वार्तिकना कर्ता शंकराचार्यना शिष्य सुरेश्वराचार्य छे जेमनो समय ई० स० नवमी शताब्दीनो पूर्वभाग मनाय छे पण ते बन्ने कारिकाओ तेमनी रचेली नथी किन्तु-उद्धृत ज छे। केमके आमनाथी घणा काळ पूर्वेना आचार्य हरिभद्र सू म शास्त्रवार्तासमुच्चयमां (५४५-६ कारिका) उद्धृत करेली जोवाय छे। भर्तृहरि विरचित वाक्यपदीय स्वोपज्ञटीकामां पण आ बे कारिकाओ तथा 'तस्यैकमपि अने प्रकृतिमनः०' आ बे कारिकाओ पण उद्धृत करेली जोवा मळे छे। आथी आ कारिकाओ अति प्राचीन छे। माटे आपणा ग्रंथकारथी पण प्राचीन होवाथी एमना समय निर्णयमां कशी ज हरकत आवती नथी। केटलाक विद्वानो धनेश्वरसूरि अने मल्लवादिसूरिने एकज व्यक्ति मानवाने प्रेरायेल छे। पण तेमां कोई पुष्ट प्रमाण पेश करवामां आव्युं नथी।

नयचक्रटीकाकार मंगलश्लोकमां तथा पृ० ८१ मां 'मल्लवादिसूरि' आवो नामोल्लेख करे छे। केटलाक आधुनिक विद्वानो आ नाम कल्पित-विशेषणरूप छे आवुं जाहेर करे छे पण ए माटे कोई प्रमाण आपता नथी। उपरांत खुद ग्रंथकार प्रान्त भागना मूलमां 'श्रीमत्-श्वेतपटमल्लवादिक्षमाश्रमणेन' (पृ० ११०२) आ प्रमाणे 'मल्लवादिसूरि' आ नामनो स्पष्ट उल्लेख करे छे। एमनुं 'मल्ल' ए नाम दीक्षित थया त्यारनुं ज छे पण ए नामनी पछी 'वादि' शब्दनुं जोडाण एमने वादमां जय मेळव्या पछी थयुं होय तो ते संभवित छे अने ते पछी 'मल्लवादि' नामथी प्रसिद्ध थयुं हशे। ने थी खुद ग्रंथकार पण पोतानुं नाम 'मल्लवादिसूरि' आ प्रमाणे लखवा लाग्या। माटे 'मल्लवादि' आ नाम केवळ विशेषण रूप नथी।

वळी आ ग्रंथकार तथा बीजा तमाम ग्रंथकारो नयचक्रना कर्तानुं नाम मल्लवादिसूरिमहाराज जणावे छे।

आम आ ग्रंथनुं नाम, ग्रंथकारनुं नाम अने ग्रंथकारना समयनो निर्णय थई गयो। हवे टीका तथा टीकाकारना विषे विचार चलावीए छीए।

–टीकाकार–

आचार्य मल्लवादिसूरिए बनावेल गम्भीर अर्थगर्भ्य दार्शनिक विचारोथी परिपूर्ण नयचक्रशास्त्रनो प्रचार प्रसार अने रहस्यने समजाववा माटे आगममर्मज्ञ तार्किक चूडामणि षड्दर्शन विचक्षण आचार्य श्री सिंहसूरिगणिक्षमाश्रमणजीए 'न्यायागमानुसारिणी' नामनी व्याख्या करी छे।

जो के काळना प्रभावथी मूळ 'नयचक्रशास्त्र' लुप्त थई गयुं छे। घणी तपास करवा छतां अप्राप्य ज रह्युं छे। जो आ न्यायागमानुसारिणी टीका रची न होत अने आ टीका हस्तलिखितरूपे भण्डारोमां सचवाई रही न होत तो नयचक्र मूळ जे तैयार थई शक्युं छे ते तैयार थई शकत नहीं। नयचक्रनुं नाम मात्र ज सांभळवा मळत। खरेखर सिंहसूरिगणिक्षमाश्रमणजीए टीका रचीने अनेकान्तवादना अभ्यासीओनो ज नहि परंतु सारये विद्वान समाजनो महान उपकार कर्यो छे। जो के आ टीका होवा छतां मूळनयचक्र तो अनुपलब्ध ज छे। परन्तु आ टीकामां आधारे मूळनो ख्याल सामान्यपणे आवी शके छे। जो टीकाकारे मूळनां सम्पूर्ण वाक्यो, या प्रतीको लईने व्याख्या करी होत तो मूळ शोधवामां जरा पण श्रम पडत नहीं। अने आ जे तैयार करवामां आवेला मूळग्रन्थ करतां साक्षात्रूपे परिपूर्ण मूळग्रन्थ उपलब्ध थयो होत। पण आ टीकाकारे पोतानी टीकामां मूळनो पोताना तरफथी केटलुंक अधिक समावेश कर्यो छे। जेने आज टीकामां आवता प्रतीको द्वारा, पर्यायव्याख्याद्वारा, अर्थसङ्गतिथी, अनुमानथी अने विवेचनोथी मूळ तैयार करवामां आव्युं छे। काफी कोईए एम मानी न लेवुं के मल्लवादिसूरिए आ तैयार थएला मूळ प्रमाणे ज ग्रन्थनी रचना करी हशे[1] पण आ तैयार थएला मूळथी पण अतिसुन्दर अने गम्भीर रचना करी छे आ तो दिग्दर्शनमात्र ज छे। ज्यां टीकामां प्रतीकमात्र लईने बाकीनो ग्रंथ गतार्थ कर्यो छे त्यां आ मूळग्रन्थमां ते स्थान पूरायां नथी। वळी मूळकारे उल्लेख करेल परदर्शन सम्बन्धी विषयोना ग्रन्थो पण उपलब्ध थता नथी। जे ग्रन्थो उपलब्ध थाय छे— जेम प्रमाणसमुच्चय आदि ते अन्य भाषामां छे तेथी मूळ तैयार करवामां घणी कठिनता पडे ए स्वाभाविक छे। तेथी ठेकाणे केवळ आ टीकाना आधारे ज मूळ तैयार करवामां आव्युं छे।

आ नयचक्रनी टीकाने जोवाथी टीकाकारनी अगाध विद्वत्तानो प्रतिभास थया विना रहेशे नहीं। षड् दर्शनोना ग्रन्थो अने पाणिनिव्याकरण तथा पातञ्जल महाभाष्य वाक्यपदीय आदि विपुलग्रन्थोना गम्भीर अनुशीलनथी ते ते दर्शनोनुं खण्डन अने मण्डन करवामां पूर्ण सिद्धहस्त आ टीकाकार छे। आमां किंचित् पण अतिशयोक्ति नथी। ते ते परदर्शन स्वरूप नयोनुं अलौकिक प्रतिभाद्वारा प्रथम निरूपण करीने पश्चात् प्रमाणपूर्वक निराकरण करी तेने स्याद्वादनी साथे सङ्गत करे छे। आर्हतागम अने आर्हतदर्शनमां पण सुनिपुणबुद्धि छे। आथी आ टीकाकारनुं अलौकिक वैदुष्य सारी रीते समजी शकाय छे।

आम स्वपरसमयमां निष्णात होवा छतां आ क्षमाश्रमणजीमां आत्मगौरव अने यश कामनानुं बीज पण देखवामां आवतुं नथी। माटे ज पोतानी टीकामां कोई पण ठेकाणे पोतानी जन्मभूमि, कुल शाखा अने गुरु तथा सत्तासमय वगेरेनुं जणावनार कोई पण सूचन आदि कर्युं नथी। आम छतां आपणे एटलुं अनुमान करी शकीए के आ टीकाकार आचार्य जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणथी पश्चात्कालीन अने कोट्याचार्यमहत्तरथी पूर्वकालवर्ती छे। कारणके जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणजीना विशेषावश्यकभाष्यनो पाठ आ टीकामां आवे छे अने क्षमाश्रमणजीनी अपूरी स्वोपज्ञवृत्तिने पूर्ण करनार कोट्याचार्यमहत्तरे विशेषावश्यकभाष्यनी टीकामां सिंहसूरिगणिना नामनो उल्लेख कर्यो छे। जिनभद्रगणिना समय (वि. सं. ६६६) पछीना आ टीकाकार छे। केटलाक विद्वानो कोट्याचार्यजीने जिनभद्रगणिजीना शिष्य माने छे तेमना मते आ टीकाकार

१ देखो जैनपरम्परानो इतिहास पृ ५ ।

जिनभद्रगणिजीना समानकालीन विद्वान् छे एम सिद्ध थाय छे । आ टीकाना परिशीलनथी मळी आवे छे के आ टीकाकारनो समय सातमी सदीथी पछीनो थई शके ज नहीं । जो के तृतीय अरमां टीकाकारे सांख्यदर्शननुं जे विवेचन कर्युं छे ते सांख्यसप्ततिनी प्राचीनटीका युक्तिदीपिकानी साथे साम्य धरावे छे । परन्तु तेना आधारे ज टीकाकारे चर्चा करी छे एम कही शकाय तेम नथी । केम के आ ग्रंथमां वार्षगण्यतंत्रनो विचार थई गयो एम जणाय छे । आथी टीकाकारे तत्समयमां विद्यमान षष्टितंत्रनामना ग्रन्थना आधारे ज व्याख्या करी छे एम मानी शकाय । 'युक्तिदीपिका दिङ्नागना पछीनी छे अने धर्मकीर्ति, कुमारिल आदिविद्वानोथी पूर्ववर्ती छे चोथा अरमां पण 'सम्बन्धादेकस्मात्प्रत्यक्षाच्छेषसिद्धिरनुमानम्' आ सांख्यमतप्रसिद्ध अनुमानलक्षणनुं उद्धरण कर्युं छे । ते अनुमानमां 'मात्रानिमित्तसंयोगिविरोधिसहचारिस्वस्वामिवध्यघातकादि' आ सात प्रकारो प्रायः षष्टितंत्रना अनुसारे ज कर्या हशे ।

नयचक्रटीकाकारे आखी टीकामां कोई पण स्थले धर्मकीर्ति जेवा प्रखर बौद्ध आचार्यना पुष्कळ ग्रन्थो होवा छतां ते आचार्यना विचारो, विवेचनो अने तेना ग्रन्थोनां वाक्योनुं ग्रहण कर्युं नथी । आ कारण टीकाकारने सातमी सदीना मानवामां आपणने अटकावे छे छतां विशेषावश्यकभाष्यनुं प्रमाण टीकाकारे लीधुं छे आथी सातमी सदी मानवा सिवाय छूटको नथी । जो विशेषावश्यकभाष्यकारनो समय आजे निश्चित करवामां आव्यो छे तेमां कंइ दोष थाय तो अमने लागे छे के आ टीकाकारनो पण समय बदलवो पडे अने क्षमाश्रमणजीने छठ्ठी सदीना मानवा पडे । आम जो महाभाष्यकार क्षमाश्रमणजी छठ्ठी सदीना सिद्ध थाय तो अने ज्येष्ठाचार्यमल्लवादी क्षमाश्रमणजीना ज शिष्य छे आ बे मुद्दा विचारतां नयचक्रटीकाकार छठ्ठी सदीना सिद्ध थाय ।

सौनाग अने भागुरि=टीकाकारे व्याकरणना विषयमां आ बे आचार्योनां नाम लीधां छे । 'सुनागस्याचार्यस्य शिष्याः सौनागाः' आ सुनाग आचार्य कात्यायनथी अर्वाचीन छे । 'कात्यायनाभिप्रायमेव प्रदर्शयितुं सौनागैरतिविस्तरेण पठितमित्यर्थः' आ प्रमाणे महाभाष्यप्रदीपकार कैयटे कह्युं छे । सौनागो[1] पाणिनीयाष्टाध्यायीना ऊपर वार्तिक रच्यां छे । पतञ्जलि कहे छे के 'इह हि सौनागाः पठन्ति कृञ्भ्याम् छन्दसि' तथा 'ओमाङोश्च' आ सूत्र ऊपर पतञ्जलिए 'चकार'नुं प्रत्याख्यान करीने कह्युं छे के 'एवं हि सौनागाः पठन्ति चोऽनर्थकोऽधिकारार्थः' वगेरे, आ बधा प्रमाणोथी सौनाग पतञ्जलिथी पूर्ववर्ती छे अने कात्यायनथी पछीना छे एम साबित थाय छे । भागुरि आचार्ये व्याकरण-विषयक कोई रचना करी होय तेम 'वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः' आ वाक्य ऊपरथी लागे छे ।

आ टीकाकारे द्वितीय अरनी टीकामां कालना वर्णनमां 'सुषमसुषमायां सुषमायां सुषमदुःषमायाञ्चैव चतुरङ्गुलादिरितरगाः' आ प्रमाणे सुषमसुषमादिकालनुं वर्णन करतां चार अंगुल प्रमाण मात्र होय छे । आ वर्णन आ ग्रन्थशिवायना श्वेताम्बरग्रन्थोमां जोवा मळ्युं नथी पण दिगम्बराचार्य यतिवृषभकृत 'तिलोयपण्णत्ति' ग्रन्थनी 'चउरंगुल परिमाणा तत्थवि वारस हत्थियंगुल्ला ॥ १२२ ॥'

१ अष्टाध्यायी मा २ १ ७६१ । २ व्याकरण महाभाष्य, प्रदीप जेवा भाष्य न्यासवृत्ति, वैयाकरण एम शास्त्र ...करे छे ।

आ गाथामां जोवा मळे छे। आ यतिवृषभाचार्यनो समय शक सं० ३८० (वि स ५१५) बताववामां आवे छे अने तिलोयपण्णत्तिनो रचना समय शक सं० ४०५ लगभग बताववामां आवे छे।

जुगल किशोर मुख्तार 'तिलोय पण्णत्ति देवर्द्धि गणि के श्वेताम्बरीय आगमग्रन्थो और आवश्यक निर्युक्ति आदिसे पहले हुइ है' आम जणावे छे, पण आमां तेमनो पक्षपात ज देखाय छे। श्वेताम्बरआगमग्रन्थो देवर्द्धिगणिए बनाव्या नथी, पण पुस्तकारूढ कर्या छे। एमनो समय लगभग वीर० नि० ९८० (वि० सं ५१०) मनाय छे ज्यारे यतिवृषभआचार्यनो समय वि० सं० ५१५ मनाय छे। निर्युक्तिओनी रचना तो एथी य घणी प्राचीन छे ए वात नयचक्रमूळकारना समयनिर्णयमां पाछळ विचारी आव्या छीए। आम होवा छतां टीकाकारे तिलोयपण्णत्तिना आधारे ज चार अनुकूळना खासमी वात लखी छे ए विचारवा जेवुं छे। वर्तमानमां मळतां एवा घणा सन्दर्भो छे के जे उपलब्ध आगमोमां मळता नथी। तेम आमां पण बन्युं होय तो शी खातरी!

कुन्दकुन्दाचार्यकृत 'समयप्राभृत' ना कर्तृकर्माधिकारमां 'जीवपरिणामहेउं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति। पुग्गलकम्मनिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ॥१२॥' आ गाथाना समानार्थक अने नहीं जेवा ज फरक वाळी गाथा टीकाकारे पृ० ४६१ मां आ प्रमाणे टांकी छे 'जीवपरिणामहेउं कम्मत्ता पोग्गला परिणमंति। पोग्गलकम्मणिमित्तं जीवोवि तहेव परिणमइ ॥' मलयगिरि सूरिनी प्रज्ञापनावृत्तिमां पण आ रीते आ गाथा छे। अन्य ग्रन्थोमां पण आ गाथा जोवा मळे छे। कर्मप्रकृतिनी पाठ्यटीकाचूर्णिमां पण आवे छे। आ चूर्णिना कर्ता कोण क्यारे थया ते विषयमां अमे कशो ज हजी सुधी अभ्यास कर्यो नथी। गमे तेम होय पण आ गाथाना मूलकर्ता कुन्दकुन्दाचार्य हशे। आ आचार्य विक्रमनी प्रथम शताब्दीमां थया छे एम मनाय छ। जो कुन्दकुन्दाचार्य प्रथमे सदीना ज होय तो श्वेताम्बर अने दिगम्बर भेद पड्या ते पूर्वेना छे एम अवश्य स्वीकारवुं पडे,

कल्पसूत्रनुं पण प्रमाण टीकाकारे 'अप्पणो निव्वाणगमणाउं आमोएत्ता भारिया रमे' आ प्रमाणे मूक्युं छ। आ कल्पसूत्रना कर्ता चतुर्दशपूर्वधर भद्रबाहुस्वामी महाराज छे ए सुप्रसिद्ध छे। आनाथी कल्पसूत्रनी प्राचीनता पण पुरवार थाय छे। केटलाको शंका उठावे छेए के आ भद्रबाहुस्वामी वी० सं १७० मां थएल नथी, पण विक्रमनी छट्ठी सदीमां थया छे आ क्यांसुधी ठीक छे ते विद्वानो विचारी लेशे।

जिनदासगणिजीए 'योनिप्राभृत' नुं पण प्रमाण टांक्युं छे। योनिप्राभृत ए बारमा अंगरूप पूर्वसूत्रमांनो एक विभाग छे। पूर्वनो व्युच्छेद वी० नि० १००० मां थयो छे। जेथी आनी प्राप्ति दुःशक्य ज नहीं पण असम्भवी छे। जो टीकाकारे योनिप्राभृत जोईने प्रमाण टांक्युं होय तो कहेवुं ज पडे के तेओ पूर्वधर आचार्य हता। क्षमाश्रमण विशेषण पण पूर्वज्ञानना ज्ञाता साबित करे छे। जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणजीए विशेषावश्यक भाष्यमां (१७७५ मी गाथामां) 'जोणिविहाण' शब्दथी योनिप्राभृत प्रकीर्णक समजवानी सूचना करी छे। व्यवहारसूत्र भाष्य (गाथा ५८) बृहत्कल्पभाष्य (गाथा १२०१) जोणिशब्दनो अर्थ योनिप्राभृत कर्यो छे। एक सूत्रमां जोणि शब्दनो अर्थ ज्योतिषने जणावनार पण कर्यो छे।

योनिप्राभृत नामनी एक प्रति हालमां वर्लिन शहेरनी लायब्रेरीमां मळे छे। अने बीजी पूना मा मठ छे

---

१ अनेकान्त वर्ष ४ किरण। २ जैनसाहित्य और इतिहासपर विशद प्रकाश, पृ ५६। ३ पृ ४०५। ४ अनेकान्त वर्ष २ पृ ५२१। ५ प्रवचन परीक्षा मुम्बई १५१५ मी ग्रन्थनामाओ है श. आरम्भ करे छे.

ए बन्ने एक छे के भिन्न छे एनो अमोए बन्ने पुस्तको जोया न होवाथी विचार करी शकता नथी, पण पूनागाठी प्रत मळेलो अनेक विद्वानोए विचार कर्यो छे। टीकाकार योनिप्राभृतनुं प्रमाण आपतां 'त्रिविधा योनि योनिप्रभृतेऽभिहिता सचित्ताऽचित्ता च तत्र सचित्तायोनिर्द्रव्याणि संयोज्य भूमौ निखाते दन्तरहितमनुष्यसर्गाविकारसुत्पत्तिः, अचित्ता योनिर्द्रव्ययोगे च यथाविधिचूर्णीकरणसुक्ष्मप्राणाद्युत्पत्तिरिति' आ प्रमाणे विषय सूचव्यो छे। आ विषय पूनावाळी योनिप्राभृतनी प्रतमां नथी एमां तो वैद्यक आदि नो विषय होय तेम लागे छे एटले अहीं टीकाकारे आपेल योनिप्राभृत ए तो पूर्वान्तर्गत एक विभाग ज छे।

वृक्षायुर्वेदनुं पण टीकाकारे प्रमाण टांक्युं छे। आ वृक्षायुर्वेद अमने प्राप्त थयो न होवाथी एना विषयमां एनो नामोल्लेख करीने ज सन्तोष मानीए छीए। छतां शार्ङ्गधरपद्धतिमां वृक्षायुर्वेद अथवा उपवन विनोद नामनुं २११ श्लोक प्रमाण एक प्रकरण सचवाई रहेलुं छे। उपरमहानो वृक्षायुर्वेद नामनो बीजो पण ग्रन्थ मळे छे एम दुर्गाशङ्कर केवळराम शास्त्री लखे छे।

योगभाष्यनो पण एक स्थळे टीकाकारे आधार आप्यो छे। योगसूत्रना रचयिता महर्षि पतञ्जलि छे। योगना प्रवर्तक आ ज आचार्य छे एम मानवानी भूल करवी जोईए नहीं केमके याज्ञवल्क्यस्मृतिमां 'हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातन' ए कथनानुसार योगना प्रवर्तक हिरण्यगर्भ छे। पतञ्जलि तो योगना अनुशासक छे। 'अथ योगानुशासनम्' आ योगसूत्र उपर तत्त्ववैशारदीमां वाचस्पतिमिश्रे शिष्टस्य शासनमनुशासनम्' (१।१) आ प्रमाणे उपर कहेल अर्थनुं ज सूचन करे छे। भारतीय परम्परानुसारे योगसूत्रना कर्ता तथा व्याकरणमहाभाष्यना कर्ता पतञ्जलि एक अभिन्न व्यक्ति छे। योगसूत्रना चतुर्थपादमां विज्ञानवादना खण्डनसूत्रो (१ १४ १५) मळतां होवा छतां पण विज्ञानवाद मैत्रेय अने असङ्गथी अधिक प्राचीन छे। आ पतञ्जलिनो समय शुङ्गवंशना महाराजा पुष्यमित्रना समकालीन छे। आ पुष्यमित्र राजानो समय ई० पू० २२५ लगभग छे। आ योगसूत्रना उपर व्यासभाष्य नामनी भाष्यनी रचना थई छे। आ व्यासर्षि पुराणोना कर्ता व्यासमहर्षिथी भिन्न छे। जोके आ भाष्यना प्रणेता कया व्यास छे' एनुं प्रतिपादन कठिन छे। ऐतिहासिक विद्वानो लखे छे के विक्रमना तृतीय शतकथी आ व्यास प्राचीन नथी। आ योगभाष्यमां (१ ११) संस्थानमादिमच्छरीरमात्रं कृष्णादीना विनाशविनाशिनाम्, एवं लिङ्गादिमच्छरीरमात्रं सुखादीनां गुणानां विनाशविनाशिनाम् तस्मिन् विकारसंज्ञा आ पाठ छे। ते ज नयचक्रनी टीकामां पण आवे छे (तृतीयारे) आ पाठ योगभाष्यनो ज छे या बीजा कोई ग्रन्थनो छे आनो निर्णय मुश्केल छे। योगभाष्यना आ वाक्यने उद्धरण तरीके लेवाडुं छे माटे तेमनुं ज मानवामां आपणने कोई वांधो देखातो नथी।

टीकाकारे 'तण्डुलवेयालिय' नुं प्रमाण लीधुं छे आ ग्रन्थ जैन आगममां 'पयन्नाना' नामथी प्रसिद्ध छे। जोकी आ ग्रन्थ सिद्धसूरिगणी क्षमाश्रमणथी पूर्वेनो छे। ५ ० श्लोक प्रमाण आ ग्रंथमां जीवनी गर्भावस्थाथी मांडीने जन्म थया पछीनी दस दशा, संहनन, संस्थानभेद, कालना विभाग, आदि उपमाओ वैराग्योत्पादक

---

१ वैदमनसर १५१२ मेली ५ कल। २ जीवेन विपल, पवीन कम्पा, मले नहीरल न वैकोल। योनिप्राभृते अरे सुभीना फलनि माणविराजलोभोक्ति ०। ३ भारतीय दर्शन पृ २५१। ४ 'अत पुष्यमित्रं याजयामः (३ २ १११) तथा 'पुष्यमित्रो यजते याजका याजयन्ति' (१ १-२६)

सुधारु वर्णन करवामां आव्युं छे। जीवनी गर्भावस्था वगेरेनुं शारीरिक वर्णन सुश्रुतनी साथे तुलना पामे तेवुं छे। आ ग्रन्थना कर्ता कोण छे ते अज्ञात छे पण आ ग्रन्थनी प्राचीनतामां शङ्का नथी। जिनदासगणि महत्तरनी दशवैकालिकचूर्णिमां पण तन्दुलवेयालीयनुं नाम आवे छे। आ महत्तरजीनो समय नवीन ऐतिहासिको वि० सं० ७९९ माने छे। प्राचीनो शक सं० ५०० थी पण पूर्वे माने छे। नंदीमां पण आनुं नाम आवे छे।

उत्पत्तनयात्मां पृ० ५०९ मां 'भुवन इति कर्तरि णप्रत्यय केचिदाहुः' आ प्रमाणे भवतीति भाव कर्तामां ण प्रत्यय करे छे। पाणिनिना मते कर्तामां अच् प्रत्यय आवे छे। भाष्यकारना मते व्यत्ययकरीने पछी अच्प्रत्यय लगाडीने भावशब्दनी सिद्धि थाय छे। पाणिनिना सूत्रो उपर काशिका नामनी टीका छे तेमां 'भवतेश्च' आ वचनथी कर्तामां ण प्रत्यय लगाडीने भावशब्दनी सिद्धि करवामां आवी छे। अने सिद्धिविनिश्चयमां (पृ २०७) 'ण प्रकरणे भुवश्चोपसंख्यानं' आ वाक्य मूकीने कर्तामां ण प्रत्यय कर्यो छे। परन्तु आ वार्तिक कया व्याकरणनुं छे ए जाणवामां आवतुं नथी, पण कोई प्राचीन व्याकरणनुं ज होवुं जोइए। जेनी माहिती आपणने प्राप्त थती नथी। काशिकामां तो 'भवतेश्च' आम कहेवामां आव्युं छे।

आ टीकाकारे 'आत्मबुद्धया समेत्यार्थान्' इत्यादि पाणिनीयशिक्षानुं उद्धरण कर्युं छे। आ शिक्षा ६० श्लोकोनी छे। वर्णोना उच्चारण सम्बन्धी विषयोनी शिक्षामण आपे छे। आ शिक्षा कोनी कृति छे ते अज्ञात छे। आ शिक्षाना अन्तभागमां पाणिनीने नमस्कार करवामां आव्यो छे। तेथी आ शिक्षा पाणिनिनी रचना नथी एम मानवुं पडे छे। जो एम होय तो एना कर्ता पण आ टीकाकारथी पूर्वना होवा जोइए; अथवा शिक्षाना अन्तनी ३ ४ कारिकाने प्रक्षिप्त मानवामां आवे तो शेषकारिकाओ पाणिनिनी कृति कही शकाय आनो निर्णय विद्वानो पोते करी ले।

'विकल्पयोनय शब्दाः' आ कारिका पण टीकाकारे लीधी छे ए कारिका बौद्धमतनी छे। भदन्तदिन्न (दिङ्नाग) नी छे। हरिभद्रसूरिमहाराजे पण अनेकान्तजयपताकामां आ कारिका लीधी छे। दिङ्नाग दिन्न, भदन्तदिन्न, दत्तकभिक्षु आ बधां एकव्यक्तिनां नाम छे।

आर्य शिवशर्मसू० म०—आ आचार्यश्रीए 'कम्मपयडी' नामना ग्रन्थनी मनोहर रचना करी छे। आ ग्रन्थने पू० हरिभद्र सू० 'कम्मपयडी संगहणी' पण कहे छे आ ग्रन्थनुं स्मरण जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणजीए 'विशेषणवती' मां कर्युं छे। क्षमाश्रमणजीए सं० ६६६ मां 'विशेषावश्यकसूत्र'नी रचना करी छे एम संशोधको कहे छे।

आग्रायणीनामना बीजा पूर्वमांथी १४ मा वस्तुनामकविभागना पैकी पांचमा विभागना वीस पाहुडपैकी चोथा पाहुडनुं नाम 'कम्मपयडी' छे तेने उद्धरीने कर्मप्रकृति ग्रन्थनी रचना आ सूरिवरे करेली छे। आर्य शिवशर्मसूरिमहाराज पूर्ववित् हता ए स्पष्ट देखाय छे। पूर्वज्ञाननो व्युच्छेद वी० सं० १००० मां विक्र० सं० ५२० मां थयो छे। एटले कर्मप्रकृतिकार ५२० थी ये पहेलाना छे। टेका पूर्ववित् समकालीनाचार्य छे।

---

१ तन्दुल वैचारिकनी टीकामां महावीरस्वामीना हस्तदीक्षितथावु आ वचनाना कर्ता बताव्या छे [1]। २ येनाक्षर समाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्। कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः ॥ ५७ ॥ येन धौता गिरः पुंसां विमलैः शब्दवारिभिः। तमश्चाज्ञानजं भिन्नं तस्मै पाणिनये नमः ॥ ५८ ॥ ३ इतो नि मंभसमवि पञ्चविम श्वोद्विरदस्य वनुश्रे। किन्तु पुनेर पविरिकं कम्मपयडी एगवसिम ॥ १ ४ ॥ ४ सोहियनामोवणकं पदं तु भर विहिसाकमु ॥ ५५४ ॥

इतिहासरसिको आ आर्यसिद्धसेनसूरिने पांचमी सदीना माने छे पण तेमनी पासे तेवो कोई पुरावो नथी। ज्यारे पू० उमास्वाति म० ए वायु अने अग्निने त्रस मान्या छे त्यारे शिवशर्मसूरि एने सूक्ष्मत्रस एम विशेषण आपीने कहे छे। आथी ऊपर करेला विचार मुजब उमास्वाति म० थी पश्चात्कालीन आ आचार्य छे एमां शंका रहेती नथी। आ कर्मप्रकृतिनी एक गाथा आ टीकाकारे उद्धृत करी छे एटले टीकाकार वि० सं० ५३ पछीना ज सिद्ध थाय छे।

विशेषावश्यकभाष्यनी बे गाथाओ (१४१ १४२) बृहत्कल्पभाष्यनी साथे मळती छे। मूलकारे विशेषावश्यकभाष्यनुं एक पण उद्धरण लीधुं नथी पण बृहत्कल्पभाष्यनुं तो लीधुं छे। आथी पण विशेषावश्यकभाष्य करतां बृहत्कल्पभाष्य प्राचीन छे। छतां टीकाकारे बृहत्कल्पभाष्यमांथी ए गाथाओ लीधी नथी पण विशेषावश्यकभाष्यमांथी ज लीधी छे। बृहत्कल्पमां पहेली बे गाथा छे ज्यारे विशेषावश्यकभाष्यमां ए बन्ने गाथाओ साथे ज मळे छे। आथी अमारो ए निश्चय छे के टीकाकारे विशेषावश्यकभाष्यमांथी ज ए गाथाओ लीधी छे।

'चक्षुरादेर्योग्यं तस्य विशेषात् क्षेत्रगोमयम्' आ उद्धरण वाक्यपदीयथी अथवा चरकथी लीधेलुं छे। वाक्यपदीयना कर्ता ई० स० पांचमी सदीना मनाय छे एटले टीकाकारनो समय विक्रमनी पांचमी सदी पछीनो सिद्ध थाय छे। नयचक्रटीकाकारे एवी रीते समीरूपणमां संवादकतरीके संख्याबंध उद्धरणो आप्यां छे। तेमना केटलाक उद्धरणो एमनाथी पाछळना ग्रन्थकारोए पण उद्धृत करेला जोवा मळे छे। अने केटलाक उद्धरणो कया ग्रन्थना छे एनो पत्तो पण लागतो नथी। एवी ज रीते मूल अने टीकामां आवतां केटलाक अवतरणोनो मूळ आधार जडतो नथी। तेथी अमे एनां स्थान दर्शाव्यां नथी जेवां के—'यः कल्पकानां प्रकरोति' वगेरे। प्रमेयकमलमार्तण्ड बृहत्कल्प आदिमां प्राप्त थाय छे पण ए बधा उद्धृत छे।

अमने मळेला उद्धरणो जोतां मूलकारथी टीकाकारने पाछळना सिद्ध करनार सहुथी प्रबल प्रमाण विशेषावश्यकभाष्य ज छे अने प्रथमअरमां टीकाकारे 'सिद्धम्यस्यापलप्य बौद्धपरिशिष्ट(क्रू')]त सामान्यम्' आ वाक्य आप्युं छे। आ वाक्यमां बौद्धोए अर्थान्तरापोहलक्षण सामान्य कल्प्युं छे। आथी आनो अर्थ तो ए ज थाय के टीकाकारना समये ज कल्प्युं छे, एमां ए वाक्य मूलकारनी सामे रहेला बौद्धो माटे छे। मने तो लागे छे के अद्यतन शब्द नवीन अर्थमां व्यावहारिक छे। गमे तेम होय पण आ वाक्यथी दिङ्नागने अद्यतनबौद्ध कहे छे। केमके ए वसुबन्धुथी केटलाक विचारोमां जुदा पडे छे माटे नवीन छे। अद्यतनबौद्धपदथी धर्मकीर्तिने समजी न शकाय केमके टीकाकार पण धर्मकीर्तिथी पूर्वना छे पण पछीना के समसामयिक नथी। 'दूरेण अन्यापोहप्रवृत्तिः' आवो ज शब्दार्थ हतो। 'शब्दान्तरार्थापोहं हि स्वार्थे कुर्वती श्रुतिरभिधत्ते' आ प्रमाणे शब्दार्थ अने अर्थान्तरापोहरूप सामान्यनुं दिङ्नागे ज वर्णन कर्युं छे माटे ते ज अद्यतनबौद्ध कहेवाय। एटले दिङ् अने टीकाकार पण समसामयिक होय एम पण सम्भावना थाय छे। मूलकार पण आ प्रकरणमां (पृ ७१७) आनो विचार करे छे। आथी मूलकार अने टीकाकार समसामयिक होवा जोईए एम भास थाय छे परन्तु विशेषावश्यकभाष्यनुं उद्धरण टीकाकारे कर्युं होवाथी मूलकारथी पाछळना ज छे।

---

१ विशेषस्य सम्बन्धः (पृ १४१). २ प्रमाणसमुच्चय अने बौद्ध ग्रन्थकारोमांना आ समुच्चयटीकामां साथे मळे छे।

मूलप्रकरणनी अविद्यमानतामां ज टीकाकारे टीका रची छे अने दिङ्नागकर्तृक रचित आलम्बनपरीक्षानी छठ्ठी कारिका पण टीकाकारे (पृ० ११५२) लीधी छे ।

सांख्ययोगवैशेषिकवेदशिरःप्रभृतिषु प्रकृतिपुरुषद्रव्यगुणादिनिःसाम्निःसाद्वैतद्वैतत्रैतादिपदार्थप्रक्रियाभेदे' आ प्रमाणे टीकाकारे वेदशिरःपदथी प्राय उपनिषद् (वेदान्तदर्शन) ना पदार्थ अद्वैत–द्वैत, अने त्रैत वगेरे पदार्थनी प्रक्रियानुं सूचन कर्युं छे । ज्यां अद्वैतपदार्थने माननारा पुरुषवादी या ब्रह्ममात्रवादी वेदान्तदर्शननो एक भेद छे । द्वैतपदार्थ एटले ब्रह्म अने अचेतनने अथवा ब्रह्म अने जीवने या प्रकृति अने पुरुषने एटले ब्रह्म अने अचेतनने माननारो आ पण एक वेदान्तदर्शननो भेद छे । त्रैतपदार्थ अर्थात् ब्रह्म, जीव अने अचेतन पदार्थने माननारो वेदान्तदर्शननो एक भेद छे । एकदण्डी, द्विदण्डी, अने त्रिदण्डी संन्यासिओ क्रमथी अद्वैत आदि पदार्थोने माननारा छे । आ बधा मतो सुप्राचीन छे । साक्षात् या परंपरया उपनिषदोमां दर्शनोनो आवेश छे । अत एव टीकाकारने पक्षशतकना मानवामां कोई पण आपत्ति नथी । अथवा प्रकृत मूलग्रन्थना अनुसारे पुरुषाद्वैतवाद, प्रकृतिपुरुषद्वैतवाद अने द्रव्यादि, आत्मा अने ईश्वररूप त्रैतपदार्थवाद पण लई शकाय छे ।

वैशेषिकदर्शनना पदार्थधर्मसंग्रहमां प्रशस्तदेवाचार्ये हेत्वाभासप्रकरणमां 'एकस्मिंश्च द्वयोर्हेत्वोर्यथोक्तलक्षणयोर्विरुद्धयोः सन्निपाते सति संशयदर्शनाद् अयमन्य: संदिग्ध इति केचित्' आ प्रमाणे कोईनो मत टांक्यो छे । नयचक्रटीकाकारे पण (पृ० ४००) मां लगभग आ लक्षणने मळतो तेवा लक्षणनो उल्लेख कर्यो छे । 'इति केचित्' आ वाक्यने छोडी दीधुं छे । आथी टीकाकारे आ वाक्यने पदार्थधर्मसंग्रहथी लीधुं नथी पण तेनाथी पूर्ववर्ती कोई आचार्यनुं टांक्युं हशे । एटले ज प्रशस्तदेव आचार्ये 'इति केचित्' एम उल्लेख कर्यो छे । प्रशस्तदेव आ टीकाकारथी पूर्वेना नथी ए वात अमे प्रशस्तमतिनी विचारणामां सिद्ध करी चुक्या छीए । आ पदार्थधर्मसंग्रह उपर व्योमवती टीका बनावनार व्योमशिवाचार्यनो समय विद्वानो ई० स० ९७० नो नक्की कर्यो छे एटले प्रशस्तदेवाचार्यनो समय ९१० पछीनो तो नथीज । पुरुषवादमां टीकाकारे 'शर्करासमवीर्यस्तु दन्तनिष्पीडितो रस: । दन्तनिष्पीडित श्रेष्ठो पाचिकस्तु विदाहकृत् ॥ आ श्लोकनुं उद्धरण टांक्युं छे । आनुं पूर्वार्ध मात्र वाग्भटकृत्तवृत्तिमा पूर्णपणे मळे छे । 'अविदाही कफकरो वातपित्तनिवारण: । वक्त्रप्रह्लादनो वृष्यो दन्तनिष्पीडितो रस: ॥„ (सू० अ ४५ श्लो० १४० १४१) आ प्रमाणे सुश्रुतसंहितामां मळे छे । वेभट तो 'कफकृद्वाविदाही च रक्तपित्तनिबर्हण: शर्करासमवीर्यस्तु दन्तनिष्पीडितो रस:" (गुरु विदाहिविष्टम्भी यान्त्रिकस्तु प्रकीर्तित:) आम जणावे छे । अमने लागे छे के वेभटे आ वाक्य बीजा कोई ग्रन्थथी लीधुं हशे । आ टीकाकारे पोतानाथी प्राचीन ग्रन्थमांथी "विनाशसमनन्तरमर्थ प्रत्ययात यातु यर्थापित" आ वाक्य जेम लीधुं छे तेम उपरनुं वाक्य पण कोई ग्रंथथी लीधुं होय । तेथी रीते वेभटे पण लीधुं होय । वेभट घणुं करीने ई० स २७५–४१२ सुधीमां थया छे । वेभट वाग्भटना शिष्य छे आ वात 'चमत्कृत्य०' श्लोकथी जणाय छे । आ बन्ने गुरुशिष्य चरकव्याख्याना महार हरिचन्द्रनो उल्लेख करे छे । वाग्भट आमनो उल्लेख करता नथी माटे वाग्भटना समानकालीन होय छतां महार हरिचन्द्र तरुण हशे । आ हरिचन्द्र ई० स० २७५-४१२ सुधीमां विद्यमान चन्द्रगुप्तना समान कालीन छे एटले

लेखक पण ते ज समयमां थया छे। अष्टांगहृदयना कर्ता अने अष्टांगसंग्रहना कर्ता वाग्भट एक छे एवो घणानो मत छे।

आम सिंहसूरिगणिक्षमाश्रमणश्री अमोने मळेला आधारसाधनो अने ग्रंथमां आवती चर्चाओ उपरथी छठ्ठी सदीना पछीना सिद्ध था शकता नथी। ज्यारे अनेकान्तवादना उपासक विद्वत् शिरोमणि टीकाकार महाराज छठ्ठी सदीना सिद्ध थाय छे ज्यारे मूळकारना समयनुं अमोए जे विधान कर्युं छे ते पण सारी रीते सिद्ध थई जाय छे।

श्रीसिंहसूरिगणिक्षमाश्रमणजीए आ नयचक्र उपर एक व्याख्या रची छे। जेना आधारे अनुप लभ्यमान मूळ आखुं पण योजी शकायुं छे। टीकाकारे व्याख्याननी शरूआतमां 'अनुव्याख्यास्याम' आम कहीने टीकाकारे पोतानी टीकाने व्याख्या मात्र ज कही छे।

आ टीकाकारनुं नाम सिंहसूरिगणिवादिक्षमाश्रमण छे अने टीकानुं नाम न्यायागमानुसारिणी छे आ बधी हकीकत नवमा अरना प्रान्तभागमां लखेली एक पंक्तिथी ज जाणवा मळे छे। आना आधारे ज आ संस्करणमां व्याख्यानुं नाम 'न्यायागमानुसारिणी' राखवामां आव्युं छे। पण विचार करतां मालूम पडे छे के नवमा अरनी आ पंक्ति टीकाकारनी नहि होय। पाछळथी कोई लेखके प्रसिद्धिने अनुसरीने लखी हशे। जो आ वाक्य टीकाकारनुं होत तो आ ज ठेकाणे केम? सर्व अरोना अन्तमां केम नहि? चोथा अरना अन्ते 'अर्धमेतत् पुस्तकम्' एम लख्युं पण व्याख्यानुं नाम त्यां केम न लख्युं? अन्तमां तो अवश्य लखवुं जोईतुं हतुं त्यां पण न लख्युं। आ हकीकतथी एम सम्भावना थाय छे के टीकाकारे पोतानी व्याख्यानुं कोई नाम आप्युं हशे नहीं आप्युं होय तो लखवानुं योग्य लाग्युं नहीं होय। यश अने कीर्तिथी दूर रहेवुं ए पण विरक्त साधु पुरुषोनुं एक लक्षण छे। माटे ज पोतानी प्रशस्ति पण लखी नथी।

वळी जो एम ज होय तो आ व्याख्यानुं नाम शुं ए प्रश्न ऊभो रहे छे। प्राचीन काळमां व्याख्या-निर्युक्ति भाष्य अने चूर्णि रचवामां आवी छे, तेनुं अमुकनेज नाम होवुं जोईए एवो रिवाज हतो नहीं। जे ग्रन्थ उपर व्याख्यादि लखायुं होय ते ग्रन्थना नाम साथे व्याख्यादि शब्द जोडीने पण बोलवानो रिवाज हतो, आ बाबत प्राचीन व्याख्याओ जोनारने सहेजे समजाय एवी छे। आ व्याख्या माटे पण एम ज बन्युं हशे। जो व्याख्याकारे, पोते ज नाम आपेलुं होत तो प्रत्येक अरना अंते तेनो उल्लेख होवो जोईतो हतो, अन्तमां तो जरूर होत, पण व्याख्याकारे व्याख्या पूरी करतां समाप्तिद्योतक कोई शब्दनो प्रयोग कर्यो नथी एटले मूळकारथी आगळ वधीने कंई ज नहीं कहेवानो एमनो आशय हशे। अरनी आदिमां मङ्गलाचरण रूपे 'जयति' आदि केवळ एक ज कारिका लखीने व्याख्या शरू करी छे।

बधी प्रतिओमां त्रीजा अरनी आदिमां मङ्गलाचरणरूपे 'कमलदलविपुलनयना'० कारिका लखेली जोवामां आवे छे ते कोई लेखके पाछळथी लखेली छे पण व्याख्याकार के मूळकारनी ते कारिका नथी। जो के आ कारिका घणी प्राचीन छे पण तेने आ स्थाने लखवामां भ्रमथी पाछळना लेखकथी प्रक्षिप्त हशे एम मनाय छे।

जेम टीकाकारे पोतानुं नाम जणाववानो विचार न कर्यो तेवी ज रीते व्याख्यानुं नाम पण आपवानुं धार्युं नहीं होय जेथी आ टीकामां कोई पण जग्याए व्याख्यानुं नाम स्पष्ट के व्यञ्जक पणे पण जोवा मळतुं नथी। माटे ज आ टीकाने कोई न्यायागमानुसारिणी कहे छे कोई कोई नयचक्र वाउ[द!] कहे छे। परन्तु आ व्याख्या न्यायने अने आगमने अनुसरीने रचेली होवाथी न्यायागमानुसारिणीव्याख्या आ नामनो अधिक संभव छे। बाकी नाम तो द्वादशारनयचक्रव्याख्या, अथवा नयचक्रव्याख्या आवुं होवुं जोईए।

आ व्याख्या अन्वयमुखथी ज करवामां आवी छे। एटले मूलना शब्दोनी व्युत्पत्ति अने पर्याय आदि प्रदर्शनद्वारा तेना भावार्थने स्पष्ट करे छे। मूलना सम्बन्धने मूकीने कोई पण अर्थ करती नथी। अने मूलने अनपेक्षित बीना पण कहेवामां आवी नथी, आवश्यक बाबतोने मूकी दीधी पण नथी, एटले नातिविस्तृत पर्याप्त व्याख्या छे। तेथी ज मूलनुं अनुमान करवामां घणी महेनत पडती नथी। आम होवा छतां आ व्याख्यामां दार्शनिक विषय एटलो गहनपणे भरेलो छे के जे सामान्यदार्शनिकने तेनो अभिप्राय हस्तगत थई शके नहीं। पातञ्जलभाष्यआदि व्याकरणसम्बन्धी विषयो पण घणी सारी रीते स्फुटीकरण करवामां आव्या छे। आथी टीकाकारनी सकलदर्शननी प्रतिभा सूर्यकान्तमणिना प्रकाशथी जेम झळके छे। मूल अने व्याख्यानुं स्पष्टपणे तुलनात्मक अध्ययन करिये तो स्पष्ट आभास थाय छे के मूलकारनी जेम टीकाकार पण अनुपम वादिवर्य छे। व्याकरण अने दर्शनशास्त्रमां पारङ्गत छे। जैनदर्शनमां तो कहेवुं शुं? तेमां तो आचार्य ज हता, दिग्गज्ञानी हता, स्याद्वादना नैष्ठिक समर्थक हता, समग्र दर्शनोने स्याद्वादमां उतारवामां सिद्धहस्त निष्णात हता।

आ ग्रन्थमां साथे 'विषमपदविवेचन' नामक टिप्पण पण छपायेलुं छे। आ ग्रन्थ सामान्य अभ्यासिओ माटे घणो ज गहन छे। एमां समायेलां रहस्यो समजवा अति कठिन छे। आ माटे आ ग्रन्थना पोतानी वृद्धावस्था होवा छतां सारी जहेमत उठावीने संपादन करनार अमारा परमगुरुदेवश्रीए टिप्पण द्वारा मूळ अने टीकाना तेमने लागेला कठिन अने गहन स्थलोना विषयोनो विशद स्फोट कर्यो छे। अमारा परम शरणीय षड्दर्शनवेत्ता पूज्यपाद परमगुरुदेव अनेक ग्रन्थोना निर्माता अने काव्यकार होवा उपरांत अनेक विषयोना तलस्पर्शी अभ्यासी छे। आजे पण आ महान् सद्गुणी महापुरुषनी मनन अभ्यासरुचि अने विद्याव्यासंग युवानोने पण लज्जित करे एवो छे। आवी वृद्धावस्थामां पण नित्य नवनवी अनेक ग्रन्थमयी रचना द्वारा तेओश्री स्व-परना उपकार माटे श्रुतज्ञाननी भारी उपासना करी रह्या छे। अने अनेक शिष्योने श्रुतज्ञाननी आराधना करावी रह्या छे। जो तेओश्रीए आ ग्रन्थनुं संपादन कार्य हाथ धर्युं न होत तो मारा जेवाने आ ग्रन्थनुं जे यत्किंचित् ज्ञानसंपादन थयुं ते थयुं न होत।

आ ग्रन्थना रचयिता वादिपंचाननमल्लवादिसूरि महाराजा तेमज आ ग्रन्थना टीकाकार तथा टिप्पणकार अने पूज्योए द्वारा मानव समाज उपर उपकार कर्यो छे।

आचार्यप्रवर श्रीमल्लवादिक्षमाश्रमण अने द्वादशारनयचक्रसाथे संबंध धरावता अनेकानेक-मुद्दाओनुं मने मारा अभ्यासकाळ प्रत सम्बन्धीना अभावे जरी में निरूपण कर्युं छे।

आ रीते नयवाद विचारणानो मारो आ प्रथम प्रयत्न छे। आमां रहेली अपूर्णताओनो मने ख्याल छे। इतिहासना एक मात्र अभ्यासी तरीके में अहीं रजु करेली सामग्री विद्वानोने परिचित् पण सहज निर्णय माटे उपयोगी थशे तो हुं मारा प्रयत्नने सफलता मानीश। तटस्थपणे विचारवानी तमोने मारी विनंती छे। आमां रहेली स्खलनाओनुं प्रमार्जन करी आ अंगे विशेष प्रकाश पाडवानी मम नम्र भलामण छे।

विद्वान वाचको दर्शनशास्त्रना आ महान् ग्रन्थरत्नना अभ्यास द्वारा अनेकान्तदृष्टिनो पूर्ण विकास साधी संपादक परमर्षिनो परिश्रम सफल करे एवी अभिलाषा साथे आ प्रस्तावनाने अहीं ज पूर्ण करुं छुं।

दादर मुंबई-२८
आत्म-कमल-लब्धिसूरीश्वरजी
जैन ज्ञानमंदिर
ता० ११-१-६०

आराध्यपाद परमगुरुदेव
आचार्यदेव श्रीमद्विजयलब्धिसूरीश्वरजी
महाराजान्तेवासी पन्यासविक्रम विजय गणी

FOREWORD

The original written in Gujarati by :

Rev Panyas Shri Vikrama Vijayaji

[LITERAL TRANSLATION]

By Prof Hiralal R. Kapadia, M A

Speciality of the doctrine of non-absolutism— Jainism means the central location of all relative view points It embodies the real harmony of all the schools of thought of the world, which believe in the existence of soul. Its infinite depth becomes manifest by its thorough study It includes impartial exposition of every system of philosophy *darsana* of the world. Like a judge Jainism gives a very careful and impartial judgement to every *darsana* where as the remaining *dars'anas* have failed to do so in the case of rival *dars anas* owing to their absolute insistence. Jainism does full justice to every other (*darsana*) by accepting its view by resorting to the right stand point and by refraining from absolute absolutism. That clarified butter is a source of good health for one and all, is (absolute) absolutism This sort of absolutism means mistaking untruth or half truth as complete truth and misrepresentation.

That clarified butter is a source of good health to one who can digest it whereas it is not so in the case of one who cannot digest, is (an instance of) non absolutism (*anekanta*). *Anekant* means acceptance of truth wherever it may be and its corroboration. The statement that clarified butter is a source of good health for one who can digest it is as true as the statement that clarified butter is harmful to one who cannot do so One who fails to understand rightly both the view points, cannot make the right use of clarified butter nor cause others to do so and will rather harm himself and other The example of clarified butter is on gross basis but what follows from it, is equally true on a subtle plane One who accepts one view point and disregards another is looked upon as insistent and such follow cannot find out truth Its realisation can be achieved by resorting to non absolutism only *Anekantavad* is a speciality of Jainism

Jainism gives judgement to other *darsanas* and welcomes them without entirely refuting any one of them and accept correct views of each of them from the right stand point This is specimen of the unparallelled broad mindedness and catholicity of Jainism No other *darsana* has achieved this beauty even superficially Isms leading the world to the path of ruin, are unable to entertain other isms as they are absolutely insistent whereas Jainism is very well able to do so in virtue of its policy of non absolutism. The world can build up an auspicious empire of justice, peace and happiness by admitting *anekantavada*

Definition of view point (nayas)— Naya is a part of *anekantavada*, and it is derived from the root ni

Its etymology is as under :—

"नीयते प्राप्यते वस्त्वनेनेति नयः "

We shall now deal with its conventional (traditional) meaning.

Every substance is endowed with infinite attributes and they are all different from different stand-points. The special view-point that helps him in understanding the desired attribute, is naya. Every naya is of two kinds (I) naya and (II) *durnaya*. Presentation of a particular attribute of substance without ignoring its other attributes, is called naya whereas the reverse is called *durnaya*. If one were to say that a substance is only existent, this statement is durnaya for it points out only existence by denying non-existence. A statement that substance is existent is naya for it does not deny non-existence.

Difference in signification between naya and Pramana –A substance is endowed with infinite attributes, and it can be realized by means of its any one attribute or many knowledge about substance derived by means of many attributes is *pramana* (valid proof) whereas that acquired by any one attribute is *naya*.

A substance is realized by both these means. So says the following 6th sutra of Tattvarthadhigamasutra (ch. 1) –

“ प्रमाणनयैरधिगमः

Complete knowledge about substance is attained by means of *pramana* and its partial realisation by means of naya. Both of them are useful for realising substance. *Pramana* reveals complete nature of substance and naya, only part. *Nayas* are useless to the world as they are *excessively* dogmatic assertions. They can however become useful to the world in case one takes into account the various phases of an object viz its substance, location, time and nature. This sort of reflection is called *anekantavad* or *Syatvada*, *Syadvad* is also called *lokanatha* as it is protector of the world. That this is the opinion of the entire *Nayacakra*, is depicted in various places beautifully in the end, and thereby validity of Jainism is established.

Simil of wheel and excellence of Nayacakra The name of this work-jewel as Nayacakra is significant just as king prior to his becoming an emperor conquers rulers of the entire Bharata (India) as he possesses wheel-jewel which makes its wielder *invincible*- makes him always victorious so is certainly the case with this work-jewel. Just as wheel-jewel is excellent in weapon-war so is this *Nayacakra* jewel in scripture-wars. Sovereignty is attained amongst kings by means of wheel jewel. Likewise supremacy amongst disputants, is attained by means of this *Nayacakra*. It may be inferred that this work-jewel is named as *Nayacakra* for proving similarity of potency. The author too observes in the end that just as a wheel-jewel is essential to emperors to attain sovereignty so is this *Nayacakra*-jewel to attain supremacy amongst all disputants.

The fact especially worth noting is that there is from the stand-point of composition just the same sort of similarity between this *Nayacakra* and the wheel of time profounded in Jainism for calculating time as is the case with this Nayacakra and wheel-jewel from the stand point of potency. There are twelve spokes in Nayacakra and twelve in the wheel of time. Just as there are two divisions viz substantive aspect (dravyarthika) and modificatory aspect (paryayarthika) in

Nayacakr so is the case with the wheel of time, for its two divisions are the ascending and descending periods. Each of these periods consists of six *spokes*, and they *incessantly* follow one another. Consequently the simile of a wheel-jewel given to *Nayacakra* from the view-point of potency and that of the wheel of the time given to it from the view-point of its composition are properly applicable. Though a very powerful emperor who wields a wheel-jewel, is unconquerable in the world, yet he is devoured by the wheel of time in a moment. So it proves the supremacy of the wheel of time over a wheel-jewel. But *Nayacakra*-jewel exceeds (all wheels) for not only does it make us victorious in all sorts of disputes, but does so even regarding the influence of the wheel of time by multiplying its potency by liberating us from wonderings of *Mundane* existence.

This work-jewel is unique in Jaina works on logic. Though it very minutely treats the topic of view-points for ascertainment of truth yet it is lucid and thus there is no other work which can vie with it. The following doctrine is specially well-known as being attributed to the author (of this *Nayacakra*) -

परेथ केवल सनं स्मैरत्संस्

But it is a question how it became current; for even though there is an exposition of omniscience in this work the author has not even touched this doctrine. He has neither refuted the view of *Siddhasena Divakara Suri* nor that of *Jinabhadra Gani Ksamas ramana*. Even the commentator (Simha Suri) has not pointed out that *Mallavadin Suri* differs in this connection from these two. Though this different view was current in the time of *Haribhadra Suri*, it was not then attributed to *Mallavadin*. Hence this becomes a research problem for scholars.

Legends about the Author *Mallavadin* has not even mentioned his view about fallacy in in this work. Herein he has mainly dealth with only *yavada'* and *syadvad* by accepting them as the topic (?) In this work there is hardly any exposition bout the following :-

(1) What is the number of substances accepted by *Jainism* ?

(2) How many kinds of reason for an inference (the middle-term) are admitted by *Jainism* ?

(3) How many fallacies are accepted by *Jainism* ?

Further wherever there is a discussion about valid proofs and reasons, only a particular naya vada is resorted to.

Besides, the division of certain *nays* as *dravyarthika* and the rest as *paryayarthik k* is attributed to *Mallavadin Suri*. All these problems can become consistently solved provided we may infer that there must have been some independent work of *M llavadin Suri* on this topic.

---

(1) The portion square brackets forms a part of the Gujarati foreword.
(2) (See PP 252, 1163, & 1201)
(3) अविध्व विपश्चेतस्स विश्वरी भारतासिनः "
(4) Vide the author own commentary (P 73 on *Dravya-Guna-Paryaya-Rasa*.)

May have been treated by him in his commentary on *Sanmatitarka* (Pr Sammatipayarana) In this Nayacakra six spokes of *dravyarthika* are included in *Vyavahara* (practical), *Samgraha* (collective) and *Naigama* (non distinguished) whereas the six spokes of *paryayarthika* in Rjusutra (Straight forward), Sabda (Verbal), *Samabhirudha* (subtle) and Evambhuta (such like).

Appropriateness of the name of this work and its style There is no end to *naya vad* it has neither beginning nor an end.

The author, great saint, has rightly given to this work the name of *Nayacakra* by composing it in the form of a wheel for the reason that naya vada goes on refuting (one view) and establishing (another) by always revolving like a wheel. This *Nayacakra wheel* consists of twelve spokes and there are twelve intervals, one between every two spokes. There are three *fell es* (margins) one for every set of four spokes. Lastly there is a nave in which are inserted all the spoke and which is indeed support of all these spokes and that of the entire wheel, if further said Every spoke is an independent *nayavada*. Six spokes of this wheel, pertain to *dravyarthika* view point and the remaining six to *paryayarthika* view point. First of all *view* of persons who lay undue emphasis on generality particularity or both are treated by resorting to one view point. Then an interval is composed to point out there refutation and thus another view point is commenced This new view point propounds its view by refuting opinions of other disputants in the interval. At the end of the spoke concerned, the author has firstly pointed out the place of the corresponding view point (spoke) in seven *nayas* such as *Samgraha* etc there afterwards sentence and meanings acceptable to that view point and in the end he has *propounded* that the Jaina canon is the original basis of that particular naya.

It means that the author has pointed out that all the view points *proposed* their absolute dogma by resorting to the topic embodied in one or the other sentence occurring in the canon. Meaning of *dravya* and that of *paryaya* are given in six *dravyarthika* view points and similarly in six *paryayarthika* view points too. Thus when the twelfth spoke is over its interval (refutation) becomes the subject matter of any view point and it in its *turn* can get refuted by another and thus refutation and acceptance go on *incessantly* This never ends, and it is for that reason that it is called *Wheel*

Syadvada a nave – A nave in the form of *Syadvad* is composed as the entire preserver of all the arguments based on all these view points, and this nave is the support of one and all the twelve *nayas* (spokes). It has been pointed out by means of many clear reasoning that *nayas* cannot stand without this nave No naya is able to become victorious without (the help of) *Syadvada*, the nave and it (naya) gets destroyed owing to mutual antagonism according to sundopasunda maxim. *Syadvada* protects all the *nayas* by removing this antagonism. Consequently this

1 Spoke I is associated with Vyavahara II IV in Samgraha V & VI Naigama VII in Rjusutra VIII & IX in Sabda X in Samabhirudha and XI-XII in Evambhuta

2 The nave alone is the main support there is no need of bandage (?) Even today we find wheel having no bandage and such may have been the case in the yes of th author otherwise the author himself would have assigned place to 'bandage

3 Vide Nayacakra (P 94.)

syadvada is the lord of all the *nayavadas* which are capable in subduing the world, for it (Syadvada) removes, *mutual* antagonism, in the form of absolutisms of *nayas*, and synthesises them. This *synthesis* can be achieved by Syadvada alone. Exposition of an object (topic) may be assigned a place in a valid proof provided nayas have done so by following syadvada. If it is done independently it fails owing to its absolutism. This is what is pointed out in various places by the author while expounding nayas

Name of the work – The author and the commentator (Simhasuri) have specifically mentioned the name of this work as nothing else but "Nayacakra" on various occasions. The name Dvadasaranayacakra is rather rarely noted. Nevertheless it is probable that no other name but Dvadasaranayacakra is cherished by the author and the name Nayacakra may have been mentioned for the facility of pronunciation.

It is very likely that the naming as Dvadasaranayacakra, is due to the desire of distinguishing this Nayacakra from Saptasatara-naycakra adhyayana from which it is extracted. Maladhari Hemachandra Suri, too, has mentioned no other name but Dvadas aranayacakra" in his commentary On Anuyogadvara (Pr Anuoygadhara) in the following sentence –

इदानीमपि द्वादशार नयचक्रमस्ति

This work must be extended at least up to this period, and so must be the conventions of naming this work as Dvdasaranayacakra. The author himself too, names this work as Dvadasaranayacakra only. Even the commentator does so in the end –

" द्वादशारनयचक्रमिदमभिहितम् ॥ "

The name Nayacakravala is mentioned by Gunaratna Suri in his commentary on Saddarsanasamuccaya and by Jinaprabhasuri in his Jinagunastava but this naming does not seem to be correct in view of the above-mentioned authorities.

Even Upadhyaya Yasovijaya who has copied the super commentary of this Nayacakra in only one fortnight who has much obliged us, who is a crest-jewel of logicians and who is highly venerable, has mentioned no other name but Dvadas aranayacakra in this transcription which is the basis of almost all the manuscripts available to-day

Validity and non validity of view points :

This is the main subject of this Nayacakra. This very thing is pointed out in the following complete and aphorism

" विधिनियमभङ्गवृत्तिव्यतिरिक्तत्वादनर्थकवचोवत् ।
जैनादन्यच्छासनमनृतं भवतीति वैधर्म्यम् ॥ "

Vidhi and niyama give rise to twelve Bhangas (combinations). These bhangas are the twelve nayas (spokes). All of them become untrue as they give wrong idea in case they like a non Jaina scripture propound a view by remaining independent of each other. But if they meet

(1) They are (I) विधिः, (II) विधिविधिः (III) विध्युभयम् (IV) विधिनियमः (V) उभयम् (VI) उभयविधिः (VII) उभयोभयम्, (VIII) उभयनियमः (IX) नियमः (X) नियमविधिः, नियमोभयम् and नियमनियमः

mutually and propound view free from antagonism, their exposition is true as it gives rise to Jainism. For a substance has infinite attributes such as general cum particular In that way all the nayas should make relative expositions by consulting one another The author has dealt with the topic pertaining to relative and absolute (views) Nowhere in this work he has dealt with the distinction between naya and durnaya he has simply treated view points. The following is an important question How is it that Mallavadin has not dealt with this distinction even when it is treated by Siddhasena Divakra in his work Sammatitarka (Sammapayarana).

These twelve spokes are the Bhangas of vidhi and niyama The first four spokes are bhangas of vidhi and they make up one Marga (felly) the next four are bhangas of both and they form second felly and the remaining four or bhangas of niyama and they form the third felly This felly establishes eternity eternity non-eternity and non-eternity by means of reasonings viz non creation, creation, non creation and creation (respectively),

The following fact is expounded in the nave of Nayacakra —when these twelve nayas becom unanimous and behave as expectant of one another make assertions, they (nayas) point out the real nature as they are enlighteners of the complete object such :—

स्यान्नित्य । स्यान्नित्यानित्य । स्यादनित्य एव । etc,

This is very thing is the main subject matter for exposition of Nayacakra

This very thing is the main subject for exposition of Nayacakra

The Author and his Greatness The Author of this work if Mallavadin Suries renown crest-jewel of disputants, This Suri (preceptor) is renowned in the Jaina works on logic. The commentator of Nayacakra observes –

जयति नयचक्रनिर्जितनिःशेषविपक्षचक्रविक्रान्तः ।
श्रीमल्लवादिसूरिर्जिनशासननभस्तलदिनेशः ॥

This means, He who has defeated all the antagonists of syadvada by means of Sudars ana wheel in the form of wheel of nayas is victorious. Mallavadin Suri, the Sun in the sky of the Jaina canon.

From the above-mentioned verse we learn –

( ) Mallavadin Suri is the author of Nayacakra.

(II) He is the conqueror of disputants

(III) He enlightens us on Jina-vacana (Word of the Tirthankara) i.e. to say he is duly conversant with the essence of the Jaina canon extant in those days and he is its illuminator

This Suri is very celebrate in the Jaina world in view of his logical acumen. He vanquishes hosts of masterly disputants in dispute worse by constructing an excellent and infallible array of reasonings for establishing his view This fact is very well revealed by this excellent and important work of his. Just as his tongue (speech) was skilful in refuting views of opponents so his pen (composition) too, was moving fast in establishing his own theme

Basis of Composition – An account pertaining to birthplace etc., of this Suri is given in many a work such as Prabhavakacarita. Hence for it we request readers to refer to those very works. We can say nothing about the source of this work Nayacakra as well as the date and place of its composition, owing to want of materials dealing with these topics. All the same it appears that the main basis of this work, is works like Saptaśatāranayacakra. We can know that these works were extract in the time of the author. But since the author has not clearly mentioned that the basis of this work is these very works, how can we say that these must be definitely the basis? After saying that this Nayacakra is 'पूर्वं महोदधि [illegible] प्रभ्रष्टोद्धृतं [illegible]" the author has simply said that the source of this Nayacakra is valid proof and the tradition regarding the canon.

Admirers (of the author) - The name of this great personage who is here 'prabhavaka' of the Jaina regime and who is a devotee of knowledge and asceticism is first noticed in Haribhadra Suri Anekanta jayapataka (Vol. I pp. 58 & 116) and his commentary on his own work Yogabindu. Shanti Suri has marvellously praised him (Mallavadin) by means of a verse[1] in his commentary on the Vartika of Nyayavatara. Moreover in Vadivetala Shanti Suri Prakrit commentary (p. 68) on Uttaradhyana Sutra (Pr. Uttarajjhayana) there is mention of Nayacakra and its reasoning too. Bhadresvara Suri has given in his prakrit Kathavata (Kahavata) reasonable information about Nayacakra and Mallavadin. Nayacakra is mentioned in Maladhari Hemachandra Suri's commentary on Visesavasyakabhasya (Pr. Visesavassayabhasa). Kalikalasarvajna (Hemachandra Suri) has extolled excellence of his logical acumen in Siddhahema grammar as under

"अनुमल्लवादिनं तार्किकाः"

Later on, Sahasravadhana Munisundara Suri and a great many other venerable Suris have panegyrized Nayacakra and Mallavadin Suri. Finally Nayacarya Nayavisarada Upadhyaya Yasovijaya has praised in his Atha prabhavaka Sajjhaya Mallavadin Suri as hero amongst disputants, and in his Dravyaguna Paryayanorasa he has said that all the twelve spokes can be included (?) in one spoke of Nayacakra. In this way this work and its author are extolled by a great many Jaina Suris.

The argumentative power logical acumen of this Suri a hero amongst disputants, was indeed like that of the scorching (heat of the) sun of the mid day in the case of stars in the form of disputants of other schools in his days. His composition, too, was so very marvellous that by adopting an extra-ordinary style and without using any harsh word, he has made an attempt to reduce to the stage of unreality disputations and dogmas of others by resorting to sayings embodied in contemporaneous or earlier work of their own schools after grasping the essence of these sayings. Some of the works utilized by him (in this Nayacakra) are such as are not available to-day. Further (In this Nayacakra) there are very very lengthy purva pakṣas (views of opponents) and discussions which are not to be seen in works so far available and which though knotty are presented in beautiful and lucid way and which are immediately comprehensible and which, when grasped, make profound disputants, the readers and students of this work of his who is expert in

---

[1] [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

(vide P. 52 of Nayacakra)

reputation by means of unassailable arguments. (For these reasons) this voluminous and deep-sensed work jewel is unique in the Jaina world

For Suris that preceded this Suri have no doubt clearly established the doctrine of non-absolutism but they have merely refuted arguments of other schools based up on 'NAYAS' with the result that the view of those opponents cannot be clearly grasped. This suri has firstly clearly expounded views of persons of other schools and then refuted them. Hence this work is unique.

Siddhasena Divakara Suri: The original author has extracted in this 'Nayacakra' some complete and some sentences (from the works) of revered Siddhasena Divakara Suri. This Divakara Suri is pupil jewel of Vrddhavadin Suri, pupil of 'Skandila' suri of Vidyadhar 'Varma' (School). Skandila suri was yuga pradhana (towering personalities of his age) in Vira Samvat 376–414 (years 94–56 before the Vikrama era)

There are two Suris by name 'Skandila' (1) Arya Jitendhara exponent (exponent of Jita vyavahara codification) Skandila Suri and (II) Anuyogadhara (expert in exposition) Skandila Suri who is mentioned in Nandi Sutra (Pr. Nandi sutta) in V 26 and 33 as under :–

" वन्दे कोसियगोत्तं संडिल्लं अज्जजीयधरं ॥ २६ ॥
ते वन्दे खंदिलायरिए " ॥ ३३ ॥

At least the fact that these Mahatmans (saintly characters) who are best of ascetics, have flourished prior to the composition of 'Nadisutra' as their name are mentioned therein, is as clear as day light. The fact that remains is how can 'Sandila' mean 'Skandila'? Commentators such as reverend Haribhadra Suri, Malayagiri Suri and others have explained 'Sandila' as Skandilya. Against this only one thing is to be said that Skandilayariya mentioned in Nandisutra is referred to as 'Sandila' in the following 20th sutra of Kalpasutra (Pr. Pajjosavanakappa).

" थेरस्स णं अज्जसंडिल्लस्स माढरसगुत्तस्स अज्जजम्मे थेरे अंतेवासी गोयमसगुत्ते थेरस्स णं अज्जजम्मस्स
माढरसगुत्तस्स अज्जसंडिल्ले थेरे अंतेवासी [illegible] [१]

From this we can understand that the work 'Sandilla' can be used in the sense of "Skandila". Here that work 'Sandilla' is used for no other word but 'Khandilla' mentioned in 'Nandi' for venerable 'Haribhadra Suri' refers to 'Khandila' as pupil of Samba Vacaka in his commentary on Nandi. This very mention occurs in the 20th Sutra of Kalpasutra. Of course, there Sandilla (Khandilla) is said to be a grand pupil of Arya Samba. But this difference is totally negligible, for one and the same individual is mentioned as 'Pupil' in a commentary whereas grand pupil in the (corresponding) text.

The date of Arya Jitadhara Skandila Suri is fixed by historians as Vira Samvat 376–424. At that time this Mahapurusa great personality of Vidyadhara Varma was bearing the yoke of the Jaina regime, as yuga pradhana. Revered Divakara Suri was grand disciple of this very Mahapurusa and pupil of Vrddha vadin Suri. So it may be very very clearly decided that the date of Rev Divakara Suri is nothing else but fifth century of the Vira era – the period when Vikramaditya Samvat pravartaka (founder of an era) was the ruler.

Rev Divakara is grand-pupil of none else but Skandila Suri of Vidyadhara Vamsa. In this connection (Prabhacandra Suri) the autho of Prabhavakacarita says in Vrddhavadiprabandha (V 176-178) that Vrddhavadin Suri belongs to the Vidyadhara gaccha (school). From its gets proved that Aryajitadhara Skandila Suri who is the teacher (preceptor) of Vrddhavadin Suri, belongs to the Vidyadhara gaccha (Vamsa) Consequently Rev Divakara Suri is grand-pupil of none else but Skandila Suri of Vidyadhara gaccha and not that of another (of the same name). Against this a question may be raised Is there any proof to believe that the teacher of Vrddhavadin Suri is none else but Arya Jitadhara Skandila Suri? A strong argument by way of its reply is that Skandila Suri of the Kasyapa lineage is mentioned in the succession list given in Nandisutra, and this transgresses the probable date of Divakara after the mention of above five to six Suris that followed Arya Jitadhara Skandila Suri.

For this reason, too it is more justifiable to believe that none else but Arya Jitadhara Skandila Suri belongs to the Vidyadhara gaccha.

Another point is that Skandila Suri of the Kasyapa lineage is anuyogadhara That he has given the fourth vacana of the canon is indisputable So far as we know there is no discord regarding the following :-

This vacana is posterior to (the life-time) of Vajrasvamin dasapurvadhar (cognizant) of ten purvas, and Vajrasvamin flourished after Divakara Suri. This proves that anuyogadhara Skandila Suri who is posterior to vajrasvamin, cannot be guru of Vrddhavadin Suri. Hence Skandila Suri mentioned as his guru is none else but Arya jitadhara Skandila Suri of Kausika lineage This reasoning undoubtedly informs us that Divakara Suri is a contemporary of Vikramaditya, Samvat pravartaka.

(*Samvat pravartaka which is the last line of the 8th page is connected with this foot ote.*)

In ancient days the clan named as Malava was occupying a supreme place In the third century before christ, *this clan with the help of Ksudraka clan, opposed Sikandara (Alexander).* But as additional assistance could not be had, it go defeated. This very Malava tribe came to Rajputana, on its being ruined by constant attacks of the Greeks and its established its supremacy in Malva in the first second century before hrist. It was a republican state, and Vikramaditya was its leader Vikrama assumed the title of Sakari by multiplying attacks of the Sakas (Scythians). Further he made 'Malava clan famous. For that reason this era got named as 'malava gana sthiti

—History of Sanskrit Literature
(p. 144) **By Baldev Upadhyaya**

moreover there is mention of powerful and liberal ruler named Vikramaditya who presented lacs to his servants in virtue of his victory over enemies, in the following verse of Gathasaptasati composed by king Hala:-

" संवाहणसुहरसतोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खं।
चलणेण विक्कमाइच चरिअं अनुसिक्खिअं तिस्सा ॥ "
५–६४

Jaina works fully corroporat this fect

Ibid. p. 143.

There is the following inscription on a pañca tīrtha metallic image in the temple of Lord Candraprabha in Jesalmere :–

॥ श्री नागेन्द्रकुले श्रीसिद्धसेनदिवाकराचार्यगच्छे [illegible] कारिता संवत १ ११

From this we learn (I) Gaccha named after Siddhasena Divakara Suri was prevalent and (II) this gaccha has arisen from Nagendra (Naila) Kula. It is natural that this image inscription may be lacking in names such as Vidyadhara Vamsa, Vidyadhara Kula or Vidyadhara gaccha. For gaccha named after Siddhasena Divakara Suri had become prevalent. Even then it is not probable that well-known Siddhasena Divakara may have flourished in the Nagendra kula, since Kodiya (koti) gana had started from Arya susthita Suri and in his succession Naila branch (sakha) originated from Arya Nagila pupil of Vajrasena pupil of Vajrasvami.

The author of Prabhavakacarita informs us that Nagendra gaccha had started from pupil of Nagendra. In the sthaviravali (Pr thoravali, list of sthaviras) of Nandi Arya Skandila is said to be pupil of Simhasuri of Brahmadvipika Sakha. This branch started from Aryasamita Suri who flourished in Vira Samvat 584 and who was maternal uncle of Vajrasvami. In this connection the author of Prabhavakacarita remains silent after that this Samita Suri belonged to the Vidyadhara amnaya.

Looking to all this a question arises, how can anuyogadhara Skandila Suri of Brahmadvipika branch be grand teacher of Divakara Suri? No author has said that Siddhasena Divakara Suri or his guru Vrddhavadin Suri belongs to to the Brahmadvipika branch.

Pannyasa Kalyanavijayaji has said that Padalipta Suri belongs to the Vidyadhara kula named after Vidyadhara, pupil of Vajrasena. But it is reasonable to believe that Sthavira Nagahastin belongs too Vidyadhara branch which originated from Vidyadhara Gopala pupil of Susthita and Supratibaddha couple of pupils of Arya Suhastin. Ancient Sakhas have been named in course of time as Kula and Kulas as Gacchas. This very things has occurred even in the case of Vidyadhara gaccha of Nagahastin Suri. Consequently there seems to be no harm in case Padalipta Suri is said to belong to vidyadhara kula or Vamsa. Hence there is no ground for doubting the following statement occuring in colophon of Girnar dated as Vikrama Samvat 150.

Vrddhavadin Suri flourished in the amnaya (Vamsa) of Padalipta Suri.

The author of Prabhavakacarita has cited this very colophon as an authority. So it is not justifiable to doubt it. Another point is that Nagarjuna who is layman pupil of Padalipta Suri and who is well-known as Yogasiddha is different from Nagarjuna mentioned in the Sthaviravali of Nandi. How can (the name of) householder be mentioned in Sthaviravali?

The Guru of venerable Padalipta Suri, is not Nagahastin but he is none else but Arya Khaputa Suri. Padalipta Suri is referred to as Vacaka in the Curni (Carni) of Kalpa sutra). Further in Nandi it is said that Nagahastin belongs to Vacaka vamsa. So Padalipta Suri must be pupil of Nagahastin. An attempt is (no doubt) made to prove that Padalipta Suri is pupil of Nagahastin by citing Nandi as an authority. But this attempt is unwarranted. For the meaning of the following sentence occuring in Nandi (V 30) is simply this that Nagahastin Suri belongs to Vacaka vamsa and not that this vamsa originated from him —

" [illegible] "

Some believe that Padalipta Suri flourished in the first century of the Vikrama era. This belief too requires investigation. Tarangavati (Pr Tarangavai) of Padalipta Suri is mentioned in Anuyogadvara. Composition of anuyoga (exposition) is prior to Virasamvat 453 and not posterior to it. This is what Panyas Kalyanavijayaji has said in his prabandhaparyalocana of Prabhavakacarita. So it becomes clear that Padalipta Suri is an acarya who flourished before Vira Samvat 453. Consequently it follows that the first Skandila Suri and none else is the teacher of Vrddhavadin Suri and grand-teacher of Siddhasena Divakara Suri.

In Jaina-paramparanodhana it is said that Mallavadin, too, was alive at the time anuyogadhara Skandila Suri delivered his vacana. If this is a correct, Divakara Suri cannot be grand-disciple of the second Skandila Suri.

Jaina Suri while showing the connection of Padalipta Suri with Murunda, has referred to the latter as 'King'. We are so far in the dark about him. Some historians decide the date of Divakara Suri as the fifth or the fourth century by showing resemblance between works of Nagarjuna a protagonist of nihilism and those of Siddhasena Divakara but this (view) requires investigation.

From the mere mention of nihilism it cannot be said that Divakara (Suri) is posterior to Nagarjuna. Nihilism has not originated from Nagarjuna. It is certainly older. It is expounded in Prajnaparamitasutra. From the mere fact that 'Madhyama marga (Midway-Path) and Nihilism are to in Dvatrimsika of Siddhasena, one cannot guess that Divakarasuri is posterior to Nagarjuna.

Surely this conjecture would have been said to be a right in case it was pointed out that, reasonings and sayings of Nagarjuna were embodied (by Siddhasena Divakara). Works of Divakara Suri are at present available as 'text' only. As in my humble opinion we should not hasten to decide his date by surprises until we come across sound valid proofs.

Venerable Haribhadra Suri has given to Divakara Suri an honorific title of 'Srutakevalin'. Hence too, (the period of) this Suri must be ancient very ancient moreover 'Nagarjuna' has refuted in 'Samskrta-pariksa' (pp. 45–57) of Madhyamakarika the doctrine of origination permanence and destruction propounded by Divakara Suri. This too, proves that Siddhasena Suri is anterior to Nagarjuna.

It seems that this [Siddhasena] Suri had not criticised the Digambara school of thought. So it follows that Divakara Suri must have flourished prior to this school which originated in Virasamvat 606 (according to the Svetambara tradition) and in Virasamvat 606 according to Digambara works. That is why both the sects (of the Jainas) cite extracts from his work as authority.

---

1 This work belongs to the first century A D Vide p. 176 of Darsana-cintana of (introduction Pramanamimamsa).

2 see Bauddhadarsana [p. 193]—

3 cf

" [illegible]
[illegible] ॥ ११ ॥
[illegible]
[illegible] ॥ ११ ॥"

It is believed that Dharmasuri flourished in Vikramsamvat 392–495. Siddhasena Divakara Suri is mentioned as his pupil too, in vicaranas while nothing that Khaputa Suri, Vrddhavadin Suri etc flourished during the life time of this venerable Suri (Dharma).

For the guru of Siddhasena Suri, two names are mentioned (i) Vrddhavadin Suri and (ii) Dharma Suri, though so far as we know Siddhasena Suri has mentioned neither of them as his guru. If we have to reconcile the dates of these two Suris we may have to accept that vrddhavadin Suri is contemporary of Dharma Suri. If this comes true, there is no harm in believing that (I) the guru of vraddhavadin is Skandila Suri, (i) and none else, and (ii) Siddhasena Divakara is a contemporary of Vikrama. W point out another ald proof in this connection. It is that Siddhasena Divakara must have composed some grammar. His name was 'Ksapanaka'. Siddhasena suri was one of the scholars who flourished in the time of Vikrama, and he is refferred to as 'Ksapanaka' by other authors. In Jyotirvidabharana composed by Kalidasa it is said

"धन्वन्तरि, क्षपणको ऽमरसिंह... : । वेतालभट्ट–घटखर्पर–कालिदासा : "

"ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥" २०–१

The connection between Vikrama[1] and Divakara Suri is very well deferred to in Jaina works. That Siddhasena Divakara Suri has written even commentary on his own grammar Ksapanaka is borne out by the following lines occuring in Maitreyaraksitatantrapradipa :–

अत एव नाव्ययानाम् मम्यते इति विचसपनाकेन इत्यत्र

कथितम् अव्ययानि वृत्ति नार्थ मन्ये इति क्षपणकन्यासे

Moreover it is distinctly stated in 'Unadivrtti' composed by Ujjvaladatta as under :–

क्षपणकवृत्ती अत्र इति शब्द आद्यर्थो व्याख्यातः इति । "

In Jainendra grammar too Siddhasena opinion with grammar is quoted as – 'वेत्तेः सिद्धसेनस्य'

Even in this Nayacakra we come across the following sentences :–

अस्ति भवति विद्यति वर्तति सन्निपात षष्ठिपालायामा समाप्ता

तथा चाचार्यसिद्धसेन आह–'यत्र हि अर्थो वाचं व्यभिचरति नाभिधानं तत् ।

From these sentences pertaining to grammar it follows that Divakara Suri must have Composed grammar and that grammar must have been named as 'Ksapanaka'. As this grammar comes from the pen of Ksapanaka, his grammar may have been,

1 Historians are not unanimous as to who this vikrama is.

Pt. Nathuram Premi is reluctant to believe that this Suri has composed grammar. But an opinion of an acarya pertaining to a grammatical topic, is cited only when he has composed some independent grammar e. g. panini noted while citing the opinion of Asmbhati syarapacarya. He has shown validity of this form in his grammar and hence his opinion is cited. Even other opinion f Divakara Suri pertaining to grammar are noted in this work. So ther seems to be no ground to doubt the fact that the author of Ksapanaka grammar is Siddhsena Divakara Suri.

The name of Nayavatara is mentioned just along with Sammati. So the author of both of them is one and the same person.

This Siddhasena Suri may be one mentioned in Nisithacurni (Nisithavisesacurni) etc.

known as Kaapanaka If so, since Siddhasena Divakara Suri alone is up till now identified with Kaapanaka, one of the nine jewels of Vikrama, there is no hitch arising in believing contemporaneity of Siddhasena with Vikrama.

Siddhasena Divakara Suri is traditionally believed to be the author of Nyayavatara. This tradition must have originated by identifying Nyayavatara with Nayavatara. The name 'Nayavatara is mentioned along with 'Sammati in the commentary on Nayacakra, but not the name 'Nyayavatara or it may be that this tradition may have as its basis the fact that a couplet of Nyayavatara is quoted by Haribhadra Suri by prefixing it with "महामतिनाऽप्युक्तम्" In its commentary Jinesvara Suri may have mentioned the name of Siddhasena Suri, a veteran scholar. But it should be carefully investigated as to whether this Siddhasena Suri is same as Siddhasena Divakara or some other

In the end of this Scripture Nayacakra, Nayavatara and not Nyayavatara is mentioned as a scientific work dealing with view points. In Nyayavatara nayas are only referred to, but not therein there is any exposition of them. In this work (Nyayavatara) only valid proofs are extensively treated So this Nyayavatara is not same as Nayavatara composed by Divakara (Suri). Its author must be other Siddhasena Mahamati The mention of Mahamati instead of the current word Divakara, leads us to believe that probably there must be some other Siddhasena Suri.

(Vacaka) Umasvati.

Tattvarthasutra composed by this Suri, is accepted by both the sects of the Jainas viz S'vetambara and Digambara. The author of Nayacakra has extracted (cited) as authorities sentence from (this) Tattvarthasutra and its bhasya (commentary) composed by the author himself. The following sentence occurs in the available 'bhasya (p. 118)

"औपशमिक उपशमात्मको निवृत्तो भावः"

According to the S'vetambaras the author of this 'bhasya is Umasvati It seems that there must have been only this commentary Tattvarthasutra up to the time of Mallavadin Suri. Amongst the available commentaries excluding this bhasya, the earliest one is the one composed by Digambara Devanandin who is known by the name of Pujyapada and whose date is believed to be the fifth or the sixth century of the Vikrama era Not a single sentence from this commentary is cited by Mallavadin Suri.

This Suri (Umasvati) has said in Tattvartha (sutra ch–V) "गुण पर्याय वद् द्रव्यम्" (s. 37). It means a substance is endowed with attributes (gunas) and modifications (paryayas). Both guna and paryaya are really gunas (properties There is no difference between them, for the author of the Bhasya has said "भावान्तरं संज्ञान्तरं च पर्यायः" (p 427) For that very reason the commentator (Siddhasena Gani) has mentioned the succeeding and simultaneous bhedas (varieties) as gunas And this being the opinion of the author of the bhasya,) he has given ahead the characteristic of only the guna as "द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः" (ch V s. 40) If praya was to be looked upon as different as guna he would have certainly defined paryaya This very fact is elucidated by Divakara Suri, moreover the following aphorism of Umasvati is fostered in Sammati :–

"उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" (ch VS 29)

तस्मै गुणादि In its commentary (p 435) it is said –

गुणसदृशत्व मर्यादा पठिता एकस्मी न भिनेन प्रमः, मातृप प्रतिपादितमेव गुणाः पर्याया इति चेदमिति"

Hence it follows that Umasvati is anterior to Devalura Suri and he hence flourished earlier than Vikrama.

Moreover Vacaka (Umasvati) has mentioned fire bodied and air bodied beings as "Trasa". He has designated them as merely 'Trasa'. He has added no qualifying word to 'Trasa'. Venerable Sivasarman Suri has as it were expounded this aphorism. While doing so he has mentioned fire bodied and air bodied beings not as merely 'Trasa' but as "Sukuma-Trasa" to avoid any conflict with the scripture. So Umasvati is anterior to him too. In the commentary of this Nayacakra, Karma-prakrti (Kammapayadi) of Sivasarman Suri is cited as an authority. Those who assign the fourth century to Umasvati and the fifth to Sivasarman Suri should reconsider their theme.

Those suri (Umasvati) has composed 500 prakaranas. It seems that so far as the Jaina literature is concerned amongst the available Jain Sanskrit works so many ancient works are first composed by this (Suri) and none else.

Tattvartha (sutra) of this Suri is designated as agama by venerable Haribhadra Suri, (spiritual) son of Yakini Mahattara. According to the Jaina tradition every work composed by a Caturdasapurvadhara (i. e. one conversant with 14 Purvas or by dasapurvadhara i. e one conversant with 10 Purvas) is called Agam. So Umasvati was dasapurvadhara. Amongst dasapurvadharas Vajrasvamin is without follower of this kind. He is the last dasapurvadhara. He is said to have flourished in the second century of the Vikrama era. (Hence) Umasvati must be earlier than he.

By convening the Council of the congregation of Jaina ascetics in north Mathura in Vikrama Samvat 153 'Gandhastin Suri pupil of Madhuramitra Suri, co pupil of Umasvati has composed mahabhasya on 'Tattvartha. In Himavantasthaviravali it is said:

पूर्वस्वामिदोषसीमास्वातिविरचितस्तत्वार्थोपरि ... ॥१॥ ... ॥२॥

From this at least one fact becomes certain that 'Gandhahastin Suri has composed a volumi-nous bhasya on Tattvartha and he was alive in Vikrama Samvat 200. So the author of Tattvarthasutra is earlier than Vikrama Samvat 200.

Some are tempted to believe that Umasvati belonged to the 'Yapaniya Sangha (community)' But this 'Sangha originated in Vikrama Samvat 205 as said by Digambara Devasena Suri, whereas Umasvati is proved as anterior to Vikrama.

Niryuktis (Nijjuttis) & Canonical Treatises

The author of Niryuktis (Nijjutti) is 'Bhadrabahusvamin caturdasapurvadhara. Ancient venerable Suris believe that Niryuktis were composed (latest) in Vira Samvat 170.

---

1 ... ए. १४

2 ...

Avasyakatika (p. 72a)

In the introduction (p. 103) to Nayavatara it is said 'Niryuktis as available to-day are works posterior to Siddhasena. For this very reason they have no place in the literature composed before Siddhasena Bhasyas (bhasas) and curnis (cunnis) are certainly posterior to Siddhasena Modern historians believe that Siddhasena Divakara Suri flourished in the fourth or the fifth century and thereby they are trying to prove that niryuktis were composed subsequent to the fourth-fifth century

In the introduction to part VI of Brhatkalpa (Kappa) it is said that Niryuktis were composed prior to the second century of the vikrama era, Hence persons conversant with history have now at least accepted that niryuktis are composed prior to the second century [1]

Thus there is a difference of opinion regarding the date of composition of Niryuktis. In this Nayacakra verses from Niryuktis are quoted. Hence there is no doubt that the composition of Niryuktis is earlier than the fifth century of the Vikrama era This Suri (Mallavadadin) has quoted from Nandisutra as done in the case of Niryuktis. And Devavacaka Gani, the author of Nandi, has incorporated many verses of Niryuktis in his text Nandi, Consequently Niryuktis are earlier than even the composition of Nandi.

Some historians determine the date of the composition of Nandi as Vikrama Samvat 980 by identifying Devavacaka Gani with Devarddhi Gani Ksamasramana, but that is not fair The guru of Devarddhi Gani is Desi Gani whereas that of Deva Vacaka Gani, Dusya Gani. In some of the ancient works Devavacaka Gani is mentioned as Devarddhi Gani Ksamasramana but it is another named based upon the fact that in the Sthaviravali of Kalpasutra, Devavacaka is called 'Devarddhi Gani That Devarddhi Gani Ksamasramana the redactor of the canonical treatise is different from this will be realized on going through the Sthaviravali of Kalpasutra, In this Sthaviravali, the name name of Devarddhi Gani Ksamasramana occurs twice So it follows that this must be another name of Devavacaka Gani In one of the Sthaviravalis of Kalpasutra there is mention of saints of different lineages but having common name 'Devarddhi Gani Ksamasramana Consequently it follows that Devarddhi Gani Ksamasramana is another name of Devavacaka Gani For this very reason some ancient Suris have called Devavacaka Gani Devarddhi Gani, but not so to Devarddhi Gani Ksamasramana, the redactor of agamas Venerable Malayagiri Suri has distinctly mentioned Devavacaka in his commentary on Nandi

From the qualifying words used for Nandi, in Nayacakra, we infer that Nandi must have been composed before the time of Mallavadin Suri, too, The pertinent line is -

" भगवदर्हतापि तथोपकृते "

(P 749)

Here Nandi is said to be the commandment of the divine Tirthankara, Hence it is not now necessary to indulge in the investigation that the composition of Niryuktis is very ancient. During that period no Bhadrabahu who so ever has flourished. Another Bhadrabahu whose existence is

---

(1) If niryuktis are composed later than Siddhasena Suri as stated in the introduction to 'Nyayavatara, it gets proved by his own writing that Divakara is earlier than the second century of the 'Vikrama era according to the introduction of Part VI. of Brhatkalpa

(२) तत्तो य थिरचरित्तं उत्तमसम्मत्तसत्तसंजुत्तं "
देसिगणि खमासमणं माढरं गुत्तं नमंसामि ॥४१॥

देवड्ढि खमासमणे कासवगुत्ते पणिवयामि ॥४४॥ "

conjectured said to belong to the sixth century of the vikrama era. Hence it follows that Bhadrabahusvamin who flourished in Vira Samvat 170, is the mother of Niryukti.

The main basis of the Jaina doctrines, is twelve angas. Their author is Sudharmasvamin, the fifth apostle. Sthavira (veteran) saints have composed upangas by utilizing those angas. Mallavadin Suri has made free use of both of them (i. e. angas and upangas). Therein Acaranga (Ayara) Sthananga (Thana) and Bhagavati (Viyahapannatti) are three angasutras whereas Jivabhigama Pannavana etc. are upanga-sutras. Besides, the author (Mallavadin Suri) has quoted from Nandi and Anuyogadvara known as 'Sutra'. All these works and their authors belong to a very ancient period.

Katyayana.

In various places the author of 'Nayacakra' has made free use of aphorisms of Panini, Vartika and Patanjala 'Mahabhasya' on them. There is difference of opinion regarding the date of *Panini. Max Muller great German scholar assigns to him the date 350 B. C., Prof. Weber 400 B. C. Goldstukar Dr. Bhandarkar and Dr. Belvalkar 700 B. C., Principal Rajwade 800 B. C. Bharatacarya 900 B. C. Pandit Satyavrata samasrami 2400 B. C., and Yudhisthira mimamsaka date earlier than 2800 B. C.

Sharana Agrawal looks upon Panini as a contemporary of Yudhisthira and Pariksita, by giving evidence from Astadhyayi a work of Panini. He has fixed the date of Yudhisthira and that of Pariksita. According to his calculation these dates are almost 4369 years from to-day.

A good many Vartikas have been composed on the grammar of Panini. Therein only the Vartika composed by Katyayana is well known. In the 'Mahabhasya' only this Vartika is mainly expounded of the various names of the author of this Vartika even the name 'Vararuci' is well known. Amongst grammarians he is an honest author. Patanjali has used the word 'Bhagavan' for Katyayana in following sentence —

[illegible] भगवान् कात्यायनः

But Shabarasvamin has said in the following sentence of his 'Mimamsadarsana' (10-5-4) that the saying of Katyayana is invalid —

सद्वादित्वात् पाणिनेर्वचनं प्रमाणम् असद्वादित्वात् न कात्यायनस्य

On the basis of this sentence Katyayana sayings are said to be invalid. All the modern authors have however considered Katyayana as reliable. Katyayana is anterior to Patanjali but posterior to Panini. There is difference of opinion amongst scholars regarding his (Katyayana) date. The Jaina,

---

vide 'Jaina-vijnana (February 1957).

(i) Katyayana, (ii) Bharadvaja, (iii) Sunaga, (iv) Krostr (v) Vadava, (vi) Vyaghrabhuti and (vii) Vaiyaghrapadya are commentators so far as bhasya-tikas are concerned.

The Jain authors look upon him as contemporaneous with Sakatala, father of Arya Sthulabhadra and the prime minister of King Nanda[1] So he may have flourished in about Vira Samvat 170.

There is no consensus of opinion as regards the date of Patanjali's Mahabhasya, too, whether the very author of 'Yogadarsana is (this) Patanjali or some one else, is question so far unsolved.

In many a place there is a difference in readings between those in the printed 'Mahabhasya as is before us at present and those given in this 'Nayacakra

The reason for this is that the 'Mahabhasya got lost several times and it was restored many a time. Kalhana in his Rajatarangini has said that 'Mahabhasya had perished in the eighth century of the Vikrama era. W come across such other references too. We should not discard the probability of serious changes in this work that arose at the time of its such destructions and restorations W can undoubtedly say that variants are due to such changes

The following verse occurring in the text of 'Nayacakra, is looked upon as 'bhrajasamjnaka by the author of Mahabhasya ~

मस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेष

We are led to infer that according to the commentators Kaiyata and others, the author of this verse may be Katyayana. The pupil of Sadguru says "

" स्मृतेश्च कर्ता श्लोकानां भ्राजनाम्ना च कारकः "

This means the author of Bhraja verses is an author of some 'Smrti This word 'Katyayana has in the end termination for lineage. Vararuci, son of Katyayana, too, is named as 'Katyayana He may have written some smrti. This Katyayana has composed Vartika on Panini aphorisms as correctness of some words could not be proved by these aphorisms. For the difinition of vartika is

उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते । तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः ॥

The date of Katyayana alias Vararuci is posterior to that of Panini but it is prior by 300 to 200 years from Patanjali the author of Mahabhasya for Katyayana is respectfully ref-rred to by Patanjali. Some historians opine that Katyayana flourished in the fourth century before the Vikrama era

---

1 (Katyayana which is the 28th time of 16th page is connected with this foot note.

Some historians on consonance the sentence

" यवक्रीतेः वचनम् "

Believe that this author of the Vartika is posterior to 'Vahinar son of 'Udayana But that is not Proper Vahinari is mentioned in pravaradhyaya of Bodhayanasrautasutra Even Patanjali while expounding the Vartika has said as under -

कुरवमवरवाद-" मैर कर्मिनर, धनर्धि, विदिनर पनगिनि मरा नाममोगमाम् विहीनरपानप वैहिनरि "

In the time of Kuranavadava the reading was 'Vahinara Taking it to be incorrect he says that the correct word must be 'Vihinara So it is improper to believe that Katyayana is posterior to Vahinara, son of Udayana.

2 See Parisistaparvan of Hemacandrasuri.

Bhrartrhari

Bhartrhari has neither given even a bit of information about himself in any of his works nor has he directly mentioned the name of his teacher Mallavadin Suri has (however) mentioned Vasurata as the (name of the) teacher of Bhartrhari in Nayacakra. Even Punyaraja, a commentator of Vakyapadiya has mentioned the name of Vasurata as that of the teacher of Bhartrhari The opinion of Vasurata is not recorded in any other work but Nayacakra Views of both these teacher and pupil are very well examined by the author of Nayacakra Bhatrhari, too, expands the view of his teacher without specifically mentioning that it is the view of his teacher and establishes his own view by refuting that of his teacher

Itsing, a Chinese traveller has created a great deal of misunderstanding about the date of Bhatrhari This has led some scholars to belive that Bharthari flourished in the latter half of the seventh century of the Vikrama era, Yudhisthiramimamsaka believes that he flourished prior to Vikrama Samvat 45 According to the Indian tradition Bhartrhari is the elder brother of Vikramaditya

On going through criticism of the view of Bhartrhar as given in Nayacakra, w find that he is protagonist (exponent) of sabda brahma (sound monism) and according to him sphola alone is the highest entity and the universe is its vivarta (modification). Consequently the statement in Itsing Bharatavarsayatra (p, 274) to the effect that Bhatrhari was follower of Buddhism and he had been initiated seven times, may have been made owing to his sole infatuation of his religion or he must be some other Bhartrhari For this have flourished two to three persons by name 'Bhartrhari The authorship of Bhattikavya 'Bhagavrtti Mimamsa 'bhasya 'Satakatraya and 'Sabdadhatusamiksa is attributed to Bhartrhari. The author of 'Vakyapadiya, its commentary 'Mahabhasyadipika' and Vedanta sutravrtti is one and the same Bhatrhari, protagonist of sabda brahma. It is not too much if we were to say that Itsing was totaly ignorant about this Bhatrhari, pupil of Vasurata So it is mistake to believe by taking his statement into account that he Bhartrhari flourished in the seven century For there is quotation from Bhartrhari 'Vakyapadiya in Kasikavrtti a beautiful and voluminous commentary on Astadhyayi composed jointly by Vamana and Jayaditya alive in Kashmir in the beginning of the sixth century of the Vikram era, while giving an example for the aphorism 4-3 88 In Durgasimha commentary on 'Katantra grammar the commentary which is older than even this Kasikavrtti the following line from couplet of Vakyapadiya it cited –

[illegible]

Harisvamin, commentator of 'Satapatha Brahmana who is pupil of Skandasvamin and whose date according to him is Vikram Samvat 696, refers to Kumarila Bhatta and Prabhakara as Prabhakaraguru in his 'bhasya Further he mentions even Bhartrhari an exponent of 'Sabda brahma and quotes the following by mentioning his couplet –

[illegible]

Moreover Kumaril Bhatta too, quotes the 13th verse from the 1st Kanda (sector) on of 'Vakyapadiya This series of reasonings proves that Bhartrhari is anterior to even Kumarila Bhatta

There is cave of Bhartrhari in the castle of Conargadh near Kasi There is tradition that this cave was got constructed by Vikramaditya Similarly cave even in Ujjain which was

(1) Sanskrit V akrum (p 163)

the capital of Vikrama, is known as that of Bhartrhari. So it follows that surely there must have been some connection between Bhartrhari and Vikramaditya. [1]Vagbhata the author of Astangasangraha and the author of this Nayacakra too mentions Bhartrhari. In Prabandhacintamani Bhartrhari is said to be brother of king Sudraka. According to Krsnacarita composed by the emperor Samudragupta, king Sudraka was the founder of some era. According to my study this Sudraka must be none else but Odraka, a successor of Vasumitra of the Sunga dynasty (A change like शौद्रक–शद्रक–ओद्रक must have taken place.) In Vayupurana it is said that (i) Odraka will succeed Vasumitra as king, and (ii) he will be as valourous as Vasumitra and (iii) he will rage a war with the foreign subjects. This Odraka was alive in about 180 B. C. He had fought against Yavanas. He has composed a drama named, Mrcchakatika which is a version of the drama Carudatta composed by the poet Bhasa, a contemporary of Nanda. Historians observe silence about king Sudraka after (merely) saying that he was king.

Some research scholars opine that sister of some Bharthari born in a royal family of the Malava country was married to Vimalcandra, father of Govindacandra, a contemporary of Dharma Kirti. But this Bhartrhari is different from the author of 'Vakyopadiya. Even Dinnaga mentions Bhatrhari, exponent of the doctrine of sabdda brahma. So it is a blunder of historians to decide dates of Bhartrhari, Dharmakirti, Kumarila and others by relying upon Itsing.

Katandi

The author of 'Nayacakra mentions work named 'Katandi in his 'Nayacakra while expounding and refuting the Vaisesika system of philosophy. This work may be a 'bhasya' or a 'tika on Kanadasutra. The name of the author of this work is not known from this work, for the author (Mallavadin) refers to him as merely Katandikara. He must be vaisesika scholar. We do not find in the Vaisesika works available at present, any reference to this bhasya or 'tika any comments or notes on it or any extracts from it. But in Anargharaghava (act V.) a drama there is Mention of Ravana as Vaisesika scholar of Katandi.

From the following lines [2] occurring this drama it becomes clear that Ravana is the author of Katandi :-रावणः मो भो कमार । वैशेषिककटन्दी परिवदी अभ्युत्थितमान, पर्यामि क्याती यमते देन तह निजरिपो"

Ravpati Upadhyaya has mentioned 'Katandi 'Ravana bhasya, and has in this very place cited as evidence 'Nyaya Kandali. This very Ravana may have been mentioned in his 'bhasya by Sayana Acarya, the author of 'bhasya on 'Veda. Baladev Upadhyaya writes in his Vaidika sahitya (p 37) that Ravana has composed even 'bhasya on rgveda and has given even his own pada-patha. [3] Punyaraja in his commentary on 'Vakyapadiya has said as under while elucidating the couplet beginning with पर्वतागमम् यथा । –

पर्वतात् मिद्वैशेषिकाणि भिन्निसिद्धेशोपाणिति तन् कुलकाते पदार्थमिषितो सृष्टमूतो याज्ञमलागमसिद्वानि ।"

Ravana mentioned even herein may be none else but the author of Katandi. Moreover in 'Ratnaprabha a commentary of Vedanta Sankara bhasya it is said "रावणप्रणीते भाष्ये दृश्यते इति पिल्लनिवैशेषिकपस्य वेद माष्यम्" ।

---

1 He is looked upon as a contemporary of Candragupta II by historians-Introduction (II 14 15) to Astangahrdaya.

2 See the introduction of 'Nayabindu published in Chaukhamba Sanskrit Series Benaras.

3 Sanskrta Vyakarana (p. 763).

4 "It means method of writing or reciting Veda texts in which each word written or recited separately and in its original form -H. R. K.

From this it follows that there is bhasya composed by Ravan in the literature of the Vaisesika system of philosophy. If all these Ravanas are identically his date gets proved as posterior to that of Patanjali and anterior to that of Vasurata.

In the introduction of 'Vaisesika–sutrana' edited in Vikrama Samvat 1969 by Mahadev Sharma son of Gangadhar Bhatt having 'Bakre') as the surname it is said —

" [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] "

From this it is inferred that this very 'Bharadvajavrtti' may be vakya grantha and the bhasya grantha is Ravan Kataadi. Both of them are furnished with a commentary by Prasastmati. The name of the commentary is not known. At least this fact is certain that this Prasastmati is anterior to Mallavadin Suri the author of Naya cakra. But it remains to be determined as to how old Prasastmati is. Prasastadeva, the author of 'Padarthadharmasangraha', is not as old as Prasastamati, and he is named as 'Prashastapada' too. This very 'Bharadvajavrtti' is mentioned by Sankaramisra in his Vaisesikasutropaskara. Commentators of the available 'Vaisesikasutra' hardly mention the view of Prasastamati. That this prashastamati a Vaisesika philosopher is anterior to Mallavadin Suri, is settled fact.

Why does the author of 'Nayacakra' refute 'Kataadi' even when there are good many ancient commentaries of 'Vaisesikasutra'? A reply (to this question) is that it seems that since Jainism is therein refuted[1] by presenting it as the purvapaksa the author (Mallavadin Suri) has selected this work for counter refutation. The study of Nayacakra easily reveals this reason.

From the refutation of syadvada occurring in 'Kataadi' it is inferred that even in those days syadvada may have been expounded in a logical way. As this work of 'Kataadi' has now almost perished it is not available to us. We believe that it is baseless to conjecture that there was an ordinary exposition (of syadvada) prior to its logical treatment by only certain scholar in the Jaina regime.

Prasastamati

He is one of the commentators of Vaisesikasutra. He is mentioned many a time in the literature of the Jainas and the Buddhists. It is not known as to which work was composed by him. Then what to say about its acquisition? Only quotations given by mentioning his name are found in the Jaina and Buddhist works. The commentator (Simhasuri) in this 'Nayacakra' has used the word ca in [illegible] (p. 620) and thereby he has enlightened us that

---

[1] Jainism is dealt with from " [illegible] ([illegible]) [illegible]"

there is a commentary on Katandi By writing ahead 'टीकायां प्रशस्तमतौ' (p. 621) he gives us an inkling that the commentator is Prasastamati From this it follows that the commentary Katandi on the Vaisesikasutra is composed by Ravana and Prasastamati has commented upon it.

Just as in previous spokes views of both Vasubandhu and Dinnaga are at a time refuted so here, too, both Katandi and its commentory are simultaneously refuted

On Sankhyakarika there is a commentary named as 'Yuktidipika Therein the name of Prasastamati is mentioned, and it contains refutations of views of Buddhist scholars up to Dinnaga, but there is no mention of Dharmakirti Hence it is inferred that this work (Yukti dipika) is composed in the intervening period between Dinnaga and Dharma Kirti

Kanada

This sage is the originator of the Vaisesika darsana. This darsana is very ancient It is named as 'Vaisesika as it has laid much emphasis on visesa (particularity) out of the permanent entities. The originator of this darsana is variously named such as Kanada, Kanabhuj, Kanabhaksa and Aulukya The main entities propounded in this darsana are substance, quality action, universal generality particularity inherence and non-existence and these are admitted by many philosopohers, in one way or the other Since these Vaisesika aphorisms belong to a very ancients period, there is great possibility for variants. So it is natural that the readings of printed 'Vaisesikasutra may differ from those occurring in Nayacakra

By taking into account the subtance of the aphorisms (of Vaisesikasutra) Prasastapada Acharya has compoed a 'bhasya It is called 'Prashastapadabhasya Since it really lacks in the characteristic of bhasya it should not be designated as 'bhasya Prashastapada Achary too does not name this composition of his as 'bhasya but names it as Padarthadharmasangraha'[1] Even in Prameyakamalamartanda (p. 552) it is called 'Padarthapravesakagrantha The date of Prashastapada Acarya is believed to be the fifth century of the Christian era

In Nayacakra we find many quotations from Upanisads Mahabharata and (other) Vedic works Further quotations from Upanisads are given as authority' by prefixing to them amnaya to show that his exposition (of Jainism) agrees with that of Upanisads According to Brahmin Pandits these are very ancient works These Upanisads are lakes of spiritual knowledge Various rivers of knowledge have originated from this lake and they are spread in India They are the corner stones of darsanas such as Sankhya Vedanta etc

The Upanisads are expositions of knowledge by way of the final part of Veda Though the number of Upanisads is big the Vedantins look upon ten Upanisads as the main ones.

While refuting the Vaisesika view Mallavadin Suri has quoted the following sentence (in the 7th spoke) :—

नित्यत्वमकर्मकेभ्यो [illegible]त्वात्

---

1 One scholar in his introduction to this bhasya says :—

" प्रणम्य हेतुमीश्वरं मुनिं कणादमन्वतः । पदार्थधर्मसंग्रहः प्रवक्ष्यते महोदयः ॥"

[illegible] प्रवक्ष्यते, भाष्यत्वेन केचिद् व्यवहरन्ति, तद्-सङ्गतम् [illegible] पदार्थधर्मसंग्रहः प्रवक्ष्यते परन्तु [illegible] माष्यरीत्यानुसरणाभावात् [illegible] न [illegible] ॥"

Uddyotakara,[1] too, has given this sentence in his Nyaya vartik but it has not his own. It may be from another ancient work pertaining to Vaisesikasutra. This ancient work may be vakya grantha. For that very reason the commentator (Simhasura) seems to have suggested Vakya kara by later on quoting the following sentence :-

इति तु वाक्यकारमिमार्थोऽनुसृतो भाष्यकारे[3]

This Vakya grantha must have been furnished with some bhasya grantha. That too, is inferred from this quotation. It is possible that Prasastapada may have composed commentary on this Bhasya the commentary which has been criticized in many places by the author (Mallavadin) Vadin Deva Suri has however mentioned (the name of) Atreya as the author of the bhasya on Vaisesikasutra, in Syadvadaratnakara. Whether this 'bhasya' is his or not remains to be settled.

The commentator has mentioned some work by way of the following :-

तथार्थसङ्ग्रहादिष्वपि प्रसाध्यम्

That work is 'Tattvarthasangraha or taking the reading tatra for tattva it is Arthasangraha or by correcting the above quotation as तथार्थ। सङ्ग्रहादिष्वपि प्रसाध्यम्, it is 'Sangraha. It is difficult to know whether this Sangraha is the work composed by Vyadi Acarya in connection with grammar or some other work. The definition of pratyaksa (perception) accepted by the Sankhyas and its exposition are respectively as under -

" श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षम् "

श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानां मनसाधिष्ठिता वृत्तिः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेषु यथाक्रमं ग्रहणे वर्तमाना प्रमाणं प्रत्यक्षम्

---

1. One scholar has said about Uddyotakara. The poet Subandhu has said in his 'Vasavadatta akhyana as under

न्यायस्थितिमिवोद्योतकरस्वरूपाम्

In the beginning of 'Vasavadatta this poet has laments as under in connection with Vikrama.

सा रसवत्ता विहता नवका विलसन्ति चरति नो कङ्कः।

सरसीव कीर्तिशेषं गतवति भुवि विक्रमादित्ये ॥

As the word sa here indicates the experienced object, it proves that this poet is contemporaneous with Vikrama or this very lamentation about Vikrama, shows that this poet flourished very shortly after Vikrama. If he had flourished after a long period, there was no possibility for such lamentation. Hence Uddyotakara earlier than this Subandhu. Uddyotakara refutes the view of Dinnaga. So Dinnaga is anterior to Uddyotakara and hence to Vikrama. (Investigation of the date of Vatsyayana by Pandit Sudarsanacarya of the Punjab) By believing this the inference that Kalidasa, contemporary of Vikramaditya has suggested the name of Dinnaga in the following verse of his Meghaduta can be also justified.

दिङ्नागानां पथि परिहरन्

Historians differ regarding the date of Vikramaditya. So the above mentioned view cannot be accepted as final.

This has been refuted by this author. We come across this definition in various works such as Uddyotakara's Nayavartika, Dinnaga's Pramanasamuccaya and Siddhasena Divakar Dvatrimsad dvatrimsika. But no author out of Uddyotakara and others, has pointed out the name of the work in which it occurs or the name of its author. But surely Vacaspatimisra has said in his Nyayavartika tatparyatika as under (and thereby indicated the name of the author)

" वार्षगण्यस्यापि लक्षणमयुक्तमित्याह ' श्रोत्रादिवृत्तिरिति ।

But even then he has not mentioned the work. In Yuktidipika a commentare on Sankhyasaptati we come accross the following line

" श्रोत्रादिवृत्तिरिति वार्षगणाः ।"

From this, too, the name of the work where this definition occurs is not know

Sastitantra

But it is heard that there is very ancient and voluminous work named as Sastitantra and composed by Varsaganya. But there is difference of opinion amongst historians regarding the following –

(I) Is Pancasikhacary the author of Sastitantra, or Varsaganya ?

(II) Are Pancasikhacarya and Varsaganya names of one and the same persons or those of different persons ?

In the Bhasya on the 13th aphorism of the fourth pada (foot) of Yogabhasya there occur the following lines —

---

१ समस्तार्थनिरूपणम् ' षष्टितन्त्रे ' तेन यदुच्यते तत्र कृत्स्नस्य परिकीर्तनम् पञ्चशिखेन मुनिना बहुधाकृतं तन्त्रं परिकीर्त्यते अथ पञ्चशिख परिव्राजकाचार्य शिष्येण

On the basis of these sayings Tantra is taken to mean Sastitantra. And since Pancasikha Acharya belongs to the Vrsagana lineage, he is named Varsagana and as Varsaganya words having in the end the termination for lineage. This Sastitantra is designated as Yogasastra too. The word Yoga is synonym, too, of Sankhya. It is said in (Bhagavad) Gita 4 —

" सांख्ययोगौ पृथग् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।"

For this very reason Vacaspatimisra too has made the following statement in Bhamati.

" योगशास्त्रं व्युत्पादयिता आह स्म भगवान् वार्षगण्यः ।"

or by educating that Varsaganya says while profounding Yogasastra, there is no reason to believe Sastitantra is work of Yogasastra. The Sankhya Acarya may have expounded entities of yoga.

'निरवकाशत्वं अन्यस्तकमतिपरवादत्वात्'

For this very reason he may have used the pada having the termination satr meant for the present tense in,

" योगशास्त्रं व्युत्पादयता "

तथाच शास्त्रानुशासनम्
गुणानां परम रूपं न दृष्टिपथमृच्छति ।
यत्तु दृष्टिपथप्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम् ॥

In its commentary Tattvavaisaradi Vacaspatimisra has said

षष्टितन्त्रस्य शास्त्रशासनम्

While quoting this very couplet in Bhamati commentary on the Bhasya of Brahmasutra (ch II, 3) Vacaspati misra has said :—

अतएव योगशास्त्रं व्युत्पादयिता आह स्म भगवान् वार्षगण्यः

Hence it follows that according to Vacaspatimisra the author of Sastitantra is Varsaganya. In the third spoke of Nayacakra Mallavadin Suri has said.

विमतविपत्तौ वार्षगण्ये तथे गुणात्मकमिमतम्

So this Suri, too believes that the author of Sastitantra is Varsaganya According to some historians this Varsaganya is Sankhya Yogacarya anterior to Isvarakrsna and alive in the middle of the first century of the christian era. Chinese historians believe that the author of Sastitantra is Pancasikha Acharya and so does Isvarakrsna too If the following couplets are well considered, the fact that Isvarakrsna believes that Sastitantra is work of Pancasikhacarya will appear as valid –

एतत् पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ ।
आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम् ॥
शिष्यपरम्परयाऽऽगतमीश्वरकृष्णेन चैतदार्याभिः ।
संक्षिप्तमार्यमतिना सम्यग् विज्ञाय सिद्धान्तम् ॥
सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य ।
आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि ॥

Even Sankaracarya in his Jayamangala says

"पञ्चशिखेन मुनिना बहुधा कृतं तन्त्रं षष्टितन्त्राख्यं षष्टिखण्डकृतमिति तत्रैव षष्टिरर्था व्याख्याताः"

In Suvarnasaptati, too, we find the following

अथ पञ्चशिख षष्टितन्त्रसहस्रपरिमितं तत्र मोक्षशास्त्रम् रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च परस्परेण विरुध्यन्ति सामान्यानि त्वतिशयैः सह प्रवर्तन्ते"

W believe that this Sastitantra was not seen by Vacaspatimisra. For he attributes the authorship of following sentence to Pancasikha, in his Tatvavaisaradi.

But he has quoted in Yuktidipika composed in the sixth century of the Vikrama era, by prefixing to it the following

तथा च भगवान् वार्षगण्यः पठति

In that very work we come across the following

तथा च वार्षगण्याः पठन्ति तदेतत् त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति नित्यत्वप्रतिषेधात् अपेतमप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात् संसर्गाच्च सौक्ष्म्यमनुपलब्धिरिति

This occurs even in the Bhasya of Vyasa In its commentary Vacaspatimisra has attributed this to Vyasa, great sage On finding this sentence in Vatsyayana Bhasya on Nyayasutra some persons interested in history conjecture the relation of Prior and Posterior regarding The dates of

Vyasa and Vatsyayana Thus The authorship of Sastitantra has not been definitely decided. Therein ignorance alone of a Buddhist monk named as Paramartha and that of historians are the cause.

We rather feel that Varsaganya is not the name of any particular individual but it must be synonym of Pancasikha as is the case with Mathara name derived from the lineage, Vatsyayana of that Paksilaswamin and Bharadvaja that of Uddyotakara The name Varsaganya may have been derived from the Vrsagana lineage The word Vrsagana occurs in the gargadi gana of the following aphorism of Panini – गर्गादिभ्यो यञ्

The word Varsaganya has in the end the termination Yan as under – वृषगणस्य गोत्रापत्यं वार्षगण्यः ।"

The patha " अग्निशर्मन् वृषगणे " occurs in Nadadi gana occurring in the aphorism "नडादिभ्यः फक् " In the Vrsagana lineage there is the phak termination from the word agnisarman This lineage is technical

According to Paramartha, Varsaganya is the teacher of Iswarkrsna, and he belongs to the first century But this is not correct, for the name Sastitantra occurs in the very ancient Jaina canonical treatises viz. Anuyogadvara, Nandisutra and Kalpasutra and Bhagavati too Thus Sastitantra is very ancient It is not contradictory that in some place Pancasikha Acharya is said to be the author of Sastitantra and in some other place Varsaganya is o reffered to For one is the name derived from the lineage and the other is the name of an individual Both appear to be identical.

Isvarakrishna.

The author of Nayacakra has not quoted even single couplet from Sankhyasaptati composed by Isvarakrsna. But he has mainly dealt with only entities treated in Sastitantra. For this very reason he has said षष्ठितन्त्रे उक्तं ... It is believed that Isvara Krsna belongs to the first century of the Vikrama era, This author (Mallavadin Suri) while refuting topics of other systems of philosophy has done so by resorting to their original works only That is why Sankhyasaptati may not have been utilised as an authority Scholars may investigate this matter

The Buddhist historians believe that Vasubandhu has composed Paramarthasaptati by way of criticising this Sankhyasaptati They say that once Sankhya Acarya by name Vindhyavasin defeated in dispute Buddhamitra guru' of Vasubandu in his absence. On coming to know about this defeat after some time, Vasubandhu invited Vindhyavasin for scriptural debate. But at that time Vindhyavasin was dead. So for his satisfaction he composed Parmarthasaptati by way of refutation of Sankhyasaptati, But we think that this Vindhyavasin is not same as Isvarakrsna, for some historians even say that debate on oath has taken place between Iswarakrsna and Dinnaga, pupil of Vasubandhu. Therein Isvarakrsna got defeated but even then he did not embrace Buddhism. Consequently Dinnaga got dejected and stopped giving spiritual advice to the pepole. When he was pacified at the instance of arya Manjusri he composed Pramanasamuccaya As these are contradictory statements, a doubt arises as to which of them is correct. Whatever it may be, Vindhyavasin the author of Sankhyasaptati is not Isvarakrsna, for doctrine of both of them differ[1]

---

(१) महत् पञ्चविंशतितत्त्वसम्भवं ... इति विन्ध्यवासी मन्यते ... विन्ध्यवासी परिणाम ... विन्ध्यवासिना ... विन्ध्यवासी ...।"

Surely, there was Sankhy Acarya named as Rudrila. A debate may have taken place between him and Buddhamitra. In the following ancient couplet there is mention of Vindhyavasan Rudrila :–

कतैव नाथि सद् धीरं एव् बीर तस सम्तेसिव ।
सया पतिन्तेस स्मायिसा विपसासिया ॥

Kanakasaptati is mentioned in Anuyogadvara. If this Kanakasaptati (Suvarnasaptati) is believed to be same as Sankhyasaptati, it gets proved that Isvarakrsna flourished during the regime of Vikrama or he is anterior to him. At least this is certain that there was no connection of Isvarakrsna with either Vasubandhu or Dinnaga.

Sankaracarya, Haribhadra Suri and Matharacarya all these three scholars were pupils of Vasubandhu. Mathara Acarya has composed commentary on Sankhyasaptati. It was translated into Chinese language by Paramartha Mahasaya (great personage) (500 A. D to 560 A. D) So say Buddhist historians. But this is not accepted by Tilak Mahasaya, and we, too, hold the same opinion. For even bit of similarity is not seen between Matharavrtti and its translation by Paramartha. In Matharavrtti Isvarakrsna is honourably mentioned. Even the name Mathara occurs as an illustration of Mithyasruta (false scripture) in Anuyogadvara. In Bhagavata there is mention of only Sastitantra. Consequently if Isvarakrsna and Mathara noted in Anuyoga (dvara) are Matharacarya it gets proved that the date of Matharacarya is posterior to that of Bhagavata and anterior to that of Anuyogadvara. Arya Raksita Suri, the author of Anuyogadvara, was born in Vikrama Samvat 52, got initiated in 74, became Yugapradhana in 114 and died in 127.

Even Haribhadra Suri a pupil of Vasubandhu, is different from Haribhadra Suri, the author of great works such as Anekantajayapataka etc. well known in Jainism. Haribhadra Suri, Jaina Acarya, has refuted in his works theories of ancient and modern Buddhists such as Dharmakirti and others. In the first spoke of Nayacakra Mallavadin Suri has referred to Buddhavacana, Abhidharmagama and even Prakaranapada its commentary by Vasumitra, by way of the following sentence

"मधुविमासमएदी नीच विसवादि भी तु नीसम् ।

Further he has quoted as under from works such as Abhidharmapitaka etc :–

क्षी क्षमोग्मदे नामनाम: परवसे भगननस इति ॥

Historians have not settled the date of the nirvana of Buddha. Jayacandra Vidyalankara in his Bharatiya ruparekha mentions it as 544 B C. and Pandit Baladev Upadhyaya in his Bauddha darsana as 482 B C i. e. 426 years prior to the Vikrama era. In the lore of Hiuen Tsang (Yuan-Chwang) the nirvana of Buddhadeva was said by some to have taken place 1200 years ago and by some others, as 1500 years ago. Some said that it was 900 years ago. According to Fahien, Buddha died in 1100 B C., for the installation of the image took place 300 years after the 'parinirvana of Buddha. At that time the ruler of the Hana country was king Pinga of the 'Ceva varnsa. Pinga ruled from 750 B C to 719 B C

1. H has come to India in 630 A. D. H R. K.
2. H Visited India In 400 A. D –H R K

Bhagavaddatta Mahasaya informs us that the nirvana of Buddha may have taken place 1350 years after the Bharata war i.e. 1730 years before the Vikrama era. Panyasa Kalyana vijaya has said in his 'Viranirvana Samvat aura Jaina Kalaganana (p 160) that the parinirvana of Buddha took place fourteen years and five and a half months ahead of the date of Mahavira's salvation. Thus the date of the Nirvana of Buddha is uncertain.

The first council (sangiti) was held just a few years after the nirvana of Buddha, the second 326 years before the Vikrama era, and the third during the regime of King Asoka. In all these three councils Sutra, Vinaya and Abhidharma were collected in succession. Thereafter in the fourth council held near Kashmir by Kaniska of the Kusana dynasty,King of Pataliputra, bhasyas were composed on Tripitaka by Vasumitra II and Sthaviravadins headed by Asvaghosa. These bhasyas are called mahavibhasa

There is a difference of opinion amongst historians regarding the date of Kaniska. Some historians say that the date of the regime of Kaniska is 100 B. C. In his royal court there were Pandits Nagarjuna and Asvaghosa. It is believed that Asvaghosa is the originator of the Mahayana siddhanta.

Nagarjuna

Nagarjuna flourished after Asvaghosa. He has composed works such as 'Madhyamakarika, Vigrahavyavartani etc. He is looked upon as a contemporary of Gautamiputra Yajnasri. So it is the beginning of the first century A.D. This Nagarjuna has taught transcendental and worldly doctrines in his work 'Suhrllekha' to Yajnasri Satavahana. Nagarjuna who has expounded in details in a logical way the Madhyamika doctrine treated extensively in Prajnaparamita has established in his 'Madhyamika karika nihilism which developes pratitya samutpada of Buddha. This Karika reveals the logical power and extraordinary genius of Nagarjuna. Philosophers opine that this world has neither beginning nor an end as it is subject to origination, permanence and destruction. But Nagarjuna has refuted this view. When imagination (kalpana') about the relation between effect and cause does not stand to reason) how can there be origination etc.? Refutation of this 'Kalpana commences from the following couplet of 'Madhyamakakarika -

"न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन ॥" ||17||

The variant for the latter hemistich is -

"चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः"

The author of 'Nayacakra after taking this very couplet into account; has extensively dealt with it in the spoke niyamaniyam (12th) For proving it the author after resorting to the following reasonings which are expounded extenso in even in 'Paramanavartika has treated nihilism -

Asiddha, Ayukta, asatpada, samagradarsana and adarsana. He has refuted this doctrine in the (corresponding) interval (of the spoke) by means of sound arguments

---

1 Matriceta is a well known Buddhist author. He was old in the time of Kaniska. Kaniska invited him to come to his assembly. But Matriceta was unable to do so, so he wrote letter to him. This letter known as 'Maharaja Kaniska lekha exists even now in the Tibetan language. This Kaniska flourished 400 years after Buddha. (Bharat Varsha Itihasa, p. 331) Hsuen Tsang, too says that Kaniska was alive in the 400th year after that of the nirvana of Buddha.

Aryadev pupil of Nagarjuna, has composed works such as catuhsataka, Hastavalaprakarna etc The author of Nayasakra has quoted the following couplet from Hastavalaprakarna (v 1) :-

" रत्ना त्वं इति भ्राते "

Another name for this work is 'Mustiprakarana' and it is furnished with commentary by Dinnaga

Vasvbandhu

Acarya Vasubandu was veteran philosopher of Buddhism. A big bhasya was composed on Jnanaprasthana in the time of Kaniska It is called vibhasa This is furnished with a commentary named Mahavibhasasastra By resorting to this bhasya Vasubandhu composed Abhidharmakosa and commented upon it. In the earlier period (of his life) this scholar was Vaibhasika but later on, he accepted Yogacara doctrines by coming in contact with his eldest brother Asanga As regards this (Vasubandhu) Buddhist scholars say that he got so much dejected in his after life on being reminded of his blasphemy of mahayana in his earlier lif that he become ready to cut off his tongue At that time too his brother Asanga saved him. Vasubandhu then began to bear the burden of serving the Mahayana sect. He composed many works pertaining to this sect.

While logically refuting the sentence regarding pratyaksa occurring in Abhidharmapitaka Mallavadin Suri has extensively reflected upon Abhidharmakosa and its bhasya and then refuted it Just while doing so, he has refuted Prakaranapada composed by Vasumitra

There is difference of opinion regarding the date of Vasubandhu Takakusu, Japanese scholar has assigned to him the date 500 A D But Dharmaraksa who was alive in about 400 A D has translated into Chinese language works of Asanga, the eldest brother of this Vasubandu So this Acarya is anterior to Dharmaraksa. Pandit Vamana has said as under in his commentary on Kavyalankara

सोऽयमपि चन्द्रगुप्ततनय चन्द्रप्रकाशो युवा जातो भूपतिराश्रय कृतधिया दिष्ट्या कृतार्थश्रम ।

Thereby historians believe that by krutadhiyam the commentator (Vamana) refers to Vasubandhu to say they mention Vasubandhu as minister of Candragupta (I) of the Gupta dynasty This king of the Gupta dynasty flourished in the former half of the third century It is reasonable to believe this very date as that of vasubandhu.

Historians hold different opinions regarding the date of the commencement of the Gupta dynasty Some scholars believe that the Gupta dynasty had commenced during the Andhra reign period and not later This very Gupta dynasty is called Andhra Bhrtya dynasty There is the following statement in Kaliyugarajavrttanta

एते प्रणतसामन्ता श्रीमद्राजगृहोद्भवा श्रीपर्वतीयान्ध्रभृत्य-नामान चक्रवर्तिन ॥

In the begining this dynasty was ruling in the mountain region named Sriparda in the southern direction of the river Krsna In that dynasty there was Samudragupta son of Candragupta (I) As this Samudragupta was expert in music, some had designated him as Gandharvasena His son-Jewel the third king (in that dynasty) equalled the Sun in alour[1] So some historians believe him to be Vikramaditya Candragupta (II) Salam Sahasanka If this belief is correct Vasubandhu will be anterior to this Vikramaditya

---

1 There was some alorious king whose name was Vikramaditya. So the belief that author valourous kings by adopting the title of Vikramaditya to show their prowess say that certain king is Vikramaditya, is untenable.

Carakasamhita

In this Nayacakra we come across some quotations from Caraka (samhita) and Susruta (samhita). These two samhitas are the most ancient works of medical science, are authoritative and are the basis for the subsequent works of this science. Prior to (the composition of) these two works there existed some Sutras[1] (aphorisms) and scriptures pertaining to Ayurveda. Punarvasu Atreya had taught Ayurveda to his six pupils. Caraka has composed this (Caraka) samhita by making pratisamskara (adoptations) of the tantra (scientific work) composed by Agnivesa. For in this samhita every chapter begins with भगवान् उवाच and in many places (*of this samhita*) *it is* said. Agnivesa asks a question and Punarvasu Atreya replies. Such being the nature of this Samhita Punarvasu Atreya is its original preacher. It is not possible to say that after seperating statements of Agnivesa all these remaining statements are those of Punarvasu for at the end of chapters the following line occurs —

अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते "

Thus Punarvasu Atreya gave a sermon. Caraka made pratisamskara of the tantra composed by Agnivesa and composed *Carakasamhita*. Pratisamskara means amplification of conciseness or abbreviation of expatiation. Even later on, Drdhabala added 41 chapters of his own. Thus there are 120 chapters in Carakasamhita.

In ancient times we come across three persons, each named as Atreya. They are (I) Punarvasu Atreya (II) Krsna Arteya and (III) Bhiksu Atreya. From the following line occuring in Mahabharata santi Parevan Ch. 210 it appears that the original Acarya (author) of Ayurveda must be Krsna Atreya.

यान्तर नास्ति वेद कृष्णात्रेयश्चिकित्सितम्

The commentator Srikantha says कृष्णात्रेय पुनर्वसु and thus he names as Punarvasu, none else but Krsnatreya. The following sentences indicate that Punarvasu Atreya and non else is called Krsnatreya.

(caraka ciktsa sthana ch. XXIII v. 153)

अग्निवेशाय गुरुणा कृष्णात्रेयेण भाषितम् । कृष्णात्रेयेण गुरुणा भाषितं वैद्यपूजितम् ॥

From all these sentences it follows that Punarvasu Atreya and none elsee is called Krsna Atreya. Hence it gets settled that Punarvasu Atreya and Krsna Atreya are names of one and the same individual.

Bhiksu Atreya

In the Buddhist Jatak it is said that in the time of Buddha or some time earlier than that the principal teacher of medical lore in Taksasila was Bhiksu Atreya. Jivaka Kumarabhrtya, a physician of Buddha, Pradyota and Bimbasara, had learnt medical science from

---

" सर्वांश सूत्रमपानमिभवमाना: " Caraka vimana sthana

" चित्रितिक्तिारतस्मान बहुविधा सूत्रप्रधानामनीषा सन्ति लोके ॥ "

Caraka, Sarira Sthana (Ch. VIII)

तथा " निरिक्तानि हि सम्मानि प्रवर्तन्ते लोके " Caraka, Vimana sthana ch. 8

1. This Punarvasu Atreya is said known even by the name Candrabhagin (Caraka si. XII, Bhela-samhita p. 39) This name suggests that this Atreya may have been resident of a place named Candrabhaga.

the Atreya. According to Hersbal (?) this very Atreya is Punarvasu Atreya, the original expounder of Carakasamhita. If this opinion is correct, (this) Atreya may have flourished in about 600 B.C. Some historians believe that Punarvasu Atreya is very ancient (older than Bhiksu Atreya) and Bhiksu Atreya is different from him. But Punarvasu Atreya and Bhiksu Atreya are contemporaries for in Yajnapurusiya adhyaya (chapter) the name of even Bhiksu Atreya is mentioned amongst persons who discussed with Punarvasu Atreya.

Caraka – Caraka referred to in the following aphorism of Panini grammar is a sage who founded branch of Yajurveda, but he is not Caraka, the adapter of Agnivesa tantra :-

" कठचरकाल्लुक् "

Cakrapanidatta, commentator of Caraka (samhita) bows to Patanjali, adapter of caraka in the beginning of his commentary and identifies Caraka with Patanjali as can be seen from his following verse

" पातञ्जलमहाभाष्यचरकप्रतिसंस्कृतैः । मनोवाक्कायदोषाणां हन्त्रेऽहिपतये नमः ।

Further Bhoja commentator of Yogasutra Vijnanabhiksu the author of Yogavartika and even Nagesabhatta grammarian, look upon Caraka and Patanjali as non-distinct for Caraka believes yoga to be means of liberation and while mentioning tattvas (entities) he enumerates tattvas accepted by the Sankhyas. But commentators of Mahabhasya such as Bhartrhari, Kayyata and others have nowhere mentioned Patanjali as the author of Yogasutra or Carakasamhita, some on finding nihilism and vijnanavada refuted in Yogasutra say that its author is not Patanjali. But this cannot be looked upon as strong valid argument to prove this statement. For even the Buddhists cannot say that nihilism and vijnanavada originated from Buddha and none else. So there is no sound contradiction in believing Patanjali as the author of Yogasutra. For one individual named as Patanjali is the originator of branch of Samaved. Even Vacaspatimisra quotes a sentence from some Patanjali work in his bhasya on Yogasutra. Further even in Yuktidipika we come across sentences of Patanjali, pertaining to the Sankhyadarsana. There is reference to Angirasa Patanjali in Matsyapurana. Panini mentions Patanjali in upkadigana in 2-4-69. In Caraka there is an exposition of the 24 tattvas of the sankhyas. It agrees with one given by Pancasikha, excluding Isvara (God). In Caraka there is no mention of tanmatras (subtle) and primary elements. So there is no hitch in identifying this Caraka with Patanjali. This Patanjali is different from one, the author of Mahabhasya on grammar. The author of Patanjalarahasya Yogasutra and Nidanasutra is one and the same Patanjali whereas Patanjali, the author of Mahabhasya is different from him. In Caraka there is mention of predicaments propounded in Vaisesikasutra. So (the

---

1 महानहंकारः पञ्चतन्मात्राणि च प्रकृतयः षोडशविकाराः एव मूलानि ॥

Those tattvas along with Purusa are the 25 tattvas in the view of Sankhyasaptati. In Patanjala Yogasutra and Mahabharata there is mention of 26 tattvas and Caraka, that of 24

2 समवायोऽपृथग्भावो भूम्यादीनां गुणैर्मतः । स नित्यो यत्र हि द्रव्यं न तत्र नियतो गुणः ॥ यत्राश्रिताः कर्मगुणाः कारणं समवायि यत् । तद्द्रव्यं समवायी तु निश्चेष्टः कारणं गुणः ॥

Caraka sutra, sthana, Ch.I, v 49.

1. Vide caraka sutras sthana Ch XV Yajnapurusiya adhyaya.

(date of) adaptation of Caraka is posterior to *(the date of)* Kanada sage and anterior to that of Patanjali, the author of Mahabhasya. There was a physician named Caraka in the court of renowned Kaniska, a king of kings. Some historians believe that this very Caraka is the adaptor of Agnivesa tantra. But there is no clear proof to identify them except that both have the same name. This Kaniska[1] flourished about 50 years before the vikrama era. Even Asvaghosa refers to Atreya sermons as Samhita in Buddhacarita by way of the following verse —

" चिकित्सितं यच्च चकार नात्रिः पश्चात्तदात्रेय ऋषिर्जगाद "[2]

He believes that Caraka is only an adopter and not an author. Consequently since its author (Atreya) is prior to Asvaghosa he cannot be Caraka, contemporary of Kaniska.

Drdhabala who has added 41 chapters in Caraka samhita, was born in Pancanadapura in the Kashmir province. Scholars such as Cakrapani Datta, Vijayaraksita and others who have extracted pathas added by him refer to these pathas as Kashmira-patha. Vagbhata has extracted a patha added by Drdhabala and one patha of Vagbhata is cited by Varahamihira in his Kandarpika Prakrana. Hence Vagbhata is anterior to Varahamihira, and Dradhabala is anterior to Vagbhata. Vagbhata is believed to have flourished in the fifth century A. D. There is no hitch in believing the date of Drdhabala as 300 A. D to 400 A. D. Drdhabala is son of Kapilabala. This Kapilabala is mentioned by Vagbhata in his Astangasangraha.

Susrutasamhita

Susruta has composed this tantra by collecting sermons delivered by Divodasa Dhanvantari on Salyatantra. But in Susrutasamhita as available to-day there is an exposition of all the eight angas (limbs) of Ayurveda. The first five sthanas consist of 120 chapters. They are collectively known as Sarirutantra and Vrddhasusruta as well. To this is added Uttaratantra having 66 chapters. In this Uttaratantra are incorporated topics treated by Agnivesa, Bhela, Videha, Parvataka, Jivaka and others in their respective tantras. It is difficult to say whether the author of Uttaratantra while adding Uttaratantra, has made emendations and additions in the previous five sthanas or not.

Adapted Susrutasamhita as available to-day is silent regarding the following questions -

(I) Who added this Uttaratantra ?

(II) Had anyone adapted Susrutasamhita, prior to one who added. For pathas extracted from Vrddhasusruta by many commentators are not to be found in this Susruta

---

1. Nagarjuna has not however mentioned the name of Kaniska (any one of) his works. We find that Samvat 3 to 41 are written on coins of Kaniska obtained from Saranath, Sanchi, Mathura etc. If this Samvat is looked upon that of Kaniska Nagarjuna cannot be taken to be a contemporary of Kaniska. Further Kumaralata who is believed to be contem-porary of Nagarjuna, and as a predominent Acarya of the Sautrantika school has described Kaniska as a king of ancient times in his work.

2. Caraka cikitsasthana XXX 290.

Susruta has been adapted many a time as persons who did so, names of Vrddha-Vagbhata, Jejjata, Candrata and Nagarjuna From the following we learn that Susruta is son of Visvamitra

विश्वामित्रसुतः श्रीमान् सुश्रुतः परिपृच्छति
शालिहोत्रमृषिश्रेष्ठं सुश्रुतः परिपृच्छति

Of these two the first seems in Susrutasamhita itself Susruta asks Salihotra sage regarding former Hence this Susruta is believed to be contemporary of great sages. By this Susrutasamhita is meant the original Susruta. Adapted Susruta is posterior to adoptation of Caraka. This means that Caraka as available today and Susrutasamhita had been compiled in the fifth century A. D

According to Dallana, adaptor of this Susruta is Nagarjuna There have been many Nagarjuna One of them is Buddhist scholar Another Nagarjuna is the author of Lohasastra, Yogasataka etc and he is conversant with Rasasastra (the science of Alochemy) Third Nagarjuna is mentioned as friend of King Satavahana by Bana in his Harsacarita According like Jaina tradition in Prabandhacintamani Nagarjuna, a contemporary of Satavahana is said to be a well versed.

Adaptation of Susruta has taken place in the science of alchemy Sometime between the second century A. D and the fourth for there is clearly perceived extract from Samkhyakarika in Susruta So how can Nagarjun who is contemporary of Kaniska and on exponent of Nihilism be the adaptor? Some believe that even Caraka physician, was alive at that very time King Satavahana is called Yajnasri Satakarni Moreover in Nagarjunas philosophical work Upayahrdaya composed 2000 years ago from to-day Susruta is referred to as under while expounding the topic of agama-vamana in chapter following Uddesa prakarana

मैत्रेयसूत्र. मैत्रायणीय चिकित्सः सुश्रुत :

The author of Mahabhasya on grammar has mentioned Susruta as an illustration in his bhasya on 1 1 3 In the vartika on पारपर्यादीनामुपसंख्यानम्

2 1 170 Kutapasausruta is mentioned as an illustration. Even Panini has used the word Sausrutaparthiva in the ganapatha of 6-2-37 Hence Susruta is anterior to all these Acaryas.

Susruta Acarya has mentioned Subhuti Gautama as an Acarya who flourished prior to him. This Subhuti is not same as Subhuti pupil of Buddha Subhuti is mentioned in Buddhist works while dealing with spiritualism only This Subhuti Gautam physician is different from him. According to Dr Hoernle this Susruta flourished 600. years before the vikrama era whereas according to Hyaster and Girindranath Mukhopadhyaya in 1000 B C

सातवाहनो नाम सातवाहनेन्द्री नाम बैम मित्रमणिमित्रे नागार्जुनो नाम नागराज हुते व दरौ साम्

(Harshacarita)

Satika, Satavahana (1) ruled with the help of an army having 100 vehicles. Hence he his dynasty is called Satavadhana.

Mimamsa.

There are two varieties of mimamsa (i) Purva mimamsa and (ii) Uttaramimamsa. The aphorisms of Purvamimamsa are composed by sage Jaimini whereas those of Uttara-mimamsa is by the great sage Vedavyasa. These two great sages are expounders of vedic Karmakanda (the department of veda which relates to ceremonial acts and sacrificial rites) and vedic Jnana-kanda (the esoteric portion of the veda which treats of the knowledge of the supreme spirit) respectively. Both these sages are contemporaneous, for there is mention of Badarayana (Vyasa) in the Jaiminisutras and that of Jaimini in Brahmasutra. Krsna Dvaipayana performed the Vyasa of Veda i. e. its distinction. So he is called Vedavyasa. This very vyasa is believed to be the author of Mahabharata, Puranas etc. About this (belief) there is no concensus of opinion amongst historians. Some Pandits believe that Jaimini is pupil of Vyasa. In none of the aphorism of the twelve chapters of Jaimini (sutra), and philosophical tenet of the Buddhists is dealt with. This scripture treats Karmakanda-sacrifice etc. Herein much attention is not paid to the exposition of vastu-tattva (reality of a substance) only sacrificial rites are expounded. For this very reason Mallavadin suri has designated this vedavadi-mimamsaka as ajnanavadin (expounder of ignorance). If ajnanavada is accepted in the treatment of vastu-tattva preaching of ritual and even its (corresponding) scripture become ill-regulated. Hence it is difficult to know the reason why there is no mention of Jaiminisutra or any other work of (Purva) mimamsa or any quotation therefrom, even when there is detailed exposition, after saying that the scripture dealing with an oblation to fire etc. is useless. There is refutation based in the style accepted by Mimamsakas by resorting sentences of only the vedas. Vidhi (injunction) anuvada (that which points to an injunction given before and illustrates it by way of comment on to vidhi) itikartavyata (duty) bhavana etc. are treated. Some Acaryas say that only ritual such as a sacrifice etc. is dharma in the mimamsaka system of philosopphy whereas others opine that apurva (merit and sin as the cause of future happiness or misery) arising from a ritual is dharma. Both these views have been dealt with by Mallavadin Suri. These (views) do not become clear from the text but they become so by the exposition of the commentator (Simhasura)[1]

Even apauruseyata (the state of not being of human origin) of the vedas is refuted in various places. Similarly in Purusavada too no work is extracted. This fact, too, deserves to be considered.

The name of Upavarsa as the author of the Vartika on Jaiminisutras is specially mentioned. He is followed by Sabarasvamin the author of the bhasya. Both these Acaryas have flourished before mallavadin Suri, for Kumarilabhatta who flourished very shortly after this

१ स एष श्रेयस्करः स एव धर्मशब्देनोच्यते, कथमवगम्यताम्? यो हि यागमनुतिष्ठति तं धार्मिक इति समाचक्षते। यश्च यस्य कर्ता स तेन व्यपदिश्यते यथा पाचको लावक इति। तेन यः पुरुषं निःश्रेयसेन संयुनक्ति स धर्मशब्देनोच्यते न केवलं लोके, वेदेऽपि 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' इति यजतिशब्दवाच्यमेव धर्मशब्देनोच्यते – Sabara Bhashya on 1-1-2 p. 17 यागादिकर्मनिवर्त्यं अपूर्वं नाम धर्मम् इत्याचक्षते इत्यमीमांसकाः।

मा भूत [illegible] व्याख्यायते, अपूर्वमिति धर्मः क्रियाभिव्यंग्य उच्यते Commentary (p. p. 165–6) on Dvadasara nayacakra.

2. Muni Kalyanavijayaji says in Vira nirvana Samvat aura Jaina Kalaganana that the order of Sthaviravali occurring in Nandi is not by way of a succession list.

Acarya, has mentioned views of Sabaraswamin in his works such as (Mimamsa) Slokavartika. The date of Saberswamin is believed to be about 150 A. D. But in the commentary[1] on Nayacakra, similarity of thought with Sabara- bhasya is seen in certain places (Statements). For instance

" उपलेपादेर न (?) तच्चम्नचोच. " यथाश्च दीक्षितस्यचच

in the commentary of the text, and purvavijnanakaranabhava (non-existence of previous the cause of vijnana) etc. while discussing Vedaka heaven etc. Most probably the commentator (Simhasura) must have seen Sabara-bhasya.

Investigation of the Date of Mallavadin Suri

Mallavadin Suri gives in this work of his quotations from Anuyogadvara and Nandisutra by way of an evidence. So he is posterior to both the authors of those sutras (canonical treatises). All the modern scholars admit that the author of Anuyogadvara is venerable Aryaraksita Suri. If this Suri is none else but student of Vajraswamin he has flourished after vira Samvat 597. The author of Nandisutra is Devavacaka Gani who is pupil of Dusya Gani, and who is different from Devarddhi Gani Ksamasramana the redactor of the (Jaina) canon. This Dusya Gani Acarya is pupil of Lohitya Suri, pupil of Bhutadinna, pupil of Nagarjuna Suri.

This is what is know from the stheravavali of Nandi. Nagarjuna mentioned herein is contemporary of Anuyogadhara Skandila son of the Nagendra Varna.

The date of this (Mallavadin) Suri is mentioned as vira Samvat 827 to 840 (Vikrama Samvat 357 to 370) by Panyasa Kalyanavijayaji in his prabandha paryalocana of Prabhavakacarita. Hence it follows that Devavacaka Gani, the author of Nandisutra, was certainly alive in vira Samvat 840, but this date does not seem to be reasonable. Venerable Mallavadin Suri respectfully quotes from Nandi by referring to this sutra as under

भगवदर्हदाज्ञापि श्रूयते

This means even the commandment of the divine Tirthankara is heard. Consequently it follows that the author of Nandisutra is far anterior to this author (Mallavadin). The date of Skandila Suri, contemporary of Devavacaka Gani, mentioned as vira Samvat 827 to 840 is not quite appropriate. The date of this Suri is already treated by us, while discussing the date of Siddhasena Divakara Suri. In this Nayacakra we do not come across any quotation from any work of Buddhist Acarya Dharmakirti[1] any view of his or any theme of his who flourished earlier than Vikrama Samvat 600. So there is no place whatsoever for doubting the fact that the author of Nayacakra is anterior to Dharmakirti. Jinabhadra Gani Ksamasramana, the author of Mahabhasya (Visesavasyakabhasya) has refuted the doctrine of simultaneous upayogas (attentions) attributed to Mallavadin. So Mallavadin is earlier than vikrama Samvat 645 to 677. It appears that in this work (Nayacakra) nothing is based upon work of Uddyotakara, who has refuted (views of) Dinnaga, who is anterior to Dharmakirti and who flourished in the sixth century. Consequently this (Mallavadin) Suri is anterior to even Uddyotakara. It seems to us

(1) See Brhaditthas (2) That this doctrine is production of Mallavadin Suri and that of none else cannot be believed, for in Sanmatitarka composed by Siddhasena Divakara, we come across all the three doctrines viz. simultaneity of two upayogas, succession of two upayogas and nondistinction of two upayogas.

that this Suri who is posterior to Dinnaga, is not far from him. This is what appears from the study of his work. If this is proper the author of Nayacakra is undoubtedly anterior to Uddyotakara. Some believe that the date of Dinnaga is 345 A. D. to 425 A. D. On this basis the date of the author of (this) Nayacakra is proved to be about 450 A. D.

Haristvamin has composed a bhasya on S'atapatha Brahmana. He is pupil of Skandasvamin the author of the Bhasya on Rgveda and a commentator of the bhasya on Nirukta. The bhasya on Rgveda was composed by Skandasvamin in vikrama Samvat 680. This Skandasvamin has cited one verse from Slokavartika in his commentary on the bhasya of Nirukta VIII, 2 and in this very chapter III, 10 one verse from Tantravartika and one verse from Bhamata work while commenting on X, 16. Even Haristvamin refers to the doctrines of Kumarilabhatta and Prabhakara by mentioning "इति प्रामाण्यात्" in his bhasya. Prabhakara is pupil of Kumarilabhatta. This Kumarila (bhatta) is a contemporary of Dharmakirti.

Both of them have mentioned each other name and refuted views of each other in their respective works. On this basis Kumarila and Dharmakirti are anterior to Skandasvamin (who flourished some time before vikrama Samvat 680). Hence they can be assigned a date earlier than 600. On the other hand Mallavadin Suri has not noted any reasoning or view of either Dharmakirti of Kumarila. For this reason too, there is no scope for even a bit of doubt in believing that this Suri is anterior to both of them.

Rahula Sankrtyayana in his introduction to Pramanavartika points out that Dinnaga flourished in 425 (421) A. D. and Dharmapala in 575 A. D. and thus there is difference of 150 years between their dates. Hence the date of Dinnaga can be certainly somewhere between the fourth and the fifth centuries of the Vikrama era. This does not affect in the least the date of Mallavadin Suri, as decided by us. So the statement that Mallavadin Suri has flourished in the fifth century of the vikrama era, gets established by this very small proof. Further even dates of works and authors mentioned in Nayacakra, do not create any hitch in the decision taken about the date of this Suri.

Varddhamana Suri in this Ganaratnamahodadhi has said that Mallavadin has composed nyasa on Visrantavidyadhara, grammar composed by Vamana. Even in the Brhadvrtti of Hema S'abdanusasana there is mention of Visranta-nyasa in the following lines —

"विश्रान्तस्यापत्य तु अल्पमतेत्वात् एकत्वमिति सेप मन्यते" "विश्रान्तन्यासस्तु विशत एव वैयाकरणो मल्लवादी इत्याह"

But the author of this Nyasa is not Mallavadin Suri, the author of Nayacakra. There are three individuals, Mallavadin by name. Some one out of them may be the author of this Nyasa. There is no proof to say that he is none else but the author of this Nayacakra. For herein, while

---

1 He has said at the end of his bhasya–
"यदा नावो कलेर्निष्ठ समतिद्द यदाभि वै । चत्वारिंशत् समासास्ततः सप्तमितं कृतम् ॥"

Thus the date of the bhasya is kalisamvat 3730, and it equals Vikrama Samvat 696. Even in the copper plate of Lohanera of Pulakesi II, Saka Samvat 552 is men-tioned. That this Haristvamin is judge of Candragupta vikramaditya can be seen from the following verse.

"श्रीमतोऽगमिनारायणस्य विक्रमार्कस्य भूपतेः । धर्माध्यक्षो हरिस्वामी व्याख्यात् शातपथी श्रुतिम् ॥"

discussing grammatical topics, the mulakara (the author of the text) has cited as authorities only Panini and Bhasyakara (Patanjali). Further even in proving validity of forms the mulakara and his commentator (Simhasura) have quoted aphorisms of Panini only. Nowhere is mention of any saying of vamana.

Moreover the author of Nayacakra has expounded a good many couplets of Pramanasamuccaya Buddhist work on logic and has refuted them letter by letter by means of solid arguments. The author of Pramanasamuccaya is Dinnaga, who is one of the principal pupils of Vasubandhu, who is great logician and who is conversant with mantras (incantations) and tantras (magical and mystical formulaes). This scholar (Dinnaga) has flourished in the latter half of the third century of the Christian era. There are six sections in Pramanasamuccaya. At present they are available only in the Tibetan language. Only the Pratyaksa section restored in Sanskrit from that language, is available as printed in Madras. In to the days of this author of ours the entire work existed in Sanskrit couplets. This Suri has thoroughly refuted perception (ocular proof), pertaining inference, apoha (negative or relative meaning of words) and jati (analogue) after expounding couplets pertaining to them.

(Alambanapariksa of this very Dinnaga and its commentary are refuted by resorting to statements embodied therein.) Dinnaga has refuted by advancing arguments, definitions of avayavas (members of syllogism) accepted by Gautama and Vatsyayana and has established three avayavas. These arguments are refuted at length by Uddyotakara in his Nyayavartika and even by Kumarilabhatta in his Slokavartika.

This Dinnaga has composed even commentary on Hastavalaprakarana of Aryadeva. This Dinnaga refutes in some places the doctrine of his teacher Vasubandhu and this is pointed out in many places in this work (Nayacakra). The author of vis vakosa says that Dinnaga flourished in the second or the third century A. D. Dr Satischandra Vidyabhushan Mahasaya believes that this period is the end of the fifth century.

The mulakara has investigated the following (definition of Pratyaksa (perception))

" ततोऽर्थाद्विज्ञानं प्रत्यक्षम्

This definition is given by Vasubandhu in his Vadavidhi. This work was composed by him at the time he was Vaibhasika (by faith). The mulakara, Uddyotakara and even Vacaspatimisra believe that this definition is given by Vasubandhu. Dinnaga refutes this definition and cuts a joke as under:

How can Vasubandhu be the author of vadavidhi which is vitiated by such blemish ?

The author of Nayacakra has not cited any couplet from Alambanapariksa composed by Dinnaga but he has certainly utilised its contents. Alambanapariksa and its commentary as printed to day are ancient versions of those works written in languages such as Tibetan etc. It is possible that changes may have taken place in the couplet (of Alambanapariksa) and its commentary translated by linguists only at different times from Sanskrit into another language and vice versa. For that very reason it is natural that there may be differences in the couplets and

---

1 Vide p. 104 214 of Dvadasaranayacakra and Alambanapariksa (2)
Vide p. 104 218 of Dvadasaranayacakra commentary p 3 & 9 on Alambanapariksa.

the commentary embodied in Nayacakra (on the one hand) and its commentary (on the other hand) For instance there is a difference between the sentence " विपर्येति[२] नाम यस्य " quoted by the commentator (Simhasura) and the Sanskrit commentary of Alambanapariksa of Dinnaga available today Nevertheless, from this very view-point we have mentioned this extracted sentence as belonging to the commentary on Alambanapariksa. Similarly we find variations in couplets of Pramanasamuccaya. (Hence) Corrections made in Nayacakra and its commentary by resorting to transformed Sanskrit works cannot be accepted as absolutely reliable

The author of the bhasya on Brhatkalpa, is Sanghadasa Gani Mahattara One verse of (the commentary of) Brhatkalpa is quoted in this work by Mallavadin Suri. It is difficult to say whether this verse belongs to the Niryukti (of Brhatkalpa or to its Bhasya If this verse (really) belongs to the Niryukti there remains nothing to consider But in the printed (edition of) Brhatkalpa, this verse is numbered as one of the verses of Bhasya, even though it is a difficult task at present to distinguish verses of the bhasya of Brhatkalpa from those of its Niryukti. Even Malayagiri, a competent commentator has not dared to point out that these are verses of the bhasya and these, of the niryukti Even then this verse is assigned place by us as a verse of the bhasya in the list of quotations, on the basis of the printed edition,

Some scholars believe that this Sanghadasa Gani Mahattara of this bhasya is different from the author of Vasudevahindi. Further they believe that the author of the bhasya on Brhatkalpa is posterior to the author of vasudevahindi. Up till now it has not been distinctly decided as to when (Sanghadasa Gani Mahattara,) the author of the laghu-bhasya flourished If the verse quoted by Mallavadin Suri belongs to the bhasya, we must say that he (Sanghadasa) has flourished prior to the fifth century of the vikrama era and by no means later

It does not seem fair that some scholars believe that this Acarya (Sanghadasa Gani) belongs to the fourth century of the vikrama era as his name ends with dasa and that none had his name ending in dasa before this century Even in narratives belonging to the period of Lord Mahavira we come across names ending in dasa e. g. Jinadasa Even in the story of Nanmadasundari who flourished in the time of Arya Suhastin a name ending in dasa occurs. Moreover the name of one of the four pupils of caturdasapurvadhara Bhadrabahusvamin, was Godasa and a gana was named after him as Godasa This name occurs in the Sthaviravali of Kalpasutra Hence surmises of the fourth, sixth and seventh centuries on seeing merely names ending in dasa are only conjectures and not reliable facts. Sanghadasa gani Mahattara may be the earliest bhasyakara amongst many out of the Jaina Suris

If Sanghadasa Gani Mahattara the author of the bhasya on Brhatkalpa is (same as) the author of the bhasya on Nisitha (Nisitha), so it follows that his date is certainly posterior to that of the composition of Anuyogadvara. For in spite of there being complete and extensive exposition of aspects in Anuyogadvara, it lacks in the following varieties connected with primary and secondary forms of the dravya-hasta (privative aspect of head) other than Jina Sarira

---

This Pramanasamuccaya is not completely available (in Sanskrit) so we have not been able to obtain its sections dealing with inference poha etc. The mulakara and his commentator may have incorporated in this work verses belonging to sections on inference etc. and their expositions but we have supplemented merely verses by taking into account quotations and reflections a available in this work.

(body of the knower) and bhasya Sarira body to which is attributed a condition of some future existence after death the varieties noted as under in the bhasya on Nisitha

मुक्केरो य दुमे मुक्कुगनिस्सियो
कप्पिय़ावक्काति (Nisitha) उवसुगमनिस्सियो मुतायमहरि

So this may be looked upon as sort of dilation, for this very reason the date of the composition of Anuyogadvara is earlier then that of the composition of the bhasya on Nisitha. Further if the author of the bhasya on Nisitha is non-distinct from that of the bhasya on Brhatkalpa it gets proved that the bhasya on Brhatkalpa is composed at a date posterior to that of the composition of Anuyogadvara Anuyogadvara is earlier than even Nandi, for the name of Anuyogadvara is mentioned in Nandi and the author of Nandi is very ancient. So this much becomes certain that the date of the author of the bhasya is later than the first or the second century of the vikrama era, and not earlier This date is not later than the first or the second century the vikrama era, and not earlier This date is not later than the fourth century i.e. to say he flourished sometime between the second and the fourth centuries

From the safer statement made by the commentator (Simhasura Gani) in his commentary on Nayacakra it may be conjectured that there must have been a bhasya on Nandisutra He has first of all quoted an aphorism of Nandi on p. 219 and there after saying तदुभयव्यनिरूपणम he has introduced the verse ण वदि भावस्सिया Later on, on p. 462 he has mentioned this very statement (Pabha) There he has not stated the name of the sutra, the bhasya or its exposition subsequently on p 749 he has quoted the verse " तथा भाष्येऽपि after stating तदि वदि भावस्सिया Hence it is inforced that there must be bhasya on Nandi by way of its exposition

In spite of this, the verse here quoted as belonging to the bhasya, is found in the bhasya on Brhatkalpa with very slight difference Just as the author of Nandisutra has incorporated verses of the Niryukti so perhaps the commentator may have done so in the case of this verse of the bhasya on verse Brhatkalpa or it may be that this very verse of the bhasya on Nandi may have been incorporated by the author of the bhasya on Brhatkalpa in his bhasya Whatever it may be, the commentator of Naya cakra takes it to beverse belonging to the bhasya If this bhasya on Nandi was extent in his days and he may have made this reference, the following questions arise:-

1. How many verses were there in the 'bhasy on Nandi'?
2. Who composed this 'bhasya'?
3. When did he flourish?

The 'Mulakara (mallavadin) has no where quoted this verse as an evidence but only the commentator has done so In Nandi at available at present this verse is not seen as mentioned as belonging to the 'bhasya and not the next Nandi) None else but the commentator of 'Nayacakra named as Acarya Simhasur Gani Ksamasramana, is the first to say that this verse belongs to the 'bhasya on Nandi, So it may be that the date of the composition of the 'bhasya on the 'bhasya on 'Nandi may be posterior to that of Mallavadin Suri, and anterior to the date of the commentator of 'Nayacakra Only this much can be definitely said at present

On p. 153 the 'Mulakara prefixing it with " अर्थ ff ;- अपवादागुत्सारद्यत्यप्लिणा

The exception resembling this is seen as only " अपवादागुत्सारद in Ganitamasutra. W come across collection of complats embodying these exceptions but they are extra by anothers who

flourished later than this another The following couplet is met with in the commentary (p. 401) on Brhatkalpa, in Saddarsanasamuccaya (pp. 15–) and in the commentary on Sthana (Sthana II, uddesa 3) — " अनुवादादरवीप्सार्थविनियोगहेत्वसूयासु । ईषत् संभ्रमविस्मयगणनास्मरणेष्वपुनरुक्तम् ॥

The mulakara may have come accross such couplet or some apporism or it may be that in some other works it may have been occasionally mentioned and the mulakara may have recommended it as अनुवादादरवीप्स "

The commentator has dilated upon it and has so expounded it that it may seem to be an exposition of some couplet. It indeed appears that the commentator elucidates the couplet by noting its parts. Thereby the complete couplet gets ready as under – " अनुवादादरवीप्सा "

One verse indicating non-existence of repetion in other meanings (?) Then this is noted as under in Haribhadra Suri's commentary (P 3) on Nandi – सज्झायझाणतवओसहेसु उवएसथुइपयाणेसु । संतगुणकित्तणेसु य न होंति पुनरुत्तदोसाओ ॥

The discussion about the fault repetition is very ancient. Here the author has discussed repetition so far only anuvada is concerned

The author of Nayacakra has mentioned the following two couplets by way of corroborative evidence in spoke II named as Vidhividhi – यथाविद्युदमावास्या, तथेह-मधुर सिद्धं

These two verses are no doubt cited by many authors but none of them has mentioned their source or the name of their author These are met with in the bhasya on Brahadaranyaka (III, 543–4). This vartika is composed by Suresvara Acarya who is pupil of Sankaracarya and who is said to have flourished in the earlier part of the ninth century A. D but these couplets are not composed by him, they are merely extracted by him. For Haribhadra Suri who flourished little bit prior to him, has incorporated (?) them in his Sastravartasamuccaya as in, 545–6 Even in Bhartrhari's commentary on his own work vakyapadiya he has cited these two verses along with the following

" तस्यैवमपि. "

" मधुविस्मन्"

Hence these couplets are very ancient. And as they belong to period earlier than that of our author no hitch arises in deciding the date of our author Some scholars are tempted to believe that Dharmesvara Suri and Mallavadin Suri are one and the same individual. But they have not advanced any solid proof for it.

The commentator of Nayacakra has mentioned Mallavadin Suri as the name of the author) in his auspicious stanza on P 81 Some modern scholars declare that this name is not real – it is an adjective. But they do not advance any proof for it. On the contrary the author himself in the ending portion of his work (v 1102) distinctly mentions[a] श्रीमद्–श्वेतपटमल्लवादिक्षमाश्रमणेन and thereby points out his name as Mallavadin Suri His name Malla is from the very time he got initiated, and it is probable that the word Vadin may have been added to his name after he had attained victory in disputes Thereafter the very name Mallavadin must have become so very well known that the author himself, too, began to write his name as Mallavadisuri So this name Mallavadin is not merely an adjective Moreover this author and various other authors mention that the name of the author of Nayacakra is Mallavadisuri

This finishes the discussion about the name of this work, its author name and his date. Consequently we now deal with the commentary and the commentator

The Commentator

I order to explai th great prawess and essence of the scripture Nayacakra which is full of deep meaning and philosophical thoughts and which is composed by Mallavadin Suri, Acarya Simhasura Gani Ksamasramana who is revered by the (Jaina) regime, who is the crest jewel of logicians and who is proficient in all Systems of philosophy has composed a commentary named as Nyayagamanusarini

The original scripture 'Nayacakra has perished owing to the prowess of time, and it has remained untraced in spite of many a search. If this Nyayagamanusarini commentary was not composed and if its manuscript were not preserved bhandaras (libraries) it would have been impossible t restore the original N yacakra even in this form and we would have learnt only the name Nayacakra Simhasura Gani Ksamasramana ha ndeed much obliged not only scholars of the doctrine of non-absolutism but even the entire circle of learned persons, by composing this commentary In spite f there being this commentary the original 'Nayacakra is nothing but unavailable. But w can form some idea about it by means of this commentary If the commentator had expounded th text by re-producing its sentences in toto or by noting its parts t would not have required any labour to restore it, and the entire text would have been completely restored in its original form and not as restored now. The commentator has however incorporated a little bit more than three fourths of the original work. This portion is estored by means of parts noted in this commentary synonyms used for ex planation consistency of meanings inference and expositions Consequently none should belie that Mallavadin suri may have composed his work just resembling this restoration.

H has however composed work far better and more deepsensed than this restora tion. This restoration is merely bird' eye view of t. It has not been possible to fill in gaps in the original work when the meaning of sentence is pointed out by noting only its part Moreover works of other systems of philosophy utilized by the 'Mulakara a not to be had. Some of the available works such as 'Pramanasamuccaya etc. are written in another language (other than sanskrit) so much difficulty is experienced in restoring the correspond ing orig nal portions. In such cases the text is prepared with the help of this commentary only

On going through this commentary of 'Nayacakra sound scholarship of the commentator does not remain unrevealed There is not the slighest exaggeration in saying that this commentator is thoroughly expert in expounding and refuting non Jaina darsanas as he has deeply studied extensive works such as works of the six systems of philosophy Purana grammary Patanjal Mahabhasya and 'Vakyapadiya

H expounds nature of heterodo systems of philosophy by taking into account view point by means of hi extra-ordinary genius then he refutes their doctrines by means of valid proof and in the end make them consistent with Syadvada. H is very proficient in the Jaina canon and Jaina philosophy Hence we can very well realise extraordinary scholarship of this commentator

I spite of his such proficiency in his ow darsana and those of others, there is not bit of self importance and desire for glory in this Ksamas ramana For that ery reason, no

where in his commentary he has made even a suggestion etc about the name of his native place, and those of his Kula (family) branch and teacher and his date etc. Even then we can atleast infer that this commentator is posterior to Acarya Jinabhadragani Ksamas ramana and anterior to Kotyacarya Mahattara. For in this commentary we come across a citation from Visesavasyaka bhasya of Jinabhadra Gani Ksamasramana and Kotyacarya Mahattara who completed Ksamasramanas in complete commentary on his own work Visesavasyakabhasya has mentioned the name of Simhasuri Gani in his commentary on Visesavasyakabhasya.

This commentator is posterior to Jinabhadra Gani (666 of Vikrama era.) Some scholars believe that Kotyacarya is pupil of Jinabhadra Gani and hence they opine that Kotyacarya is pupil' of Jinabhadra Gani and hence they opine that it gets proved that this commentator (Kotyacaraya) is a contemporary scholar of Jinabhadra Gani. From the study of this commentary it gets established that the date of this commentator cannot be later than the seventh century though the exposition of the Sankhya system of philosophy occurring in his comentary of the third spoke, agrees with Yuktidipika, an ancient commentary of Sankhyasaptati But it cannot be said that this exposition has this very commentary as its basis, for at the end he has remarked that this finishes investigation of Varsaganyatantra

Hence it can be assumed that the commentator has based his exposition on no other work but Sastitantra extant in his time. Yuktidipika belongs to period later than that of Dinnaga and earlier than those of scholars such as Dharmakirti, and Kumarila. Even the following characteristic of inference well known in the Sankhya system of philosophy is extracted in the second spoke. —

सम्बन्धादेकस्माच्छेषसिद्धिरनुमानम्

The seven varieties of this inference viz.

मात्रानिमित्तसंयोगिविरोधिसहचारिस्वस्वामिवध्यघाते etc.

may have been mentioned mostly on the basis of no other work but Sastitantra

The commentator of Nayacakra has no where in his entire commentary mentioned views, or expositions of Dharmakirti or given quotations from his works even when there are good many works of this veteran Buddhist Acarya. This fact prevents us from believing that the commentator flourished in the seventh century But there is no other go in so believing. Since he has cited Visesavasyakabhasya as an authority If the question of the date of the author of Visesavasyakabhasya as decided at present, is further investigated, we feel that the date of this commentator shall have to be changed and Ksamasramana may be looked upon as having flourished in the sixth century If it thus gets proved that Ksamasramana, the author of Mahattara belongs to the sixth and if it is considered that Kotyacarya Mahatra is certainly pupil of Ksamasramana, the date of the commentator of Nayacakra may be established as the sixth century

SAUNAGA AND BHAGURI Name of those two Acaryas have been mentioned by the commentator while dealing with grammatical topics.

पूजार्थस्याश्चैस्य लिप्सा शौनकाः

1 See Jaina Paramparano Itihasa (Page 458)

2 Vide Padamanjari (Part 2, Page 761).

3 Katyayana saunaga Bharadvaj Krostr Vyadava, Vyaghrabhuti, Vaiyaghrapadya are several commentators.

This Saunaga Acarya is posterior to Katyayana. Kaiyata, the author of mahabhasya-pradipa has said :

शास्त्रान्तराभिप्रायमेव प्रदर्शयितुं शौनागैरपीतिनिस्वरेण पठितमित्यर्थः [1]

Saunaga has composed vartika on Astadhyayi of Panini. Patanjali writes :
इहि शौनगाः पठन्ति पुंसानुज् जनुषान्धः

Further as regards the aphorism ओमाङो Patanjali while denying ... has said :–
एव हि शौनगाः पठन्ति ओऽत्सर्वनामप्रतिषेधार्थेः etc.

These evidences prove that Saunaga is anterior to Patanjali and posterior to Katyayana. From the following sentence it appears that Acarya Bhaguri has composed some grammatical work –
वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः ।

This commentator (Simhasuri) while describing divisions of time such as samaya samaya etc as under has said in his commentary on the second spoke that grass is four fingers in measure:
तृणमङ्गुलमात्रं तृणमात्रं तृणमङ्गु यत्वशो यावेति. चतुरङ्गुलपरिमितृणा ।

This description is not to be seen in any available Svetambar works except this commentary But it is found as under in Tiloyapannati composed by Yativrsabha, Digambara Acarya —
चतुरङ्गुलपरिमाणा दव्यपि सम्पदि तुणिगोमह्ना ॥ १२२ ॥

The date of this Yativrsabha Acarya is said to be Saka[2] Samvat 380 (515 V S), and that of the composition of Tiloyapannatti is about Saka Samvat 405.

Jugalkishor Mukhtar says that the date of Tiloyapannati is anterior to that of Svetambara works of Devarddhi Gani and that of Avasyaka-niryukti etc. But this clearly shows nothing else but his partiality Svetambara agamas are not composed by Devarddhi Gani, but they have been redacted by him. His date is at present believed to be Vira Samvat 980 (510 V S.) whereas that of Yativrsabha Acarya, 515 V S. Niryuktis are composed far earlier than this This is what is stated by us while discussing the date of the author of Nayacakra In spite of this, to say that the basis for mentioning grass to be four fingers in measure, is nothing else but Tiloyapannatti, deserves investigation

Good many topic which are available today are not to be found in extant agamas What proof is there that such thing may not have occurred in this case ?

In Samaya-prabhrta of Kundakunda Acarya, the following verse occurs while dealing with the topic of Kartr-karman –

जीवपरिणाम हेउं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति ।
पुग्गलकम्मणिमित्तं, तहेव जीवोवि परिणमइ ॥८१॥

---

1. Vide ANEKANT (V 1, Z, Z) See "जैनसाहित्य और इतिहास पर विशदप्रकाश " P 56
2. See Page 455,
3. Vide Anekanta (Vol. II, P 521)
4. In the introduction of Pravacanapariksa published from Bombay in A. D. 1935 is said to be the beginning of the Christian era.

A verse having the same meaning and differing from it very slightly is quoted as under by the commentator on Page 461 :—

जीरपरिणामोढे कम्मणा पुणाक परिणमंति ।
पीमाकम्मगमित्त जीवोवि तहेर परिणमेह ॥

Even in the commentary, of Malayagiri Suri on Prajnapana this very verse occurs. This verse is met with in other works, too. It occurs in Curni, a Paiya (Prakrit) commentatory on Karma-prakrti. We have not so far at all studied the questions as to who its author is and when he flourished. Whatever it may be, this verse must have been composed by Kundakunda Acarya. It is believed that this Acarya flourished in the first century of the Vikrama era.[1] If Kundakunda Acarya really belongs to the first century it may have to be surely accepted that he flourished prior to the date of the division of the Jaina Church as Svetambara and Digambara.

The commentator has cited as authority even Kalpasutra as under :—

" समणो निरसमणमाणे आमोदया पाए वा एवं "

It is well known that the author of this Kalpasutra " is Bhadrabahusvamin, a caturdasa purvadhara. This proves the antiquity of even Kalpasutra. Some raise a doubt that this Bhadrabahusvamin is not one who flourished in Vira Samvat 170 but he is one belonging to the sixth century of the Vikrama era. Scholars may investigate the propriety of this statement.

Simhasuri Gani has cited even Yonipabhrta as an authority (This) Yonipabhrta is a portion of Purva sutra (a part of) the twelfth anga. Purvas became extinct in Vira Samvat 1000. Hence the chance of attainment is not only far remove but is impossible. If the commentator has given quotation on seeing Yonipabhrta it must be said that this Acarya must have been conversant with Purva. The adjective Ksamasramana, too, proves this fact. Jinabhadra Gani Ksamasramana has suggested in V 1775 of his "Visesavasyakabhasya that by Jonivihana is meant Yonipabhrta, Prakirnaka. In the bhasya (V 58) of Vyavaharasutra and in the bhasya (v 1303) of Brhatkalpa, the meaning of Joni is stated to be Yonipabhrta. In one of the sutras, the meaning of Joni is mentioned as indicating Jyotisa (astrology). One manuscript of Yonipabhrta exists at present in a library at Berlin and author at Poona. W cannot decide whether this two manuscripts are of the same work or not, since we have not seen those manuscripts. But the manuscripts of Poona has been described by many scholars. The commentator has while citing Yonipabhrta has treated this topic as under[1]—

" हितिपंसोनि· पोनिप्राभृते अभिहिता तरियाप्रविचाय तत्र तथिया पोनिर्उत्पाति संयोग भूमो मिलाने एवचदिन मनुष्यपर्यादिवमसुन्यथिः अभिया पोनिर्विमयोगेण यथाविधि मुर्छ्तरमप्रमाणानुमाविरिति

This topic is not to be found in the manuscript of Yonipabhrta at Poona. Therein, it seems that are treated topics pertaining to medical science etc., so Yonipabhrta referred to by the commentator is portion of Purva and nothing else.

The commentator has mentioned Vrksayurveda too, as an authority. As this Vrksayurveda could not be had, I remain contented by merely mentioning its name regarding its subject matter. In Sarngadharapaddhati chapter consisting of 236 verses and named as Vrksayurveda or Upavana Vinoda[2] is preserved. Durgashankar Kevalram Shastri says that another work named as Vrksayurveda and composed by Raghavabhatta is available[3]

1. Is said to be the begining of the christian era.
2. Vide Vaidyakalpataru" (May 1932 No. 5)

The commentator has mentioned in one place even "Yogasutra by way of comparative evidence. The author of Yogasutra is Patanjali, a great sage. One should not commit a mistake of believing that this very Acarya is the originator of Yoga. For according to the following observation of Yajnavalkya Smrti, Hiranyagarbha is the originator of Yoga

हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः ।

Patanjali is however an expounder of Yoga. Vacaspati Misra suggests this very thing in his Tattvavaisaradi (commentator on Yogasutra) while elucidating अथ योगानुशासनम्, the first aphorism of Yogasutra by stating शिष्टस्य शासनमनुशासनम्. According to the Indian tradition, the author of Yogasutra and Patanjali, the author of mahabhasya, a grammatical work, are one and the same individual. Even though there are in the fourth pada of Yogasutra aphorisms 1 14 & 15 which repute vijnanavada yet vijnanavada has originated prior to maitreya and ASanga. As regards the date, this Patanjali is contemporary of King Pusyamitra of Sunga dynasty.

King Pusyamitra flourished in about B C 225 on this Yogasutra is composed bhasya named as Vyasabhasya. This sage Vyasa is different from the great sage Vyasa the author of Puranas. So it is difficult to say as to which Vyasa composed this bhasya. Historians say that this Vyasa has not flourished prior to the third century of the Vikrama era. The following observation made in the bhasya on Yogasutra (III, 13), is met with even in the commentary on Nayacakra –

वैशाकारमाविस्मदर्मभाव धर्मादीना कियामधिमाधिनाम् एव विकारिमत्तर्मभाव शक्तदिना गुणाना विचारधर्मिनाधिनम् तरिमन् विचारयेव "

(It is difficult to decide as to whether this original source of this statement made in the third spoke is Yogabhasya or some other (work). Since this observation of Yogabhasya is made by way of a quotation, it seems that there is no objection in believing it to be as belonging to Yogabhasya) and no other work.

The commentator has cited Tandulaveyaliya as an authority. This work is well known as Payanna in the Jaina world. Hence this work is anterior to Simhasura Gani Ksamasramana in date. This work comprising 500 verses, deals with a beautiful description of the following topics – the description which creates virajya (absence of wordly desires and appetite) embryonic condition of mundane being and ten conditions following its birth, osmus, structure varieties of the shape of the body varieties of time the number of veins etc.,

The description of the body various conditions of mundane being such as its embryonic condition etc can be compared with that given in Susruta. The author of this work (Tandulaveyaliya) This it is not known but there is no doubt regarding its antiquity. The name Tandulaveyaliya occurs in Jinadasa Gani mahattara curni on Dasavaikalika. According to modern historians this mahattara flourished in Vikrama Samvat 799 whereas according to the old ones sometime prior to Saka Samvat 500 This name occurs in 'too

---

1 चैत्रेन विपरस्य फोन नाथा, सर्व धर्मित्स्व व वैचैना योऽस्मात्पैद् व मधर मुनीना पवर्डि माम्नारि धनयोंमस्य

2 Vide Bharatiya darsana Page No. 349

3/4 इह पुष्पमित्र याजयामः (3-2 123) and–

पुष्पमित्रो यजते याजका याजयन्ति (3-1-26)

In Ubhayanayana (P 509) it is said "मुखम् इति कर्तरिप्रत्ययं केचित्" In this way in "सत्संदि शाद" the termination na is used in the case of the agent. According to Panini the termination ac is used in this case. According to Bhasyakara the word bhava is formed by adding ac termination after nyanta. There a commentary named Kasika on Panini's sutras. Therein the word Bhava is established by adding the termination na in the case of the agent, on the basis of "मरतेश"

Further in the spoke vidhi–vidhi (p. 207) it is said – "ण प्रकरे मुखमोरक्षेभ्यानम्,"

After saying this the termination na is used for the agent. But it is not known as to which grammar this vartika' belongs. But it must be some ancient grammar about which we are in the dark. In Kasika the observation is "मरतेश"

This commentator has given the following quotation from Paniniyasiksa–
'आत्म बुद्धया समेत्यर्थान्' etc.

This siksa consists of 60 verses. It informs us about topics pertaining to pronounciation of letters The author of this Siksa is not known. At the end of this Siksa there is a salutation to Panini. So it appears that siksa is not composed by Panini If it is so, its author too, must be anterior to this commentatator Or if the three to four verses given at the end of this Siksa are looked upon as interpollations, the author of the remaining couplets can be said to be panini. Scholars may themsevers decide this question

This commentator has quoted a couplet begining with
त्रिकालविषयं वस्तु

This couplet is connected with Buddhism and its author is Bhadanta Dinna (Dinnaga). Haribhadra Suri too, has quoted this couplet in Anekantajayapataka Dinnaga Dinna, Bhadanta Dinna and Dattakabhiksu are names of one and the same individual.

Arya Sivasarman Suri has composed a fascinating work named as Kammapayadi. This work is named by venerable Haribhadra Suri as Kammapaydi Sangani too. Jinabhadra Gani Ksamasramana has mentioned this work in Visesavati. According to research scholars this Ksamasramana has composed Visesavasya bhasya in Vikrama Samvat 666

The second Purva named as Agrayani has 14 sections each named as 'Vastu Its fifth section consists of 20 pahudas. Of them the fourth pahuda is named as 'Kammapayadi This Suri has composed 'Karmaprakrti as an extract from it. It is clear that Arya Sivasarman Suri

---

1 In the commentary on 'Tandulaveyaliy on the author of this Payanna is said to be a pupil initiated by Lord Mahavira.

२. गुरु शिष्यमगति यः भिन्नमेरिंदल वृदे ।
भिन्न पुत्री वर्णिते प्रयत्नेन वसथिम ॥

३. केवलज्ञानप्रवचिरिम्य मोक्षणा ।
कृत्स्न कारकलप्रोत हानी कणिनी ममा ॥ ७ ॥
केन रचेप्त किन्तु किन्तो दारपिकि ।
समाहारले भिन्न हाने कणिने मत ॥ ५८ ॥

४ "केचिद्रणादेश्च अर्थ तु कर्तरि पश्न् ॥ २५४ ॥

was conversant with Purva[1] Knowledge of 'Purvas' became extinct in Vira Samvat 1000 i. e. Vikrama Samvat 530. Hence the author of 'Karmaprakrti' flourished earlier than V. S. 530 The last personage conversant with Purva is Acarya Satyamitra.

Scholars interested in history to believe that this Arya Sivasarman Suri flourished in the fifth century But they have no proof for it. Venerable Umasvati has mentioned air-bodied and fire bodied beings as 'trasa' whereas Sivasarman Suri designates them as 'Suksmatrasa' by qualifying 'Trasa' as 'Suksma' Hence there is no doubt in saying that Suri is posterior to Umasvati as already stated.

One verse of this 'Karmaprakrti' is extracted by this commentator Consequently it gets proved that he flourished after Vikrama Samvat 530 and not earlier

Two verses 141 and 142 of 'Visesavasyakabhasya' agree with those of the 'bhasya' on 'Brhatkalpa' The 'Malaksara' has not quoted single verse from 'Visesavasyakabhasya' but he has done so from the 'bhasya' on 'Brhatkalpa'[1] For this reason, too, the 'bhasya' on 'Brhatkalpa' is earlier than 'Visesavasyakabhasya'. All the same, this commentator has not quoted these two verses from it, but he has done so from 'Visesavasyakabhasya' and no other work.

The first two verses occur in (the bhasya on) Brhatkalpa whereas all the three[1] just one after the other in Visesavasyakabhasya So we decide that the commentator has quoted from no other work but Visesavasyakabhasya

The following line is quoted from either Astangahrdaya or Caraka

“ चक्षुस्तेजोमयं तस्य विशेषात्श्लेष्मतो भयम्

It is believed that the author of Astangahrdaya flourished in the fifth century A. D. Hence it gets proved that the commentator flourished after the fifth century of the Vikrama era,

The commentator of Nayacakra has given in this way numerous quotations by way of corroboration, in his own exposition. Some of them are seen as utilised by posterior author too Sources of some quotations are untraceable. In this very way the original sources of quotations occurring in the text and its commentary remain untraced. That is why we have not mentioned their sources e. g. for “ [illegible] ”

They are met with in 'Prameyakamalamartanda'. The Sanskrit commentary on 'Brhatkalpa' etc., but all of them are extracts.

On taking into account sources traced by us for quotations we can say that the strongest proof for believing that the commentator is posterior to the Malaksara is no other work but Visesavasyakabhasya The commentator has given the following quotation in the first spoke —

[illegible]

---

१ [illegible] P 349

“ [illegible]

They are found in this very sequence in printed works.

The Buddhists of today take samanya to be arthantarapoha (?). Hence it cannot be interpreted that this is done in the time of the commentator and not earlier. This statement of his is applied to Budhists living in the time of the Mulkar. I think that the word Adyatana is characteristicly used in the sense of Navina (new). Whatever it may be, this sentence

So he alone can be Adyatana Bauddha.

suggests that Dinnaga is Adyatana Bauddha. For he differs from Vasubandhu in some points and so he is naving. Adyatana Bauddha cannot be interpreted as referring to Dharmakirti, for even the commentator is anterior to him and neither posterior nor contemporaneous. Formerly (?) the meaning was.

सम्पातीरुरयुक्ति

Dinnaga and none else has given the 'Sabdartha' as under and he has expounded Samanya as Arthantarapoha

" घम्तान्तरापोहे हि स्वार्थे कुर्वती श्रुतिरभिधत्ते "

So he alone can be Adyatana Bauddha.

Hence there is a possibility to believe that Dinna and the Commentator too, may be contemporaries. The Mulakara too, expounds by taking this definition (p. 737) into account. Consequently it appears that the Mulakara and the commentator must be contemporaries but since the commentator has quoted from Visesavasyakabhasya he is definitely posterior to the Mulakara. The commentator has composed his commentary at on other time but when the Mulakara was not alive and the commentator has quoted on p. 1152, the sixth couplet from Alambanapariksa.

The commentator has suggested the treatment of categories pertaining to monism, dualism and the doctrine of a triad the categories of Upanisad (Vedant darsana) indicated by the word Vedahava mentioned as under - सम्यक्वैतद्वैतत्रैतमतविषु प्रकृतिपुरुष द्रव्यगुणादि निरुपितस्वैतादिभेदादि पदार्थ प्रतिपत्तेः

Purusavadins (advocates of one soul) or brahmamatravadins (Advocates of only brahman) who believe in monistic categories are one variety of the followers of Vedanta darsana. Persons believing in dualist categories i. Brahman (logus) and non soul or brahman and the soul or prakrti matter and purusa (mind) is also a variety of Vedanta darsana. Persons who believe in categories pertaining to a triad i. e. brahman the individual soul, and non-soul is another variety of Vedanta darsana.

EKADANDI : Sanyasins dvidandi, Sauram and tridandi-sanyasins believe in advaita, dvaita padartha respectivly. All these seat are very ancient, and they are mentioned in one from or other in Upanisads. For that very reason there is no harm in believing that the commentator flourished in the sixth century. Or according to this text these can be interpreted (?) as purusadvaitavada (non-duality of soul), prakrti-purusa dvaita-vada, (duality of matter and mind) and traita-padarth vada (the doctrine of the categories pertaining to a triad) in the from of dravyas (matter) etc soul, and God.

Prasastadeva Acarya has cited as under view of some one in the hetvabhasa ((fallacy) chapter of his Padarthadharmasangraha of Vaisesika darsana — "एकस्मिन् द्वयो हेत्वो: यथोक्तलक्षणयोर्विरुद्धयो: सन्निपाते सति संशयदर्शनाद् अयमन्य: संशयहेतुरिति केचित् "

Even the commentator of Nayacakra has mentioned on P 400 a laksana (definition) almost resembling this. He has however dropped the word इन्द्रियैरिव

This shows that the commentator has not extracted this sentence from Padarthadharmasangraha. It must be view of some earlier Acarya. That is why Prasastadeva Acarya has mentioned इन्द्रियैरिव. We have already proved while discussing the date of Prasastamati that Prasastadeva is not anterior to this commentator. Scholars have decided that the date of Vyomasiva Acarya who composed Vyomavati, a commentary on Padarthadharmasangraha is 670 A. D. So certainly Prasastadeva has not flourished later than 610 A. D. The commentator has cited the following in purusavada :— "[illegible] [illegible] । [illegible]"

Only its first hemistich is fully seen Jejjata's commentary The author of Brhallaghupanjika says —

"[illegible] । [illegible]"

—Susruta ch. XIV V 140-141

Jejjata however says :—

[illegible] ([illegible] [illegible] ॥

We think that Jejjata may have given this quotation from some other work. Just as this commentator has quoted the following from some earlier work so he may have quoted the above mentioned line from some work "[illegible]"

Jejjata, too, may have done so. The date of Jejjata is mostly 375 A. D. to 413 A. D. Jejjata is pupil of Vagbhatta. This is what is learnt from "[illegible]" Both of them the teacher and the pupil mention Bhattara Haricandra, a commentator of 'Caraka Vagbhatta does not mention his name. Hence it follows that Bhattara Haricandra, though contemporary must be youth. This Haricandra is a contemporary of Candragupta, who was alive from 375 A D to 413 A. D So Jejjata, too, must have flourished during that period. Most of the persons opine that author of Astangahrdaya and that of Astangasangraha are one and the same individual

Thus from sources traced by us and discussions embodied in this work it cannot be proved that Simhasuri Gani Ksamasramana flourished latter than the sixth century When it gets proved that the commentator who is a devotee of the doctrine of non-absolutism and who is a head jewel amongst scholars belongs to the sixth century our statement about the date of 'Mulakara gets very well proved.

Simhasuri Gani Ksamasramana has composed a commentary on this 'Nayacakra the commentary which has helped us in restoring the unavailable text, though incompletely The commentator has named his commentary as only vyakhya by stating "[illegible]" in the beginning of his commentary

Only from line occurring at the end of the ninth spoke we learn ; (I) the name of the commentator is Simhasuri Ganivadi Ksamasramana and (II) the name of the commentary is 'Nyayagamanusarini On this very basis the name of the vyakhya is given as 'Nyayagamanusarini in this edition But on reflecting we realise that this line at the end of the ninth spoke is not written by the commentator some one may have later on written it according to a

tradition. If the author of this sentence was the commentator the following questions arise:-

(I) Why is this (sentence) here only and why not at the end of all the spoke?

(II) Why did he not mention the name of the Vyakhya at the end of that fourth spoke where 'सर्वमेतस्य पुस्तकम्' is written?

(III) Why did he not write at the end, though necessary?

From this it may be conjectured that the commentator may not have named his Vyakhya and if named, he did not think it proper to mention it. To be above glory and fame is also a characteristic of a dispassionate sage. For that very reason he has not composed his colophon.

If it is ready so, the question as to what the name of this Vyakhya is, remains unanswered. In ancient days a commentary such as niryukti' 'Bhasya' and 'Curni' is composed. But it was not the custom that it should have certainly a (special) name. There was even this custom that the 'Vyakhya or the like composed on a work should be designated by adding the word Vyakhya or so at the end of the name of the work concerned. This is what can be easily realized by one who goes through ancient commentaries. The same thing may have happened in the case of this commentary too. If the commentator had named his commentary the name ought to have been mentioned at the end of every spoke and atleast in the end. But even though the commentator has completed his commentary he has not used any word to indicate its completion. Hence it follows that his nature may have been to write nothing more than what is said by the Mulakara. He has commenced his commentary by writing only one verse 'जयति' as an auspicious introduction in the beginning of the first spoke.

In all the manuscripts we find that in the beginning of the third spoke, the verse "भावश्चनियुक्तस्य" is written by way of an auspicious introduction. This may have been subsequently written by some one; but it does not come from the pen of the author or that of the commentator. This verse is no doubt very ancient but since it is written here, it is looked upon as interpolated by some subsequent writer.

Just as the commentator did not think of mentioning his own name, so he may not have thought (if desirable) to name his commentary.

That is why no where in this commentary we come across its name mentioned either distinctly or even hinted at. For that very reason some name this commentary as Nyayagamanusarini and some as Nyacakravala (da?). But since this commentary is composed according to nyaya (logic) and agama (canon), the name Nyayagama nusarini is more probable. The real name should be either Dvadasaranayacakravyakhya or Nayacakravyakhya.

This commentary follows only the anvaya (order), so it elucidates the meaning of a word by pointing out its etymology or its synonym or so. The commentator restricts himself to what is written in the text. He has not dealt with any topic which is not necessary from the stand point of the text. Further he has not dropped any essential item. Thus this commentary is not very extensive. It is (just) sufficient. For that very reason one has not to exert much in inferring the text. Nevertheless, the philosophical subject is so intricately treated in this commentary that an ordinary student of philosophy cannot grasp its meaning. Even grammatical topics connected with grammatical works such as Patanjala bhasya are very well elucidated. Consequently the genius of the commentator pertaining to all the darsanas shines like a

Suryakanta jewel. If we were to thouroughly make a comparative study of the text and its commentary it is distinctly realised that even the commentator is an unparalleled disputant as is the case with the author. The commentator is expert in grammar and philosophy. Then what to say about (his knowledge of) Jainism? There in he was a preceptor endowed with divine knowledge an extraordinary exponent of syadvada and well know and proficient in reconciling all darsanas with syadvada. Even the gloss named as Visamapadavivecana is given in this edition. This work (Nayacakra) is extremely difficult for ordinary students. It is very hard to understand the essences inner substance contained in it. For this reason our excellent teacher who has edited this work by immensely exerting himself in spite of his old age, has elucidated by means of his gloss such topics as appeared to him to be difficult and intricate the topics treated in the text and its commentary.

Our highly respected, venerable and excellent teacher who is conversant with the six systems of (Indian) philosophy is not only an author of many works and a poet but he is thorough scholar of many subjects. Even today the diligent uninterrupted inclination, study and devotion to learning of this great and virtuous personage put even young men to shame.

In spite of this old age he blutes himself and others by composing new works in various languages. Further he is great votary of scriptural knowledge and makes his pupil ardent devotees of the same. If he had not undertaken to edit this work, I would not have gained even what little knowledge I could get from it. The three revered personages by Mallvadin Suri, who is the author of this work and who is lion amongst disputants, the commentator and the glossator have obliged the entire mankind. I have dealt with many topic associated with Mallavadin Ksamasramana, an excellent preceptor and Dvadasaranayacakra on the basis of materials I have come across during my study.

This is my first attempt to write and think in this way. I am conscious of my imperfections that have crept in this undertaking of mine. I shall consider my labour as fructified provided the materials presented by me as an humble student of history become useful to scholars in coming to the right decision even in a small measure. I request scholars to judge impartially and I strike an humble recommendation to rectify my errors and to highly enlighten me. I conclude this introduction by expressing my desire that learned readers by studying this great work jewel pertaining to philosophy may accomplish complete development of the doctrine of non-absolutism and thereby fructify the labour of the great sage, the editor.

Atma Kamala – Labdhi Sarasvati
Jain Gnana Mandir
6–Ash Lane P. Church St
Dadar Bombay 28.
13–3–60

Panyasan Vikramavijayji Gani disciple of Vijaya Labdhi Surisvaraji adorable at excellent teacher and exalted preceptor

H. R. Kapadia.

N. B. I crave indulgence of the learned readers for any ommissions or commissions that may have crept in this Foreword (the 'literal' translation of 'Prak-Kathana') prepared within fortnight at the instance of Munisri Bhaskaravijayaji in spite of my old age and eye trouble as well as want of sufficient time and equipment.

Sankdi Sheri Gopi pura
Surat.
17 3–60

H. R. Kapadia.

Muni Hanbhadra Vijayaji has gone through the all proof of this English Translation of the Forward.

समाजभूषण धर्मभक्त सुश्रावक
श्रीयुत चन्दुलाल जमनादास शाह, छाणी

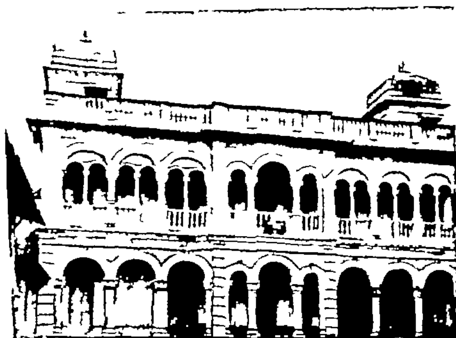

छाणी (जि. वडोदरा) श्री संघे निर्माण करेल

श्री जैन श्वेतांबर ज्ञानमंदिर

(जेनुं उद्घाटन वडोदराना महाराजा श्रीमंत सयाजीराव गायकवाडना
शुभ हस्ते थयुं हतुं)

साधुचरित श्रुत भक्त श्री चंदुभाई

जन्म जीवन अने मृत्यु ए आ संसारना प्राणीओ माटे नियत थयेलो क्रम छे। जगतना लोकमां अनेक जीवो जन्मे छे, जीवे छे, अने विदाय ले छे। जन्मवुं अने जीववुं तेमनुं ज सार्थक छे के, जेओ पोताना सद्विचार अने सदाचारनी सुवास चीरकाळ सुधी मघमघती रहे, तेवी रीते जीवे छे। अहीं आपणे एवा ज एक साधुचरित श्रुत भक्तनी पीछाण करवानी छे।

गरवी गुजरातना वडोदरा शहेरथी अनेक माईल दूर आवेलुं नानकडुं छाणी गाम कामथी घणुं मोटुं छे। बे सुंदर जिनालयो विशाळ काय उपाश्रयो अने श्री जिनागमादि साहित्यना सुरक्षणार्थे निर्मित थयेल भव्य श्रीजैन श्वेतांबर ज्ञानमंदिर आदिथी सुशोभित छे। जैनोनी लगभग सो घरनी वसती धरावता आ गाममा श्रावको धर्म श्रद्धा अने धर्म रक्षा माटे पंकायेला छे। आ छाणीमांथी १७ पुरुषो अने पचास उपरांत बहेनोए संयम ग्रहण करी, त्याग मार्गनी कठिन आराधना करी छे।

श्री चंदुभाई आ छाणी गामना वतनी छे। छाणीनी भूमिना स्वाभाविक सुसंस्कारो उपरांत तेमनामां बीजी पण अनेक विशेषताओ छे। प्रकृतिए सरळ धर्माराधनपरायण अने धर्मसेवाना हर कोई कार्यमां यथाशक्ति फाळो आपवामां तत्पर श्री चंदुभाई एटला ज प्रमाणिक अने गुरुभक्त छे। तेओना पितानुं नाम छे श्री जमनादास हिराचंद। श्री जमनादासभाई पण चुस्त धर्मश्रद्धालु हता, प्रतिष्ठा अंजन *शलाका आदि कार्यो केवळ श्री जिनभक्तिथी करवामां तेओए पोताना जीवननो घणो समय गाळ्यो हतो।* जीवनना अंतिम वर्षोमां वृद्धवये संयम ग्रहण करी, तेओ जीवन कल्याण करी गया छे।

श्री चंदुभाई जिनपूजा, प्रतिक्रमण अने पौषधादि द्वारा कल्याण मार्ग साधी रह्या छे। चतुर्थव्रत ग्रहण पण सं. १९९४ मां कर्युं हतुं, बाळपणथी ज तेओ धर्माराधक क्रियाभिरुची छे। श्री संघना वहीवटी कार्यमां पण तेमणे घणो भोग आप्यो छे, पोताना व्यवसायने गौण करी श्री संघनी प्रवृत्तिमां तेओ वर्षोथी भाग ले छे

श्री जैन श्वेतांबर ज्ञान मंदिरनो कारभार हजी सुधी संभाळी रह्या छे।

पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय लब्धि सूरीश्वरजी महाराजना गुणानुरागथी तेओश्री 'लब्धि सूरीश्वर जैन ग्रंथमाळा'नुं सारूं संचालन करे छे

आ ग्रंथमाळा आज सुधीमां जैन साहित्यनां ४४ ग्रंथरत्नोनुं प्रकाशन करी चुकी छे आ ग्रंथमाळा उपरांत श्री चंदुभाई 'श्री कमलसूरीश्वरजी शास्त्र संग्रह' तथा उपाध्यायजी 'श्री वीरविजयजी शास्त्र संग्रह' आदि ग्रंथ भंडारोनी पण सुंदर देखरेख राखी रह्या छे

श्री चंदुभाईनुं कुटुंब पण धर्म परायण छे. तेमना लघु पुत्र श्री जयंतिलाल १८ वर्षनी युवानवये संयम ग्रही, मुनीश्री जिनभद्र विजयजी तरीके विचरी रह्या छे तेमना पुत्री श्री पद्माबहेन (श्री प्रियंकरा श्री जी) तथा दोहित्रीओ (श्री पुष्पलता श्रीजी) जयलक्ष्मीश्रीजी (श्री कमल प्रभाश्रीजी) पण संयमी जीवन जीवी रह्या छे

शारिरीक अस्वास्थ्य अने वृद्ध वये पण जे रीते धर्मसेवा तेओ करे छे तेवी ज रीते अखंड सेवा परायण जीवन जीवतां चिरायु बनो तेवी *मंगल कामना छे.*

चन्द्रबाहु मोहनलाल शाह

श्रीमल्लवादिसूरिस्तुति

वादरंगे मल्ल इव मल्लवादी सुविश्रुतः ।
शासनोद्योतकर्ता यः सेवे तं मल्लवादिनम् ॥ १ ॥

नयचक्रं कृतं येन दुर्गाह्यं पण्डितैरपि ।
तद् द्रष्टुं लब्धसौभाग्यः सेवे तं मल्लवादिनम् ॥ २ ॥

विधिनियमभेदाभ्यां द्वादशारप्ररूपकः ।
स्याद्वादतुम्बकर्त्ता च सेवे तं मल्लवादिनम् ॥ ३ ॥

स्तुतः श्रीहरिभद्रेण हेमचन्द्रेण यो भृशम् ।
अन्यैस्तार्किकवर्यैश्च सेवे तं मल्लवादिनम् ॥ ४ ॥

निक्षमातुल्यवेत्तारं बौद्धाचार्यं सुयुक्तिभिः ।
वादेऽजयत् भृगोः पुर्यां सेवे तं मल्लवादिनम् ॥ ५ ॥

नयप्रमाणपाथोधिः द्वादशारैस्तरङ्गितः ।
यन श्रीगुरुदेवेन सेवे तं मल्लवादिनम् ॥ ६ ॥

नयचक्रं द्वादशारं भवचक्रनिवारकम् ।
येन प्रपंचितं सम्यक्, सेवे तं मल्लवादिनम् ॥ ७ ॥

मल्लवादीति यः ख्यातः स्मरणीयः जिनेन्द्रवत् ।
विदुषां सर्वसूरीणां सेवे तं मल्लवादिनम् ॥ ८ ॥

स्तुतिकर्त्ता
श्रीमद्विजयलब्धिसूरीश्वराः

न्यायागमानुसारिणीसमलङ्कृतस्य

द्वादशारनयचक्रस्य विस्तरतो विषयक्रम

[चतुर्थविभाग]

इति विषयानुक्रमणिका समाप्ता

नवमो नियमभङ्गार

विधिनियमसर्वमङ्गवृत्त्यात्मकैकत्वाधिकारे वर्तमाने उभयनियमभङ्गारदर्शनेऽप्यपरितुष्यत् उत्तरनयस्य नियमभङ्गस्योत्थानम्, तस्मिंस्तु दूषिते समतमदर्शनं युक्तमिति तद्रूपणार्थमाह–

यदि भेदप्रधानो भावः कथमसौ भावो भवितुर्भेदस्य क्रियाभेदातिरेकेण स्वरूपमपि प्राप्तुं समर्थः ? असत्त्वत्वस्वादभवितृत्वादसन् खपुष्पवत्, ततश्च भेदाभ्यस्याभावाद्भेदा अपि न भवितुमर्हन्ति खपुष्पवदिति धर्मधर्मिस्वरूपविरोधः, घटादिभेदाभावात्, भेदाभ्याभावाद्गगनो दुम्बरकुसुमवत्, यथा गगनकुसुमादुदुम्बरकुसुममुदुम्बरकुसुमाद्वा गगनकुसुम भेदृ भेदत्वं वा न तयोपसर्जनप्रधानयोः, ततश्चास्यन्तनिरुपाख्यस्याच्छून्यस्यापत्तौ स्ववचनादिविरोधा अपि।

यदि भेदप्रधानो भाव इत्यादि, यावद्धर्मधर्मिस्वरूपविरोधः, यद्भेदा भवति प्राधान्येनाऽभावोऽस्योपसर्जनमित्युक्त तत्र तमेवंविध भावमवधारयामः, कथमसाविति, स तथेत्युभ्राऽन्वयो भावो भवितु[ः] भेदस्य क्रियाभेदातिरेकेण–भवितारं कर्तारमन्तरेण स्वरूपमपि प्राप्तुमसमर्थो निश्चयः कस्मात् ? असत्त्वत्वात्–अकर्तृत्वादभविता, अभवितृत्वादसन् खपुष्पवत्, तस्यान्वयस्य–भावस्याभावे भेदा एव विप्रकीर्णा भेदवस्तुरहिताः स्युः, ततश्च भेदाभ्यस्यान्वयस्याभावाद्भेदा अपि न भवितुमर्हन्ति,[अ]विद्यमानो हि भेदः कुतो भिद्यते ? असौ निर्भेदत्वात् खपुष्पवदिति भेदाभावाद्धर्मधर्मिणोः स्वरूपाभावेऽन्वयोपसर्जनो भेद

पूर्वोक्तिस्य भवस्य भेदस्यान्वयाभावस्यान्वयाभावभवत उपसर्जनत्वात् एवं तदभावे भेदोऽपि न स्यात् गगनोदुम्बरकुसुमवत् [illegible] उभयोरन्यतरोभयस्यापेक्षोपसर्जनत्वस्य [illegible] भेदवृत्तिर्विधिनियमसर्वं वर्तमिनुम्, अथवा विधिनियमयोर्भङ्गारमर्थक्रियाऽऽत्मकत्वाधिकारे वर्तमाने पूर्वोक्तिभेदमभिमत [illegible] पूर्वेणवं [illegible] विधिनियमेति । पूर्वमतदन्वयोपसर्जनभेदप्रधानता [illegible] तद्रूपयति–यदि भेदप्रधान इति । भेदः प्रधानमावेन भवति [illegible] अस्य योपसर्जनमन्वय इति [illegible] [illegible] भाव–अन्वय [illegible] न [illegible] विचारयाम स्वाद–यद्भेदो भवतीति । भवत् प्रधानं कर्तृत्वे भाव उपसर्जनम्, भवति हि [illegible] भवति भवन- [illegible] भवनक्रियामनुभवति [illegible] गुणभूतं क्रियार्थं [illegible] [illegible] कारणाविभक्तेषु वर्तमान परमार्थो भवति [illegible] [illegible] न तु भवनेन कर्ता भवते न भवनं भवो भवति, उपसर्जनत्वात्, न हि भवनं कर्त भविनु [illegible] तस्यावस्थितिरिति भावः । तदाहितेभ्यमाद–स तथेत्यु इति भवनरूपो भावो यदि भविता न स्यात् तर्हि स स्वस्वरूपमेव न लभेत निश्चयस्तु इते, भवनरूपो भावे हि भवितुर्न प्राप्तुमसौ इत्यवापत्तेरितीदं भवताम्, तथा न [illegible] [illegible] हि कर्ता अकर्तृत्वादसौ न भवति [illegible] खपुष्पवदसावन्वेव [illegible] भाव । [illegible] भावस्याभावे [illegible] भेदाः [illegible] भविनु भवन [illegible] तस्याभ्यपश्यति । एवं सति भेदा अपि न भवेनुर्भेदाभावात्, भवानां भेदान्वयाभावे भेदोऽपि कर्त स्यात् [illegible] [illegible] भावो वा धर्मो को वा धर्मीति धर्मधर्मिता [illegible] उपसर्जन भेद प्रधानं [illegible] [illegible] [illegible] निरात्मकधर्मधर्मिस्वरूपादित्याद–ततश्च भवत्यस्यति। तथा

१ भि क. छा. दे स्वयोदेवान्वयो ।

प्रधानः सम्पार्थं इत्येतद्वाक्यं निराकृतधर्मधर्मिस्वरूपकं संवृत्तम्, तदुपसंहृत्य साधनमाह—घटादिभेदाभावो भेदत्वाभावात्, गगनोदुम्बरकुसुमवदिति, उभयोर्भेत्तृभेत्तव्ययोरभावे न गगनकुसुमादुदुम्बरकुसुम[मु]दुम्बरकुसुमाद्वा गगनकुसुमं भेत्तृ भेत्तव्यं वेति दृष्टान्तः, तयोरुपसर्जनप्रधानयोः—सामान्यभेदयोरिति दार्ष्टान्तिकोऽर्थः तदभावान्यत्वेनापि, एवं निरुपाख्यत्वापत्त्युन्मत्तापत्तौ स्ववचनाभ्युपगमानुमानप्रत्यक्षविरोधा अपि भावाः, ते चाभिहिता इति ।

किञ्चान्यत्—

पृथिवी घटो भवतीत्यत्र विचार्यं किं पृथिवी भवति ? उत घटो भवति ? उभयं वा भवति ? न भवति वेति, तत्र यदि विशेष एव, नास्त्येवेतीदानीमेवोक्तत्वात् कुतः सामान्यस्य प्रधानोपकारिता, अथ पृथिव्यादेरन्यदिदं प्रवृत्तेर्भवति सत्त्वात् ततश्चोपसर्जनत्वं सामान्यस्य नास्ति, स्वतत्त्वव्यापित्वात् भावत्वात्, प्रवर्तमानत्वाच्च भेदवत्, उभयास्मिंस्त्वसति भावे भवितरि च यथाभाव एव भेदोऽप्यनुभूयते, तेनैव भेदेन न भूयेत, अभावत्वात् खपुष्पवत्, न ह्यभावो भावो भवति ।

(पृथिवीति) पृथिवी घटो भवतीत्यत्र विचार्यं किं पृथिवी भवति न घटः ? उत घटो भवति न पृथिवी ? उभयं वा भवति ? न भवति[वा]इति, तत्र यदि विशेष एवेत्यादि सामान्यस्योपसर्जनस्याभावे विशेष एवेति नास्त्येवेतीदानीमेवोक्तत्वात्, असति च घटे विशेषे कुतः सामान्यस्यास्योऽस्वप्रधानोपकारितेति, अथेत्यादि अथ मा भूत् पृथिव्यादिसामान्योपसर्जनत्वे द्वयोरपि सामान्यविशेषयोरभावदोष इति

च साधनमाह घटादिभेदेति, घटादीनां भेदानामभावः साध्यः भेदत्वाभावादिति हेतुः गगनोदुम्बरकुसुमवदिति निदर्शनम् । दृष्टान्तं व्याचष्टे—उभयोरिति भेत्तुर्भेदस्य भेत्तव्यस्य चाभावे यथा गगनकुसुमात् उदुम्बरकुसुमं भेत्तृ न भवति यथा वोदुम्बरकुसुमाद्गगनकुसुमं भेत्तव्यं न भवति तयोरुपसर्जनप्रधानयोर्भेत्तृभेत्तव्ययोरेवं भाव । एवमेवोक्तनिरुपाख्यत्वात् उन्मत्तापत्तौ [illegible] विरोधा अवगन्तव्या भवेयुरित्याह—इत्यभिहितमिति । ननु सामान्यविशेषयोरुभयोः प्रधानस्य उपसर्जनस्य विशेषस्योपसर्जनसामान्यप्रधानत्वाभावादसम्भवात्, सामान्योपसर्जनविशेषप्रधानता तथाऽनुभूयमाने तत्र को भवति घटादिभेदः स भवनोपसर्जनः प्रधानभिः [illegible] तथा च पृथिवी घटो भवति पृथिवीत्वस्य भेदस्य भवनमनुभूयते तत्र विचार्यते—पृथिवी घट इति । व्याचष्टे—पृथिवीति भवनक्रियायाः किं पृथिवी, किं घट किं चोभयम्, उभयोर्वा न भवतीति विकल्पेषु ये विकल्पस्तत्राऽनुभूयते तदुपन्यासितम् । यदि विशेष एव भवतीत्युच्यते तत्राऽऽह—तत्र यदीति पृथिव्यादेः सामान्यं न भवतीति उच्यते तदा [illegible] सामान्यस्य, भावे तदभावे च भेदस्याभावेन भेदोऽपि न कश्चित् भवेदिति भावः । एवं विशेषस्यापि [illegible] सामान्यं प्रधानस्यास्य कुत उपकारि स्यादिति असति च घटे इति । अथ पृथिव्यादेः सामान्यस्योपसर्जनस्य एव भवनक्रियामनुभवति न पृथिव्यादिरनुभूयते सामान्यविशेषयोरभाव [illegible] पृथिव्यादिसामान्यं भवति प्रवर्तते इत्युच्यते व्याचष्टे—अथ मा भूदिति । तथा यदि घट विशेषे [illegible] भिन्ना भूयते न भवतीति भवति, एवं पृथिवीसामान्यमपि [illegible] पृथिव्यादि प्रधानम् स्यात्, [illegible] न स्यात् किन्तु सामान्यमस्यापि भावभवनं स्यात्, तस्मात् भेदवत् सामान्यमपि [illegible] अभिन्नत्वं हि [illegible] सामान्यविशेषयोरभेदेन [illegible] सामान्यमित्याह—

१ सि. छा. डे. क. °भावो न भवन । २ सि. क्ष. डे. क. विशेषाभावो वेति ।

पृथिव्यादेरन्वयित्व प्रवृत्तेर्भवति, भवत्वात्, तत्रोपसर्जनस्य सामान्यस्य नास्ति, स्वतत्त्वव्यापित्वात् भाव स्यात्, प्रवर्तमानत्वात् भेदवत्, इत्यमप्युपसर्जनत्वमिष्टमिति, उभयस्मिंस्त्विति, सामान्ये-पृथिव्यां भेदे च घटे द्वयेऽप्यसति भावेऽन्वये भवितरि च विशेषे स ययमाव एव भेदोऽप्यनुभूयते-भेदेन स भेद इतीष्यते तेनैव भेदेन न भूयेत, अभावत्वात्, अभावस्य भवनक्रियात्मकत्वात्, खपुष्पवत्, न ह्यभावो भावो भवतीति दृष्टान्तार्थप्रदर्शनात् ।

अथ भाव एवासौ भेद इष्यते ततो भावाव्यतिरेकाद्भूतत्वादुभयथापि न पुनर्भूयेत, भूतघटादिवत् आकाशादिवत्, वैयर्थ्यात्, न हि भूत एव भवति, तथासत्यसत्त्वापत्तेः, यदि भूतमेव भवेत्ततस्तदसत् स्यात्, उत्पद्यमानत्वादजातघटवदित्यनिष्टा च सा भेदेषु पृथक् सत्सु भवनाऽन्वय औपचारिक इत्यत्रोच्यते ननु त्वयैव स्वद्रव्ये पृथिव्यादौ घटादिभेद ब्रुवता तस्यावस्थामात्र घटादिभेदा इत्युक्तं भवति, यथाऽङ्गुलिर्वक्रीभवतीत्युक्ते औपचारिकत्वं वक्रताया नाङ्गुलेः, न हि वक्रत्वमङ्गुलिर्भवति, भनुत्वभस्वात् खपुष्पवदिति ।

(अथेति) अथ भाव एव–मा भूदेष दोष इति अन्वयस्वभाव एवासौ भेदो भाव एवेष्यते ततो भावाव्यतिरेकात्–भावात्मकत्वात् अन्वयात्मकत्वात् भूतत्वादुभयथापि–प्रधानोपसर्जनत्वाभ्यां पृथिवीघटत्वाभ्यां न पुनर्भूयेत, भूतत्वाद्भूतघटादिवत् आकाशादिवत् वैयर्थ्यात् तद्दर्शयति–न हि भूत एव भवतीति, कस्मात्? तथा[सत्य]सत्त्वापत्तेः यदि भूतमेव भवेत्–उत्पन्नमेवोत्पद्येत ततस्तदसत् स्यादुत्पद्य-

---

तत्रोपेति पृथिवी भवतीति भवतोऽस्त्युपगमाभिप्रायं उपसर्जनस्य यद्यप्यस्ति तदुपसर्जनं भवति भवितुर्भेदस्योपसर्जनस्य सामान्यस्योपचारि चेत्स्यादुपसर्जनम् यदा तु भेदस्तदपि भवति तदा प्रधानमेव तत् भवितृत्वात् भेदवदतोऽनुपसर्जनं स्यादिति भावः । तदेवं विशेषस्यैव भवनक्रियात्वे सामान्यस्याभावादनुपसर्जनत्वम्, सामान्यस्यापि भवनाश्रयत्वे प्रधानत्वादनुपसर्जनत्वमित्युभयथाऽप्यनुपसर्जनता स्यादित्याह–इत्यमपीति पृथिव्यादेर्भाव भवतीत्यर्थः । एवं सामान्ये भावरूपस्य भेदे च भवितृत्वस्याभावे ययभाव एव भेदस्तर्हि अभावेन भेदेन न भूयेत–अभावो भेदो भवतीति न स्यादित्याह–उभयस्मिंस्त्वितीति सामान्ये भेदे चेत्यर्थः असतीति–भावे भवितरि चासतीत्यर्थः । यथाभाव एवेति, अभावस्वभाव एव यदि भेदोऽनुभूयत इत्यर्थः । तेनैवेति अभावेनैव भेदेन न भूयेत–सामान्यं भवेत् न भवतीत्यर्थः । हेतुमाह–अभावत्वादिति भावरूपत्वात्–भवनक्रियात्मकत्वाभावादित्यर्थः । तदेव दर्शयति–न हीति । एतद्दोषपरिहाराय भेदस्य भावरूपमभ्युपगम्य दोषमाह–अथ भाव एवेति । व्याचष्टे–मा भूदेष इति । यदि भेदो भावो भवनात्मकत्वाद् भावो भविता किन्तु भूत एव अन्वयरूप–सामान्यवदित्याह अन्वयस्वभाव एवेति भेदोऽन्वयात्मभाव एव अत एव भावो भवनक्रियात्मक इतीष्यत इत्यर्थः । भवनं हि न भवितृ किन्तु भूतमतो भेदोऽपि भूत एव स्यादित्याह–ततो भावाव्यतिरेकादिति भावाभिन्नत्वात् भावत्वात् भावो हि अन्वय एव अत एव भूत इति भाव । उभयथापीति भेदो यथाभाव एव अन्वयस्य भाव एवासौ भेदो भाव एवोभयथापि पृथिवीघटौ न भवेताम् प्रधानभावेनोपसर्जनभावेन वा भूतत्वात् घटत्ववत्, न हुतस्य पुनरुत्पत्तिरनवस्थानात् अर्थक्रियानुपपत्तेश्चेति भावः । तत्सत्त्वेन पुनः न पुनर्भूयेत इत्याह–वैयर्थ्यादिति, भवनक्रियाया हि फलापेक्षा यदा तु स्वरूपं प्राप्तमेव तदा पुनरुत्पत्तिरनर्थिका, न हि घटादि भूतस्य पुनर्भवनं दृष्टं युक्तं चेति भावः । कुतोऽयुक्तमित्याह–तथासत्यसत्त्वापत्तेरिति । तां प्रपञ्चयति–यदि भूतमेवेति यथाऽभावो घटो यदि भवेदुत्पत्तिमत्त्वाद्घटवदित्येवं तदानीम्, न तु भूतः एवं भूतमनुत्पद्यमानता-

1 सि. क्ष. डे. भावेऽन्वये च ।

मानत्वात्, अभावघटवदित्यसदापत्तिः, अनिष्टा च सेति न भावो भवति नाभावो भवत्युभयं पृथिवी घट इति, भेदेष्वित्यादि आम्रवनवत् मेदेषु–घटादिष्वेव पृथक् सत्सु परमार्थतो योऽसौ भवति भवतीति भवनाऽन्यथा स औपचारिक इत्यत्रोच्यते–नेतु रथेनेत्यादि, ननु त्वयैव सद्रूपे पृथिव्यादावित्यादि आरभ्योक्तं, तत्र तस्य पृथिव्यादिद्रव्यस्यावस्थामात्र घटादिभेदा इति घटादिभेदा एवौपचारिकाः पृथिव्यादिसामान्यमेव वस्तु सिद्धं भवतीति, निदर्शनमाह–यथाऽङ्गुलिरित्यादि, यथाऽङ्गुलिर्वक्रीभवतीत्युक्तेऽङ्गुलेरवस्था वक्रता, अङ्गुलेः सामान्यस्य भेदोऽवस्थामात्रमित्यौपचारिकत्वं वक्रतायाः नाङ्गुलेः, यस्मात् वक्रत्वमङ्गुलिर्भवति वक्रत्वस्यानवस्थानादङ्गुल्यङ्गुलिरेव वक्रीभवति न वक्रतैवाङ्गुलीभवति कस्मात् पुनर्न वक्रत्वमङ्गुलीभवति ? उच्यते–अनुत्पन्नत्वात्, खपुष्पवत्, एवं तावद्युगपद्भाविष्वभिन्नाभिन्नपर्यायेषु द्रव्यमात्रत्वमुक्तम् ।

युगपद्भाविष्वेव भिन्नाभिन्नपर्यायेष्वपि–

भेदत्वाच्च रूपवत् यथा घट एव चक्षुरादिग्रहणापदेशविशिष्टत्वाद्रूपं रसो गन्ध इत्यादिभेदेनोच्यते विज्ञानमात्रस्य तत्र भेदत्वाद्वस्तुनोऽभिन्नत्वादेवं पृथिव्यादिसामान्यभेदाः ।

(भेदत्वाच्चेति) भेदत्वाच्च रूपवत् तदवस्थामात्रमिति वर्तते यथा घट एव चक्षुरादिग्रहणापदेशविशिष्टत्वात् रूपं रसो गन्ध इत्यादि भेदेनोच्यते अङ्गुलिर्वा विज्ञानमात्रस्य तत्र भेदत्वाद्वस्तुनो घटस्याभिन्नत्वात् एवं पृथिव्यादिसामान्यभेदाः घटादयोऽप्रसिद्धत्वादव[स्था]विज्ञानमात्रेणेति ।

किञ्चान्यत्–

अत एकान्यायात् द्रव्यस्य पर्यायानाभिन्नत्वाच्च पर्यायमात्रतः सर्वथाऽनुपपत्तिः, एवं

वैपरीत्येन, न वेद्यापत्ति अनवस्था भावश्चेति एकत्र भावे न भवति नाप्यभावो भवति, पृथिव्यपि न भवति घटोऽपि न भवतीति भाव । ननु भेदा एव परस्परात्यन्ता परमार्थतो विभज्यन्ते तेष्वेवं भवति अन्यदपि भवतीति येऽयं तत्सामान्य च औपचारिक न तु तत्त्वभूत कश्चिदत्र तदवधीरा भाव एवेति तद्वदे–आम्रवनमिति, आदिग्रह मात्रमेव इत्थं विपश्यन्तु भावत्वं भवतनमिति नान्यदवगम्यमानमपेक्षितेन सामान्यमनुपलभ्ये न परमार्थसदिति भाव । समाधत्ते–ननु त्वयैवेति द्रव्यपृथिव्यादिरूपत्वात् भेदा तदवस्था एव, तथैव हि द्रव्यं भवति द्रव्यमेव पृथिवी भवति तदवस्थामात्रत्वाद्घटादीनाम् भेदानां तद्रूपपृथिव्यादिमात्रत्वात् सद्रूपे पृथिव्यादौ इत्यारभ्येव भेदानुपलम्भकत्वात् भेदा तदवस्था एव पृथिव्यादय एव तत्त्वं पृथिव्यादीनामेव व्यादिरूपस्थमात्रत्वाद्वस्तुत्वं भवतीति भाव । निदर्शनमाह–यथाऽङ्गुलिरिति अङ्गुलेरवस्था वक्रता सा चावस्थाऽऽगमापायित्वादपारिता न तत्त्वभूता सामान्यमङ्गुलिरेव तत्त्वं भेदस्तु औपचारिक न हि वक्रत्वमङ्गुलीभवति अङ्गुलेरनुत्पन्नत्वात् खपुष्पवदिति भाव । एवमयुगपद्भाविषु क्रमभेदेन भिन्नेषु पर्यायेषु द्रव्यमात्रं तत्त्वं पर्यायास्तु द्रव्यस्यावस्था औपचारिका इत्युक्तमित्याह–एवं तावदिति । अथ युगपद्भाविनां भावानामप्यौपचारिकत्वमाह–भेदत्वाच्चेति । भेदा युगपद्भाविनः पर्याया भेदत्वाद्रूपादिवत् द्रव्यस्यावस्थामात्रं चक्षुरिन्द्रियसम्बन्धज्ञानविषयता रूपं घटादेरेव हि रूपमित्युच्यते रसनासम्बन्धाद्विषयता रसः, घ्राणेन्द्रियसम्बन्धजन्यज्ञानविषयता गन्ध इत्युच्यते तस्मात् विज्ञानमात्रमेव वस्तुतो भेदाद्व्यादिरूपेण तत्र रूपादयः पारमार्थिकः इत्याशयेनाह–यथा घट एवेति । एवं पृथिव्यादिसामान्यमेव तत्त्वं घटादयस्तु विज्ञानमात्रभेदाद्युपचरिता तत्त्वं यत्र पृथिव्यामिति । विज्ञानमात्रेणेति घटादयस्तु भेदाः विज्ञानेन भिन्ना इति भाव । पूर्वोक्तभिन्नाभिन्नेषु भिन्नत्वेऽपि एकत्वेन पिण्डस्वभूतस्य द्रव्यस्य सर्वथाऽनुपपत्तेः, भेदा न तथैव परमार्थतः पृथिवी प्रतिपादितमित्याह अत एकान्यायादिति ।

१ सि. क्ष डे छा भवति न चाभो च । २ सि क्ष डा. डे भवनमवेत्यादि । ३ सि क्ष ेतैरिति । ४ सि क्ष ेभ्यन । ५ सि. क्ष. भेदत्वा । ६ सि. क्ष ेत्वनुत्पन्न ।

विशेषस्वरूपमप्यपेक्षायां पूर्वं भवनमस्वतन्त्रं पृथग् वा वृत्ति स्यात्ततो निर्मूलत्वादसन् घटः खपुष्पवत् ।

अत उक्तन्यायादित्यादि, अतीतविष्यादिद्रव्यार्थिकनयेष्वेकमर्थगगननित्यमरण्यवस्तुमात्रविजृम्भित स्तिमितमरसरवृक्षादिवत् त्रिभुवन भिन्नाभिन्नमप्यभिन्नमेव, द्रव्याश्रितरूपादेशानाम्, अवस्थादि संज्ञानां पुरुषादिपादेषु प्रतिपादितत्वात्, द्रव्यस्य पर्यायानाश्रितत्वाच्च, पर्यायमप्युत्पत्तिरित्यादि, इति सर्वथैव भवनविध्यनुपपत्तिः, एवं पूर्वातीतद्रव्यनयप्रदर्शनेन, विशेषस्वरूपेत्यादि, तस्यापि च विशेषस्य स्वरूप प्रत्यपेक्ष्यमाण अन्वयसामर्थ्यादृते न लभ्यते, तद्यथा [स्वं] रूपयति पाकयति, कार्यस्यात्मनोऽवस्थायाः स्वरूपमिति कारण भवनमन्वयः स्वेनैव महिम्ना पृथग्वर्तते भेदादृतेऽपि यथोपवर्णितमनेकधाऽतीतनयेषु, तद्यदि पूर्वं भवनमस्वतन्त्रं पृथग्वा वृत्ति यथा त्वयेष्टं स्यात् ततः किं ? ततो निर्मूलत्वादसन् घटः खपुष्पवत् ।

स्यान्मतं किं घटस्य मूलेन भवनेन ? किं न स्वयमेव भवति ? इत्येतच्च—

नापि स घटः स्वयमेव भावः, विशेषप्रधानपक्षहानेः, नाप्यस्य भावः भवतस्याविशेषात् खपुष्पवदेवेति पूर्वोक्ताविर्भावादिभेदानुपपत्तिविरोधात् ।

(नापीति) नापि स घटः स्वयमेव भावः, कस्मात् ? विशेषप्रधानपक्षहानेः—यदि विशेष एव भावस्ततो घट एव विशेषः स एव भावो भवन तेन भूयतेऽन्वयेन भावनेत्यतः तथाभावस्याद्घटस्यापि

न्यायो—अतीतविष्यादीति एकं सर्वगतं नित्यं कारणं यद्वस्तु तन्मात्रविजृम्भितं भिन्नाभिन्नमपि त्रिभुवनम्, तदेव वस्तु आकारान्तराण्यनुभवदपि समानमस्यमेव कदाचित् तद्व्यतिरिक्तस्यान्यस्याभावात्, अतोऽभिन्नमेव अपराभिन्नविनिर्मितत्वप्रकार प्रतिपाद्या अवस्थाभेदाः सर्वस्यास्य वस्तुनः मिथ्या एव न तत्तोऽतिरिक्ता इति भेदा द्रव्याश्रिता द्रव्याभिन्ना इति भावः। तत्र न पर्यायाभिन्नं किन्तु पर्याया एव द्रव्याभिन्ना एवमपि पर्याया न भवन्ति यदि हि भवन्ति तर्हि भवनात्मका पर्याया स्यात्, भवनञ्च द्रव्यं तत्कार्ये पर्यायाभिन्नं भवेत् तस्मात् सर्वथा पर्यायाणां भवनविशेषानुपपत्तिरिति द्रव्यस्य पर्यायानाश्रितत्वाच्चेति । तर्हि किं विशेषस्य स्वरूपम् ? अत्रत्य एवेत्याह—तस्यापि च विशेषस्येति अन्वयसामर्थ्या देव विशेषस्य स्वरूपं लभ्यते अन्वयो हि तत्तोऽन्यतरस्वं किन्तु तमन्वयनिरपेक्ष प्रतीयमानविशेषस्वरूपं स्यात् अत एव विशेषः परतन्त्रः अन्वयसामर्थ्यादात्मलाभात् एवं विशेषस्य स्वभावस्य स्वात्मभासा वा परिणमनादन्वय एव विशेषस्य स्वरूपम् तदेव कार्यं भवनं द्रव्यविधिरुपमत्, स चान्वयः स्वतन्त्रः तस्मात् स्वमहिम्नैव भेदमन्तरेणापि पृथक् वर्ततेति वर्णितुमिति द्रव्याश्रितत्वं भेदात्मकमिति भावः । भेदा स्वास्तव परमार्थेन पृथक् सन्तः तत्र भवनात्मक औपचारिक इति भेदाभिन्नं द्रव्यं च स्वतन्त्रं न वा पृथक् वर्तीति स्वरूपमुपगतं यदि स्यात्तर्हि भेदा मूलरहिता भवेयुः अतो निर्मूलत्वात् खपुष्पादिव-दसन्तो भेदाः स्युरित्याह—तत इति एवम् भवनमन्तरेण भेदानां मूलमेवितत्वमिति भावः । ननु घटादिर्मूलं भवनं विना किं स्वयमेव न भवतीत्यत आह—नापि स इति । यदि घटः स्वयमेव भावः स्यात्तर्हि विशेष प्रधानं न स्यात्, तथा च सामान्योपसर्जनविशेषप्रधानतया परिकल्पः स्यादित्याह—नापि स घट इति विशेषा यदि स्वयमेव भवन्ति घट एव भावो भवनमुपगत एवेत्यन्वयेन भावेन भूयत इति घट एव भवनं भवतः भावश्च सामान्यमात्रं स्वतः प्रधानमतो घटोऽस्य भवन-भावप्रधानता प्राप्नोति सामान्योपसर्जनविशेषप्रधानपक्षहानि रेव स्यात् विशेषस्यैवानात्मप्रधानत्वप्राप्तेः एवञ्च घटः स्वयमेव भाव इत्यनुपपन्न इति भावः । तत्र भूयत इति यदा भावो भवतीत्यर्थः तथा भावनात्—घटस्य भावेन भवनात् घटादिविशेषरूपस्य भावमात्रं सामान्यमर्थं स्यात्, भावस्यैव प्राधान्यात् किञ्च न भावमनुपपत्ति अतः भावः प्रधान-

भावमात्रं सामान्यमर्थः, घटादिविशेषभावमपि तस्यापाम्यादिविशेषस्य भावानुरोधात् सामान्योपसर्जनविशेषप्रधानमभिधास्यामि, एवं तावद्घटो भाव इत्येतदयुक्तम्, स्यान्मतं घटस्य भावो विशेषस्य सम्बन्धिना सम्बन्धघटना, यथा घटस्य विनष्टस्य कपालानि अभावस्य भावहेतुत्वात् निरुद्धस्य कपालानि हि घटविरोधहेतुकानि उत्पद्यन्ते, तदुपकारित्वात्, किमिव ? यथाङ्कुरस्य बीजं निवर्तमानमुपकारीति, एतदभाव्यस्य भावः कस्मात् ? तदभावसत्त्वाविशेषात् खपुष्पवदेवाविशेषः, इति पूर्वोक्तपदार्थविरोधाविशेषाद्युपपत्तिविरोधादिग्रन्थेनावर्तितं मन्त्रसमर्थिमिश्रमिति—घटस्यासत्त्वं नाम त्वया कल्पितमन्यत्र कुतोऽन्यत् कार्यम्, तदसमर्थविकल्पत्वात्, घटपटवत्, विकल्पासामर्थ्ये चाऽसत्कार्यवादिनामपि भावत्वाभ्युपगमाविरोधोपसंहारेण विशेषविरोधोपयोगप्रसङ्गात् स्वरूपविरोध इति ।

आह—

ननु विशेषाः प्रत्यक्षत एवोपलभ्यन्त इत्यत्रोच्यते दृश्यमानत्वेऽपि यथा दृश्यते तथा तस्याभवनादसत्त्वं दृष्टं यथा मृगतृष्णिकासलिलगन्धर्वनगरादि, मृगतृष्णिकागन्धर्वनगरयोर्हि भवनस्य पृथग्भावेनाभवनात् सलिलनगरयोरसत्त्वं दृष्टं तथा सामान्योपसर्जनतायां विशेषस्य, भयोऽप्येत त्वया शीतादिभीतादिविशेषाभावात्तयोः स्यादसत्त्वम्, नावश्यं विशेषे घटादौ पृथिवीविशेषैर्भाव्यम्, यदि स्युर्विशेषे विशेषा अविशेष एव स्याद्विशेषः सामान्यमेव विशेषवत्त्वात्, धूम्यत्वपृथिव्यादिसामान्यवदिति ।

ननु विशेष इत्यादि, सामान्योपसर्जनो विशेषः प्रत्यक्षत एवोपलभ्यते तस्मात् तदविरोधं कल्पनेनात्रोच्यते—दृश्यमानत्वेऽपीत्यादि, प्रत्यक्षव्यभिचारप्रदर्शनसाधनम् यथा दृश्यते तथा तस्याभवनादसत्त्वं दृष्टम् यथा मृगतृष्णिकेत्यादि दृष्टान्तः, तद्व्याख्या—मृगतृष्णिकागन्धर्वनगरयोर्हीत्यादि, भवनस्य

सर्वं सम्भव इति भावः । घटो न भावः किन्तु भावाश्रितः घटस्य भाव इति सम्बन्धघटना भेदावगमात्, तथा च विनष्टे घटे भावो भवति यथा घटे विनष्टे कपालानि भवन्ति विरोधरूपेऽभावे हि भावस्य हेतुः ... अविरोधात् ... भवनात्, घटो हि भावस्योपकारित्वं ... निवर्तमाना यथा बीजं निवर्तमानमङ्कुरस्योपकारि भवति, एवं घटो न भावः इत्याशङ्क्य स्याद्भवतमिति न हि घटः सर्वं भावः किन्तु घटस्य भावः यथा घटस्य कपालानि, पूर्वभावाभावोत्तरभावः ... इति निवृत्तो घटः कपालहेतुः यथा निवर्तमानं बीजमङ्कुरस्य तथा भावे घटो हेतुरिति भावः । नाभावो भावहेतुरिति समाधत्ते—भाव्यस्येति अभावस्य ... सम्बन्धी भाव इत्यर्थः । तत्र हेतुमाह—तदभावसत्त्वाविशेषादिति अभावो हि न सन् खपुष्पवत् तस्य ... सर्वं स्यात्, अतः ... विशेषेऽभावादुपपत्तेः पूर्वोक्तविभावादिषु एकत्वम् न एव ... अपि ... दर्शनात्—इति पूर्वोक्तवदिति । ... सर्वं ... घटस्यासत्त्वं नामेति, एवं ... तदेव ... । एवं ... इत्याशङ्क्य—... इति । ननु सामान्योपसर्जनो विशेषः प्रत्यक्षत एवोपलभ्यते ... नन्वथ विशेष इति । व्याख्याति—सामान्योपसर्जन इति, स्पष्टम् । ... विशेष इति यथा दृश्यते न तथा तस्य भवनमित्यपि ... प्रत्यक्षेति ... यथा दृश्यते ... इत्यपि भावः । दृष्टान्तमाह—मृगतृष्णिकेति ... ... न तु ... पृथग्भावेन भवनं ... सामान्योपसर्जनविशेषे सामान्यान्तर्भावात् ... पृथग्भावेनाभवनात् ...

[1] सि. छ इत्यनुग्रह ।

पृथग्भावेन[ा]भवनात्[अ]परमार्थसत्त्वात् सलिलनगरयोरसत्त्व इह यथा तथा सामान्योपलब्धतायां विशेषस्य प्रत्यक्षत्वेऽप्यसत्त्वमिति, अथोच्येत तथा शीतादीतानि, मृगतृष्णिकासलिले शीतमृदुद्रवतादि विशेषाभावात् गन्धर्वनगरे [नगरे] दृश्यमानजीवाजीवविशेषधर्माभावात् स्यादसत्त्वम्, नानयं विशेषे घटपटादौ पृथिवी[वि]शेषोऽस्मिन्सिकतादिभेदैर्भाव्यम्, यतो विशेषासत्त्वादसत्त्वं कल्प्येत, यदि स्युर्विशेषे विशेषा अविशेष एव स्यात्सामान्यमेव—अन्यस्य एव स्याद्विशेषः, विशेषत्वस्मात् सद्भ्यन्तस्पृथिव्यादि सामान्यवत् ।

अत्राचार्य आह—

अपि च वयमप्येतदेव ब्रूमोऽविशेष एव स्यादिति यदि तथा भवनेन विशेषेण विना भवेदन्यो विशेष एव निःसामान्यः स च नास्ति खपुष्पवत्, नापि सामान्यमेव निर्विशेषम् तथा तथा वस्तुनोऽभवनात्, मृगतृष्णिकाऽन्याकृतजलविशेषापि किं शीतादिभेदा न भवति? न भावाभावावेव, यथा वाऽसौ विशेषभावाभावात् नास्ति, तथा घटादिः विशेषोऽप्यभावाभावाभ्यास्ति, यदि विशेष एव प्रधानं स्यात् सलिलभावानन्वितमिव घटाद्यपि मृगतृष्णिकाजलवदसत् स्यात् निरुपाख्यत्वात्, उपाख्या हि भवनप्राणिका, इदं सदिति सोपाख्येयेति, ततो न किञ्चित् स्यात्, पृथिव्यादिसामान्येनानुपष्टम्भत्वात्, खपुष्पवत् ।

(अपि चेति) अपि च वयमप्येतदेव ब्रूमः—अन्यस्य एवाविशेषैः सामान्यमेव स्यादिति, यदि तथा भवनेन विशेषेण—आकृत्यात्मनेन विना भवेदन्यो विशेष एव निःसामान्यः स च नास्ति, खपुष्पवत्, नापि

योऽस्ति विशेषस्य प्रत्यक्षत्वेऽप्यसत्त्वं स्यादित्याह—अथतस्येति सामान्यस्याभावत्वस्य सकलस्य मृगतृष्णिकादेः पृथग्भावेनाभवनात् पर्यायसति इव सलिलनगरयो विशेषो सर्वं प्रत्यक्षयोरपि तथा सामान्यमपि भवनात्मकस्य पृथग्भावेन भवनाभावत्वात् प्रत्यक्षमपि विशेषस्यासत्त्वमिति भावः । सलिलगन्धर्वनगरयोर्मृगतृष्णिकासलिलगन्धर्वनगरयोरसत्त्वासत्त्वः स्यादसत्त्वमिति प्रकृत—अथोच्येतेति । यतोऽत्र शीतलत्वमृदुत्वद्रवत्वादिधर्मा मृगतृष्णिकासलिले नास्तीति अतस्य गन्धर्वनगरे भवनस्य विशेषः प्रत्यक्षा जीवाजीवादिविशेषरूपा धर्मा न सन्तीति दर्शयति—गन्धर्वनगर इति । तस्मात्तयोरसत्त्वं भवतु नामासत्त्वं । परन्तु विशेषे न विशेषा अभ्युपगन्तुं शक्या इत्याह—नानयमिति घटादिविशेषो पृथिवीविशेषा ये अस्मिन्यतिरेकेण न स्यात् भवितुं कल्पोऽपि विशेषस्य विशेषत्वे सम्भवति यदि हि विशेषेऽस्मिन् विशेषाभावात्तस्य विशेष इति यदि युज्येतेति भावः । कुतो विशेषस्य विशेषा न सम्भवन्तीत्याह—यदि स्युर्विशेष इति, विशेषस्य विशेषत्वे तस्य विशेषत्वं तत्त्वेन न स्यात् विशेषत्वस्य सामान्यत्वप्राप्तेः सामान्यमेव स्यात् सत् इत्थं पृथिव्यादि यथा विशेषत्वात् सामान्यं स्यादिति भावः । अत्राऽऽचार्य उपक्रमते—अपि चेति । वयमप्येतमेव ब्रूमो यदि भवनेन विना विशेषो भवेत्तर्हि स निर्विशेषोऽन्यस्य एव स्यादिति व्याचष्टे—अपि च वयमपीति । एतदेव समर्थयति—यदि तथेति । विशेष एव निःसामान्य इति । भवनं हि आकृत्यात्मको विशेषः तेन विना भवनस्य स्यात्, सोऽन्यथा विशेष एव निःसामान्यः स्यात्, नास्ति च तादृशो विशेषः खपुष्पवदिति भावः । एवं निःसामान्यविशेषाभावमुक्त्वा निर्विशेषसामान्याभावमाह—नापीति तथा भवनेन विशेषेण विना यो भवेत् तद सामान्यमेव निर्विशेषम्, तथाविधवस्तुनोऽभवनात् न हि भवनस्वभावाविभावं वस्तु भवितुमर्हतीति भावः । भवनस्य विना विशेषो नास्तीत्यस्य विशेषेण विनाऽन्यथा भवतीति वैयक्तिकम्-

१ सि. क्ष. डे. ब. शीतार्द्रदीतानि । २ सि. क्ष. डे. के व्यस्तयरी । ३ सि. क्ष. डे. ब. °भवनात्मनस्य । ४ सि. क्ष. डे. डा. °र्गतं सत्त्व ।

भावमात्रं सामान्यसर्वं घटादिविशेषभावमपि तस्याभावाद्विशेषस्य भावानुरोधात् सामान्योपसर्जनविशेषप्रधानप्रतिज्ञाहानिः, एवं तावद्घटो भाव इत्येतदयुक्तम्, यस्माद् घटस्य भावो विशेषस्य सम्बन्धिना सम्बन्धापत्त्या, यथा घटस्य विनष्टस्य कपालानि, अभावस्य भावहेतुत्वात् निरुद्धस्य, कपालानि हि घटनिरोधहेतुकानि व्यपदिश्यन्ते तदुपकारित्वात्, किमिव ? यथाङ्कुरस्य बीजं निवर्तमानमुपकारीति एवमभावस्य भावः कस्मात् ? तदभावस्यावशेषात् तदुपकारेणाविशेषः, इति पूर्वोक्तनयाविर्भावतिरोभावानुपपत्तिविरोधाविरुद्धेनानादीर्घ मन्वमतिविशिष्टि—यदेतदसत्त्वं नाम त्वया कल्प्यते ततोऽन्यत् कार्यम्, तदसमर्थ विकल्पत्वात् घटपटवत्, विकल्पासामर्थ्यं वाऽसत्कार्ययोरित्यादि यावत्स्वघनाविर्भावतिरोभावाभ्यन्तरेण विशेषविरोधोपयोगप्रसङ्गात् स्वरूपविरोध इति ।

आह—

ननु विशेषः प्रत्यक्ष एवोपलभ्यत इत्यत्रोच्यते दृश्यमानत्वेऽपि यथा दृश्यते तथा तस्याभवनादसत्त्वं दृष्टं यथा मृगतृष्णिकासलिलगन्धर्वनगरादि, मृगतृष्णिकागन्धर्वनगरयोर्हि भवनस्य पृथग्भावेनाभवनात् सलिलनगरयोरसत्त्वं दृष्टं तथा सामान्योपसर्जनतायां विशेषस्य कथमेव त्वया शीतादिवीर्यादिविशेषाभावात्तयोः स्यादसत्त्वम्, नावश्यं विशेषे घटादौ पृथिवीविशेषैर्भाव्यम्, यदि स्युर्विशेषे विशेषा अविशेष एव स्याद्विशेषः सामान्यमेव विशेषपरत्वात्, सद्द्रव्यत्वपृथिव्यादिसामान्यवदिति ।

ननु विशेष इत्यादि, सामान्योपसर्जनो विशेषः प्रत्यक्ष एवोपलभ्यते तस्माद् दृश्यविरुद्धं कस्मादित्यत्रोच्यते—दृश्यमानत्वेऽपीत्यादि प्रत्यक्षस्य व्यभिचारप्रदर्शनसाधनम् यथा दृश्यते तथा तस्याभवनादसत्त्वं दृष्टम् यथा मृगतृष्णिकेत्यादि दृष्टान्तः, तद्व्याख्या—मृगतृष्णिकागन्धर्वनगरयोर्हीत्यादि भवनस्य

सर्वं सम्पन्न इति भावः । घटो न भावः किन्तु घटादिरेव भवन भाव इति सम्बन्धाभाव मेवाभ्युपगमात्, तत्र न निरुद्धे घटे भावो भवति यथा घटे निरुद्धे कपालानि भवन्ति निरोधस्योऽभावो हि भावस्य हेतुः अविरोधात्, कथम-भवनात्, घटो हि भावस्योपकारीव सर्वं निवर्तमानं यथा बीजं निवर्तमानमङ्कुरस्योपकारि भवति, एवं घटो न भाव स्यादभूत-स्यात्मतमिति न हि घटः सर्वं भावः किन्तु घटस्य भावः यथा घटस्य कपालानि, पूर्वकालानन्तर भाव अतएव इति निरुद्धो घट कपालहेतुः यथा निवर्तमानं बीजमङ्कुरस्य तथा भावे घटो हेतुरिति भावः । भावाभावे भावहेतुरिति व्याख्यो—भावस्येति अभावमङ्कुरसम्बन्धी भाव इत्यर्थः । तत्र हेतुमाह—तदभावस्याविशेषादिति अभावो हि न एव अनुपपन्न तस्य भावः सर्वं स्यात्, अतएव आविर्भावतिरोभावविरोधानुपपत्ते पूर्वोक्तभावाविरोधेन पृथग्विरोधात् च एव मन्योऽप्यपि भाव्य तदेवाह—इति पूर्वोक्तवदिति । तर्हि मन्वं दर्शयति—यदेतदसत्त्वं नामेति एवं विकल्पविकल्पत्वादिभिरेव, तदेव दृश्यम् । एतत्र विशेषत्वमेवाबोधितं मन्यतोऽस्याह—स्वरूपविरोध इति । ननु सामान्योपसर्जनो विशेषः प्रत्यक्ष एवोपलभ्यते तस्मादसत्त्वाविशेषादविशेषत्वप्रसङ्गो प्रत्यक्षविरोधित्वादयुक्तः—ननु विशेष इति । भावयेति—सामान्योपसर्जन इति स्पष्टम् । तस्य प्रत्यक्षत्वे दृश्यते विशेष इति पर यथा दृश्यते न तथा तस्य भवनं भवतोऽप्यविशुद्धत्वात् प्रत्यक्षेति प्रत्यक्षतो यथा दृश्यते तद्व्यभिचारेणानुपपन्नत्वात् दृश्यतामिति भावः । दृष्टान्तमाह—मृगतृष्णिकेति मृगतृष्णिकागन्धर्वनगरात्मा भवत्यनयोः सलिलनगरयोरभावात् येनैव रूपेण दर्शनात् तेनैव भावो न हि तयोः पृथग्भावेन भवनं दृश्यतेऽनयोरसत्त्वमेवं सामान्योपसर्जनविशेषस्य सामान्यस्य भवनात् पृथग्भावेनाभवनात् सलिलनगर

1 सि क. इत्यनुपपत्तः ।

अत्यन्तमन्यस्य पृथिवीद्रव्यस्य वैलक्षण्यात् सर्वस्य द्रव्यगणस्य व्यतिरेकेण निरन्वयो निरुपाख्यः कश्चिदेवा वाच्योऽवस्तुरूपोऽर्थः कस्मात् स्यात् अन्वयरहितत्वात्, अत एव चेत्यादि, यस्मादन्वयरहितत्वम् निरुपाख्यसामान्यः तस्मान्मिथ्यादर्शनाविरत्यादिजीवकर्मसम्बन्धसम्यक्त्वाद्यन्वयाभावान्नरकादिगतिविशेषसुखदुःखफलकारणसंसारविशेषार्थमप्रवृत्तौ पुण्यपापकर्मणोरनुपपत्तिः तदनुपपत्तेः संसारानुपपत्तिः, तत्प्रतिपक्षसम्यग्दर्शनादिपरिणामविशेषानुपपत्तिः, तत्साध्यमोक्षानुपपत्तिरपि, ततः शास्त्राभ्यासादिपुरुषकारानुपपत्तिः, अनियततयाऽप्रवृत्तेः ।

अथ मा भूवन्नेते दोषा इति तथानियतप्रवृत्तिरिष्यते तत —

सत्याञ्च तथानियतप्रवृत्तौ जीवो नारकः संसारी मुक्त इत्यादिवत् पृथिवी घट इत्यन्वयप्राधान्यमेवैष्टव्यम्, विशेषस्तु घटः पृथिवीमनुवर्त्तते, लोके प्रधानं अनुवर्त्यते, गुणस्त्वनुवर्त्तते नीलोत्पलवत्, तदापि विशेषानुवृत्तेरुक्तवदेति चेत्, विशेषाभावादिति पूर्वनयेषु बहुधा भावितत्वान्न विशेषैकान्तपक्षः सामान्यं शक्नोत्यत्यन्तं निवर्त्तयितुम्, नापि सामान्यैकान्तपक्षो विशेषपक्षमतस्तौ न क्षमौ ।

(सत्याञ्चेति) सत्याञ्च तथानियतप्रवृत्तौ जीवकर्मसम्बन्धसंसारमोक्षादिक्रमयां जीवो नारकः संसारी मुक्त इत्यादिवत् पृथिवी घट इत्यन्वयप्राधान्यमेवैष्टव्यम्, विशेषस्तु घटः पृथिवीमनुवर्त्तते, जीवस्य नारकत्वादिः, कस्मात्? यस्माल्लोके प्रधानं अनुवर्त्यते न गुणः, गुणस्त्वनुवर्त्तते, न प्रधानम्,

---

कस्माच्च स्यात्? येन निरुपाख्यत्वमस्येत्याशङ्कायामाह-अत्यन्तमन्यस्येति विलक्षणत्वमित्यर्थः । हेतुमाह-अन्वयेति । अन्वयरहितत्वाविचारकत्वाभावे दोषान्तरमाह-यस्मादिति पुण्यपापकर्मणोः कारणतिरोधे पुण्यपापकर्मणोः प्रवृत्तिर्निमित्तत्वम्, मिथ्यादर्शनादय नरकादिचतुर्गतिविशेषेषु सुखदुःखफलसम्पन्नकयोः पुण्यपापकर्मणी कारणमिति जीवकर्मसम्बन्धस्यान्वयसम्बद्धता जीवकर्मसम्बन्धस्य मिथ्यादर्शनादिहेतुक इति सिद्धान्तः तत्र यदि सामान्यरहितमुच्यते तदा जीवकर्मसम्बन्धसन्तानरूपसामान्याभावात् कथं पुण्यपापकर्मणी उपपद्येते इति भावः । एवञ्च संसारोऽपि न स्यादित्याह-तदनुपपत्तेरिति पुण्यपापकर्मानुपपत्तेरित्यर्थः । पुण्यपापकर्मानुपपत्तेर्वाऽऽत्मनः प्रतिपक्षसम्यग्दर्शनादिपरिणामो न स्यादित्याह तत्प्रतिपक्षेति पुण्यपापकर्मप्रतिपक्षेत्यर्थः । तत्प्रतिपक्षपरिणामविशेषाभावे तत्साध्यो मोक्षोऽपि न स्यादित्याह-तत्साध्येति । एवं मोक्षाभावे शास्त्राभ्यासादिप्रयासोऽपि न स्यादित्याह-तत इति । अत्र हेतु नियतप्रवृत्त्यभावादिति हेतुमाह-अनियततेति । एवं तदोषपरिजिहीर्षुणानया तेन प्रकारेण नियतप्रवृत्त्युपगमेऽपि सामान्यस्यान्वयस्य प्राधान्यं प्रदर्शयन्नाह-सत्याञ्चेति । व्याचष्टे सत्याञ्च तथानियतप्रवृत्तावपीति जीव कर्मसम्बन्धमनुभवन् संसरति यदि, मुक्तश्च तत्कर्मणामभावात् चेति नियमप्रवृत्तेरभ्युपगमे नारकत्वस्य तिर्यङ्मनुष्यत्वादिविशेषेऽनुवर्त्तमानत्वम् सामान्यस्य जीवस्य प्राधान्यम्, अन्यथा यस्य नारकादित्वं स्यात् तथा चाप्रधानं विशेष सामान्यं प्रधानमित्यनुरेवमिति भावः । पृथिव्याः प्राधान्यं दर्शयति-पृथिवी घट इतीति । अन्वयभूता पृथिव्येव प्रधानं घटस्तु गुणभूतो विशेषः पृथिव्याः पृथग्भावात् एवं नारकत्वादिविशेषे जीवमनुवर्त्ततीति दर्शयति-विशेषस्त्विति । तत्र हेतुमाह-यस्माल्लोक इति गुणः प्रधानमनुवर्त्तते न तु प्रधानेन गुणोऽनुवर्त्यते त्वान्वयात् गुणस्त्वनुवर्त्त, न तु प्रधानम् यथा नीलोत्पलयोः प्रधानमुत्पलं इत्यन्वयात् नैवम् एवं [illegible] नीलो गुणः [illegible] अन्यो जीवत्वात् [illegible] जीवस्य तद्गुणत्वेनैव विवक्षितो न एवम्भावो [illegible] प्रधानत्वादिति भावः । ननु या यथार्थं [illegible] दर्शयति [illegible] [illegible] उक्तात् सामान्यमूलत्वात् [illegible] च विशेषस्य धर्मित्वात् न एव सामान्यानुपगमात्

सामान्यमेव निर्दिष्टम्, घटावस्थानापत्तिमात्रविशेषपक्षस्य तथा तथा वस्तुनोऽभवनात्, यदेैधर्म्यं मृगतृष्णिकायामित्यस्य आह–मृगतृष्णिका अम्भाद्येवमविशेषाऽपि किं धीताविभेदा न भवतीति अत्रनिर्णयार्थं प्रश्नः, व्याकरणं चास्य भावाभावाभ्यां यथा वाऽऽसादिति, यथा मृगतृष्णिकानि भावाभावाभासिनि तथा घटादिर्विशेषोऽप्ययमभावाभावाभासि, परस्य तु दोषः, यदि विशेष एव प्रधानं स्यात् सन्निकर्षाभावेऽपि सन्निकर्षवचनेनानन्वित घटादपि मृगतृष्णिकाम्भस्वभवत् स्यात्, निरुपाख्यत्वात्, उपाख्या हि भवनप्रापिता किमिस्तुपीत्यपेक्षत आह–इय तदिति सोपाख्येयेति, पृथिवीति द्रव्यं सद् घट इति वा, ततः किं ? न किञ्चित् स्यात्, कस्मात् ? पृथिव्यादिसामान्येनानुपलक्ष्यत्वात्, खपुष्पवत्।

किञ्चान्यत्—

तथा कस्माद्घटपटादिविशिष्टवृत्त्येव उदकाम्बलनानिलाकाशादिना पृथिव्यादि न व्यज्यते ? अत्यन्तमन्यस्य पृथिवीद्रव्यस्य वैलक्षण्याद्वा सर्वद्रव्यगणव्यतिरेकेण निरन्वयो निरुपाख्यः कश्चिदेवार्थः कस्मान्न स्यात् ? अत एव च मिथ्यादर्शनाविरमस्य पनीयकर्मबन्धस्य च तत्फलस्याप्यन्वयाभावात् पुण्यपापकर्मानुपपत्तेः संसारानुपपत्तिः मोक्षानुपपत्तिः, तत्प्रतिपक्षपरिणामविशेषानुपपत्तेः, पुरुषकारानुपपत्तिश्च, अभिमततत्त्वायामवृत्तेः।

तथा कस्मादित्यादि, यदि विशेषः सामान्यनिरपेक्षः स्यात् ततो यथा घटः पट इति वा विशिष्टया वृत्त्या पृथिव्यादि व्यज्यते तथोदकाम्बलनानिलाकाशादिना कस्मान्न व्यज्यते पृथिवीविशिष्टेन,

---

अत्र–वैधर्म्यमिति । अम्भाद्यवमविशेषा मृगतृष्णिका येन हेतुना धीताविभेदा न भवतीति पृच्छति–मृगतृष्णिकेति यथिता अविमाऽऽम्भस्त्व विशेषस्य मृगतृष्णिकायां सूचिता मृगतृष्णिकादेः अभाविविशेषमनवभासात् तत्त्वमिति सूत्रे व्याकरणमिति व्याचष्टे, भावाभावाभ्यामिति हेतु भावस्य–विशेषसामान्यस्य चाऽऽभावाविर्भावं । एतदेव निरूपयति यथा वाऽऽसादितीति । दार्ष्टान्तिकमाह–तथा घटादिरिति सामान्यरूपस्य भावाभावाभासिविशेषोऽपि वातीति विशेषाभावाभासो दोष इति भाव । दूषणमाह–यदि विशेष एवेति सन्निकर्षाभावेनानन्वितस्य मृगतृष्णिकाम्भस इव भवनं स्यादिति भाव । अत्र हेतुमाह–निरुपाख्यत्वादिति अत्यन्ताविविक्तस्य सामान्यानुपाख्यत्वादिति भाव । अत्रार्थे निमित्त निरूपणमाह–उपाख्या हीति, भवनमेवोपाख्या निमित्तमिति भाव । अत्र निमित्तुपन्यासेन दृष्टान्तमाह–इयं तदितीति अर्थं व्याचष्टे पृथिवीति द्रव्यमिति सदिति सोपाख्येन व्यपदेशाभावे तदोपाख्यानुपपन्नत्वादित्याख्यया व्यापि पृथ्वीति–शब्दस्याभावान् स्यादिति भाव । निरुपाख्यत्वे किं व्याप्तिमाह–न किञ्चित् स्यादिति व्यापि विमपि न उपलभ्यते । हेतुमाह–पृथिव्यादीति पृथिवीत्वादिसामान्येनानन्वितत्वात्, यथा खपुष्पादि पृथिव्यादिसामान्यानन्वितत्वात् किञ्चित् तथा घटादपि स्यादिति भाव । विशेषस्य सामान्यनिरपेक्षतायां दोषान्तरमाह–तथा कस्मादिति । सामान्यं हि व्यक्तविनिर्मुक्तम्, व्यक्तिविशिष्टतन्मात्रेणैव पृथिव्यादिसामान्यं व्यज्यते सामान्यस्य व्यापकत्वेऽपि व्यक्त्यधीनत्वेन पृथिव्यादेरपेक्षणात्, न तु पृथिवीविशेष स्वरूपमभिव्यक्तिना पृथिव्या अभिव्यक्ति तेन सह तया विशिष्टतयोरभावेन निरपेक्षत्वात्, एवं विशेषो यदि सामान्येनान्वितो न स्यात्तर्हि घटादिना पृथिव्यादेरभिव्यक्तिवदुदकादिनापि कुतो न व्यज्यते पृथिव्यादि, सामान्यनिरपेक्षत्वसाम्यात्, विशिष्टतायास्तत्त्वात्मकत्वेनाभावेन व्यज्येत–यदि विशेष इति । व्यक्तिरूपेणापि नियमस्य पृथिव्यादित्वस्य सम्बन्धाभावात्, सर्वद्रव्यगणेन सह तस्य व्यतिरेकात्–अत्यन्तमन्यत्वात् निरन्वयोऽयं स्वाभाविकः निरुपाख्योऽयं स्वात्मना कश्चिदर्थ

---

1 सि॰ क॰ डे॰ ड॰ °व्यापादिव । 2 सि॰ क॰ °व्यज्यत । 3 सि॰ क॰ डे॰ डे॰ °पाख्यादेत्येवत आह । 4 सि॰ क॰ ड॰ सोपाख्येयेव ।

समासविशेषेणापि समासवृत्तको गत्यर्थः, एकपर्यायविस्पृष्टके पदस्यार्थस्य भावनार्थमुदाहरणम्—यत्र हि भवनमग्नीन्धनयोरिति, तत्र तावदग्नीन्धनयोरेकत्व नानात्वं[उभयत्वं]मनुभयत्व अन्यतरप्रधानोपसर्जनता च स्यादिति विकल्प्य सर्वथाऽप्यघटमानत्वमेवेति मन्यमानो दृष्टान्तार्थः, तद्विकल्पानुपपत्तेः ।

तत्रैकत्वं तावन्न घटत इति ब्रूम , कथम् ?

यथा नैकत्वमग्नेरिन्धनेन सह घटते, यदि स्यादेकत्वम् , दग्धेन्धनवदग्निर्न प्रवर्तेत, अनिन्धनप्रवृत्तेश्चाभावदेवाग्नेः, अखिमवतिविचतिपचतिवर्ततयः सन्निपातपद्याः सत्तार्थाः इति वचनादप्रवृत्त्यसत्त्वार्थत्वात् , न प्रवर्तते, एकत्वाद्दग्धेन्धनवत् ।

यथा नैकत्वमित्यादि, तदेकत्वमग्नेरिन्धने[न]सह, इन्धनस्याग्निना वा सह स्यात्, 'सहयुक्तेऽप्रधाने' (पा० २–३–१९) तृतीया, इन्धनमेवाग्निरेव वा स्यात्, तत्र तावदग्नेरिन्धनेन सहैकत्व मन्यते, तेन सहैकत्वात् तत्स्वाभाव्यात् वक्ष्यते दोषोऽसत्त्व यदि स्यादेकत्वमग्नेरिन्धने[न], दग्धेन्धनवदग्निरिन्धनरहितत्वात् प्रवर्तेत, यथा दग्धेन्धनोऽग्निर्न प्रवर्तते, तथाऽस्याप्रवृत्तिरनिन्धनप्रवृत्तेश्चाभावदेवाग्नेः स्यात्, 'अखिमवतिविचतिपचतिवर्ततयः सन्निपातपद्याः सत्तार्थाः' इति वचनादप्रवृत्ति[स]त्त्वार्थत्वात्, अप्रवृत्तेरसत्त्वपर्यायत्वात् तदुपसंहृत्य साधनमाह—न प्रवर्तते, एकत्वाद्दग्धेन्धनवत्—यथा दग्धेन्धनोऽग्निरिन्धनेन सहैकत्वादिन्धनैकत्वविरहेणाप्रवर्तमानत्वादेकत्वादप्रवृत्तेरसत्त्वम् तथाऽग्निरिति ।

अत्राह—

यथेन्धनमग्निना सहैकत्वेऽप्यनुपजाताग्निकं प्रवर्तमानं दृष्टम् तथेन्धनेन सहैकत्वे प्रवर्तितुमर्हत्यग्निः सूक्ष्मावस्थ इति चेत् को वा ब्रवीत्यग्निरहितावस्थायामिन्धनत्वम्,

एवं विकल्पा यस्मिन् वस्तुनि न प्रसरन्ति तथाविधं वस्त्वस्मदादीनामदृष्टपूर्वम् । भावनिर्देशार्थं [illegible] दर्शयति भावनार्थं दृष्टान्तं दर्शयति—यत्र हि भवनमिति अग्नीन्धनयोः [illegible] कथं भवतीत्यर्थः । अग्नीन्धनयोरेकत्वादिस्वभावत्व विकल्पान् प्रदर्शयति—तत्र तावदिति । अग्नीन्धनयोरेकत्वादिविकल्पानुपपत्तेर[illegible] हेतुं दर्शयति—तद्विकल्पानुपपत्तेरिति । तयोरेकत्वाभावमाविष्करोति—यथा नैकत्वमिति । यदग्नीन्धनयोरेकत्वमुच्यते तत् किमग्नेरिन्धनेन सह इन्धनस्याग्निना वा सह स्यात्, आद्ये पक्षेऽग्निः प्रधानमिन्धनमप्रधानम् अन्ये इन्धनं प्रधानमग्निरप्रधानम्, सहयुक्तेऽप्रधाने तृतीयायाः 'सहयुक्तेऽप्रधाने' इति सूत्रेण विहितत्वात् किं वैतावेकत्वमेव स्यात् उतेन्धनमग्निरेव वा स्यादिति, तत्र प्रथमे [illegible] स्यादित्याह तदेकत्वमिति । [illegible] सहाग्नेरेकत्वं दर्शयति—तत्र तावदिति । इन्धनेन सहाग्नेरेकत्वे [illegible] यथा दग्धेन्धनोऽग्निर्न प्रवर्तते तथाऽयमप्यग्निर्न प्रवर्तेत [illegible] तस्य स्यादित्याह—यदि स्यादेकत्वमिति । इन्धनरहितत्वात् [illegible] एव स्यादस्माद् अनिन्धनत्वेति । [illegible] पर्यायत्वात् [illegible] अस्तित्वमप्यनीति । [illegible] न प्रवर्तेत इति [illegible] । हेतुमाह [illegible]—यथेति । [illegible]—यथेन्धनमिति । अग्निना सहैकत्वमात्रे [illegible] सूक्ष्मतया [illegible]—यथेन्धनमग्निरिति । अग्निना सहैकत्वमात्र[illegible] नास्तीति तस्य [illegible]

१ सि॰ क्ष॰ पा॰ टे॰ [illegible] । २ सि॰ क्ष॰ पा॰ टे॰ [illegible] । ३ सि॰ क्ष॰ पा॰ टे॰ °[illegible] । ४ सि॰ क्ष॰ पा॰ टे॰ [illegible] । ५ सि॰ क्ष॰ पा॰ टे॰ °[illegible] ।

मीऽयोऽस्त्वनिति, सत्यपि विशेषानुवृत्तरूपत्वमपि नम् — यस्मान्न ननूक्तं — 'अर्थसम्बन्धविशेषस्य वाच्यवाचकतेष्यते । तस्य पूर्वमदृष्टत्वात् मामा माऽनुपसर्जनात् ॥ (प्र स) इत्यादिप्रपञ्चेन विशेष एव सामान्येनानुवर्त्यते, न विशेषत्व सामान्यमिति, एतर्ह, विशेषाभावात्, स एव हि विशेषो नैरात्मीति पूर्वनयेषु बहुधा भावितम्, तस्मात्र विशेषकान्तपक्षः सामान्य शब्दो[ऽ]स्य निरूपयितुम्, नापि सामान्यैकान्तपक्षो विशेषपक्षसमर्थोऽसौ न क्षमा — सामान्यविशेषकान्तपक्षा ।

वक्ष्यमाणमवचनीयं वस्तु प्रतिपत्तव्यम्, नाप्यभावनिरन्वयं न भाव एव नाविशेषम्, न विशेषापसर्जनम्, न विशेष एव, नाभयोपसर्जनं नोभयप्रधानम्, सर्वविकल्पेष्वणुमात्रापविदापदर्शनात् अवचनीयभावविशेषकारणकार्यकानेकप्रधानोपसर्जनादिविकल्पं अवक्तव्यतत्त्वं वस्तु भवति, एवं हि भवनमर्थो घनवत् तद्विकल्पानुपपत्तेः ।

(वक्ष्यमाणमिति) वक्ष्यमाणमनन्तरं वस्तु प्रतिपत्तव्यमवचनीयम् भवनविशेषाभ्यां कारणकार्यरूपाभ्यामेकानेकाभ्यां प्रधानोपसर्जनरूपाभ्यामित्यादिभिर्विकल्पैर्निरस्यमानमवक्तव्यतत्त्वं वस्तु भवति नाप्यभावनिरन्वयं न तदुपसर्जनम् भावोपसर्जनं विशेषप्रधानम् वस्तित्यभिसम्बध्यते, न भाव एव निरस्तविशेषः, तथा नाविशेषं — विशेषमुख्यं न विशेषोपसर्जनं सामान्यं प्रधानमिति न विशेष एवात्यन्तव्यतिरिक्तसामान्यः नाभयोपसर्जनं वस्तु, अत्यन्तनिरस्तसमस्तव्यसामान्यविशेषम्, नोभयप्रधानं, अत्यन्तसमस्तसामान्यविशेषम् सर्वविकल्पेष्वणुमात्रापविशेषदर्शनात्, कीदृक् तर्हि वस्तु भवतीत्यत आह — अवचनी-

भावप्रधानत्वादित्यनन्तरसूत्रेऽपि नत्वात् यद्यपि विशेषनिर्देशोऽपि सामान्यमेवेति तदुक्तम विशेषणं प्राप्यते-तदर्थमिति सर्वेषां विशेषानुवृत्तभवनात् विशेषनिष्पत्यनुवृत्ति सामान्यमेवेति चेदिति भाव । पूर्वमेव प्रेषा भाविभ्य तथा सामान्येन विशेष एवानुवर्त्यत इति व्याचष्टे — यस्मान्ननूक्तमिति । अर्थेति अर्थस्य शब्दार्थसम्बन्धी तदर्थविशेषस्य, वाच्यस्य वाचकस्य वाच्यवाचकभावे तदर्थानां विशेषस्य पूर्वमदृष्टत्वेऽपि सामान्यस्योपसर्जनस्याभावेनोत्पत्तेः इति प्रत्युक्तेन सामान्येनानुवर्त्यते न विशेष तथासामान्यमनूद्यमानमिति भाव । पूर्वोक्तेषु इत्यादिषु नयेषु विशेषो नास्तीति भाविताच्च सामान्यस्य पौनःपुन्येन निरन्वयभावादिति । एवमेकान्तविषयत्वं पक्षान्तरसमानत्वं वा सामान्यं विशेषं वा निर्धारितुमशक्यमिदं — तस्मादेवेति । सामान्यविशेषनिराकरणीयं वस्तु प्रतिपत्तव्यमिति कं विशिष्टमाह — वक्ष्यमाणमिति । अवचनीयं न तथाविध भवनविशेषाभ्यामिति । विशेषाभावपक्षे — नाप्यभावादिति, अभावो विशेषः तदभावसहितं सामान्यम् अत्यन्तव्यतिरिक्तो विशेष प्रधानं सामान्योपसर्जनमित्येवं वस्तु न भवतीति भावः । न भाव एवेति भावसामान्यं तदत्यन्तनिरस्तविशेषं वस्तु न भवतीत्यर्थ अत एवं प्रधानोपसर्जनभावो नास्तीति भेदः । तथा नाविशेषमिति विशेषं सामान्यप्रधानं विशेषसर्जनमपि वस्तु न भवतीत्यर्थः । न विशेष एवेति अत्यन्तव्यतिरिक्तसामान्यो विशेष एव वस्तु न भवतीत्यर्थं अत एव न प्रधानोपसर्जनभाव । नोभयोपसर्जनमिति सामान्यं विशेषश्चोभयमप्युपसर्जनम् न यथा तैः स्वरूपं वस्तु न भवतीत्यर्थः । नोभयप्रधानमिति सामान्यं विशेषश्चोभयमपि परस्परनिरपेक्षं स्वतन्त्रं प्रधानमिति वस्तु न भवतीत्यर्थः । कुत एवं तद्वस्तु न भवतीत्यत आह — सर्वविकल्पेष्विति अणुमात्रमपि उपपत्तेरदर्शनात् वस्तु तथाविधं भवति न तु स्वरूपमर्थ इति भाव । किं स्वरूपं तर्हि वस्त्वित्यत्राह अवचनीयमर्थमिति अवचनीयं — अवचनीयत्वात् भावविशेषकारणकार्यैकानेकप्रधानोपसर्जनादिविकल्पा यस्मिन् वस्तुनि,

१ सि. क्ष. छा. डे. तद्विकल्प० । २ सि. क्ष. छा. डे. °माणवचनी ।

समानविशेषेऽपि समासप्रत्ययो गमार्थः, तत्पर्यायविनिमयपुगळके एतस्यार्थस्य भावनार्थमुदाहरणम्— एवं हि भवनमग्नीन्धनवदिति, तत्र तावदग्नीन्धनयोरेकत्वं नानात्व[मुभयत्वं]मनुभयत्वं अन्यतरप्रधानोपसर्जनता वा स्यादिति विकल्प्य सर्वथाऽप्यवक्तव्यतैवेति वक्ष्यमाणो दृष्टान्तार्थः, तद्वैकत्वानुपपत्तेः ।

तत्रैकत्वं तावन्न घटत इति ब्रूमः, कथम्?

यथा नैकत्वमग्नेरिन्धनेन सह घटते, यदि स्यादेकत्वम्, दग्धेन्धनवदग्निर्न प्रवर्तेत, अनिन्धनप्रवृत्त्यभावात्वेनाग्नेः, अस्तिभवतिविद्यतिपद्यतिवर्ततयः सन्निपातषष्ठाः सत्तार्थाः इति वचनादप्रवृत्त्यसत्त्वार्थत्वात्, न प्रवर्तते, एकत्वाद्दग्धेन्धनवत् ।

यथा नैकत्वमित्यादि, तत्रैकत्वमग्नेरिन्धने[न] सह, इन्धनस्याग्निना वा सह स्यात्, 'सहयुक्तेऽप्रधाने' (पा० २–३–१९) तृतीया, इन्धनमेवाग्निरेव वा स्यात्, तत्र तावदग्नेरिन्धनेन सहैकत्वं घटते, तेन सहैकत्वात् तत्प्राधान्यात् तस्मिन्ते दोषोऽसत्त्व, यदि स्यादेकत्वमग्नेरिन्धने[न], दग्धेन्धनवदग्निरिन्धनरहितत्वान्न प्रवर्तेत, यथा दग्धेन्धनोऽग्निर्न प्रवर्तते, तथाऽन्यानप्यनिन्धनप्रवृत्त्यभावत्वेनाग्नेः स्यात्, 'अस्तिभवतिविद्यतिपद्यतिवर्ततयः सन्निपातषष्ठाः सत्तार्थाः' इति वचनादप्रवृत्ति[र]सत्त्वार्थत्वात्, अप्रवृत्तेरसत्त्वपर्यायत्वात् तदुपसंहृत्य साधनमाह—न प्रवर्तते एकत्वाद्दग्धेन्धनवत्—यथा दग्धेन्धनोऽग्निरिन्धनेन सहैकत्वादिन्धनेभ्यतिरेकेणाप्रवर्तमानत्वादेकत्वादप्रवृत्तेरसत् तथाऽग्निरिति ।

अत्राह—

यथेन्धनमग्निना सहैकत्वेऽप्यनुपजाताग्निकं प्रवर्तमानं दृष्टम् तथेन्धनेन सहैकत्वे प्रवर्तितुमर्हत्यग्निः सूक्ष्मावस्थ इति चेत् को वा प्रतीत्यग्निरहितावस्थायामिन्धनत्वम्,

एत [illegible] अस्मिन् वस्तुनि न प्रवर्तन्ते तथाऽपि [illegible] भवतीत्यर्थः । [illegible] भावनार्थं दृष्टान्तं दर्शयति—एवं हि भवनमिति अग्नीन्धनयोरेव [illegible] भवतीत्यर्थः । अग्नीन्धनयोरेकत्वादिभेदभाग विकल्प्य प्रदर्शयति—तत्र तावदिति । अग्नीन्धनयोरेकत्वादिविकल्पानुपपत्तेरवक्तव्यतैवेति हेतुं दर्शयति— तद्वैकत्वानुपपत्तेरिति । तत्रैकत्वानुपपत्तिं दर्शयति—यथा नैकत्वमिति । यदग्नीन्धनयोरेकत्वमुच्यते तत् किमग्नेरिन्धनेन सह, इन्धनस्याग्निना वा सह स्यात् [illegible] प्रधानमिन्धनमप्रधानम् [illegible] प्रधानमग्निरप्रधानम्, 'सहयुक्तेऽप्रधाने' तृतीयायाः 'सहयुक्तेऽप्रधाने' इति सूत्रेण विहितत्वात्, किं वैकत्वेनेन्धनमेव स्यात्, उतेन्धनत्वमग्निरेव वा स्यादिति [illegible] तत्राप्यन्यतरस्यानुपपत्तिरिति व्याचष्टे—तत्रैकत्वमिति । इन्धनेन सहाग्नेरेकत्वं दूषयति—तत्र तावदिति । इन्धनेन सहाग्नेरेकत्वे [illegible] दग्धेन्धनोऽग्निर्न प्रवर्तते तथाऽयमप्यग्निर्न प्रवर्तेत [illegible] यदि स्यादेकत्वमिति । इन्धनरहितत्वात् [illegible] एव स्यादित्याह अनिन्धनेति । प्रवृत्ति [illegible] नास्तीत्याह अस्तिभवतीति । [illegible] दर्शयति—न प्रवर्तेत इति [illegible] । हेतुमाह समर्थयति—यथेति । [illegible] अग्निना सहैकत्वादिति [illegible] यथेन्धनमिति । अग्निना सहैकत्वात् [illegible] सूक्ष्मतया [illegible] तथाऽग्निरप्यनुपजाते [illegible] यथेन्धनमग्निनेति । अग्निना सहैकत्वमात्रमेवेन्धनस्यैव नास्तीति तस्य विवक्षा

१ सि क्ष डे. [illegible] । २ सि. क्ष. डे. [illegible] । ३ सि क्ष डे. [illegible] । ४ सि. क्ष डे [illegible] । ५ सि क्ष डे. [illegible] ।

तदपेक्षत्वादिन्धनत्वस्य, दह्यते दीप्यत इतीन्धनमग्निस्वपरिणतावेव ञि इन्धी दीप्ताविति स्मृतेः दह्यमानमिन्धनं भवति नानिध्यमानं, कारकाणामेव कारकत्वात् ।

यथेन्धनमित्यादि यावत् सूक्ष्मावस्थ इति येन-येनेन्धनमग्निना सहैकत्वेऽप्यनुपजाताग्निकं प्रवर्त्यमानं दृष्टं तथाऽग्निरपीन्धनेन सहैकत्वे प्रवर्तितुमर्हति सूक्ष्मावस्था-कार्याद्गुणेभ्योऽप्यनुमेय इत्यर्थः, तदेवादर्शनेऽप्यग्नि करणादेतुरस्त्येकत्वमिति चेदत्रोच्यते-अत्र ब्रूमः-को वा प्रवीणीत्यादि अग्निरहितावस्थायामिन्धनत्वस्याभावात् विषयाभावेऽनेकाग्निरेवाभासता तदुच्यते-तदपेक्षत्वादिन्धनत्वस्य-दीपनोऽग्नि इन्धनदीपनदहनभस्मीकरणार्थत्वात् तत्परिणतावेवेन्धनमिष्यते दह्यते दीप्यत इतीन्धनमग्निस्वपरिणतावेव, एकत्ववादिनो विशेषेणाग्निपरिणत्याग्नित्वेन्धनत्वयोरभावात् ञि इन्धी दीप्तौ इति स्मृतेः निरग्नित्वादनिध्यमानस्यानिन्धनत्वमत आह-दह्यमानमिन्धनं भवति नानिध्यमानम् किं कारणम् ? कारकाणामेव कारकत्वात्, कर्तृकर्माविवक्षावेशावस्थायामेव कर्तृकर्माविकारकत्व कारकाणामसङ्कीर्णस्वकार्यं स्यात्, नान्यथा, सर्वसङ्करादिप्रसङ्गात् ।

यदप्युक्तं सूक्ष्मावस्थाग्निरिन्धनगत इति, तदपि नोपपद्यत इत्येतत् प्रदर्शनार्थमाह-

सूक्ष्मावस्थत्वेन चाग्नेः दीप्तिविशेषावस्थाप्राप्तिः सामान्यविशेषावस्थयोरन्यत्वे सिद्धे स्यात् तदपि तु चिन्त्यमत्र, सिद्धत्वेऽपि कथमग्नीन्धनयोरेकत्वमुच्यते यथोच्येत नार्हं प्रवीण्यग्नेरिन्धनेन सहैकत्वम् किमिन्धनस्याग्निना सह, यद्यप्यग्नेरिन्धनेन सहैकत्वेऽप्रवृत्तेरसत्त्वं सम्भाव्यते तथापि अदोषस्तेऽस्ति न्यायः तद्यथा-भाविवद्विन्धनाग्न्येकत्वात् दृष्टत्वात् दृष्टा हीन्धनेऽनुपजाताग्निके प्रागभ्युदयस्याग्नेः पश्चाद्व्यक्तिः, उत्तरापरयोरग्न्योर्निर्मथनेन, सहभावश्च द्विष्ठ इति प्रागभ्युत्पत्तेः सत एवाग्नेर्व्यक्तिवदग्नावपीन्धनस्य सत्त्वमेवेति ।

सूक्ष्मावस्थत्वेन चेत्यादि, इन्धनाग्न्यतिरेकेण दीप्तिसामान्यावस्थस्याग्नेः सूक्ष्मादीप्तिर्येनाग्नी-

त्वमापेक्ष तयोरेकत्वस्याभिव्यक्तिरवस्थाऽभावात् नास्त्येवेत्याह को वा प्रवीतीति । तदपेक्षत्वादिन्धनत्वस्याग्नौ इन्धनत्वेन भवतीति दर्शयति-तदपेक्षत्वादिति । ञि इन्धी दीप्ती दीपी दीप्ती इह भस्मीकरणे इतीन्धनदीपनभस्मीकरणार्थेनार्थेन तैजसद्रव्यपरिणतावेवेन्धनत्वानुपजाताग्निसेन्धनत्वेन नास्ति तदपेक्षत्वादिति आचष्टे-दीपनोऽग्निरिति । दीप्तिदहनभस्मीभावाभावे एकत्ववादिमते इन्धनत्वेन्धनत्वयोरग्निश्च नास्त्येवेत्याह एकत्ववादिन इति । अदीप्यमानस्यानिन्धनत्वं ञि इन्धी दीप्ताविति स्मृतिविरोधात् निरग्नेर्हि एकत्ववादिनो तदेवेन्धनत्वेऽनुपजाताग्निके स्यादत आह-दह्यमानमिन्धनं भवतीति । नानिध्यमानमिन्धनं भवति, क्रियोपरञ्जितस्यैव कारकत्वात् न तु क्रियोपरञ्जितस्य, तथा हि सर्वकारकाणां सङ्कीर्णत्वं स्यात् कर्तैव कर्म करणं सम्प्रदानमित्यादिप्रसङ्गेन तस्मात् कर्तृत्वकरणत्वविवक्षया तु न कर्मत्वादिरसङ्कीर्णस्वकार्यत्वम्, तस्मादिध्यमानमेवेन्धनं भवति नान्यदित्याह-कारकाणामेवेति कस्मादिति कारणम्, तत्क्रियाविष्टमेव कारकमिति भाव । तत्राह-कर्तृकर्मादीति । विपक्षे दोषमाह सर्वसङ्करेति प्रकारस्य भवतामपि सर्वकारकत्वमस्य इति भाव । अग्नित्वेन सहैकत्वमेकत्वेऽग्निरनिन्धन तदभावस्य उत्तरत्र प्रतिषेधार्थमनुमेय इति पूर्वं तदनुवादमित्याह-सूक्ष्मावस्थत्वेन चेति । व्याचष्टे-इन्धनाग्न्यतिरेकेणेति इन्धनाविकस्य दीप्तिसामान्यावस्थस्याग्नेर्दीप्तिविशेषावस्थाप्राप्ति भाऽऽहसा इत्येवा-

१ सि डा का डे वचेत भव । २ सि क्ष. डे. डा. ेरवीत्वमेव । ३ सि क्ष. डे भव तवार्चारा । ४ सि. ेनवीमान । ५ सि. क्ष डा. डे. व्याचाग्निम । ६ सि. क्ष डा. डे. मवत्वमिन्व । सि क्ष. डा. डे. व्यान्यममि ।

श्वमिश्च दीमिविशेषावस्थाप्राप्तिर्या तयोरुच्यते, एव गुण्यवस्थस्य गुणावस्थाप्राप्तिः कार्यावस्थस्य कारणावस्था प्राप्तिश्च सामान्यविशेषकार्यकारणगुणप्रधानानामन्यत्वे सिद्धे स्यात्—तथा यद्यु मुच्येत, यदपि तु चिन्त्यमेव एतेषामन्येनम्, सामान्यविशेषावस्थयोर्भेदासिद्धेः सिद्धमभेदः कथममीन्धनस्यारेकत्वमुच्यते, अथोच्येते तानि, स्यान्मतं तन नाह ब्रवीमि-अप्रारिन्धनेन सहैकत्वम्, किन्त्विन्धनस्यामिना सहैकत्वम्, तत्पाख्या—यत एवमग्नित्वानि, मतं यथाऽग्नेरिन्धनेन सहैकत्वेन कचारेकत्वादप्रवृत्तिरेवमिन्धनवदनिन्धनस्य, अथवृत्तेम[ा]मत्वं सम्भाव्यते दोष तथा—एकत्वेऽन्यतरदोषसम्भावनायां सत्यामप्यदोषत्वेऽस्ति स्यामः, तद्यथा-श्वानिष[श्र]ग्नि मात्येकत्वात्, इन्धनस्यामिना सहैकत्वाम भविष्यति दोषः, कस्मात्? दृष्टत्वात्, दृष्टा हि इन्धनेऽनुपजातामिके भागन्यवस्थामः पश्चात्सम्धिरुत्तराधरयोररण्योर्निर्मथनेन, किञ्च यस्मात् सद्भावस्य द्विष्ठ इति, इतिनाव्यस्य हेत्वर्थत्वात्, यथाऽग्निना सहेन्धन भवत्येनमग्निरपीन्धनेन भवतीत्यतः प्रागनुत्पत्तेः सत एवाग्नेर्न्यैकित्वद् भावपीन्धनस्य सत्त्वमेव, अन्यथा सद्भावानुपपत्तेरिति ।

अत्र ब्रूमः—

पठदेव स्य पृष्ठपक्षे—अथ भेदप्रवृत्तिः कथम्? कस्मादेन्धनमभ्यकत्वेन्धनाग्निस्यान्या मरण्यवस्थायामिव ज्वालावस्थायामग्निः? तत्रेन्धनमग्निरेव स्यात्, दहनैकत्वात्, भस्मवत्, भस्मे वाऽग्निरिन्धनमेव स्यात्, इन्धनैकत्वात्, प्राग्वदिति, विकल्पार्थैकत्वव्याघातः, एकत्वे कुतोऽयं विशेषः, इद न सहेदं सहेति, भद्गुतपादिनामिव, एकत्वे मथनक्रियाधारकरणाद्यनुपपत्तेश्च, दृष्टश्चोपकारकव्यापारभेदव्यवहारः ।

दीमिस्वभीन्धनमिना विशिष्टा तयोरुच्यत [illegible] सामान्यविशेषयोर्भेदे सति स्यात्, न हि तयोरभेदे सा निष्पाद्यमाना सम्पद्यते यतः, [illegible] सति [illegible] एवं कार्यकारणयोः गुणप्रधानयोर्भेदे सत्येव कार्यावस्थस्य कारणावस्था प्राप्तिः गुण्यवस्थस्य गुणावस्थाप्राप्तिश्च [illegible] भावः । सामान्यविशेषयोरन्यत्वं नास्त्येव [illegible]—तदपि तु चिन्त्यमेवेति अन्यत्वमनु चिन्त्यमेवेत्यर्थः । [illegible]—सामान्येति । यदि सामान्यविशेषयोर्भेदः स्यात्तर्हि [illegible] तयोरन्योन्यस्मिन् वृत्तेन, न हि [illegible] सिद्धमेवेति । [illegible] [illegible], किन्तु [illegible] स्यान्मतं तवेति । [illegible]-त्वमिति [illegible], अग्निर्न [illegible] [illegible] । [illegible]—एकत्वेऽन्यतरदोषेति । [illegible] तदयति [illegible] दोष इति भावः । [illegible]-त्वादिति [illegible] न [illegible] भाव । हेत्वर्थति [illegible] सद्भावस्य द्विष्ठ इति [illegible] भाव । [illegible] इतिनाव्यस्येति [illegible] भाव [illegible] एव [illegible] न [illegible] भाव । [illegible]—एकत्वेति । [illegible]

---

१ सि. [illegible] । २ सि. [illegible] । ३ सि. [illegible] ।

(एतद्वेवेति) एवमेव त्वं पृच्छ्यसे–अथ भेदप्रवृत्तिः कथम्–अग्नीन्धनयोरेकत्वे ? को विशेषहेतुर्येन सद्भावस्य छिदादिरित्युच्यते त्वया, अग्न्यमिति यावदनसाधनमपि तथया–कस्मादेन्धनमित्यादि इत्येवमेक-त्वापत्त्यभ्युपगमात्, धर्म्यन्तरत्वेनाग्निरित्याख्यामरण्यस्यामिव ज्वालावस्थायामत्र कथनमग्नि[रग्नि]-रवीन्धनमेव स्यात् यत्र तावदिन्धनमग्निरेव स्यात्, यदनेनैकत्वादन्यत्–अन्यप्रवृत्त्–भेदाभिधानवत्, ज्वालाङ्गारावस्थापरिमर्षः, अन्ते वेति तद्विपर्ययेणेन्धनरूपापत्तिरग्न्याङ्गारावस्थस्येन्धनेकत्वात् भावत्–कारणत्वात् अभिप्रेतत्, किञ्चान्यत्–विकल्पानेकत्वाभावात्, इन्धनेन सहाग्निरेकोऽग्निना सहेन्धनमिति विकल्पाभ्युपगमादेकत्वप्रतिज्ञाहानिः भेदे हि सत्येतौ विकल्पौ युज्येते, एकत्वे विकल्पानुपपत्तेः, अतश्च दर्शयन्नाह–एकत्वे कुतोऽस्य विक्षेपः–इदं न सहेव सहेति विकल्पानुपपत्तिप्रदर्शनेन गतार्थं पुरुषापेक्षकारण्याभा-देवनामिनामित्र, किञ्चान्यत्–एकत्वे मथनक्रियाधारकरणाद्यनुपपत्तेश्च, एकतरत्वाभावात् इति वर्तते, अधरा-रणिराधारो मथनक्रियायां करणमुत्तरारणिरग्निः कर्मेत्येवमादिकारकव्यापारविभेदः सर्वलोकप्रसिद्धो नोप-पद्यते, अग्नीन्धनयोरेकत्वात् आत्मन्यात्मप्रवेशवत्, इत्यमोपकारकव्यापारभेदव्यवहारः, तस्मात् युज्येतरत्वम् ।

यद्यपि कथञ्चिदभ्युपगम्याप्यग्नीन्धनैकत्वं यदेकत्वेनाभिमतं तदेकमिति न वक्तव्य-मेकत्वात् एकद्रव्यदयहस्तायनेकत्ववत्, हस्तोऽप्येक एवेति न वक्तव्योऽङ्गुल्याद्यनेकत्वात्, अङ्गुलिरपि पर्वादिबहुत्वात् पर्वापि त्वगादिपर्यायवयवस्कन्धबहुत्वात् स्कन्धोऽपि परमाणुबहु

इत्यसि यदग्नीन्धनयोरभेदे केन हेतुना भिदा प्रतिनिर्देशः, सद्भावस्य छिदादेः विशेषेत्यादि व्याचष्टे अथ भेदेति अग्नी-न्धनयोरेकत्वाभिमते पर्यायेणाभिधानेन्धनत्वात् न प्रतिनिर्देश इत्यभिप्रायः । कस्मादेवाभिप्रायाद्विशेषाद्वस्तुनि-कस्मादेन्धनमित्याहेति ज्वालावस्थायामग्निरित्यभिधानवत् भवति अग्निरिन्धनम्, इन्धनमग्निरित्यभयोरेकत्वात्सीनात्, धर्म्यन्तरत्वाभिमतेऽनयापि ज्वालावस्थायामिन्धनेऽग्निरिति, एवमिन्धनमग्निरग्निरिन्धनं स्यादिति भावः । अन्त्यतन्त्रं दर्शयति–तत्र तावदिति इन्धनमग्निरेव स्यात्, तस्य तदेव एकत्वात्, ज्वालाङ्गारावस्थाविकारत्वस्येन्धनसाम्यि-न्धनमिति भाव. । ज्वालाद्यवस्थाग्निरन्धनेन सहैकत्वादारम्भकत्वादग्निमत्वावधारणि–अन्ते वेति एवकारपस्थान्तो वेत्यर्थ । इन्धनमिति भिन्नेऽप्यन्यो भवत्यग्निरिति इति व्यवहारात्त्वाग्नीन्धनयोरभेदे न स्यात् सत्येकत्वं तयोरन्य-त्वान्न इत्याह विकल्पाद्वेति । अग्नीन्धनयोरेकत्वे इन्धनमग्निना सह ... विकल्पमित्यनेन सहैव इति विशेष विशेषतः । तथैकत्वाभावात् व्याचिख्यासया–एकत्वे कुतोऽयमिति । पुरुषादेरन्यैव कारकत्वाद्युपपन्नत्वात्सर्वेषां नानुपपत्त्यनुप-पत्तिरिवन्यायात् अन्यतरतुल्यत्वेन च एकत्वमयुक्तो यथा तथायमपीत्याह–पुरुषादीति । अग्नीन्धनयोरेकत्वे तस्मादि मथनाधाराधार उत्तरारणि करणम्, करणत्वाधारत्वाभिमतत्वे मथनक्रियैकत्वादिकत्वेनाविशेषकारकव्यापारभेदा विप-न्नत इत्याह–एकत्वे मथनक्रियेति मथनक्रियाधारकारणादयस्तत्र किञ्चिदनुपपन्नमित्यर्थः, आधारत्वादयस्तावद् क्रियया भीमनिर्वर्तितस्वे तदर्थं यदुत्तरारणि व्यापारे मथनक्रिया उत्तरारणिकरणत्वादग्निरत्वात् अग्निः कर्म यदु निर्वर्त्यमानत्वात् कारकेष्वभ्यपगमानुपपन्ने कारकभेदस्य तदेकत्वाभावान इति भावः । कारकैर्य दर्शयन्–अधरारणिरिति अधरारणिरुत्तरारणिश्चापि मथनादिति योगः । न चैकस्याधारत्वाधाराधारे वा परिगम्यमानापि निर्दे-ष्टुं स्यात् मात्रस्तत्तीति । अन्वयव्यपदेशा व्यापारात्त्व तत्र अन्यो भेदम् तयोरेक एवमेवेति । अथाभ्युपगमार्थमेकत्व-

१ सि. क्ष. छा. ड. कथकनेन्धनाग्नि । २ सि. क्ष. छा. ड. इत्येकत्वापत्त्यम् । ३ सि. क्ष. छा. डे. दे. वीन्धने दि. घा । ४ सि. क्ष. छा. डे. इति न सहेव सहेति । ५ सि. क्ष. छा. डे. पेक्षिता ।

स्यात्, अणो रूपाद्यनेकत्वात्, रूपादेः प्रतिक्षणमन्यत्वात् प्रतिक्षणैकस्याप्यनन्तानेकत्वात्, सोऽप्यनेकः परस्परासङ्कीर्णरूपः केनचित् कथाचिदसम्बध्यमानत्वात्, असमानत्वादवक्तव्य एव, सम्बन्धो ह्यर्थ सामान्येनोच्यत इति, एवमग्नीन्धनयोरपि ।

अथापि कथञ्चिदित्यादि, स्वमतानुवृत्त्याऽभ्युपगम्याप्यग्नीन्धनैकत्वं कथञ्चित् केनचिन्न्यायान्तरेण—द्रव्यार्थिकविशेषाभिप्रायः, तथापि यदेकमित्यभिमतं तदेकमि[ति] न वक्तव्यं स्यात्, एकमेवेति, न वक्तव्यमित्यर्थः, कस्मात्? एकत्वात्, यत्रान्यत्र तदेकमेवेत्यवक्तव्यं दृष्टम्, एकद्रव्य स्थापनत्वात्—यथा एक इत्यभिमतो देवदत्तो हस्तपादाद्यवयवबहुत्वादेक एवेति न वक्तव्य एवमग्नीन्धनयोरपि शाखाग्निको वक्तव्य, हस्तोऽप्येक एवेति न वक्तव्योऽङ्गुल्याद्यनेकत्वात्—अङ्गुलिप्रकोष्ठबहिरन्तस्तलादिबहुत्वात्, अङ्गुलिरपि पर्वादिबहुत्वात् पर्वापि त्वगादिपरावयवस्कन्धबहुत्वात् स्कन्धोऽपि परमाणुबहुत्वात्, एकमेवेति न वक्तव्यमिति वर्तते यावदणोरिति, मूर्तद्रव्यमेव पर्यन्तावभित्वात् किमणुरेक इति वक्तव्यो ननूच्यते—अणो रूपाद्यनेकत्वात्—रूपरसगन्धस्पर्शबहुत्वात् रूपाद्यात्मकत्वात्, [किं] रूपं रसो गन्धः स्पर्शो वैक इति वक्तव्यः ननूच्यते—रूपादेः प्रतिक्षणमन्यत्वात्—रूपमपि क्षणे क्षणेऽन्यदन्यदुत्पद्यते विनश्यति चेत्यन्यस्यानन्त्यानेकत्वादे[मेक]मिति न वक्तव्यमेव रसो गन्धः स्पर्शश्च वाच्यः स्यादेव देशभिन्नाङ्गुलिपर्वत्वम् पादीनामनेकत्वादेकमित्यवक्तव्यं स्यात् कालभिन्नस्तु क्षणिक एक एव रूपाद्यन्यतमोऽसाधारणोऽर्थः निर्भिन्नक इति नोच्यत इत्यत्रोच्यते—प्रतिक्षणैकस्याप्यनन्तानेकत्वात्—क्षणे क्षणे ह्येकः प्रतिक्षणैकः, क्षण क्षण प्रति-

अवक्तव्यता [illegible]—अथापीति । कथञ्चिदित्यस्यार्थमाह—केनचिन्न्यायान्तरेणेति [illegible] द्रव्यार्थिकविशेषाभिप्रायेणाभ्युपगम्य तथापि यो एकमित्यभिमतं वस्तु तदेकमेवेति न वक्तव्यम्, [illegible] न विधार्य वक्तव्यमित्याह—तथापीति । हेतुमाह एकत्वादिति [illegible]

[illegible]

वर्तेत इति धीप्सार्थकर्मप्रवचनीयत्वात् मतेः, सोऽप्यनेकः परस्परासङ्कीर्णरूपः केनचित् कदाचिदसम्बध्यमानत्वात्, असमानोऽसाधारणः असमानश्चानेकः, समानत्वे ह्येकत्वं स्यात्, तस्मादसम्बन्धादसमानत्वादेकत्वेऽप्यनवस्थ एव, सम्बद्धो ह्यर्थः सामान्येनोच्येत-अयं स इति नयमयमिति वा, तत्तु नास्ति सामान्यमित्यनवस्थः एष तावदेकत्वेऽग्नीन्धनयोरवाच्यत्वमुक्तम् ।

अथ मा भूदेते दोषा इत्यग्नीन्धनयोरन्यत्वमभ्युपगम्यते चेत् तेन तर्ह्यग्नेरिन्धनात् पृथग्भूतं रूपमाख्येयम्, निर्दिष्टे हि पृथग्भूते रूपेऽन्यत्वं सिध्येत्, शक्यश्च प्रतिपत्तुमयमस्मादन्य इति, यथाऽन्येषामन्येभ्यः, त्वया न शक्यतेऽग्नेरिन्धनात् पृथग्भूतं तत्त्वं दर्शयितुम्, न ह्यन्यदन्यसाधारणं रूपं भवति, तस्माच्छक्यते च ततः पृथग्भूतेन तत्त्वेन निर्देष्टुम्, न तथेन्धनात् पृथग्भूतमसाधारणमग्ने रूपं शक्यं वक्तुम् ।

अथ मा भूदित्यादि, परस्परत्यागेन यथान्यत्वपरिग्रहे कारणमात्मलाभस्य पक्षान्तरं मा भवति, अग्नीन्धनयोरन्यत्वपक्षो [१]निर्दोष इति मन्यमानेनाभ्युपगम्यते चेत्त्वया [२]सोऽपि निर्दोष इति मा मंस्थाः, तेन तर्ह्यग्नेरिति तेन-अग्नीन्धनयोरन्यत्वाऽभ्युपगमेन कारणेनैवमापादितं स्यादग्नेरिन्धनात् पृथग्भूतं रूपमाख्येयम् घटादेरिवासाधारणं सौवर्ण्यम् निर्दिष्टे हि पृथग्भूते रूपेऽन्यत्वं सिध्येत् शक्यश्च प्रतिपत्तुमेवमयमस्मादन्य इति किमिव ? यथाऽन्येषामित्यादि अन्येषां घटादीनामग्नीन्धनादिभ्यः, अन्येभ्यः पटादिभ्यश्चान्येषाम् तत्तु त्वया[न]शक्यतेऽग्नेरिन्धनात् पृथग्भूतं तत्त्वं दर्शयितुम्, यस्मान्न हि अन्यदन्यसाधारणम्, विस्पष्टो यस्मादर्थो यस्माद्घटादि पटाद्यन्यसाधारणरूपं न भवति तस्मादिदानीं तस्माच्छक्यते[च]ततः पृथग्भूतेन तत्त्वेन निर्देष्टुम् न तथेन्धनात् पृथग्भूतमसाधारणमग्ने रूपं घटस्येव सौवर्ण्यं पटादिविलक्षणं शक्यं वक्तुम् ।

सम्बध्यमानत्वात्, सम्बध्यमानतया हि तत् साधारणमेव स्यात् साधारणत्वेनैकमिति वक्तुं शक्यम्, अतएवासाधारणत्वात् एवानेकम्, अनेकत्वादेकमिति न वक्तव्यमिति भाव । तदेवाह-असमानोऽसाधारण इति । कदाचित् केनचित् सम्बध्यमानत्वे सामान्यरूपमेवेत्याह-सम्बद्धो ह्यर्थ इति । एवमेकत्वेऽवाच्यत्वमुपसंहरति-एष तावदिति । दोषपरिहाराय अग्नीन्धनयोरन्यत्वपक्षं परिकल्प्यान्यत्वपक्षेऽप्यनुपपत्तिं दर्शयति-अथ मा भूदिति । अन्यत्वे परस्परपरित्यागेनेति तयोरेकत्वपक्षपरित्यागेनेत्यर्थः । अग्नीन्धनयोरिति तयोरन्यत्वपक्षं निर्दोषं मत्वा यद्यभ्युपैषि तर्हि तत्रापि दोषं शृणु इति भाव । दोषमेवाऽऽवेदयति-तेन तर्ह्यग्न्यादीति, अग्नीन्धनयोरन्यत्व [illegible] यथाऽग्नेरिन्धनात् पृथक् तत्त्वं निर्दिष्टं भवेत्, यथा घटादेः [illegible], तत्र च [illegible] निर्दिष्टम् तथा [illegible] तथा [illegible] भाव । पृथग्भूतत्वेनाख्यानात् [illegible] अग्नेरिन्धनादन्यत्वं सिध्यति, तथाविधिरिन्धनादग्नेः प्रतिपत्तुं शक्यत इत्याह-निर्दिष्टे हीति । निदर्शनमाह-अन्येषामिति-घटादीनाम् अग्नीन्धनादिभ्योऽन्येषाम् अन्येभ्यः पटादिभ्यश्चान्येषाम् अग्नीन्धनादीनामन्यत्वं प्रतिपत्तुं शक्यं पृथग्भूततत्त्वनिर्देशादिति भाव । अन्येषु पृथग्भूततत्त्वनिर्देशेऽपि न प्रकृतेऽग्नीन्धनयोः-तत्तु त्वया न शक्यत इति । [illegible] साधारणं रूपं न [illegible] तथापि [illegible] इति [illegible] तस्य तत्त्वानां [illegible] निर्देशप्रसक्तेश्च पृथग्भूततया निर्देष्टुं शक्यत इति भाव । अग्नेरिन्धनात् पृथग्भूतमसाधारणं तत्त्वं न वक्तुं शक्यम् [illegible] पटादिविलक्षणं [illegible]-न तथेन्धनादिति । [illegible] सामान्यरूपमेवं यथा तथा तत्-

१ सि. क्ष. डे. पक्षे निर्दोष इति । २ सि. क्ष. डे. मन्यमानोऽभ्यु । ३ सि. क्ष. डे. सोऽपि दोष । ४ सि. क्ष. डे. °परित्यागे । ५ सि. क्ष. डे. °मन्यत्व । ६ सि. क्ष. डे. अग्नीन्धनादीनाम । ७ सि. क्ष. डे. आत्मना प्रत्युत्पन्न । ८ आत्मनोऽनुपपन्नो न ।

सामान्यविशेषैकत्वनानात्वाभ्यां स्वत्वदर्शितपृथिवीघटपटादिनिर्देशवदत्रापि स्यादिति चेदुच्यते न मम किञ्चित् सामान्यविशेषैकत्वनानात्वाभ्यां व्यवस्थितमस्ति, त्वन्मतानुवृत्त्या प्रतिपादनार्थं संवृत्त्या पृथिवीघटपटवदित्युदाह्रियते, मन्मतेन तु सामान्यविशेषैकत्वान्यत्वाव्यवस्थितत्वघटपटसंवृत्तितुल्यसंवृत्तिसमाश्री घने निर्दिश्येते, तस्मादनिरूप्योऽसमाप्येऽग्निः, अनिन्धनत्वे सत्यरूपत्वात् खपुष्पवत्, घटपटादिष्वप्येतत्साधनं योज्यमिति ।

(सामान्येति) स्यान्मतं कथं त्वयाऽधुना घटात् पटोऽन्य इति विशेषेण नानात्वेन पृथिवी घट इति च सामान्यैकत्वेन निर्दिष्टं रूपम्? यथाऽग्नीन्धनयोरपि अन्यत्व एव वक्ष्यमाण [illegible] अतोच्यते न मम किञ्चित्स्वपक्षव्यवादिनः सामान्यविशेषैकत्वनानात्वाभ्यां व्यवस्थितमस्ति वस्तु किञ्चित्, किं तर्हि? त्वन्मतानुवृत्त्या प्रतिपादनार्थं संवृत्त्या सामान्यविशेषैकत्व[नानात्व]ाभ्यां पृथिवीघटपटवदित्युदाह्रियते न मन्मतेन, मन्मतेन तु साधनव्यवस्थितत्वरूपावेवेति, तदर्थमेवमुदाहरति सामान्यविशेषत्वादि सामान्यविशेषयोरेकत्वान्यत्वाभ्यामनवस्थिते वस्तु यथोक्तावेतौ घटपटौ-सामान्यविशेषैकत्वनानात्वानवस्थितत्वरूपघटपटौ तयोः संवृत्तिः-उपचारः [तां] अभ्युपेत्य परकल्पनेनोदाहरणम्, तया तुल्यसंवृत्तिवत् । यथा संवृत्त्या घटपटाविष्टरूपसाधारण्यौ निर्दिश्येते, न तथाऽग्नीन्धने इत्यर्थः तस्मादनिरूप्योऽनिरूप्यत्वसमाप्येताग्निः, कस्मात्? अनिन्धनत्वे सत्यरूपत्वात्, खपुष्पवत् उपादानस्वरूपात् पृथगनिरूपितस्वरूपत्वादित्यर्थः, घटपटादिष्वप्येतत्साधन-धर्मत्वं सत्यरूपत्वात् घटोऽसन् खपुष्पवत्, अतन्तुत्वे सत्यरूपत्वात् पटोऽसन् खपुष्पवदित्यादियोज्यमिति ।

अथोच्यते यदेतत् ज्वाला देशोऽग्ने रूपमिति, तदा कुतोऽनिन्धनम्? अग्नित्वपरिणतत्वेन पुद्गलानामाकाशदेशेऽवस्थानाज्ज्वालाधृतेः, वैद्युतस्याप्युदकेन्धनत्वात्सानैकान्तिकत्वम्,

मधुना पूर्वं निर्दिष्टं यथाऽग्नीन्धनयोरपि [illegible]-सामान्यविशेषेति । मा भूत् [illegible] मतमिति । [illegible] न किमपि वस्तु [illegible] सामान्येन विशेषेण [illegible] वा [illegible] वा व्यवस्थितमस्ति [illegible] सामान्यविशेषैकत्वनानात्वाभ्यां पृथिवीघटवदपि निर्दिष्टं न तत्सम्यगुपगम्योऽस्मीति समाधत्ते-न मम किञ्चिदिति । तर्हि तव किं मतमित्याह-मन्मतेन त्विति घटपटौ मन्मतेनानवस्थितत्वावेवेति । एतदेव विवृणोति-सामान्यविशेषयोरिति सामान्यविशेषैकत्वनानात्वाभ्यां [illegible] तयोरुपचारमभ्युपेत्य परकल्पनानुसारेणोदाहृतम् [illegible] न तथाऽग्नीन्धनयोः [illegible] । [illegible]-यथा संवृत्त्येति [illegible] । [illegible]-तस्मादिति । [illegible] हेतुमाह-अनिन्धनत्वे सतीति [illegible] । [illegible]-घटपटादिष्वप्येतदिति । [illegible] सतीति [illegible] इति । [illegible]

1 ख. अपूर्णमेव सत्य । भि. प. पा. ई °परस° ।

वर्त्तेत इति धीग्राह्यधर्मप्रवचनीयत्वात् सतेः, सोऽप्यनेकः परस्परासङ्कीर्णरूपः केनचित् कदाचिदसम्बध्यमानत्वात् असमानोऽसाधारणः, असमानश्चानेकः, समानत्वे ह्येकत्वं स्यात्, तस्मादसमत्वादसमानत्वादनेकत्वेऽप्यसत्त्वम् एव सम्बद्धो दर्पः सामान्येनोच्येत-अयं स इति, स्वयमयमिति वा वस्तु नास्ति सामान्यमित्यसत्त्वम्, एवं तावदेकत्वेऽग्नीन्धनयोरसाधारणत्वमुक्तम्।

अथ मा भूदेकत्वे दोषा इत्यग्नीन्धनयोरन्यत्वमभ्युपगम्यते चेत्, तेन तर्ह्यग्नेरिन्धनात् पृथग्भूतं रूपमाख्येयम्, निर्दिष्टे हि पृथग्भूते रूपेऽन्यत्वं सिध्येत्, शक्यश्च प्रतिपत्तुमयमस्मादन्य इति, यथाऽन्येषामन्येभ्यः, त्वया न शक्यतेऽग्नेरिन्धनात् पृथग्भूतं तत्त्वं दर्शयितुम्, न ह्यन्यदन्यसाधारणं रूपं भवति, तस्माच्छक्यते च ततः पृथग्भूतेन तत्त्वेन निर्देष्टुम्, न तथेन्धनात् पृथग्भूतमसाधारणमग्ने रूपं शक्यं वक्तुम्।

अथ मा भूदसिद्धिरिति, पदार्थत्यागेन पदार्थान्तरपरिग्रहे कारणसामर्थ्याभावः पदार्थान्तरं मा भूदिति, अग्नीन्धनयोरन्यत्वपक्षो 'निर्दोष' इति मन्यमानेनाभ्युपगम्यते चेत्त्वया 'सोऽपि निर्दोष इति मा मंस्थाः, तेन तर्ह्यपि तेन-अग्नीन्धनयोरन्यत्वाऽभ्युपगमेन कारणेनेदमापद्येत अग्नेरिन्धनात् पृथग्भूतं रूपमाख्येयम् घटादेरिवाग्नेरपि पृथग्भूतम् निर्दिष्टे हि पृथग्भूते रूपेऽन्यत्वं सिध्येत्, शक्यश्च प्रतिपत्तुमयमस्मादन्य इति, किमिव ? यथाऽन्येषामिवाग्नि अन्येषां घटादीनामग्नीन्धनादिभ्यः, अन्येभ्यः पटादिभ्योऽन्येषाम् तत्तु त्वया[न] शक्यतेऽग्नेरिन्धनात् पृथग्भूतं तत्त्वं दर्शयितुम् यस्मात्र हि अन्यदन्यसाधारणम्, विशेषो यथावर्ये यथाग्नावपि घटादेरसाधारणरूपं न भवति घटत्वादीनां तस्माच्छक्यते[च]ततः पृथग्भूतेन तत्त्वेन निर्देष्टुम् न तथेन्धनात् पृथग्भूतमसाधारणमग्ने रूपं घटस्येव पटादेरसाधारणं पटादिविलक्षणं रूपं वक्तुम्।

असमानत्वात्, असमानता हि तत् साधारणमेव स्यात् साधारणमेवमिति वक्तुं शक्यम्, तदन्येषामसाधारणमत एवानेकम्, अनेकत्वादेकमिति न वक्तव्यमिति भावः। तदेवाह असमानोऽसाधारण इति। कदाचित् केनचित् सम्बध्यमानस्य सामान्यमेकत्वात्-सम्बद्धो दर्प इति। एवमेकत्वेनासाधारणत्वमुपपादयति एवं तावदिति। अथ दोषपरिहाराय अग्नीन्धनयोरन्यत्वपक्षं यदि समानस्यापोऽभ्युपगमस्य दोषमाह-अथ मा भूदिति। व्याचष्टे पदार्थत्यागेनेति पदार्थान्तरपरिग्रहेण। अग्नीन्धनयोरिति कार्यकारणयोर्निर्दुष्टत्वात् तत्रानुपपत्ति यदि तत्रापि दोषं भूत इति भावः। दोषमेवाऽऽपादयति-तेन तर्हीत्यादीति यथाग्नीन्धनयोरन्यत्वं तदाऽभ्युपेतं तत्त्वं यथाग्नीन्धनात् पृथक् तत्त्वं निर्दिष्टं भवेत्, तथा घटादेराकाशस्य, तस्य च तत्त्व पृथगितिविति निर्दिष्टम् तथा अग्नेरन्यत्वे तथा तस्यापि तत्त्वमिति भावः। पृथग्भूतत्वेनाग्नेस्तत्त्वे सति यदीहाग्नेरिन्धनादन्यत्वं सिध्यति, तथापि निर्दिष्टमेव इति प्रतिपत्तुं शक्यत इत्याह-निर्दिष्टे हीति। निदर्शनमाह-अन्येषामिति-घटादीनामग्नीन्धनादिभ्योऽन्येभ्य अन्येभ्यः पटादिभ्यश्चान्येषां घटादीनामन्यत्वं प्रतिपत्तुं शक्यं पृथग्भूतस्य निर्दिष्टत्वादिति भावः। अग्नेस्तु पृथग्भूतस्यानिर्देशान्न तथा प्रतिपत्तुमित्याह-तत्तु त्वया न शक्यत इति। किमर्थमेवं साधारणं तत्त्वं न भवितुमर्हतीत्याह-यस्मान्न हीति घटादे घटादेरिव असाधारणं न हि तदेव तस्यापीति भवितुमर्हतीति विशेषपक्षत्वेऽपि च पृथग्भूततया निर्देष्टुं शक्यत इति भावः। अग्नेस्तु इन्धनात् पृथग्भूतमसाधारणं तत्त्वं न वक्तुं शक्यम् शक्यते च घटादिविलक्षणं घटादेरसाधारणमसाधारणरूपं वक्तुमित्याह-न तथेन्धनादिति। ननु अग्नीन्धनयोरविशेषेण यथाग्नेः पृथिवी च इति न सामान्यमुक्तमेवं यथा तथा तत्त्व-

१ सि. क्ष. डे. पत्रे निर्दोष इति। २ सि. क्ष. डे. मन्यमानोऽभ्यु०। ३ सि. क्ष. डे. सोऽपि दोष०। ४ सि. क्ष. डे. °परित्यागे। ५ सि. क्ष. डे. °मारभत। ६ सि. क्ष. डे. अग्नीन्धनादीनाम। सि. क्ष. डे. आगमेषा तदनुगमात्। क्ष आगमेनानुगत्या च।

तद्विपर्येऽन्यपरिणतेऽपि दारुणीन्धनत्वमुपचाराद्भवति, तदन्यत्वे-अग्नीन्धनान्यत्वे स उपचारो नैव स्यात्, मुख्येन्धनाभावात् खरविषाणतीक्ष्णकुम्भादिसाधर्म्याभावे तदुपचाराभाववत्, अत एव सिद्धान्ते अग्निपरिणतदारुमुख्येन्धनत्वादेव तदपरिणतायामपीन्धनत्वस्य सिद्धमुपचार, कस्मात्? गौणस्य मुख्यमूलत्वात् सिद्धे हि मुख्ये सिंहे शौर्यादिसाधर्म्यात् माणवके सिंह उच्यते नासति मुख्ये सिंहे, चित्रकरादिवद्वा चित्रलेखनादिक्रियापरिणामसमाश्रयचित्रकरत्वव्यपदेशो नासति तत्क्रियापरिणामे ।

तस्याग्निरूपपरिणतस्येन्धनत्वसंवादिनी स्मृतिं ज्ञापयितुमाह-

ञि इन्धी दीप्तावितिं ननु स्मरन्त्यभियुक्ता वैयाकरणा दीपन इत्यग्निमिन्धः, पूर्वोक्ताच्च समुच्चितत्वात्स्वात्मवज्ञान्यत्वम्, अदह्यमान ईन्धनमेव न भवति, कारकाणामेव कारकत्वादित्यादिन्यायात्स्यात् ।

(ञीति) ञि इन्धी दीप्ताविति ननु स्मरन्त्यभियुक्ता वैयाकरणाः शब्दार्थसम्बन्धज्ञाः दीपन इत्यग्नि-दीप्तिस्वभावः, अग्निरेवेन्धनं दीप्त्यर्थत्वादिन्धेः, क्रियाश्रयत्-पूर्वोक्ताच्च समुच्चितत्वात्स्वात्मवज्ञान्यत्वम् यथा भागेरस्ते यद्यग्निरिन्धनेन संबन्धः स्यात्तदा इन्धनत्वेनान्यस्याप्रवृत्तेरभावादेव स्यादित्यादिनाऽन्योन्य न्यायेनैकस्य निषिद्धम्, यावत् स्वभावस्य द्विप्रकारादिति तथाऽन्यत्व इन्धनत्वेनान्यस्याप्रवृत्तेरभावादेव स्यादित्यादिदुस्त्यागागमविरोधेन सम्यो योग्यः अन्यत्वेऽप्यभावापत्तिसाम्यात् न्यायसमज्ञान्यत्वमिति, अग्निस्वात्मा

भाग्यभावदीप्त्यादिरग्निनेवापरिणत दारुणीन्धनत्वव्यपदेशाद् औपचारिक न च मुख्यापेक्षः मुख्येन्धनादि चाग्निच अग्निपरिणामरहितं दारवादि, एतदपेक्षयाऽग्निपरिणामरहिते दारावादिमिन्धनत्वव्यपदेश औपचारिक उपपद्यत इति भावः । इन्धनेऽग्निभिन्नत्वेऽनुपगम्यमाने तु नैव उपचार उपपद्यते मुख्यस्येन्धनस्याभावात्, यथा खरविषाणादौ तीक्ष्णत्वकुम्भत्वादेरौपचार साधर्म्याभावादित्याह-तदन्यत्व इति । इतोऽपि पुनः स्वसिद्धान्तेऽपि अग्निपरिणतेति तदपरिणतायामपि-भावप्रधान तदापन्नदीप्त्यनलत्वोपचारः सिद्धान्तेऽर्थः । हेतुमाह गौणस्येति उपचारो हि गौणत्वेन मुख्यस्य प्रसिद्धाप्रसिद्ध धर्मिणोर्गुणविशेष यथा माणवके शौर्यादिना सिंह इत्युपचर्यते शौर्यं गुणत्वे प्रसिद्धसिंहस्य तत्समप्रसिद्धमाणवकधर्मिगतत्व सिद्धे धार्ये पूर्वमन्तः प्रसिद्धो धर्मी मुख्य उच्यते माणवके वैनसिद्धेन न्यूनमप्रसिद्धधर्मिणीति तथापि च शौर्यत्वं गुणमात्रयानि-श्चयमिच्छेदतदेवाय माणवकस्य सिंहत्वेनोपचर्येत तस्मादुपचारस्य सारस्वमूलत्वात् गौरस्य प्रसिद्धाप्रसिद्धधर्मिकत्वात् प्रसिद्ध धर्मिसत्त्वाभावे कथं तदाश्रयं भवेत् कथं वा तत्र चोपचार ? तस्माद्गौणस्य मुख्यमूलत्वमिति भावः । निदर्शनान्तरमाह-चित्रकरादिवद्वेति कथं चित्रकर इति सम्प्रत्यक्रियस्यापि पुरुषे व्यवहार चित्रकरणादिक्रियाया पूर्वं परिणतः स आसीत् तत्परिणामस्याभावे च चित्रकरत्वव्यपदेशोऽसत्त्वात्तु एकस्यामपि स चित्रकर उच्यत न तु कदाचिदपि चित्रकरत्वपरिणतिरहितः पुरुष इति भावः । अग्नि परिणतस्यैव दारुण इन्धनत्वं स्मृत्या ज्ञापयत इत्याह ञि इन्धी दीप्ताविति । शब्दार्थसम्बन्धज्ञो वैयाकरणा ञि इन्धी दीप्तौ इति स्मरन्ति दीपन इत्यनेनाग्निम्, तथाऽग्निर्दीपनत्वभावस्य धात्वर्थ इन्धनस्य दीप्त्यर्थ च दीपनत्वभावेऽग्निरेवेन्धनमिति सिद्धान्तेऽयम्-ञि इन्धीति । पुनरेवेन्धनत्वेऽनन्यत्वस्य न्यायान्तराग्निरेवेन्धनमिति समुच्चयन्-पूर्वोक्ताच्चेति । पूर्वोक्तं स्मरयति-यथा भागेरिति । तं दोषमनन्यत्वस्य दर्शयति-तथाऽन्यत्व इति । तदेवमन्यत्वमनन्यत्वे इन्धनत्वस्याभ्युपगम्यमाने न्यायसमम् इत्येतदनुसरति-अन्यत्वेऽपीति । एतदेव स्पष्टयति-अग्निस्वात्मेति अग्नि-

1 सी. क्ष पा च °भावत्। 2 भि क्ष पा. दे इन्धनत्वं भि । 3 भि क्ष. पा दे भिरिदारन्मदामर तत्रैतस्यापि ।

यदि स्यादनिन्धनोऽग्निर्निरवशेषदग्धेन्धनोऽपि भवेदग्नित्वाज्ज्वालावत्, अथोच्येत तावन्मात्रं भवीन्धनेऽग्नेरिन्धनेन सहान्यत्वम् किन्त्विन्धनस्याग्निना सहान्यत्वम्, यद्यप्यग्नेरिन्धनेन सहान्यत्वेऽनिन्धनत्वे तत्स्वरूपत्वादप्रवृत्तेरसत्त्वं सम्भाव्यते तथाप्यदोषस्तेऽस्ति न्यायः

इन्धनादन्यत्वात् हुतवहवत् इत्यत्र दृष्टा हि लोके इन्धनमाहरति काष्ठमाहरतीति, अथोच्यते तद्विषय एवैष उपचारोऽग्निस्वपरिणतिकालसिद्धयथार्थेन्धनस्य मुख्यमपेक्ष्य, तदन्यत्वे च स नैव स्यात्, मुख्येन्धनाभावात्, अत एव तु तदपरिणतावपीन्धनस्यस्योपचारः सिद्ध्यति, गौणस्य मुख्यमूलत्वात् सिंहमाणवकवत्, चित्रकरादिवद्वा ।

(अथोच्यत इति) अथोच्यते भवेत्स्वाला देशे-अथाप्यसीयास्त्व-इन्धनात् पृथगग्नेरस्ति रूपम् तद्यथा ज्वाला गगनदेशे तत्रास्त्यग्निरेव ते पृथगिन्धनादग्निरूपम्, तस्मादरूपत्वासिद्धेर्नासत्त्वमित्यत्र ब्रूमः—तत्र कुतोऽनिन्धनम् ? यत्र ज्वालारूपमग्नेर्गगनदेशे तदपीन्धनसहितमेव अग्निस्वपरिणतत्वेन पुद्गलमात्रावस्थेऽवस्थानाज्ज्वालावृत्तेः, न ज्वालाऽनिन्धना अग्निनात्मसात्कृतत्वादग्निवत् वैद्युतस्याप्युदकेन्धनत्वात्तेनैवाग्निरूपत्वतोऽग्निरिन्धनात् पृथग्भूतो नास्ति यावदेवेन्धनं तावदेवाग्निनिर्वृत्तिस्तस्य नो विध्याय इत्युच्यते, तस्मादिन्धनात् पृथगग्निर्नैव दृष्टः, यत्तमनिन्धनो दोष उच्यते, यदि स्यादनिन्धनोऽग्निः स्वतन्त्रमेव निरवशेषदग्धेन्धनोऽपि-मुर्मुरावस्थोत्तरकालमपि भवेदग्नित्वात्, ज्वालावदनिन्धनवत् एवं तावत् पूर्वोक्तेन्धनरहितेन्धनेन सहाग्नेरन्यत्व न वक्तव्यम् अथोच्येतेत्यादि किन्त्वन्यत् पूर्ववदिन्धनस्यान्यत्वं हुतवहवत् दृष्टत्वात् लोके हि दृष्टमिन्धनमाहरेति काष्ठमाहरेति, न हि दृष्टाद्गुरिष्टं प्रमाणमस्ति, अन्यच्च यद्यप्यग्नेरित्यादि यावदाहरतीति गतार्थः पूर्वपक्षः अत्रोत्तरं तद्विषय एवैष उपचारः, अग्निस्वपरिणतिकालसिद्धयथार्थेन्धनस्य मुख्यमपेक्ष्य

इन्धनमग्निम्, ज्वालादेशे परिदृश्यमानाया इन्धनतदपरत्वस्य ज्वालाया अग्निस्वरूपत्वात्, न हि ज्वाला हैन्धनेन्धनेन ज्वालेत्—अथापसीयास्त्वमिति । अनिन्धनमग्निरेव न भवति यदग्निरथर्तं तेन हैन्धनेन मात्रभिमतसमेतमग्निरतां ब्रूते कति-तत्र कुतोऽनिन्धनमिति यत्राभवेत्तोऽग्ने रूपं ज्वलेति गृह्यते तापि ज्वाला हैन्धनैव नामिन्धना ज्वाला हि अवस्थानसमर्थेन परिणता पुद्गला एवेति भावः । तत्र हेतुमप्युपमाह—न ज्वालाऽनिन्धनेति यो योऽग्निः स हैन्धन एव अग्नात्मवत्, ज्वालाऽपि तादृशीति भावः । न च विद्युदादावपि न हैन्धनत्वमिति व्यभिचारः तदपीन्धनत्वादित्याह—वैद्युतस्यापीति । उदकेन्धनत्वमुदकस्याग्निरूपत्वेन यावदिन्धनं तावदग्निस्वरूपत्वेन अत एव समीर्णं विध्याय—न पान्त इत्युच्यत इत्याह—यावदेवेन्धनमिति । अग्निरस्तु हैन्धनरं नास्तीति व्यभिचारमाशङ्क्य तर्कमाह—यदि स्यादनिन्धन इति अनिन्धनत्वमनुपपन्नं इन्धनं निरवशेषं दग्धं यदि मुर्मुरावस्थोत्तरकालमपि अङ्गारोऽग्निर्भवेत् तत्र यतोऽग्निरनन्यानि ज्वालादिवत्, ज्वालावत्, न चैवं तस्मान्नाग्निरनिन्धनोऽग्निरितीदि ततोऽग्निरन्यत्वे इन्धनाभावात्, पूर्वोक्तप्रकारेणाग्नेरिन्धनात् पृथक्त्वं नास्तीति भाव । अथाग्निनिरपेक्षमग्न्यन्यत्वमिति दर्शयते—अथोच्येतेत्यादीति दोषम्—इन्धनस्याग्निसापेक्षत्वमनवस्थितम् यद्यप्यग्नेरिन्धनाद् रूपान्तरत्वादनिन्धनत्वेनात्मलाभः अग्नेरिन्धनस्यात्रापेक्षत्वं दोष सम्भाव्यत एवं दोषसम्भावनायामपि न्यायोऽस्त्यदोषत्वे इन्धनादन्यत्वात्—इन्धनत्वापि हुतवहवत् अग्निरपि दोष इति भावः । हेतुमाह हुतवहवद् दृष्टत्वादिति लोके हि अग्निवत् इन्धनमाहरति अग्निपाकं दृष्टं अग्निरग्निमिन्धनं नैव व्याहरति न हि प्रत्यक्षात् किञ्चित् प्रबलं प्रमाणमस्तीति भावः । पूर्वोक्तप्रकारेण व्याहरति यद्यप्येति एष पक्षस्य छिन्नाद्युपमाग्न्यन्यत्वं बोध्यम् । अत्रोत्तरमाह—तद्विषय एवैष इति, इन्धनमाहरति

1 सि. क्ष. डे. ढ. मित्रयोपरतमित्यत्रेति । 2 सि. क्ष. डा. ढ. °ष्मावस्थोत्पत्ति ।

तद्विपर्ययेऽप्यपरिणतेऽपि दारुणीन्धनत्वमुपचाराद्भवति, तदन्यत्वे-अग्नीन्धनान्यत्वे स उपचारो नैव स्यात्, मुख्येन्धनाभावात् खरविषाणतीक्ष्णकुण्ठादिसाधर्म्याभावे तदुपचाराभाववत्, अत एव स्थितानि अग्निपरिणतदारुमुख्येन्धनत्वादेव तदपरिणतान्यपीन्धनत्वस्य सिद्धत्वमुपचारः, कस्मात्? गौणस्य मुख्यमूलत्वात् सिद्धे हि मुख्ये सिंहे शौर्यादिवत्साधर्म्यात् माणवकः सिंह उच्यते नासति मुख्ये सिंहे चित्रकरादिवच्च चित्रलेखनादिक्रियापरिणतत्वसामान्याच्चित्रकरत्वव्यपदेशो नासति तत्क्रियापरिणामे ।

तस्याग्नित्वपरिणतावेवेन्धनत्वसंवादिनीं स्मृतिं ज्ञापयितुमाह–

ञि इन्धी दीप्ताविति ननु स्मरन्त्यभियुक्ता वैयाकरणा दीपन इत्यग्निरिन्धः, पूर्वोक्ताच्च तद्वृत्तित्वात्स्वात्मवत्साम्यत्वम्, अदह्यमानं हीन्धनमेव न भवति, कारकाणामेव कारकत्वादित्यादिन्यायस्यात्रत्वात् ।

(ञीति) ञि इन्धी दीप्ताविति ननु स्मरन्त्यभियुक्ता वैयाकरणाः शब्दार्थसम्बन्धज्ञाः दीपन इत्यर्थे-दीप्तिस्वभावः, अग्निरेवेन्धनं दीप्त्यर्थत्वादिन्धः, किञ्चान्यत्-पूर्वोक्ताच्च तद्वृत्तित्वात्स्वात्मवत्साम्यत्वम् यथा भागेरस्ये यथाग्निरिन्धनेन सोऽपि स्यात्ततो दग्धेन्धनत्वेऽप्यप्रवृत्तेरभावादेव स्यादित्यादिग्रन्थोक्तेन न्यायेनैक्यत्वे निर्दिष्टम्, यावत् दह्यमानस्य हीन्धनत्वमिति तथाऽन्यत्वे दग्धेन्धनवदन्यस्याप्रवृत्तेरभावादेव स्यादित्यादिग्रन्थार्थोपगमविक्षेपेण ग्रन्थो योज्यः अन्यत्वेऽप्यभावापत्तिसाम्यात् स्वात्मवत्साम्यत्वमिति, अग्निस्वात्मा-

भस्मादारुत्वेऽनवस्थितेरग्नित्वेनापरिणते दारुणीन्धनत्वव्यपदेशात्स्वादिव्यवहार औपचारिकः स च मुख्यापेक्षः मुख्येन्धनानि चाग्नित्वपरिणमनीयामवस्थितिं दर्शयति, एतदपेक्षयाऽग्निपरिणतानिर्वृत्ते दारुत्वादिन्धनत्वव्यपदेशात्स्वादिव्यवहार औपचारिक उपपद्यत इति भावः । इन्धनेऽग्निरिति वितर्कोऽभ्युपगम्यमाने तु नैव उपचार उपपद्यते मुख्यस्येन्धनस्याभावात् यथा खरविषाणादौ तीक्ष्णत्वकुण्ठत्वादेर्नोपचारः साधर्म्याभावादित्याह–तदन्यत्व इति । इदमेव पुनः स्पष्टीकरोति अग्निपरिणतेति तदपरिणतान्यपि–काष्ठादीनदाराण्यपीन्धनत्वस्योपचारः सिद्धत्वमित्यर्थः । हेतुमाह–गौणस्येति उपचारो हि सादृश्यनिबन्धनः सादृश्यं प्रसिद्धाप्रसिद्धधर्मिगतो गुणविशेषः यथा माणवके शौर्यादिना सिंह इत्युपचर्यते शौर्यं सादृश्यं प्रसिद्धसिंहगतमप्रसिद्धमाणवकधर्मिगतं च सिंहे धर्मे एवमतः प्रसिद्धो धर्मो मुख्य उच्यते माणवके वैशिष्ट्येन न्यूनमनोऽप्रसिद्धधर्मिगतम्, तथाविध च शौर्यरूपं गुणमादाय गौणमित्युपचर्यते माणवकस्य सिंहत्वेनोपचर्यते तस्मादुपचारस्य सादृश्यमूलत्वात् सादृश्यस्य प्रसिद्धाप्रसिद्धधर्मिगतत्वात् प्रसिद्धधर्मिगतत्वाभावे कथं तत्सादृश्यं भवेत्, कथं वा तेन चोपचारः ? तस्माद्गौणस्य मुख्यमूलत्वमिति भावः । निदर्शनान्तरमाह–चित्रकरादिवच्चेति कथं चित्रकर इति सम्प्रत्यक्रियावत्यपि पुरुषे व्यवहारः चित्रलेखनादिक्रियायां पूर्वं परिणतः स आसीत्, तत्परिणामस्याभावे च चित्रकरत्वव्यपदेशाभावोऽत एवाद्यापि स चित्रकर उच्यते न तु कदाचिदपि चित्रकरत्वपरिणतिशून्य इति भावः । अग्नित्वपरिणत्यैव दारुण इन्धनत्वं स्पष्टं ज्ञापयन्नाह–ञि इन्धी दीप्ताविति । शब्दार्थसम्बन्धज्ञा वैयाकरणा ञि इन्धी दीप्ताविति स्मरन्ति दीपन इत्यर्थेनामिन्धे तेनाग्निरीन्धनमाख्या गम्यते इन्धनस्य दीप्तस्वभावाद् दीप्तत्वमात्राऽग्निरेवेन्धनमिति निर्दिशन्नाह–ञि इन्धीति । पूर्वोक्तैक्यान्यत्वयोरन्यत्वपक्षेऽन्याभावादग्निरेवेन्धनमित्युपपत्तिः–पूर्वोक्ताच्चेति । एकत्वे स्मारयति–यथा भागेति । तं दोषमन्यत्वपक्षे दर्शयति–तथाऽन्यत्व इति । एवंविधपक्षद्वयेऽन्यत्र दग्धेन्धनत्वाप्रवृत्तस्वरूपमत्र ग्रन्थेनान्यत्वं व्याख्यातं तदपेक्षितमुपदर्शयति–अन्यत्वेऽपीति । व्याख्यां दर्शयति–अग्निस्वात्मवदिति अग्नि-

१ सी. क्ष डा. टे °भावात् । २ नि क्ष डा. टे इन्धनत्वं नि । ३ नि क्ष. डा टे निर्दिष्टरूपसत्ताया तत्तीत्रपरित्ति ।

अग्नेर्वाऽन्यो न भवति तथेन्धनमपि तद्वृत्तित्वात्-तस्य वृत्तिः तद्वृत्तिः, तेन वा वृत्तिस्तद्वृत्तिः तद्वृत्तिर[illegible] वृत्तिरस्य तद्वृत्ति-अग्निवृत्तिरेवे अनन्यवृत्तिर्वृत्तिरूपवृत्तित्वादग्निरेवेन्धनमनन्यत्वात्, अदह्यमानं हीन्धन[illegible]मेव न भवति, कारणमप्यमेव भस्मत्वादिभाविभावात्स्वभावत्वात्, एवं तावदिन्धनोदाहरणेऽप्यनन्यत्वव्यापा[illegible] उक्तः ।

काष्ठोदाहरणेऽपि तथा—

काष्ठशब्दव्यवहारेऽप्यग्निकाष्ठयोरनन्यत्वं व्याख्यायते, यदाऽयमग्निः ततोऽन्यो नास्ति येन्धनात्, ननु यदैव काष्ठमनग्नि दृष्टं तदा तेन विना दृष्टत्वादन्यत्वसिद्धिरिति, अत्र ब्रूमः- अयामेवद्वृत्तिरन्यत्वे न प्राप्नोति, अदीप्यमानाद्यवस्थेन्धनत्वामात्रेषवत् कस्मात्र काष्ठमग्निः दीप्यमानावस्थायामिवाव्यक्ताग्न्यवस्थायाम्? अग्निः काष्ठमेव, काष्ठमग्निरेव वा स्यात्, प्रागवत् पश्चाद्वाऽनन्यत्वात् ।

काष्ठशब्देत्यादि, काष्ठशब्दव्यवहारेऽप्यग्निकाष्ठयोरनन्यत्वं व्याख्यायते तद्यथा यदाऽयमग्निस्तदा काष्ठेन्धनोऽग्निस्ततोऽन्यो नास्ति येन्धनात्, येषुतोऽप्युदकेन्धनत्वमग्न्युतो नास्ति अत्राऽऽशङ्का-ननु यदैव काष्ठमनग्नि दृष्टं तदा तेन विना दृष्टत्वादन्यत्वसिद्धिरिति, अत्र वयं ब्रूमः-अयामेवद्वृत्तिः-यदा दीप्यमानवृत्तिः, दीप्यमानं काष्ठमिन्धनमिति सा यामेवद्वृत्तिरन्यत्वे न प्राप्नोति, अदीप्यमानाद्यवस्थेन्धनत्वामात्रेषवत्, कस्मादित्यादि परस्परस्याभावनेनाभिप्रायेण यथासंख्यं प्रागवत् पश्चाद्वाऽनन्यत्वादिति गतार्थं वाक्यद्वयम् ।

तस्मात् [illegible] तद्वृत्तित्वात्, [illegible] । तद्वृत्तित्वेन [illegible]—तस्य वृत्तिरिति [illegible] इति [illegible] अग्निवृत्तिरेव [illegible], [illegible] । [illegible] तद्वृत्तिरेव [illegible] । [illegible] कारणत्वात्, न हि [illegible], [illegible] कारणत्वात् [illegible] । [illegible]—अदह्यमानमिति [illegible] । [illegible]—एवं तावदिति । [illegible]—काष्ठ[illegible]ेति । [illegible] दृष्टसूत्रत्वात्, [illegible] [illegible] । [illegible] स्यात्, [illegible] काष्ठशब्दव्यवहारेऽपीति । [illegible] तथाऽऽह [illegible]—ननु यदैव काष्ठमिति । [illegible] दीप्यमानावस्था काष्ठमिन्धनमिति न [illegible] अग्निरुत्पद्यते [illegible]—अयामेवद्वृत्तिरिति । [illegible] दीप्यमाना[illegible] कस्मादित्यादीति [illegible] काष्ठमग्निः [illegible] स्यात्, [illegible] । [illegible] प्रागवदिति । [illegible]—यदि काष्ठमिति । [illegible]

1 सि. क्ष. डा. दे. °व्यक्तिर्न । २ सि. क्ष. डा. दे. °स्यात् । ३ सि. क्ष. डा. दे. °स्यात् ।

सिद्धान्तः—

यदि काष्ठं कथमनग्निः काष्ठनाद्दीपनाद्दहनात्, काष्ठमनग्नि तथेति स्ववचनविरोधः, इन्धनमनग्निरित्यपि, काष्ठृ दीप्ताविति कर्तृवाचिनि थन्प्रत्यये काष्ठमिति रूपसिद्धेरक्षेपविरोधः, किं दारुण्यपि शक्यमित्थं भावयितुम्? को हि नाम दारुण्य न शक्नुयाद् वक्तुम्, दह भस्मीकरण इत्येकार्थत्वात् तथापि दानरक्षणार्थदारुशब्दस्याविवक्षितत्वाददोषो गगनादिवत्क्षावत्।

(यदीति) यदि काष्ठं कथम[न]ग्निः? काष्ठनात् काष्ठमित्यस्मेव, काष्ठनाद्दीपनाद्दहनादित्यर्थः, तस्मात् काष्ठमनग्नि तथेति स्ववचनविरोधः, तथेन्धनम[न]ग्निरित्यपि स्ववचनविरोधः, यस्मात् काष्ठं नियमादग्निः, अग्निरपि नियमात् काष्ठम्, एवमिन्धनमग्निश्चेति ततः स्ववचनविरोधः, एतद्व्यवनार्थं तदर्थसंवादिनीं स्मृतिं ज्ञापयन्नाह—काष्ठृ दीप्तौ काष्ठेर्दीप्त्यर्थत्वात् कर्तृवाचिनि थन्प्रत्यये काष्ठमिति रूपसिद्धेरित्यादेशोरक्षेपविरोधः—तथा दृश्यत्वात् प्रत्यक्षविरोधः, लोकेन रूढत्वात् प्रसिद्धिविरोधः, एवमनुमितत्वादनुमानविरोधः, तथाऽभ्युपगमादभ्युपगमविरोध इति किं दारुण्यपि शक्यमित्थं भावयितुम्? दाण् दाने, देङ् रक्षणे, दोऽवखण्डने, दैप् शोधने इत्येतेषां चतुर्णामन्यतमस्य रुत्प्रत्ययान्तस्य दारुरिति रूपसिद्धेः, को हि नाम दारुं न शक्नुयाद् वक्तुम्, शोधनावखण्डनार्थत्वात् सिद्धमेव, दह भस्मीकरणे एकार्थत्वात्, तथापि दानरक्षणार्थयोरसम्भवात् तदर्थदारुत्वमुदाहरणं तथोदाहरणत्वेन विवक्ष्यते, कस्मात्? अनिन्धनस्वभावाभाववत्, दीप्त्यर्थासम्भवादारम्भस्याविवक्षितत्वाददोषोऽत्र गगनादिवन्नभावत्।

सिद्धान्तः—

सहासहभयनद्वयमपि ग्निष्ठमतो यथैकमथ नाना सर्वथाऽप्येकमन्यदिति वा न शक्यते वक्तुम्, अथापि कथञ्चिदभ्युपगम्यापि काष्ठाग्न्योरन्यस्य त्वन्मत्या यदन्यत् तदन्यदेवेति न वक्तव्यमन्यत्वात्, हस्त्याद्यन्यानन्यदेवदत्तवत्, चक्षुरादिभ्यपदेश्यविशिष्टरूपाद्यात्मकघटवत्,

तथा च काष्ठं दीप्यमानमग्निरिति पर्यायौ इति काष्ठस्याग्निस्वभावत्वे काष्ठमनग्नीति वचनं परस्परविरुद्धम्, तस्य काष्ठमिति वदन् पुनरनग्नीत्युक्तम् इति स्ववचनविरोध इत्याह—काष्ठनादिति। एवमिन्धनमनग्नीति वचनमपि तस्य दाह्यो दीप्यमानत्वादग्नित्वात् [illegible] स्ववचनविरुद्धमेवेत्याह—तथेन्धनमिति। स्ववचनविरोधमेवाह—यस्मात् काष्ठमिति अग्निकाष्ठयोः [illegible] तत्र काष्ठेन्धनत्वं वदन् अग्निनिषेधं कुर्यादपि स्ववचनेन निराकृतः स्यादिति भावः। तत्र पर्याये संवादिस्मृतिमाह—काष्ठृ दीप्ताविति [illegible] इति [illegible] काष्ठमिति [illegible] विरोधा भवन्तीति भावः। विरोधानाह—तथा दृश्यत्वादिति दीप्यमानकाष्ठस्याग्नित्वेन दर्शनात् प्रत्यक्षविरोध इत्यर्थः। [illegible] लोकविरोध इत्याह—लोकेनेति। अनुमानाभ्युपगमविरोधौ दर्शयति—एवमिति [illegible]। एवं दारुशब्दोऽप्यग्निरिति दर्शयति—किं दारुण्यपीति [illegible] दाण् देङ् दो दैप् धातुभिः [illegible] सिद्धिरित्याह—दाण् दान इति। तत्र दह भस्मीकरणे इत्यनेन समानार्थत्वात् शोधनावखण्डनार्थत्वानु[illegible] भवति दानरक्षणार्थयोरनुपपत्तिरिति [illegible], दीप्त्यर्थासम्भवेन [illegible] इत्याह—शोधनेति। [illegible] यदि [illegible] यदि वा [illegible] सहासहभयनद्वयमिति [illegible]

तन्नरूप्य तदाश्रयविशिष्टपिण्डाद्यन्यद्वारमप्येकदेशद्वारवर्धनम्, अन्यथा तन्नदाभावात् भवान्न पयान्य इति पशुमतानया, द्वयद्वारमवतारात् पराद्वारमवतराय रूपादिधर्मा तदनन्यत्वात् परमाणुवदिति ।

सहानवद्यमित्यादि, एतदमतं [अपरमतन्]मिन्ना इत्यर्थः भिन्नमपि यथा यद्वे [अभिन्ना]ऽभिन्ना पाठन, अथ नाना सर्वथाऽन्यत्वात्माव्याभिनाभविनाभवेनाप्तु नतु इदमतं [इति]मन्यतिति वा न ज्यते नाथम् तस्मात् तदन्यत् अपाति धर्मादिर्थादि पूर्ववदनुपेन तस्मादात्मन अन्यदपेति न कल्पयमन्य-त्वात् तस्यान्यत्वान्तरवदपरम, तस्यानुविनाशत्वपरमाणुवदमादित्वाद्यानन्दे नेऽपि [यथा] वैशत्व न्यैकत्वपा[य]मर्थो गुणो पशुपतिरपारपेतनिविष्टम्यानामवयवत्, भावान्यतदन्यसभिन्निविशिष्टा-दिष्पतोऽनामकवेदनतय न योकः, अन्यथा-तदन्यत्वाभावे तन्त्राभावात् भवान्न पयान्य इति पशुम न्यायः, वैशत्वात्मकत्वात् पराधानमस्त्वात्व नदीनिदतानानपकपद्गन्ता मध्यो यावन् रूपादिमनन्यत्वा अपरमाणुवदिति मायनादारत्म भाविनार्थमिन्नमन्यत्वादि पराद्य भावयितव्यमिति ।

अथाह—

अभावस्तर्हि, अन्यनभिरन्याप्रुषः, ततुणवत्, यथा तपुत्वं नाग्निनानग्निः, तदवस्या भेदत्वान्याप्तेरनथ तथाऽस्मिन्न स्यातामिति, ननु मिश्रान्यपस्थानलक्षणव्याप्तसीयन्यथ पर्नीयमर यदि दाह्यदाहकस्पन्दनलक्षणनियमो न व्यवस्थितः तदाऽग्निरपि दहेत काष्ठवत्, पच्यत, ओदनवत्, भुज्यत चादनवत्, तथन्धनमपि धूपगोर दहत् पयेषाग्निवदित्यनुभय-ताऽप्यवस्थान ।

अभावस्तर्हीत्यादि, ते भवीन्धन न न्तः तर्हि, कस्मात् ? अन्यनभिरन्याप्रुषः व्याप्तुयाम-

निवचितव्यात् वा भवतिति भाव । तत्त्वनानुरतथातमित्वरतभावमं पर्थावर्धितरिखनुगममपि वैयर्थ्यवती भया-पीति वान्तीर्नानिता तदन्यत्वेनि न कल्प्यम् अन्यथा यत्र यथान्यत्र न्यत्र तथान्त्वा(?) न कल्पयता तत्रम् यथा तन्-पादानपरात्मन्यद्वाभिनलोऽपि रावत नवमनन्यतात्म एवेति न कल्प्य तत्त्वभिधाप्रवर्ती भव । एवं तन्मोऽन्यत्र एवेति न वाच्य अन्यतत् पर्यायनमन्यानुभित्र अनुमितम्य इति न कल्प्य अन्यतात् तथानुमानात्मन्यतवेद, नानावमं इति न कल्प्यम्, समानत्वात्मन्यतरमन्यात तादृशमोऽन्यत्व इति न कल्प्य तत्त्वद्भावात्मतरतत्नुपतिति नत्र एतत्क-व्यार्थावितीचा । तत्र एवितव्यमवे भिरभेनान्तरमाह वासुपात्रिष्यपर्यन्तातित यवत एव यत: यद्योतिवन्नामाताय तच-निति भर्थरितवे एव्मानिनतयामान्य एव इति प्राप्त्यरत्वतानुरेय तत्र इति तानितसमनुपेत तर्क इति, एषोऽपि न यद्युपरि व्यवस्थितवतोऽनयान्य अन्योऽन्य एवेरातमान्योन्यत्वं । अतं निश्चमाह-तायकप्रयमतरेति अवेत एव दुरुत्त इमा पेक्षया निवृती प्रमाणतरेवया भावनि वैशिष्ट्यात्मया मातुल इवेमेवेऽपि तत्त्वमन्यत्वेणाम नानान्यत्वेयाप्यमाणि तदपिति भाव । निवे मत्वत्तलायोवपाभावे तत्र भैरामाणे भेदा भवे इति पशुमायत्वा वैशत्मन्यतपानम्यानान्, भवति धर्मावरमध नाभवाद-तर्हिवत्वानाय इति । अभावस्वरूपानवनिनियमोऽयम भाह भवाधित एवेति तदुक्तो मर्मयार्थ इत्याह-तन्मतिपातमोपायेति भवत्यनमनियमोमावेत्वं । एतर्हि तथापि न्यनभिन्नमपि बाधित एव बाधुमर्तु स्याति तद्-अभावस्तर्हीति । हेत्वाह- अन्यनभिरन्याप्तेरिति एवरेवमपि व्याप्तानि वत्र वेऽग्निरनाप्तरितिस्वात स्यादिति भाव । हेतुं व्याचष्टे-व्याप्तेरिति इन्धनामोऽयत्वे इन्धनमग्निरेव स्यात्, तदेवमन्यत्वेनिवचनम्याप्तमिन

१ सि क्ष डा वे तदाधेयावि । २ सि क्ष डा वे °यवेतु तत्तु ।

नग्निरित्यादिवत् एकत्वेऽग्निरेवेन्धनमन्यत्वेऽनग्निः, तथेन्धन[ा]ग्नि-धनत्वव्याप्तेरित्यपि भवति हेतुः, तत्पर्यायमात्रत्वात्, खपुष्पवत्-यथा खपुष्पं नाग्निर्नानग्निः, तदेकत्वानेकत्वव्याप्तेरसत्त्वं तथाऽग्नीन्धने स्याताम्-उभयमपि नेत्यर्थः, अत्र वयं ब्रूमः, ननु भिन्नत्वादि एतदप्यनुभयस्य न घटनीयम्, कस्मात् ? भिन्नव्यवस्थानलक्षणत्वात्, भिन्न-विविक्तमसङ्कीर्णं व्यवस्थान-लक्षणमेषां दाहकत्वादिलक्षणमग्निरेवायमौष्ण्यदाहकादिलक्षण इति तदेव व्यवस्थानं भिन्नं लक्षणमस्योभयस्य तद्यथाऽग्निमव्यवस्थानलक्षणत्वात्, संवृतिसत् घटपटवदनुभयत्वम्, तस्माल्लक्षणसद्भावाभावात्खीत्यप्यवचनीयमेव स्याम्नव दाहकदहनलक्षणस्यासिद्धिरिति तत्स्वधर्मसिद्धिरेवेत्य न, यस्मात् सिद्धं सत्त्वं धर्मधर्मिणोरिति, तत्र[सा]धनार्थमाह-यदि[दा]ह्यदाहकत्वेत्यादि, यदि काष्ठं दाह्यं दाह्यमेव दाहकोऽग्निरेवेति लक्षणनियमो न स्यात्तयोर्व्यवस्थितः ततोऽग्निरपि दह्येत काष्ठवत्, पच्यमानौदनवत् पाचकस्वलक्षणाव्यवस्थानात् पाच्यत्वात्, ततो भुज्येत चौदनवदेवैं पृथगनिष्ठत्वेवत्, तस्माद्व्यवस्थित पाचकदाहकत्वादिलक्षणमेभ्यः, तथेन्धनमपि दाह्यपाच्यादिव्यवस्थितभिन्नलक्षणं यदि न स्यात् पृथगेव दह्येत विनाप्यग्निना काष्ठतृणादिसंहतं यथैवौदनादिकमग्निवदग्निरित्यादितो दहनमन्तरेणैव पाकः स्यात्, न तु भवति, तदुपसंहरति-इत्यनुभयवाच्यवक्तव्यैवेति ।

अनुभयश्चेन्नास्ति उभयमस्ति तर्हि तयोरुभयं भिन्नव्यवस्थानवृत्तमपि, एष नाभ्युपगम्यते ततो सर्वात्मकैकनित्यकालाद्यव्यसमञ्जावतस्त्वमसदभिरुपास्य चेत्येतदुभयं स्यात्, तच्च न भवति मिश्रितत्वादर्थानां पञ्चानाम्, अनुभयस्यप्रतिषेधादुभयत्वमिति चेत्, अव्यक्त्यावक्तव्यत्वात्

प्राप्तम्, अन्यत्वे इन्धनमनग्निरेव स्यात् अन्यत्वादित्यग्निव्यावृत्तत्वादनग्निर्न तथा च प्रकरणमावरसत्त्वं प्राप्तमिति भावः । एवं व्याप्तेरेकत्वानेकत्वादित्यपि हेतुः तयो बहुम्, अग्नीन्धनके पर्यायत्वात् हेत्वोरपि पर्यायमात्रत्वादित्याह-तथेन्धनेति, [illegible] एकत्वे इन्धनमेवाग्निरन्यत्वेऽनग्निरनग्निरिति भाव । दृष्टान्तमाह-खपुष्पवदिति । व्यतिरेकि-यथेति, यथा खपुष्पं नैकत्वतो नाग्निः नानेकत्वतः नानाग्निरेकत्वात् तथाऽग्नी उभयोरेकत्वस्य [illegible] अनेकत्वस्य [illegible] व्यावृत्तित्वाद्गुभयमपि नेति भाव । अग्नीन्धनयोरनुभयत्वमप्यवचनीयमेव प्रभवत्वव्यवस्थानलक्षणसद्भावादित्याह-ननु भिन्नेत्यादीति । हेतुं व्याचष्टे-भिन्नं विविक्तमिति । दाह्यमनुष्णस्वभावं काष्ठं भवतीति [illegible] दाहकः उष्ण-स्वभावोऽग्निरित्यभिव्यक्तं [illegible] वस्तुविति भिन्नाभिन्न[illegible] काष्ठमग्निरेवमुभयं भिन्नमपि न तु अन्यथा [illegible]-लक्षणमेवैवमिति एवं [illegible] व्यवस्थापनस्य [illegible] वाच्यमिति भावः । ननु वस्तुसिद्धौ हि लक्षणैर्व्यवहारस्य [illegible], [illegible] धर्मसिद्धेश्च आश्रयसिद्धौ [illegible] वर्त्तते [illegible] धर्मधर्मिणोर्न सत्त्वमसिद्धम्; दाह्यत्वदाहकत्वयोर्दाह्यदाहकयोर्व्यवस्थितत्वादित्यनेन दाह्यं न दाहकम्, इदमेव न दाहकं न दाह्यमिति हि व्यवस्थितिः [illegible] दाहकत्वमेव च दाह्यत्वमेवेत्यनेन न दाह्यत्वम्, यदि तयोरैक्यं व्यवस्थितिर्न स्यात् तर्हि दाह्यमग्निरपि स्यात् काष्ठमिव पाचकोऽप्यग्निः पच्येत, पाचकपाच्यत्वलक्षणयोरव्यवस्थितत्वात् ओदनवदेव भुज्येत च, न चैवं ततो दाह्यदाहकत्वादिधर्माणां व्यवस्थितधर्मिभिरित्याहसेधर्मिणेः सत्त्वं सिद्धमित्याह-यदि काष्ठमिति । यथाग्निः पाचक एव दाहक एवेति काष्ठं पाच्यमेव दाह्यमेवेति व्यवस्थितलक्षणं न स्यात्तर्हि विनाप्यग्निमोदनादिकमग्निरिव पचेत्, दहनेन विनापि पाचो भवेत्, न चैवमतः पाचकदाहकत्वेन काष्ठं व्यवस्थितमित्याह-तथेन्धनमपीति । एवं लक्षणसद्भावादग्नीन्धनयोरनुभयत्वमवचनीयमेवेत्युपसंहरति-इत्यनुभयतापीति । उभयत्वपक्षमाशङ्कते-अनुभयश्चेदिति । अनुभयत्वस्य प्रतिषेधे हि तत्प्रतिपक्ष-

1 सि. क्ष. डे. °त्येत्कर्मि । 2 सि. क्ष. डे. पाच्यत्वात् । 3 सि. क्ष. डे. °दृष्टवत् ।

अन्यत्वप्रतिषेध एकत्वमिति चेत् न, तस्याप्यवक्तव्यत्वात्, एकत्वान्यत्वोभयत्वानुभयत्व प्रतिषेधेन च प्रधानोपसर्जनभावोऽपि प्रतिषिद्ध एवेति सर्वथाप्यवक्तव्यतैव ।

(अनुभयश्चेदिति) अनुभयश्चेमास्त्वनुभयमस्ति तर्हि, तयोरेव भिन्नत्वात्, तथापि, एवं नाभ्युपगम्यते ततो-भिन्नत्वस्यैवानभ्युपगमात्, उभयत्वा[न]भ्युपगमे तु प्राप्त मिथ्याभयम् ? तथा सर्वात्मकैकत्वादि, एक सर्वात्मकं भिन्नं सर्वगतमनुत्पाद्यमस्य अव्यक्तमिवस्वभावप्रधानपुरुषादीनामन्यतमत्वात्तत्वस्यसर्वेषाद् निरुपाख्यमवस्त्वसत्त्वासत् खपुष्पादि चेतदनुभयं स्यात् एकत्वान्यत्वानुभयत्वाभावे गत्यन्तराभावात्, तच न भवति निश्चितरूपादेर्पा प्रमाण्यम्, अनुभयप्रतिषेधादुभयत्वमिति चेत् सामान्यमनुभयमनुभयाभावोऽस्त्वम्, असत्त्वस्य प्रतिषिद्धत्वादुभयं तदभिप्राय: सती एव द्वे वस्तुनी भवितुमर्हत इति चेन्न, अन्यत्वाच्च व्यत्वात् यदनुभयत्वमन्यत्वमेव परस्परभिन्नलक्षणे अभीप्सिते अन्योऽन्यस्मादन्ये इति, तच अन्यत्वं विचारितमसदेवेति तस्मादवाच्यवक्तव्यत्वम् असत्त्वादवैकव्यत्वाभावानुभयत्वप्रतिषेधादुभयत्वम्, अन्यत्व प्रतिषेध एकत्वमिति चेत्-सामान्यमन्यत्वप्रतिषेधे सर्वैकत्वमेव सिद्धतीत्येतच्च न, तस्याप्यवक्तव्यत्वात् एकत्वस्याप्यसत्त्वस्योक्तत्वेन भयोक्तत्वादवक्तव्यत्वेन, इत्यमेकत्वान्यत्वोभयत्वानुभयत्वानि प्रतिषिद्धानि, सावाधस्य-सामान्यविशेषयोरभीप्सितयोरैकत्वाद्यभावेऽप्यन्यतरप्रधानोपसर्जनतया प्रवृत्तेरस्तु वक्तव्यतैवेति तथाप्युक्तम् एकत्वाद्ययुक्तिमत्त्वयुक्तेरिति तदतिदिशन्नाह एकत्वान्यत्वोभयत्वानुभयत्वप्रतिषेधेन च प्रधानोपसर्जनभावोऽपि प्रतिषिद्ध एवेति, यस्मादेतयोः सामान्यविशेषयोरप्रवृत्तेरभीप्सितयोरसत्त्वमेव एकत्वा-

उभयत्वस्य प्रसक्त अभीप्सितयोरेव भिन्नत्वात्तस्यानभ्युपगमात्-तयोरेवमिति । यदि तदुभयं परस्परव्यावृत्ति निरुपाख्यं न स्यादि तत् तच मवीतिमाशङ्कते-एवं नाभ्युपगम्यत इति । उभयत्वानभ्युपगमे प्रसक्तं तदुभयत्वा-भ्युपगमोपगमादिति भाव । तयोरेवो भाव एकत्वसर्वात्मकत्वभिन्नत्वसर्वगतत्वानुत्पाद्यत्वाव्यक्तत्वादिधर्मात्मक वस्तु वा निरुपि-कमात्ये वा प्रधानं वा पुरुषादि वा स्यात्, अपरथा खपुष्पोपमं निरुपाख्यं वा वस्तु असत्त्वात्, खपुष्पादि चेदुभयं स्यादिति तथायते-एकं सर्वात्मकमिति । इदं तत्त्वप्रतिषेधमुभयत्वं प्रसज्यमिति भाव । अथ नितरोऽभिन्नं वस्तु सामान्य हेतुमाह एकत्वेति एकत्वान्यत्वयोरनुभयात्मक चाभीप्सितयो प्रतिषिद्धत्वादत्राप्यनुभयत्वमनुपपत्तिरेव यदि निरुपाख्यत्वं भवत्यभावादिति भाव । सत्त्वासतोरेवेति न तथाविधवस्तुनिर्भावत्वाभावात् प्रतिषिद्धत्वादित्याह-तच न भवतीति । ननु तदुभयत्वमनुभयभावर्हि ते एकादिना प्रतिषिद्धम् तच चानुभयाभावाऽपेक्षत्वमात् सद्रूप एवेति व्यावर्तकत्वमेवानुभयत्वं भवितुमर्हतीति शङ्कते-अनुभयेति । व्याचष्टे-सामान्यमिति । उभयत्वं अन्यत्वमेव परस्परभिन्नलक्षणत्वमुक्तत्वादि चाभीप्सितत्वे वस्तुनी परस्परतोऽन्ये इति चार्थं तत्र अन्यत्वमसत्त्वतोऽवाच्यमुक्तं प्राह्, असत्त्वमनुभयस्याप्यनयोरिति न वक्तव्यमितीव प्रतिषेधेन तथा चासत्त्वादन्यत्वावक्तव्यत्वादनुभयत्वप्रतिषेध उभयत्वं प्रत्येतीत्यपि न युक्तमिति व्याचष्टे-अन्यत्वावक्तव्यत्वादिति । अभिप्रायं स्पष्टयति-यदनुभयत्वमिति अभीप्सितयोरेकत्वमित्यर्थं । ननु सर्वान्यत्वप्रतिषेधात्प्रतिषिद्ध एकत्वं सिद्धतीत्याशङ्कते-अन्यत्वेति । एकत्वस्याप्यसत्त्वेऽप्यवक्तव्यत्वादवक्तव्यत्वं प्रत्युक्तत्वादित्याह-तस्यापीति । तदेकत्वादीनां प्रतिषेधमुपसंहरति-इत्यमिति । सम्बन्धं सामान्यमभिसन्धिरेव, तयोरैकत्वान्यत्वाद्यभावेऽपि प्रधानोपसर्जनभावेन प्रतिषिद्धमसत्त्वासत्त्वाभावेन वक्तव्यता स्यादिति सम्भवतीत्याशङ्कते स्यादाशङ्केति । एकत्वादीनां तयोरव्यवस्थया प्रतिषेधनेन प्रधानोपसर्जन भावोऽपि न सम्भवति तयोरत्यन्तासत्त्वादवक्तव्यत्वेऽपि एकत्वाद्यभावादिति । तदभिप्रायेणाह-यस्मादेतयोरिति एतयोः सामान्य-

१ सि. क्ष. डा. दे. तत्रोभयं । २ सि. क्ष. डा. दे. त्वानभ्युपगमो न युज्यते । ३ सि. क्ष. डा. दे. °प्रत्यपीत्यपि । ४ सि. क्ष. डा. दे. तदुभयत्व । ५ सि. क्ष. डा. दे. °रूपमवं त्वानुभयत्व ।

म्यत्वपक्षयोरिति प्रतिपादितम्, तस्मादनयोरसतोः का प्रधानोपसर्जनता खपुष्पवन्ध्यासुतयोरिव ? सा हि सतोरेव स्वामिभृत्ययोर्दृष्टेति, किञ्चान्यत्वपक्ष एवैषा प्रधानोपसर्जनता युज्यते, स च निषिद्धः, अभीप्सनयोश्च प्रवृत्तेरेकावती गतिः स्यात्, प्रवृत्तेश्च नानात्वमुभयत्वमनुभयत्वमभ्युपसर्जनमिन्धनप्रधानत्वमिन्धनोपसर्जनमग्निप्रधानत्वमिति, सर्वथा न घटते, तस्मात् सर्वथाप्यघटमानत्वमेवेति दग्धान्धवर्णनमिव कृतम् ।

एवं सामान्यविशेषयोस्तावदपेक्षत्व विशेषस्य भावेन नान्यत्वं, ततोऽनात्मनो भावस्याप्रवृत्तेरभावतैव स्यात्, न प्रवृत्तिर्भावस्य, एकत्वात्, दग्धेन्धनवत्, ननु यथा विशेष एकैकोऽपि प्रवर्तमानो दृष्टस्तथा सूक्ष्मावस्य एकको भावः प्रवर्त्स्यतीति चेत् को वा ब्रवीति निःसामान्यस्य विशेषस्य प्रवृत्तिम् ? अत एव विशेषत्वात् सत्येव विशेषीभवति, तदपेक्षत्वाच्च विशेषस्य, रूपं हि रसाद्विशिष्यमाणं सम्भवद्रसमपेक्ष्य विशेषो भवति तथा रसोऽपि नासत् खपुष्पाद्यपेक्ष्य, विशिष्यते स तस्मादनेन वा स इत्यादिकारकाणामेव कारकत्वात्, अविशिष्यमाणो हि विशेषः विशेष इति निर्देशमेव नार्हेत्, विशिंषन्नन्यमन्येन च विशिष्यमाणः विशेषो भवति, तस्मात् स्थितमिदं सामान्यमेव विशेषः इति, तथा च कुतः पृथक् प्रवृत्तिर्विशेषस्य ? को वाऽऽश्वासो विशेष एकैक एव प्रवर्तत इति ।

एवमित्यादि, प्रस्तुतसामान्यविशेषाविशार्थोपसंहरणनायोक्तो ग्रन्थः, सामान्यविशेषयोस्तावत् तथा-अपेक्षत्व विशेषस्य-भवतार्भाविन-अन्वयेन पृथिव्यादिना, किमुक्तं भवति ? सामान्यमेव निर्विशेषं मत्वैककमिति, अतस्तत्प्रदर्शनार्थमाह-नान्यत्वमिति, ततः किं ? ततोऽनात्मनो भावस्य-अप्रसिद्धस्वात्मकोऽप्यभावि घटादिविशेषात्मकाभावादिवस्यानात्मत्वं पृथिव्यादेः सामान्यस्य अनात्मत्वाच्च खरविषाणवदप्रवृत्तिः, अप्रवृ

विशेषयोरभीप्सनयोरेकत्वेऽन्यत्वे चापृथक्त्वं प्रतिपादितमेवेति तयोरभावादेव प्रधानोपसर्जनभावो निर्विषय एव खपुष्पवन्ध्यापुत्रयोः प्रधानोपसर्जनभावस्येवेत्यर्थः । विद्यमानयोरेव स्वामिभृत्ययोः प्रधानोपसर्जनभावो दृष्ट इत्याह-सा हीति प्रधानोपसर्जनता हीत्यर्थः अभीप्सनयोरेकत्वपक्षे प्रधानोपसर्जनता न स्यादेव, अपि त्वन्यत्वपक्षे सम्भवेत्, सा च न सम्भवतीत्युक्तमेवेत्याह-किञ्चान्यत्वपक्ष इति । एकत्वाभीप्सनयो यदि प्रवृत्तिः स्यात्तदेकत्वाभावतोऽभयत्वानुभयत्वाभ्युपसर्जनत्वगमप्रधानत्वेन्धनोपसर्जनाग्निप्रधानत्वान्यतमरूपेण गतिः सम्भवेत्, सा च सर्वथा न घटत इति सर्वथाप्यघटमानत्वमेवास्य दर्शने वस्तुतत्त्वं भवतीति प्रतिपादयत्वं सामान्यविशेषयोरेकत्वाविचारे दग्धान्धवर्णनमिवाभीप्सनयोरवर्णनं पर्यवसानमित्युपसंहरति-अभीप्सनयोश्चेति । अथ यथान्तिकं भाष्यमिति-एवं सामान्यविशेषयोरिति । अथ निर्विशेष उच्यते ग्रन्थ एतस्य प्रस्तुतेति, एतस्य विचारेऽन्योन्यापेक्षत्वे । सामान्यविशेषयोरेकत्वविचारे यदि विशेषनिरपेक्षत्वं सामान्यस्येति सामान्यमविशेषमुक्तं भवति-अपे क्षत्वमिति अत्र 'अपेक्षत्वं विशेषेण भावितात्मना भावस्यान्वयस्य पृथिव्यादेः' इति पाठः समीचीन इति भाति तत्पाठेन तु सामान्योऽप्रधानत्वाभावः भावस्याप्रधान्यं विशेषस्य प्राधान्यं स्यात्तथा चेत्युक्तं भवति सामान्यमेव निर्विशेषं मत्वैकमितीति मत्येन सामान्यप्राधान्यख्यापनेन विरोधः स्यादिति चिन्त्यं ब्रवीमि । भावविशेषनिरपेक्षत्वं पृथिव्यादिसामान्यस्यैकत्वे । ततश्च किमुक्तं भवतीत्यत्राह-सामान्यमेवेति अप्रधानस्य विशेषस्य प्रभावे सामान्येऽन्यविशिष्टत्वाद्यभिमानात् सामान्यमेवैकं भवति चान्यत्-विशेषे भवतीत्युक्तं भवतीति भावः । तथा विशेषाभावे दोषमाह-ततोऽनात्मन इति, यदि सामान्य-

तेरभावस्यैव स्यात्, परस्परापेक्षत्वेन, तत् साधनेन दर्शयति–न प्रवृत्तिरिति गतार्थम्। ननु यथेन्धनमित्यादि स एव ननु यथा विशेष एवैकोऽस्तीत्यादि पूर्वपक्षः। किन्तु रूपादिगुणप्रत्ययविपर्ययविशेषवादिना प्रतिपित्सुराहास्म भावनादिसम्भवे तत्प्रवृत्तिसम्भवे सूक्ष्मावस्था एकतो भावः प्रवर्तयतीति ब्रूयात्, अत्रापवदन्नवादी तन्मते नोत्तरं ब्रूते–क्वे वा प्रवीतीत्यादि निःसामान्यविशेषप्रत्ययाभावोपपादनेन दृष्टान्तासिद्धिं दर्शयति–अत एव विशेषत्वात् सर्वं विशेषीभवति–सामान्यमेव नासत् खपुष्पादिसमर्थः, तदपेक्षत्वादेवेति–रूपं रसादिविशिष्टमात्र सम्बन्धरसमपेक्ष्य विशेषो भवति तथा रसोऽपि रूप रसो घटो घाऽन्योऽन्यम्, नासत् खपुष्पमपेक्ष्येति, तद्दर्शयति कारकव्यापारतया विशिष्यते स तस्मात्तेन वा स इत्यादिना कारकक्रमे दर्शिते सम्बन्धिसम्बन्धापि कारकप्रयुक्तानीत्यादिमहत्त्वम्, अविशिष्यमाण इत्यादि यदि भावेन रहितो विशेषस्ततो विशेष इति निर्देशमेव नार्हेत् विशिष्यमाणसम्बन्धेन च विशिष्यमाणो विशेषो भवति, व्यापारावेशादेव कारकत्वं कर्त्रादीनां कारकत्वात्, विशेषक्रियावेशाभावे ह्यविशेष एव स्यादिति तस्मात् क्रियमेव सामान्यमेव विशेषाः सामान्यापेक्ष एवेति तथा च कुतः पृथक् प्रवृत्तिर्विशेषस्य सामान्याविनाभावात्। को वाऽऽयासः? न मन्येऽथोऽपि करणीयो रूप रसो वा घटपटादिर्वा विशेष एवैक एव प्रवर्तत इति रौम्यस्तोरवाङ्गुल्या संवृतिसत्यैनाम्युपगतयोर्घटपटयोरिवान्यत्वप्रतिपत्तेर्निमित्तभूतयोरिति कश्चिदप्येवं मा मंस्था इत्यभिप्रायः।

नैव भवति यदि पृथिव्यादिसामान्यव्यापारतया प्रवर्तते अत्यन्तविलक्षणविशेषापेक्षासत्त्वाभावात्, अनाश्रयस्य च विनाशप्रसङ्गात्तेरभावस्यैव स्यादिति भाव। अभावविषयमेवाह–न प्रवृत्तिरिति न प्रवर्तेत सामान्यम्, एकत्वात्, एवं शब्दनादिति भावः। पूर्वोक्तमन्यत्र प्रत्येकमिति–नन्विति। तत्रापवदे ननु यथेति विशेषवादो यद्यपि प्रतिपित्सावापि सम्भवे सामान्याभावेऽपि विशेष एव प्रवर्तते तथा सम्भवेऽपि सूक्ष्मावस्था सामान्यं प्रवर्तयति ये दोषा [illegible] सामान्यस्य प्रत्येकमुपेत्यात् सूक्ष्मावस्था एकत्वमिति भाव। मतान्तरमवलम्ब्यवादी निराचष्टे–क्वे वा प्रवीतीति विशेषाभिमतानुसारेण समाधिरियम् सामान्यरहितस्य विशेषस्य प्रवृत्तिरेव नास्तीत्युपगम्यते येन तन्निदर्शनं स्यात्, सामान्यरहितविशेषभावत्वसम्भवस्य विशेषत्वादेव सर्वेण विशेषा भवन्ति नासत् खपुष्पादिरिति भाव। एतदेवाह–तदपेक्षत्वादेवेति तदपेक्षत्वाभिप्रायेण यत् सर्वेण विशेषो भवतीति तदपेक्षत्वे नासत् खपुष्पादि, कथं स विशेषो विशिष्यमाणता प्रदर्शिता, यथा रूपं रसादिभ्यो विशिष्यमाणं तदपेक्षया विशेषो भवति घटेन रसो वा रूपादिभ्यो विशिष्यमाणो विशेषो भवति घटेन तस्मात् सामान्यमेव विशेषो भवति न तु निःसामान्यस्य प्रवृत्तिरिति भाव। कारकव्यापारप्रदर्शनेन तत् द्रढयति–विशिष्यत इति विशिष्यते स तस्मात्स विशिष्यते तेन स विशिष्यत इति पर्यायेणापादानकर्तृकरणनिर्देशानि अन्यकारकसम्भवे तदपि विशेषमिति भाव। अविशिष्यमाण इत्यादीति यो विशिष्यते विशेषाभिप्रायो भवति स विशेषो, विशिष्यमाणो भवन् भवति विशिष्यमाणो हि सर्वेण रसादय विशिष्यते रूपादि, रसादिभ्यो वा विशिष्यमाणो विशेषो भवति [illegible] येन भवता विशिष्यते तथाभिप्रायप्रकारेण विशेषप्रतिपादने न स विशेष एव न स्यात् खपुष्पादिरिवेति भाव। अतोऽपि व्यापियर्थि इति व्यापारविशिष्टस्यैव कर्त्रादीनां कारकता न तु निर्व्यापाराणाम्, तत्प्रवृत्तिविषयेण विशेषो न तु क्रियाविहीन स्यात्–व्यापारावेशादेवेति। सामान्येन सामान्यापेक्षो विशेषो भवतीत्युपसंहरति–तस्मादिति। एवं विशेषस्य सामान्याभावे [illegible] विशेषस्य [illegible] एव केवल प्रवर्तते रूपादिर्घटादिर्वेति कोऽपि न निश्चेतुमर्हति–तथा च कुत इति। यथा त्वया सामान्यमात्रपरिकल्पनस्य प्रतिपत्तिर्निमित्तं सांवृतिकत्वेनाभ्युपगतो घटपटादिरेकत्वे न तु वस्तुभूतः तथैवैकत्वादिः सामान्यमभ्युपगम्यत इति कश्चिदपि मा मंस्था इत्यभिप्रायं विशेषवादिनो दर्शयति–रौम्यस्तोरवाङ्गुल्येति। नन्वुपचार-

---

१ सि. च छा. दे. अविशिष्यमाणेत्यादि । २ क्ष त्वम्मेतु । ३ सि छ. भा. दे विशिष्यतामिति ।

सूक्ष्मावस्थाप्राप्तिविगम्यवयवावयविविशेषसामान्यकारणकार्याणां भेदे सिद्धे स्यान्नान्यथा, प्रधानावस्था हि सूक्ष्मा महदादिविषयस्थूलापेक्षैव ते चाऽवस्थे परस्परापेक्षे परस्परमन्तरेण न भवतः, एतच्च सूक्ष्मावस्थोत्थमेव त्वयाऽभ्युपगतं भवति, तद्व्यतिरेकेणाव्यवस्थानात्, तथा च तदनुपपत्तिरभावस्याप्यनभ्युपगमात्, प्रागभावप्रध्वंसाभावात्मकत्वादवस्थयोः ततश्च तेऽभ्युपगमहानिः ।

सूक्ष्मावस्थेत्यादि, यापि प्राप्तिरिष्टा कापि त्वयाभीष्टे केनचिदप्यन्तरेण सूक्ष्मावस्थो भावो विशेषरहितस्तिष्ठतीति साप्यवयवानामवयविनो विशेषाणां सामान्यात् कारणात् कार्याणां भेदे सिद्धे स्यादिति संभाव्येत, नान्यथा, प्रधानावस्था हि सूक्ष्मा-सत्त्वरजस्तमसां समता सा महदादिविषयस्थूलावस्थापेक्षैव, त एव गुणाः सूक्ष्माः स्थूलाश्च, ते चाऽवस्थे परस्परापेक्षे सर्पस्फटाटोपकुटिलगतिस्थितिकुण्डलभ्रमणादिवत् सर्पमन्तरेण न ते विशेषा भाव न तानन्तरेण स इति, एतच्च सूक्ष्मावस्थोत्थमेव त्वयाऽभ्युपगतं भवति, स च सूक्ष्मताभावो यावत्सत्त्वरजस्तमसामविरोधावस्थाविशेष एव भवति, तद्व्यतिरेकेणाव्यवस्थानात् तथा च तदनुपपत्तिः-एवञ्च सति भावस्यान्यथात्वस्य भावस्यानुपपत्तिः अभावस्यापत्त्यनभ्युपगमात् कस्मात्? प्रागभावप्रध्वंसाभावात्मकत्वादवस्थयोः-सूक्ष्मस्थूलयोः यथा घटः प्रागभूत्वा भवति भूत्वा च न भवतीत्यभावात्मकत्वादवस्थयोः प्राक् पश्चाच्च प्रथमसूक्ष्मः सूक्ष्मो भवति पुनश्च न भवति तथाऽस्थूलोऽपीत्यभावतानित्यभावश्च भाववादिनस्तेऽभ्युपगमहानिश्च ।

विशेषाणामत्यन्ताऽभिन्नं सामान्यं सूक्ष्मावस्थं सामान्यमुच्यत इति केनचिद्वर्केण [illegible] तदनुचित मित्याह सूक्ष्मावस्थाप्राप्तिविगम्यपीति । व्याख्ये-यापीति प्राप्ते-सूक्ष्मावस्थाप्राप्तेर्भावस्य सामान्यस्य [illegible] सूक्ष्मावस्थो भावो विशेषरहित स्तिष्ठतीत्येवमुच्यते तदा स्यात्सा सामान्यविशेषयोरवयवावयविनोः कार्यकारणयोर्भेदः सिद्धो नान्यथेति दर्शयति-साप्यवयवानामिति अवयविनः सामान्यात् कारणात् कार्याणां विशेषाणां कार्याणां च भेदे प्रमाणसिद्धे [illegible] सूक्ष्मावस्थाप्राप्तिः सम्भाव्येत अन्यथा [illegible] दुर्भणैवेति भावः । प्रधानावस्था हीति तथा प्रधानावस्था कारणावस्था सूक्ष्मावस्थेत्यभ्युपगम्यते सा चावस्था सत्त्वादिगुणत्रयसाम्यरूपा तथा सूक्ष्मता च [illegible] महदादिवत् गुणानां वैषम्यम् एवञ्च गुणेष्वेव स्थूलता सूक्ष्मता चाऽस्ति ते च स्थूलसूक्ष्मते परस्परापेक्षे [illegible] यथा सर्पमन्तरेण तदवस्था [illegible] इति तथा विशेषं विना सामान्यस्य सामान्यं विना वा विशेषस्य न सम्भव [illegible] सूक्ष्मा स्थानुपपत्तिरिति भावः । परस्परापेक्षावस्थत्वाभ्युपगम एवैतत् स च सूक्ष्मताभाव इति [illegible] एव [illegible] रेव भावस्यावस्थाने न सम्भवतीति भावः । [illegible] तथा चेति । भावस्यानुपपत्तौ हेतुमाह अभावस्याप्यनभ्युपगमादिति [illegible] इति भावः । [illegible]-प्रागभावेति प्रागभाव सूक्ष्मता [illegible] स्थूलता ते [illegible] भावो हि [illegible] भवति, स च [illegible] सूक्ष्मतया [illegible] एव स्थूलता [illegible] भावस्वरूपम् [illegible] स्यादिति भावः । [illegible] प्रथमसूक्ष्म इति [illegible] सूक्ष्मो भवति [illegible] भवति, [illegible] पुनश्च न भवति पुनश्च सूक्ष्मो न भवति-स्थूलो भवति सूक्ष्मताप्रध्वंसरूप भवतीति भावः । एवं स्थूलस्याप्येवमाह-तथाऽस्थूलोऽपीति अस्थूलः स्थूलो भवति पुनश्च न भवती [illegible]

१ सि० क्ष० छा० डे० [illegible] । २ सि० क्ष० छा० डे० [illegible] । ३ सि० क्ष० छा० डे० [illegible] । ४ सि० क्ष० छा० डे० [illegible] ।

अथाभावत्वमेव भावस्याभ्युपगच्छसि ततश्च चक्षुरादिलक्षणरूपाद्याकाशादि विशेषाणां निर्भासानामुत्पत्तिरसतीति सर्वशास्त्रलोकगतव्यवहाराभावप्रसङ्गः ।

(अथेति) अथ मा भूदभ्युपेतहानिरित्यभावत्वमेव भावस्याभ्युपगच्छसि ततश्च चक्षुरादि लक्षणेत्यादि, यथासत्त्व सामान्यस्येह वस्थापास्ता सामान्यात् चक्षुरादिरूपादीनामाकाशादीनामभावत्वात्तेषां विशेषाणां निर्भासानामुत्पत्तिरसती, रूपस्य चक्षुर्लक्षणम्, आदिग्रहणात् श्रोत्रत्वक्जिह्वाघ्राणानि मनश्शब्दस्पर्शरसगन्धानां लक्षणानि लक्ष्या रूपादयः तल्लक्षणात्मनामि चाऽऽकाशादिभूतानीत्यादिर्सर्वशास्त्र-लोकगतव्यवहाराभावप्रसङ्गात्तस्याभावत्वमपि नाभ्युपगन्तव्यमिति ।

अथाप्येवं प्रागभीष्टपरिकल्पे दोषादि यदनाश्रयत्वाभ्युपगमश्चेत् भावो विशेषान् व्याप्नोति न तु विशेषा भावम्, एकदेशावृत्तित्वात् तस्माद्विशेषेण सह सामान्यस्यैकत्वं नास्ति अस्ति तु विशेषस्य सामान्येन सह भावोपगमान्तर्भावितवृत्तेर्विशेषत्वादिति, एवमेव त्वं पृष्टःपक्षे अथ भेदवृत्तिः कथम्? दृष्टा हि भेदेन वृत्तिर्लोकेऽनयोः, एकत्वेऽनयोश्च विशेषावि दापवृत्त्योः कोपपत्तिः? ।

अथोच्यतइत्यादि, प्रागभीष्टपरिकल्पे-अपरिकल्पनेन सर्वैकत्वे दोषाभिधानसामर्थ्येन सर्वैकत्वे दोषा-भाव मन्यमानेन यथा परिहारः परमोच्यते तथा भावस्य विशेषैः सर्वैकत्वे दोषाद्विशेषस्य भावेन सर्वैकत्वे दोषाभावं मन्यमानः परिहारमाह—तद्यथा—यदि भावः सामान्यं पृथिवीत्यादि घटपटादीन् अन्यत्रासिद्धादीन् विशेषान् व्याप्नोति, न तु विशेषोऽन्यतरानि भावं पृथिवीत्व व्याप्नोति, एकदेशावृत्तित्वात्, तस्माद्विशेषेण सह घटेन पटेन वा [सामान्यस्य] पृथिव्या एकत्वं नास्ति, घटस्य त्वस्ति विशेषस्य सामान्येन पृथिव्यादिना भावेन

सापेक्ष भाव [illegible] भाव । ननु भवतु भावस्याभावत्वम् [illegible] अथाभावत्वमेवेति । [illegible] अथ मा भूदिति ।
[illegible]

[illegible] भावं तुल्यमपि—यथासत्त्वमिति । चक्षुरादीति [illegible]

[illegible] अथोच्यतेति ।

[illegible] भाव इति । [illegible] न तु विशेष इति । [illegible]

[illegible] तस्माद्विशेषेणेति । [illegible]

सह, कस्मात् ? भावोपग्रहान्वर्थाभिव्यक्तेर्विशेषत्वात् भावस्य-सामान्यस्योपग्रहेण तेनोपगृहीतत्वात् तस्मिन्नन्वर्थाभिव्यक्तिर्वर्तनमस्तित्वं विशेषस्य भावात्मस्वभावत्वात् कारणात् विशेषस्य विशेषत्वं नान्यथा, तस्माद्भावोपग्रहान्वर्थाभिव्यक्तेर्विशेषत्वाद्विशेषस्य सामान्येन सहैकत्वमस्तु भावाव्यतिरिक्तस्वभावत्वात् को दोष इति, एत[दे]व पृच्छ्यते सामान्यविशेषैकत्ववादी सामान्योपलम्भानिवृत्तेः, अथ भेदवृत्तिः कथमिति पूर्वपक्षेण, दृष्टा भेदेन वृत्तिर्लोकेऽनयोः, तद्यथा—पृथिवीत्वविशेषेण घटपटादिष्वभिन्ना भावस्य घटः पटो न भवतीति घटपटादेर्भिन्ना विशेषस्य, तेन वृत्ती परस्परविभिन्ने तयोः कोपपत्तिरेकत्वे ?

परस्पररूपतापत्तौ नानात्वकृतायां कस्मान्न समानभूतः समविशेषरूप एव संवृत्तः ? भावो वा विशिष्टत्वाद्विशेषरूपः ?, तदेकत्वात्, दृष्टा चेयं सामान्यविशेषयोरनुवृत्तिव्यावृत्तिभ्यां भेदवृत्तिः, विकल्पाविकल्पव्याघातः, एकत्वे कुतोऽयं विशेषः—इद न सह, इद सह इति, विशेषणक्रियाधारकरणाद्यनुपपत्तेश्च ।

परस्पररूपतापत्तौ नानात्वकृतायामिति, तदर्थस्यानिष्टापादनद्वारेण कस्मान्न समानभूतः समविशेषरूप एव संवृत्तः ? योऽयं घटो रूपादिर्वा विशेषः पटादिभ्यो रसादिभ्यो वा व्यावृत्तोऽपि सम्प्रवेशव्याप्त्या समानभूतः सन् सन् सन् भवति भवति पृथिवी पृथिवीत्येव वा निर्विशेषः कस्मान्न भवति ? प्रतिपक्षद्वयस्याविशेषानिष्टापादनात्, दृष्ट विशेष समर्थयति—भावो वा विशिष्टत्वाद्विशेषरूपः, कस्मान्न संवृत्त इति वर्तते तदेकत्वाद्विशेषवत्, घटत्वपृथिवीत्वरूपो रूपरसादिविशेष एव कस्मान्न भवति, उभयत्र तदेकत्वादिति हेतुः इतरेतरस्वरूपे दृष्टान्तौ, दृष्टा चेयं सामान्यविशेषयोरनुवृत्तिव्यावृत्तिभ्यां भेदवृत्तिः, अनिष्टापादनसाधनत्र—भावो विशेष एव स्यात् तदेकत्वात् तस्सामवत् विशेषो वा भाव एव

भावस्य सामान्यस्येति । अथैकत्ववादी सामान्यविशेषयोरेकत्वमानिर्व पृच्छति सामान्यभावस्याभिधेयनिर्वे—एतदेवेति । कि तस्मिन्नाह—अथ भेदवृत्तिः कथमितीति विशेषस्य भावाव्यतिरिक्तत्वे इतरेतररूपापत्त्या भावस्य भूतत्वेन भवनाभावादिधर्मस्य घटपटत्वेनैव वर्तनं कथम्, एवं च सामान्यविशेषयोर्भेदेन वर्तनं लोके यथा घटपटादिविशेषेषु पृथिव्यभिधेयाभिन्ना वर्तते घटस्य पटस्य च पृथिवीत्वात्, घटपटादिविशेषाणान्तु भिन्नं वर्तनम् घटः पटो न भवतीति परस्परं विभिन्नत्वात्, तस्मात् सामान्यविशेषयोरेकत्वे वृत्तौ परस्परविभिन्नता कथमिति भावः । सामान्यविशेषयोरितरेतररूपापत्तौ चानिष्टमाह—परस्पररूपतापत्ताविति । सामान्येन सह विशेषस्यैकत्वात्तेन परस्पररूपापत्तिप्रसङ्गात् परस्परेति विशेषः सामान्येनैकत्वात् समानभूतः अत एव सामान्यवत् समविशेषरूप एव संवृत्तः घटपटादयो विशेषाः परस्परं भिन्ना अपि सामान्यभूतत्वात् विशेषरूपेण भवन्तीति पृथिवी पृथिवीति वा सन् सन्निति समानभूता भावत्वात् कुतो निर्विशेषा न भवन्तीति भावः । अन्य-थाविशेषरूप एवेति समभूतसमोपादविशेषरूपताप्रसङ्गेनेति सूत्रवतीत्यनेनाह—प्रतिपक्षद्वयस्येति । नाविशेषरूपता विशेषस्य दृष्टविरोधात्, एवं हि विशेषेणैव विशेष इत्याह—दृष्टं विशेषमिति यदि विशेषो दृश्यते तर्हि भावस्य विशेषात्मकत्वाद्विशिष्टभूतः कुतो न संवृत्तः विशेषवत् सामान्यस्य विशेषैकत्वादिति भावः । भावार्थमाह—घटत्वपृथिवीत्वरूपेति घटादयः भावाभावात्मनां सर्वे घटपटपृथिवीत्वादि विहाय घटपटादिविशेषाः कस्मान्न संवृत्ताः तदेकत्वादिति भावः । सामान्यं विशेषस्य विशेषत्वे च सामान्यस्य तदेकत्वाविशेष एव हेतुरित्याह उभयत्रेति । विशेषस्य सामान्यतापत्तौ भावस्वरूपं भावस्य विशेषस्वा-भावत्वे च विशेषस्वरूपं दृष्टान्त इत्याह—इतरेतरेति । न चैतावति सामान्यविशेषयोरनुवृत्तिव्यावृत्तिभ्यां भेदेन वृत्तेर्दर्शनादित्याह—दृष्टा चेयमिति । इत्यनिष्टापत्तिमेव प्रयोगेण दर्शयति—भावो विशेष एवेति । एवं सामान्येन सार्धं भेदर्शनं दृष्टान्त-

1 सि क्ष डा के °रूपतापत्तौ ।

स्यात्, तदेकत्वात्, स्वात्मवत्, मृत्स्वात्मघट एव तदेकत्वात् घटस्वात्मवत्, घटो वा मृदेव स्यात् तदेकत्वात् स्वात्मवत्, किञ्चान्यत्—विकल्पार्थैकत्वव्याघात-प्रसङ्गे कुतोऽस्य विशेषः इदं न सह इदं सह ? इति, भावो विशेषेण सहैव न विशेषो भावेन, विशेषो भावेन सहैव न भावो विशेषेणेत्येवं विकल्पो नैकत्वे घटेते, विशेषहेत्वभावात्, अन्यत्व एव च घटेते छिन्न[त]ात् सहासहभावस्येति, इत्यत्र योऽयमुक्तमेकत्व भावेन सह विशेषस्य-विशेषणक्रियाधारकारणत्वानुपपत्तेश्च-विशेषणक्रिया कर्तरि विशिनष्टि समवेता विशेष्ये वा कर्मणि पृथिवीघटादौ वा, एतस्या क्रियाविषयमाधारो येन घटादिभ्यः विषयभूतेन विशिष्यते तत्करणम्, भावस्यैव वा विशेषः, यतो विशिष्यते घटोऽयं पटादिभ्यो भवतीति सोऽर्थोऽपादानम्, यस्मै विशिष्यते प्रतिपाद्यते स सम्प्रदानं श्रोता इत्येवं कारकाणां क्रियायाश्च विपूर्वशिषिधात्वाख्याया भिन्नार्थनिबन्धनत्वादेकत्वे त्वनुपपत्तिः इत्यर्थं कारकव्यवहारो भेदनिबन्धनः, तस्मात् इत्यत्वाद्युक्तमेकत्वम् ।

अभ्युपेत्याप्येतैरेव न युक्तमेवेति ब्रूमः—

अथापि कथञ्चिदित्यादि पूर्ववद्यावत् परमाणुवदिति, अथ मा भूवन्नेते दोषा इति भावविशेषयोरन्यत्वपक्षोऽभ्युपगम्यते चेत् तत्र तावदपि भावस्य विशेषेण सहान्यत्वं तेन तर्हि भावस्य विशेषात् पृथग्भूतं रूपमाख्येयम्, निर्दिष्टे हि पृथग्भूते रूपेऽन्यत्वं सिध्येत्, शक्यतां प्रतिपत्तुमयमस्मादन्य इति, यथाऽन्येषामन्येभ्यः पटादिभ्यस्तन्त्वादिम्, न शक्यते च भावस्य विशेषात् पृथग्भूतं तत्त्वं दर्शयितुम्, न ह्यन्यदन्यसाधारणरूपं भवति, तस्माच्छक्यते च ततः पृथग्भूतेन तत्त्वेन निर्देष्टुम्, न तथा विशेषात् पृथग्भूतमसाधारणं भावस्य रूपं शक्यं वक्तुम् । सामान्यविशेषैकत्वनानात्वाभ्यां त्वप्रदर्शितपृथिवीघटपटादिभिर्व्यवस्थितमपि स्यादिति चेदुच्यते न मम किञ्चित् सामान्यविशेषैकत्वनानात्वाभ्यां व्यवस्थितमस्ति त्वन्मतानुपूर्व्या संवृतिघटपटादिस्यैकर्म्य कर्तुमुपाश्रियते, अनिरूप्यमाणत्वसत्त्वापद्यते, अविशेषत्वे सत्त्वरूपत्वात्, खपुष्पवत् ।

मृदेव पुनर्घटस्वात्म-मृत्स्वात्मघट एवेति । विशेषनिरपेक्षत्वं भावस्य न तु भावनिरपेक्षत्वं विशेषस्य अथवा भावनिरपेक्ष एव विशेषः न तु विशेषनिरपेक्षत्वं भावस्येति विधिर्विकल्पो यस्तत्र कुतो भेदत्वं व्याख्यायते एकत्वे हि विकल्पोऽ-र्थानैकत्वे न किमपि कारणं पश्याम इत्याशयेनाह विकल्पार्थेति विधिर्विकल्पेऽनुपगम्यमाने एकत्वं कुत ? एकत्वे च कुतो विकल्पविशेष—सामान्यं न विशेषेण सह, विशेषः सामान्येन सहेति भावः । विकल्पविशेषस्यान्यत्व एव तयोः सामर्थ्याद-न्यत्व एव चेति । भावनिरपेक्षत्वं विशेषस्य यदि स्यात्तर्हि विशेषणक्रियाधारकारणत्वानां प्रतीयमानानामनुपपत्ति विशेषणं विशेष्ये निर्दिष्टक्रियात्मिका क्रिया विशेषणक्रिया सा कर्त्रि, कर्तृस्था कर्मणि कर्मस्था कर्मणि च पृथिवीघटादौ, क्रियाया-आधारः क्रियाधारत्वम् अनुरूपो आधारो भवतः घटादि पटादिना विशिष्यते तत्करणम्, घटादि करणम्, यस्माद्विशिष्यते अन्य एव न पटादीति तदपादानम्, यस्मै विशिष्यते प्रतिपाद्यते स श्रोता सम्प्रदानमिति कारकाणां विशेषणक्रियायाश्च भावविशेषैकत्वे भावस्य विशेषाभावादनुपपत्ति —क्रियाधाराणां भिन्नार्थनिमित्तत्वात् कारकव्यवहाराणां भिन्ननिमित्तत्वस्य दृष्टत्वादित्याशयेनाह भिन्नार्थक्रियाधारेति । तदर्थमर्थकं भिन्नार्थक्रियेति । अथ इत्यादिना नैकत्वमनुपपत्ति प्रोक्त । भावविशेषयोरन्यत्वे तदोषो नैवेति न एकत्वमेवाभ्युपेत्यापरोक्षत्वमभ्युपेत्यानन्तरं सर्वं भावस्य नियतीति-अथापि कथञ्चिदि

1 सि. क्ष. डे. °न्योन्यत्वात् ।

अथापि कथञ्चिदित्यादि, पूर्ववदुक्तसमर्थनपक्षे भावकल्प्यप्रसाधन तमेव मन्यमतिदिशति पूर्ववत् यावत्परमाणुरपीति सावधिक सहेतुकद्रव्यागमापायावकल्प्यत्वनित्त तुल्यगमत्वात् व्याख्यातार्थमेवेति, एव सामान्यविशेषयोरेकत्वे दोषा उक्ताः, एतद्दोषभयात् पक्षान्तरं निर्दोषं मन्यमानश्चेत् परो गृह्णीयात् अथ मा भूदेकत्वे दोषा इति, किं तत् पक्षान्तरम्? अन्यत्वं भावविशेषयोः, तत्राप्येकत्ववत् द्वयी गतिः, भावस्य विशेषेण सहान्यत्वं विशेषस्य वा भावेनेति तत्र तावद्यदि भावस्य विशेषेण सहान्यत्वमभ्युपगम्यते तत इदमापद्यते दोषजातं तेन तर्हीत्यादि यावत् संवृतिघटपटवदैक्यं कर्तुमित्यादि, उपसंहारसाधन-अनिरूप्यमाणस्वतत्त्वमापद्यते, अविशेषत्वे सत्स्वरूपत्वात् खपुष्पवत्, [ख]विशेषत्वे भावस्य विशेषावत्त्वमन्यत्वात्, पृथिव्या अप्समसिकतापदर्थविशेषमन्तरेणाख्यानात् तदात्मत्वमनिच्छत एकान्तेनाविशेषत्वे सत्स्वरूपत्व भावस्य तद्व्यतिरेकेणानिरूप्यरूपत्वात्, तस्मादसत्त्वमापन्न वस्तुनोऽन्यत्वे पृथग्भूयाद्यभावात्।

तदाख्यानाशक्यत्वे वा सत्त्वमित्युक्तेऽन्यत्ववादिना—

अथोच्येत रूपं पृथग्भावस्य विशेषादनुप्रवृत्तौ, तथा कुतो विशेषं विना? घटपटाद्यनुप्रवृत्तिरूपत्वेऽपि पृथग्भूयाख्यानाशक्यत्वात् यदि स्याद्भावो विशेषरहितस्ततो निरवशेषविशेषाभावेऽपि खपुष्पादावनुप्रवृत्तिरूपं स्याद्भावत्वाद्घटादिवत्।

(अथोच्येतेति) अथोच्येत रूपं पृथग्भावस्य विशेषादनुप्रवृत्तौ, दृष्टमिति भाव्य-

---

त्वादीति। अवकल्प्यत्वसाधनं पूर्वमन्येन तुल्यगमत्वात्तस्यातिदिशन्नाह—पूर्ववदिति एकमिति न तत्कल्प्यमिसेकत्वमति-देशेनावकल्प्यत्वसाधनं योज्यम्। उपसंहरति एवमिति। एकत्वे भावविशेषयोरुक्तदोषप्रसञ्जनेन तयोरन्यत्वपक्षमुत्थापयति-एतद्दोषभयादिति। अन्यत्वपक्षेऽप्येकत्ववत् किं भावस्य विशेषेण सहान्यत्वम्, किं वा विशेषस्य भावेन सहेति विकल्पद्वयं सम्भवति तत्र विशेषेण सह भावस्यान्यत्वे दोषमाह—तत्राप्येकत्ववदिति। पूर्वमन्यमेवानान्यत्वमतिदिशति—तेन तर्हीत्यादीति भावविशेषयोरन्यत्वाभ्युपगमेन विशेषरहितं रूपं भावस्य वाच्यम्, तदेवासमवाय्येन रूपेणान्य इति प्रतिपत्तुं शक्यते तच्च रूपं तथा न शक्यते दर्शयितुम् रूपेण घटाद्याकारेण वाच्यम्, न हि घटाकारं रूपं भवितुमर्हति तेषामन्यत्वाभिमते एवम् विशेषात् पृथग्भूतसाधारण स्वरूपं निर्देष्टुं न शक्यम् तथ घटः पटादिविशेषासम्भवा सामान्यत्वात् पृथिव्या भवत्व इति सामान्यविशेषत्वाभावात्तस्या [illegible] निर्देष्टुं न शक्यते [illegible] मम कस्यापि ताभ्या व्यवस्थाभावात् [illegible] निर्देष्टुं शक्यते तथाऽन्य न शक्यते निर्देष्टुमिति प्रतिपादनार्थमेव यथा दृष्टान्तम्, तस्मादनिरूप्यो भाव इति भावः। तदर्थोपसंहारमुखं साधनमाह—अनिरूप्यमाणस्वतत्त्वमिति यतो भावोऽनिरूप्यमाणोऽत एव भावोऽसन् अविशेषत्वे सत्स्वरूपत्वात् खपुष्पवदिति मानेनासत्त्वमापद्यत इति भावः। विशेषणमाह—अविशेषत्वमिति विशेषमिवत्वं तत् तथ भावे विशेषावत्त्वाम्य [illegible] तथा चाविशेषत्वे सत्स्वरूपत्वं भावस्य नास्त्येवमिति भावः। [illegible] तद्व्यतिरेकेणेति भावस्य स्वरूपं विशेषातिरेकेणानिरूपितमेवतोऽन्यत्वं भावस्यापन्नम्, विशेषसाम्यत्वे हि भावस्य पृथग्भावस्वरूपम् तच नास्ति तस्मादसत्त्वमिति भावः। पृथग् भवस्य वस्तुमत्त्वमस्त्येव भावोऽभवति विरुद्धिमत्यत्ववादी पूर्वपक्षयति—अथोच्येतेति। व्याचष्टे अथोच्येत रूपमिति व्यावृत्ति [illegible] पृथग्रूपं लक्षितम्। इदं पृथिवीत्वं पृथिवीत्वेन [illegible] विशेषमन्तरेण कथं

---

१ सि. क्ष. डे. °अवकल्प्यदोषा°। २ सि. क्ष. डे. °न्येकत्वा। ३ सि. क्ष. डे. तदर्थमपि।

स्यात्, तदेकत्वात्, खात्मवत्, घटस्यापट एव तदेकत्वात् घटस्यात्मवत्, घटो वा भूतेव स्यात् तदेकत्वात् स्वात्मवत्, किञ्चान्यत्–विकल्पार्थैकत्वव्याघातः–एकत्वे कुतोऽयं विक्षेपः इव न सद्, इव सद् ! इति, भावो विशेषेण सर्वात्मे न विशेषो भावेन विशेषो भावेन सर्वात्मे न भावो विशेषेणेत्यतो विकल्पो नैकत्वे घटेते विशेषत्वेऽलभमानात्, अन्यस्य एव च घटेते द्वि[त्व]ात् सदासद्भावस्येति, इतश्च नोपपद्यतेऽस्य भावेन सह विक्षेपस्य–विक्षेपणक्रियाधारकत्वाद्यनुपपत्तेश्च–विक्षेपणक्रिया कर्तरि विक्षिपति समवेता विक्षेप्ये वा कर्मणि पृथिवीघटादौ वा, एतस्या व्याधिकरणाधारो, येन घटादिना विपक्षभूतेन विक्षिप्यते तत्करणम् भावस्यैव वा विक्षेपः यतो विक्षिप्यते घटोऽयं घटादिर्न भवतीति सोऽर्थोऽपादानम्, यस्मै विक्षिप्यते प्रतिपाद्यते स सम्प्रदानं श्रोता इत्येषां कारकाणां क्रियायाश्च विपूर्वक्षिपिधातुवाच्याया भिन्नार्थनिबन्धनत्वादेकत्वे त्वनुपपत्तिः, इत्यथायं कारकव्यवहारो भेदनिबन्धनः, तस्मात् इत्यत्वात्युक्तमेकत्वम् ।

अभ्युपेत्याप्येतदेव न युक्तमेवेति ब्रूमः—

अथापि कथञ्चिदित्यादि पूर्ववद्यावत् परमाणुवदिति, अथ मा भूदयमेते दोषा इति भावविशेषयोरन्यत्वपक्षोऽभ्युपगम्यते चेत् तत्र तावद्यदि भावस्य विशेषेण सहान्यत्वं तन तर्हि भावस्य विशेषात् पृथग्भूतं रूपमाख्येयम्, निर्दिष्टे हि पृथग्भूते रूपेऽन्यत्वं सिद्ध्येत्, शक्यश्च प्रतिपत्तुमयमस्मादन्य इति, यथाऽन्येषामन्येभ्यः घटादिभ्यस्तन्त्वादीनाम्, न शक्यते च भावस्य विशेषात् पृथग्भूतं सत्त्वं दर्शयितुम्, न ह्यन्यदन्यसाधारणरूपं भवति, तस्माच्छक्यते च ततः पृथग्भूतेन तत्त्वेन निर्देष्टुम्, न तथा विशेषात् पृथग्भूतमसाधारणं भावस्य रूपं शक्यं वक्तुम् । सामान्यविशेषैकत्वनानात्वाभ्यां त्वत्प्रदर्शितपृथिवीघटपटादिनिर्देशवद्भावापि स्यादिति चेदुच्यते न मम किञ्चित् सामान्यविशेषैकत्वनानात्वाभ्यां व्यवस्थितमस्ति, त्वन्मतानुवृत्त्या संवृतिघटपटवदित्यैक्यं कर्तुमुदाह्रियते, अनिरूप्यमाणत्वस्यासमापद्यते, अविशेषत्वे तत्स्वरूपत्वात् खपुष्पवत् ।

इति पुनरस्माकं सुतरामात्र एवेति । विशेषविशिष्टस्य भावस्य न तु भावविशिष्टस्य विशेषस्य अथवा भावविशिष्टस्य विशेषस्य न तु विशेषविशिष्टस्य भावस्येति विविधौ विकल्पौ यत्र तत्र कुतो भेदस्य व्याख्यायते एकत्वे हि विकल्पयोरेकत्वेऽन्यत्वे न किमपि वाच्यं तस्मात् इत्यादिना विकल्पार्थेति विवेको विवक्षितोऽभ्युपगम्यमाने एकत्वं कृतम् । एकत्वे च कुतो विकल्पविशेष–सामान्यं न विशेषेण सह, विशेषः सामान्येन सहेत्यपि भाव । [illegible] एव तयो स्याद्विसद्–अन्यस्य एव चेति । भावविशेषयोः विशेषस्य यदि व्याप्तिः विशेषणक्रियाधारकत्वादीनां [illegible] विशेषणं विशेषः [illegible] विशेषणक्रिया च क्वचित् कर्तृस्था क्वचित् कर्मस्था कर्म च पृथिवीघटादि, [illegible] [illegible] आधारो भवतः घटादि घटादिना विक्षिप्यते तस्मात् घटादि करणम्, [illegible] एव न घटादिर्भवति तदपादानम्, यस्मै विक्षिप्यते प्रतिपाद्यते स श्रोता सम्प्रदानमित्येवं कारकाणां विशेषणक्रियायाश्च भावविशेषयोरेकत्वे भावस्य [illegible]. [illegible] भिन्नार्थनिबन्धनत्वात् कारकव्यवहारस्य भिन्ननिबन्धनत्वात् [illegible] विशेषणक्रियाधारादि । [illegible] विशेषणक्रियेति । अथ इत्यादि [illegible] पूर्ववत् [illegible] [illegible]–अथापि कथञ्चिदि

1 [illegible] ।

कपालावस्थाविशेषः, तस्मादविनश्वराण्वादिपुद्गलभावविषयपरिणामत्वादुत्पन्नो विनष्ट इत्याद्युपचारो भावस्यैव, नाभावस्य खपुष्पादेः सम्भवति ।

यदि मन्येथाः भावे भेदोपचार इति स भावादन्यत्वे खपुष्पवदेव स्यात्, न भिन्न इति तस्यास इति चोपचर्येत, अभावत्वात् खपुष्पवत्, अत एव च तत्सिद्धिः, भिन्नसमानाधिकरणस्य मुख्यमूलत्वात्, भिन्नो घट इति घटेन समानाधिकरणो भेदोपचारो गौणो मुख्यं भेदमनुप्रवृत्तिसहचरितमवस्थाविशेषं भावस्यापेक्ष्य विनष्टेऽपि क्रियते, अभिन्न एव वा भावे कपालाद्यवस्थायां भेद उपचर्येत स्तिमितसरःसलिलवदनुत्पादव्ययत्वाद्भावस्य, विशिष्यते विशेष इति सतो विशेषत्वात् तदपेक्षत्वाच्च, पूर्वोक्ताच्च तद्वृत्तित्वाच्च ।

(यदीति) यदि मन्येथा भावे भेदोपचार इति स भावादन्यत्वे खपुष्पवदेव स्यात्, न भिन्न तत्स्थ इति चोपचर्येत घटः, अभावत्वात्[अ]विशेषत्वात् खपुष्पवत्, किञ्चान्यत्-अत एव तत्सिद्धिः, अवश्यमीदृशेव भावविषय एवैष भेदोपचारः, भेदोपचारादेव भेदसिद्धिः भावादेव वा भेदोपचारसिद्धिः, किं कारणम् ? भिन्नसमानाधिकरणस्य मुख्यमूलत्वाद्गौणस्य, भिन्नो घट इति घटेन समानाधिकरणो भेदोपचारो गौणो मुख्यं भेदमनुप्रवृत्तिसहचरित अवस्थाविशेषं भवदन्यमप्यजीर्णत्वादिकं सर्पस्येव स्फटाटोपकुटिलत्वादिमुक्तावस्थतदीर्घत्वाद्यवस्थावदवस्थाविशेषं भावस्यापेक्ष्य विनष्टेऽपि भिन्न इत्युपचारः क्रियते, गौणस्य मुख्यमूलत्वात्, अभिन्न एव वा भावे कपालाद्यवस्थायां भेद उपचर्येत, स्तिमितसरःसलिलवदनुत्पादव्ययत्वाद्भावस्य पुरस्तादधिकरणमात्रस्य, किञ्च विशिष्यते विशेष इति सतो विशेषत्वात्तदपेक्षत्वाच्च-विशिष्यते

भावस्या सर्वमपि तत्परमेति । अथमपीति-भेदोऽपीत्यर्थः । तत्स्यादविनाशोपचारमाह तस्मादविनश्वरेति अविनश्वराणा-मण्वादीनां ये पुद्गलस्कन्धा भावविषयपरिणामे उत्पन्न इति विनाशविषयपरिणामे विनष्ट इत्युपचार परिणामश्च भावस्य तथैवोपचारस्य कर्तुं शक्यत्वाभावे खपुष्पादिवत् इति भावः । ननु भावेऽभावत्वाविशेषे न उपचर्यते तेन तस्यैवेह भाव्यमिति भावविषयमूलविशेषसिद्धिरित्याशङ्कते-यदि मन्येथा इति । उत्तरयति-स भावादिति, भेदोपचर्यते स यदि भावादन्य-स्यात्तदा स न स्यात् खपुष्पवत्, अतोऽयम् भिन्न इति तत्स्थ इति वा भवो नोपचर्येतेति दर्शयति न भिन्न इति । तत्त्वमावत्वे तत्स्य स्यादभिन्नत्वात् अविशेषत्वादिति विशेषरहितत्वादित्यर्थः । तन्नत्वात् उपचारो न सम्भवति भेदोपचारश्च क्रियते अत एव च भेदो भावस्य सिद्धयतीत्याह-अत एवेति । भेदोपचारो भावविषय एव अभावस्योपचारासम्भवात्, भेदो-पचारश्च क्रियतेऽतो भेदसिद्धिरित्याह अवश्यमिति । भेदसिद्धौ भेदोपचारः भेदोपचाराच्च भेदसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयत्वादाह-भावादेव वेति, भेदे सति भावः मुख्य स्यादेव तत उपचारो भेदस्य स्यात् प्रसिद्धस्यैवोपचारविषयत्वादिति भावः । तदेव कारणमाह-भिन्नेति भिन्नं भवतु तेन समानाधिकरणो य गौणः स मुख्यमूलः मुख्यमपेक्ष्यैव भवति मुख्यश्च भेदो-ऽनुप्रवृत्तिसहचरितोऽवस्थाविशेष यथा भवतोऽन्यस्य नवत्वतरुणत्वमध्यमत्वजीर्णत्वाद्यवस्था सर्पावस्थासु फणाटोपकुटिलत्वाद्य-वस्थाऽविशेषिता यदा न घटः कपालावस्था भाति तदा घटस्य या एव मुख्या भेदस्य अवस्था अपेक्ष्य भिन्नो घट इत्युपचर्येत मुख्याभावे उपचारासम्भवादिति भाव । तदेवं भावान्तराभावे भेदोपचारमुपदर्श्य भावस्यैव उपचारं दर्शयति-अभिन्न एव वेति एवं घटः कपालयो घट इति घट एव भाति किन्तु कपाले उपचारः सम्भवति कपालत्वसमावस्थायां भावोऽन्यस्य अपेक्ष्योत्पन्नत्वे भावे उपचार इति विवेकः । विशिष्यतीति विशिष्यते इति वा यथासिद्धं व्युत्पत्त्यनुसारेण विशेषो भावस्यैव तस्य च तस्मादेव विशिष्यते तेन वा विशिष्यते तस्मै विशिष्यत इत्येवं भावापेक्षत्वाच्च न भावादन्यो विशेष इत्याह-किञ्च विशिष्यत इति । भावा-

---

१ सि क ख डे. भावादभेदो ।

क्षेपः, अत्र ब्रूम तथा कुतो विशेष ? घटेऽद्रव्यात्मादिषु पृथिवीत्वाद्युपचितक्षणरूपं तद्विशेषं विना नेना [illegible] भ्युपेत्यानुवृत्त्या निर्विशेषं भावमसन्तमन्यत्वाभावान्निच्छेदे बोर्ष ब्रूम–यदि स्यादन्यो विशेषरहितस्तस्मान्निरवशेषविशेषाभावेऽपि खपुष्पादावनुभवतिरूपं स्यात्, भावत्वात् घटादावित्र, अनिष्टमेतत् ।

अथोऽप्येवं तद्विशेषप्रधानमन्यत्वं मा भूत्ताम्, तथापि विशेषस्य सामान्येन सहान्यत्वमस्ति दृष्टत्वात्, दृष्टो हि विशेषो भावविनाभूतोऽपि, यथा भिन्नो घट इति, अत्रोच्यते भावविषय एवैष भेदोपचारः, भिदिक्रियाविशेषणविशिष्टावस्था तु भावस्यैव मृत्पिण्डशिवकादिभवनानुविद्धस्य, नाभावस्य खपुष्पादेः ।

अथोऽप्येवेत्यादि, उक्तदोषभयात् सामान्यस्य विशेषेण सहान्यत्वमित्येतद्विशेषप्रधानमन्यत्वं मा भूत्ताम्, तथापि विशेषस्य सामान्येन सहान्यत्वमस्ति दृष्टत्वात् दृष्टो हि विशेषो भावविनाभूतोऽपि विशेष एव भावरहित [illegible] इति दर्शयति-यथा भिन्नो घट इति भेदो हि घटस्य प्रध्वंसाभावो विनाश-पर्यायः न च विनाशो भावात्मकत्वात् [illegible] दृश्यमानोऽन्यत्वं विशेषस्य भावादिति, अत्रोच्यते-भावविषय एवैष भेदोपचारः भिदिक्रियाविशेषणविशिष्टावस्था तु भावस्यैव घटाख्यस्य, अविच्छिन्नमृत्पिण्डशिवकादिभवनानुविद्धस्योत्तमभवनमन्यभवनपुराणविशरणभवनसामान्येनापचयरूपावस्थाभेद [illegible] अनिवार्यत्वमस्य अयमपि

मन्द [illegible] न हि भावे एवम्मिन् [illegible] तथा कुतो विशेषमिति [illegible] यदि स्यादिति [illegible] पृथिवी पृथिवी [illegible] खपुष्पादावपि पृथिवी पृथिवीते- [illegible] इति भाव । [illegible] सामान्यविनिर्मुक्तो विशेषस्य प्रधानस्य [illegible] -अथाप्यन्यदिति । ननु [illegible] भिन्नो घट इति [illegible] उक्तदोषभयादिति [illegible] तथापि विशेषस्येति । [illegible] दृष्टो हीति । निदर्शनमाह यथा भिन्नो घट इति । [illegible] इति भाव । [illegible] भावविषय इति भाव- [illegible] पुराणे [illegible] इति [illegible] इति भाव । [illegible] -अविच्छिन्नेति- [illegible] एते । [illegible]

१ [illegible] । २ [illegible] । ३ [illegible] । ४ [illegible] । ५ [illegible] ।

द्रव्य इति सिद्धमित्येतच्च न, अविक्षेपात्—उक्त प्रागनेकधा विरुद्धत्वसर्वविक्षेपस्य भावस्याभावाभावात् भाववत्, अविक्षेपत्वाच्च खपुष्पवदसतः क्वतोऽन्यत्वम्, किञ्च–यदपि च भावो विक्षेपेण सह भवति, न विक्षेपः, 'विक्षेपो भावेन सह न भाव इति च परस्परं सहासहवृत्तिभेद उच्यते स चासिद्धः, तयोरन्यत्वस्या सिद्धत्वात्, सिद्धे ह्यन्यत्वे सहासहभवन चिन्त्यं स्यात्, तत्तु न सिद्धम्, तस्मादयुक्ता सहासद्भवनकल्पना, अन्यत्वञ्च तयोरभ्युपगम्यापि मृषा, तथापि कस्मिंश्चिदित्यादि यावत् परमाणुवदिति, स एव त्वभ्युपगमो भन्योऽन्यस्याभिधेयार्थोऽन्यदन्यदेवेति न वक्तव्यमिति प्रतिज्ञाय भन्यत्वात्, इत्यादन्यानन्यदेव वचनात्, यावदपि द्रव्यान्तराभ्या[न]न्यपरमाणुवदिति स व्याख्यानोपायप्रदर्शनेन गतार्थः ।

एवमेकत्वान्यत्वयोर्निषिद्धयोराह परः—

अत्यन्ताभावस्तर्हि तौ, विशेषाविशेषत्वाभावात् खपुष्पवदिति, ननु भिन्नव्यवस्थानलक्षणत्वादनुभयत्वमप्यवचनीयम्, यदि ह्यनुवृत्तिव्यावृत्ती तयोर्भिन्नव्यवस्थाने न स्यातां ततो रूपादिरपि पृथगेव भावात् प्रवर्तेत व्यावृत्तिरूपरहितत्वात्, भाववत्, भावोऽपि च रूपादेः पृथगेव व्यावर्तेत, अनुवृत्तिरूपरहितत्वात्, खपुष्पवदित्यनुभयताप्यवक्तव्यैव, अनुभयत्वेऽभावस्तु भवभवस्तु तर्हि भिन्नव्यवस्थानवृत्तमपि तदेवं नाभ्युपगम्यते ततः सर्वारम्भैकनित्यकालाद्यन्यतमत्वाद्वस्तुत्वमसन्निरुपाख्यत्वे स्यैतदुभय स्यात्, तच्च न भवति निषिद्धत्वादेषां पक्षाणाम्, अनुभयत्वप्रतिषेधादुभयत्वमिति चेत्, अन्यत्वावक्तव्यत्वात्, अन्यत्वमतिषेध एकत्वमिति चेत् तस्याप्यवक्तव्यत्वात्, एकत्वान्यत्वोभयस्यानुभयत्वप्रतिषेधेन च प्रधानोपसर्जनभावोऽपि प्रतिषिद्ध एवेति सर्वथैवावक्तव्यता, द्रव्यगुणकारणकार्यादिष्वप्ययमर्थ इति स्थितमवचनीये वस्त्विति ।

(अत्यन्तेति) अत्यन्ताभावस्तर्हि तौ विशेषाविशेषत्वाभावात्, खपुष्पवत्—भावविशेषयोरविशेषः एकत्वम्, विशेषोऽन्यत्वं तयोः प्रतिषिद्धत्वाद्विशेषाविशेषत्वाभावः, यस्य विशेषाविशेषत्वाभावस्तस्यासत्त्वम् यथा खपुष्पस्येति, अत्रोच्यते—ननु भिन्नेत्यादि, अनुभयत्वमसत्त्व तदप्यवचनीयम्, कस्मात्? भिन्नव्यवस्था

भिन्नव्यवस्थानस्य प्रागनेकधा निरूपितत्वादित्युत्तरयति–अविक्षेपादिति अस्मिन्नर्थे हेतुः अतिव्याप्तिविक्षेपात्मकत्वरहितस्य सामान्यस्य पृथिव्यादेरनात्मत्वात् घटादिभावाविरुद्धत्वाऽभावत्वेनेति कुतो विक्षेपान्यत्वमिति भावः । एवमन्यत्वमानिरूप्य भावविक्षेपयो सहासहवृत्तिभेदो न लभ्यते सोऽप्यसिद्ध एवेति निरूपयति–यदपि च भाव इति, सहासद्भावस्य द्विरूपैव भावविक्षेपयोरन्यत्वे सिद्ध एव सम्भवतो नान्यथेति भावः । अन्यत्वञ्च त्वन्मते तयोरभ्युपगमाप्यन्यदन्यदेवेति न वक्तव्यम्, कस्मात्, यत्र यत्रान्यत्वं तत्र तत्राभ्युपैकत्वमन्यत्वं यस्य, इत्याद्यन्यत्वान्यानन्यदेवेति वचनात् एवं द्रव्यान्तराभ्या-मन्यान्यत्वादन्यदेवेति न वक्तव्यमित्येवं यावत् तदन्योऽप्यन्य एवेति न वक्तव्यः कस्मात्, द्रव्यान्तरादन्यपरमाणुवदित्यन्तं भाव्यमित्याह अन्यत्वस्य तयोरिति । एवं भावविक्षेपयोरेकत्वान्यत्वे च प्रतिषिद्धेऽन्त्याभाव एव स्यादित्याह अत्यन्ताभावस्तर्हीति । सामान्यविशेषयोरेवं विशेषोऽन्यत्वमविशेष एकत्वमेतदुभयस्य प्रतिषिद्धत्वे विशेषाविशेषत्वाभावात्तयोरत्यन्ताभावत्वमेव स्यात्, एवं हि यत्र विशेषत्वमविशेषत्वञ्च नास्ति तस्याभावत्वम्, यथा खपुष्पस्य तस्मात्तयोरभावत्वं प्रसक्तमिति भावः—भावविक्षेपयोरिति सामान्यविशेषयोरनुभयत्वपक्षोऽयम् एकत्वमपि नास्ति अन्यत्वमपि नास्तीत्यनुपपन्नत्वात् । अयमपि पक्षोऽनुप पद्यमानस्य अवस्तुत्वात् अस्ति ह्यनुवृत्ति सामान्यम्, व्यावृत्तिर्विशेष इति तयोर्भिन्नं व्यवस्थानमित्याह सिद्धान्तीत्युत्तरयति–ननु भिन्नेत्यादीति । अनुभयत्वं असत्त्वं तदपि तयोरवाच्यमेव

१ वि च क्ष. डे. विक्षेपभावेन सह न भावावो च परस्परमनयोर्न वृत्तिभेदः ।

स तस्यात्मेन वा न इत्यादिनाऽविशिष्यमविशिष्यमाणो वा न विशेष एव, कारकाणामेव कारकत्वा-विसंवादित्वेन पूर्वोक्तावेवमविशिष्यति किञ्च तदृत्तित्वाच पूर्वोक्तावेति वर्तते, विशेषवृत्तित्वादभावस्य विशेषस्यास्मभावस्य विशेषेभ्योऽन्यत्वम् तथा भावप्रवृत्तित्वात् भाव[स्यात्म]नविशेषस्य भावोभावत्वं तदृत्तित्वादभावयोरद्वीत्यन्यायेन सुभावितम्, घटपटादिभावानुवृत्तित्वस्वेऽपि पृथगनिर्देश्यत्वात् ।

स्यान्मतमन्त्यविशेषस्तु परमाणुष्वन्यप्रत्ययहेतुत्वात् व्यावृत्तिरूप एवेति येन यत्—

भावावन्त्यविशेषस्तु नैव पृथग्भूतः, विशेषत्वात् घटवत्, यदा चाय भावाव्यतिरिक्तो न कदाचिदप्यभावो भवति खपुष्पवत्, ननु यदैव सामान्यमविशेषं तदैवान्यत्वम्, न, अविशेषात् भावस्यात्मलाभाभावादभावत्वापत्तेरुक्तत्वात्, यदपि च भावो विशेषेण सह भवति न विशेषः विशेषो भावेन सह, न भाव इति सहासहवृत्तिभेद उच्यते, स चासिद्धः, सिद्धे ह्यन्यत्वे सहासहभवनं प्रसिद्धत्वात् तथापि कथञ्चिदन्यत्वमभ्युपगम्यापि स्व मत्या यदन्यत् तदन्यदिति न वक्तव्यम्, अन्यत्वात् इत्यादन्यालम्बयेयदत्तघत् यावद्भूपादिलक्षणान्तरा-व्यानन्त्यपरमाणुवदिति ।

(भावाविति) भावावन्त्यविशेषस्तु नैव पृथग्भूतः विशेषत्वाद्घटवत् यथा घटो विशेषो भावात्मकः तद्वृत्तित्वात् स्वात्मवत् भावादपृथग्भूतः तथाऽन्त्यविशेषोऽपि तद्भावाद्वे यदा चायमित्या[दि] न कदाचिदप्यभावो भवति खपुष्पवदिति वैधर्म्यदृष्टान्तः भावाव्यतिरिक्तविशेषोपलम्भेर्भावादिविशेषसामान्यस्य व्यावृत्त्यभावोऽसिद्धमन्यत्वमित्युपनयः अत्राह—ननु यदैव सामान्यमविशेष तदैवान्यत्वम्—ननु भावोऽनुवृत्ति-लक्षणोऽभिधानत्वसर्वघटपटादिविशेषो न कश्चित् कुतश्चित् व्यावर्तते, अतो विशेषात् परस्परव्यावृत्तिलक्षण-

विशेषो यस्माद्यदि विशेषक्रियाकारकत्वमनुपपत्ति कारकाणामेव कारकत्वाविसंवादि पूर्वोक्तमत्र भावमिश्रात्—कारकत्वा-विशेषेति । पूर्वोक्त तदृत्तित्वमत्र भावाभिप्राय—किञ्च तदृत्तित्वाचेति तस्य इति वृत्ति तैव वा इति वृत्ति वृत्ति-रेव इतितत तदृत्तिरिति पूर्वोक्तम्, भावो न विशेषेभ्योऽन्य विशेषवृत्तित्वात्, विशेषवाक्यमपीति भावधर्मिक प्रयोग विशेष धर्मित्वतु विशेषे न भावाऽन्य भाववृत्तित्वात् भावकारणमपीति भावस्य यस्मात् विशेषस्वरूपमेवेति विशेषवृत्तित्वं भावस्य, विशेषस्य भावस्य स्वरूपमिति भावादि विशेषे हि परस्परमनन्यत्वमित्यादि भावाभेदप्रतीतात्, भावोऽनन्यत्वमिव विशेषस्य वृत्तिविशेषाभ्यासात्र विशेषा । भावत्वमेव सूचयति—तदृत्तित्वाद्वेति । कथं भावविशेषतत्त्वपदानि—घटपटादीति, घट पटादिषु पृथिवी पृथिवीत्वस्वरूपत्वात् कथं भावस्य विशेषं विना न सम्भवति अत पृथग्निर्देश्यत्वाभ्यासात् कथं विशेष इति भाव । ननु विशेषमपीति तत्पर्यायविरमेवानुमानतो व्यावृत्तरूपा विशेषो कोऽन्त्यविशेष इत्युच्यते स व्यावृत्तिमात्रस्वरूपत्वाद्भावा-दन्य इत्याशङ्कायामाह भावावन्त्यविशेषस्त्विति । पृथिव्या विशेषे व्यावर्तिता भावात् पृथग्भूतत्वात् सोऽन्यत्वे विशेषे विशेषत्वादेव न भावात् इत्यन्यत्र इत्यत भावाविति । व्यवस्थाति—यथा घट इति व्यवस्थादि भावस्यानुवृत्तिरपि यथा स्वात्मा भावस्य इति स्वरूपं भावादपृथग्भूतं स्वमिति भाव । वैधर्म्यं दर्शयति—यदा चायमित्यादीति विशेषो भावात्मिकात्वेन न भावव्यतिरिक्तोऽभावो भवति खपुष्पवद्, एवम् विशेषस्योपलम्भधर्मोऽनान्यव्यतिरिक्तत्वेति विशेषाद्भावान्यत्वं व्यावृत्त्यन्योऽन्यत्व-सिद्धमिति भाव । ननु अत्र सामान्यमेवान् यथाऽऽस्य स्वात्मभावे भवतं इति नैवत्वादि प्रवर्तते तदाऽविशेषं सामान्यमेव यत् किञ्च कश्चिदेकवार्त्तानात्तेन तदान्यत्वमपीति भावस्यानन्यत्वमित्याशङ्कते—ननु यदैवेति । अभिप्राय दर्शयति—ननु भाव इति अनुवृत्तिलक्षणो भाव अत्राऽनुवृत्तिलक्षणत्वेनावेक्ष्यते भावमनुवृत्त्यन्तरादिविशेषो न भिद्यते न वा विरोधिते यदा स भावो न कश्चित् कुतश्चिद्व्यावर्तते इति परस्परव्यावृत्तिलक्षणविशेषाद्भावस्यान्यत्वं तदेवेति भाव । निर्विशेषसामान्यमपीति

१ सि॰ क॰ क्ष॰ डे॰ भावत्वाभावात् । २ सि॰ क॰ क्ष॰ डे॰ भावावन्त्यमि ।

स एव दृष्टान्तो भव्यो यावत् सर्ववाच्यावक्तव्यतैवेति, तस्योपरि यथोक्तत्वं गुणस्य द्रव्येण सह नान्यत्वेऽपि द्रव्यगुणयोः परस्परेण सहैकत्वान्यत्वानुभयत्वोभयत्वप्रधानोपसर्जनत्वप्रतिषेधेन सर्वविधावक्तव्यतेत्युपसंहारो यावच्चक्षेपो भव्यो योज्यस्तथा कारणकार्ययोरपि पुनः सैव भव्ययोजना, आदिग्रहणात् सर्वगतासर्वगत नित्यानित्यावस्थावस्थावद्द्रव्यमोक्षादिविकल्पेषु समानः प्रपञ्च इति सिद्धमवचनीयं वस्तु इति ।

अतोऽन्ययोक्तौ वस्तुविसंवादः, अन्यस्यानन्यत्वेनानन्यस्य चान्यत्वेनावधारणात्, घटपटविपर्ययवृत्तिवदिति ।

(अत इति) अतोऽन्ययोक्तौ वस्तु[वि]संवाद इति प्रतिज्ञा, अन्यस्यानन्यत्वेनापि चावधारणादिति हेतुः, घटपटविपर्ययवृत्तिवदिति दृष्टान्तः यथा घटे पट इत्यवधार्यमाणे पटे च घट इत्यवधार्यमाणे विसंवाद एवमन्यस्मिन्ननन्यत्वेनेत्यादि योज्यम्, एकत्वान्यत्वोभयत्वानुभयत्वान्यतरप्रधानोपसर्जनत्वैरवधार्यमाणं वस्तु विसंवदते परस्पर[त] इति वस्तु व्याख्यातम् ।

अथवा नयो नियम एव वस्त्विति इच्छति, सामान्यविशेषैकत्वान्यत्वैकान्तावधृतस्वरूपैरेव निश्चितनियताधिकरणगमनात्, एकविधिना सामान्यविशेषयोरेकत्वेऽन्यत्वे द्वित्वेऽनुभयत्वेऽन्यतरप्रधानोपसर्जनत्वे च निश्चितनियताधिकभावेनावृतस्ववृत्तित्वात्, अवक्तव्यत्वे निश्चितनियताधिकभावेन वृत्तस्ववृत्तित्वात् ।

(अथवेति) नयस्वरूपमुच्यते-अथवा नियमः-विधिनियमसर्वभङ्गसमूहस्य नयस्वरूपप्रतिपादनाधिकारे प्रत्येकस्वरूपनिष्ठासाधायामेव नयो नियम एव वस्त्विति इच्छति यथावर्णितं नियमभङ्गाधारार्थं वस्तुना योग्यत्वस्तीति विकल्पवस्तुसंभव प्रदर्शनम्, तद्यथा—सामान्यविशेषैकत्वान्यत्वैकान्तावधृतस्वरूपैरेव निश्चितनिय-

यतात्मकत्व सर्ववाच्यावक्तव्यतापि प्रत्ययभेदतो द्वार्वेन्तिकमनन्य यथोक्तं गुणस्येत्यादि सर्वेषामवक्तव्यतेत्यन्तो भाष्यः । सर्वादिविकल्पादिसमुच्चयनाद्–आदिग्रहणादिति । अवचनीयमनिरपेक्षमुपसंहरति–इति सिद्धमिति । अवक्तव्यमेव वस्तु भवति एवविपर्ययेनाभ्युपगमे तु वस्तुना परस्परं विसंवाद एव भवतीति नियममयोग वस्तुव्यवस्था विशेषेति प्रयोगतः बोधं प्रदर्शयन् वस्तु व्याख्यामनुपपन्नारम्भ-अतोऽन्ययोक्ताविति । यथा वस्तुस्वरूपमुपवर्णितं ततोऽन्यप्रकारेण वस्तुस्वरूपे प्रोच्यमाने न वस्तुना परस्परं संवादः किन्तु विसंवाद एव भवतीति प्रतिज्ञार्थः अत इति । हेतुमाह–अन्यस्येति अन्यस्यानन्यत्वेनानन्यस्यान्यत्वेनावधारणादन्यत्वेनानुभयत्वेनोभयत्वेनान्यतरप्रधानोपसर्जनभावेन वाऽवधारणादिति हेतुः । दृष्टान्तमाह–घटपटेति । व्याचष्टे–यथेति, यथा घटे पटत्वेनावधार्यमाणे पटे वा घटत्वेनावधार्यमाणे विसंवाद तथानियतार्थविसंवादमाह एवमन्यस्मिन्सामान्यविशेषादिरूपे वस्तुन्यनन्यत्वे नावधार्यमाणेऽनन्यस्मिन् वाऽन्यत्वेनावधार्यमाणे वस्तु परस्परं विसंवदतेऽपि भाव । एवं वैपरीत्येनावधारितमित्यवधारणे परस्परं वस्तुविसंवादो दुर्वार एवेत्याह एकत्वान्यत्वेति । अथ नयस्यास्य नियमस्य स्वरूपमुच्यते–अथवेति । विधिनियमाद्यवस्थाद्वयमात्र एव सम्यक्त्वं परिपूर्णमिति प्रतिपादनप्रस्तावे प्रत्येकमात्रस्वरूपनिष्ठासाधायामेव तदधिकारात् प्रत्येकस्वरूपनिष्ठायां समुपस्थितायां मन्यते नयो नियमरूपमेव वस्तु यावन्तोऽपि विकल्पा–विधिनियमेति । पूर्वविकल्पेषु प्रतिपादितानां वस्तुनामवस्थानं यथैव नियमभङ्गार्थानुसारेण वस्तु भवतीत्याह–यथावर्णितमिति । निश्चितो नयोऽभिन्नो वेति नियम इति वर्णितमित्यर्थः । पूर्वविकल्पेषु सामान्यविशेषयोरेकत्वमनेकत्वमुभयत्वमनुभयत्वमन्यतरप्रधानोपसर्जनत्वं वा वर्णितम् किन्तु तद्रूपेण वस्तु न वर्तते निश्चितनियताधिकभावेन वस्तुस्वभावस्व-भावनियतत्वात्तथैव वस्तुनोऽपि नयो निश्चितनियताधिकभावेन मन्यते नियमाद्यवस्थामुपपन्नमित्याह तद्यथेति । नियम-

1 सि. क्ष. डे. विपर्ययवृत्ति । २ सि. क्ष. प्र. डे. °वसमवतमवक्तव्यैकादि । × × प्र । ३ सि. क्ष. डे. °वस्तुसंभ । ४ सि. क्ष. डे. °वृत्ता च ।

नभसपरत्वात् यथाऽग्नीन्धनयोर्दहनदाह्यविभिन्नयत्नानभिन्न लक्षणे त्व इत्यनुभयत्व नासीत्युक्त तथेह भाव-विशेषयोरप्यनुवृत्तिव्यावृत्तिभिन्नयत्नानभिन्न लक्षणे त्व इत्यनुभयत्वमप्यवगमनीय पूर्ववत् गमनीयमिति तत्प्रसाधनार्थमाह—यदि अनुवृत्त्यादि, अभिन्नप्रापणोदाहरणे तु विशेषः—ततो रूपादिरपीत्यादि, एवं विशेषो रसोऽपि भेदरूपेण पृथगेव भावात्-तेनैव रूपेण, व्यावृत्तिरूपरहितत्वात्, भाववत् भावोऽपि चानुवृत्तिरूपः सन् रूपादेः पृथगेव व्यावर्तेत, अनुवृत्तिरूपरहितत्वात्, खपुष्पवत्, यद्यनुवृत्तिव्यावृत्ती सामान्यविशेषयोः भिन्नयत्नस्थाने न स्यातां स्यादेष प्रसङ्गः प्रस्तुते यस्माद्भावो रूपरसादिष्वनुवर्तमानो दृश्यते विशेषाश्च रूपरसादिभ्यः परस्परं व्यावर्तमानाः, तस्मादनुभयत्वमप्यस्ति, किन्तु भिन्नयत्नस्थान-त्वमप्यनुभयत्वमस्तु—अन्यत्वमित्यर्थः, एतदनभ्युपगमे दोष उच्यते-भिन्नयत्नस्थानेऽस्मिन् वा वस्तुत्वस्य स्यात्, सर्वोऽप्येकैकमात्र पर्यायमवर्तं स्याल्लक्ष्याभावे खपुष्प एव वा, गन्धरसाभावात् यथानिष्ट सर्वोऽप्येक-भावोऽभवत्वमत्स्याभावोऽभवत्व वा अनुभयत्वप्रतिषेधादित्यादि पूर्ववदुत्तरग्रन्थो यावत् सर्वथैवा-वक्तव्यतेति दृष्टान्ताग्नीन्धनोपसंहारपरार्थाभिव्यक्ताव्यविशेषोपसंहारेण गतार्थः, एवमापाद्याव्यक्त्यवं सामान्यविशेषयोरिति विभक्ति—द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायैकमेवेति एव हि भवति भवतमग्नीन्धनवदित्युपक्रम्य

[illegible] पार्थक्येन [illegible] तद्भावात् भयोर्भिन्नत्वं [illegible] तयोरनुभयत्वानभ्युपगमे [illegible] [illegible] तथापि [illegible] व्यवस्थापितं [illegible] [illegible] अनुभयत्वमसत्त्वमिति । यदि तयोर्भिन्नत्वमसत्त्वं [illegible] न स्यादपि [illegible] समर्थयति—यदि अनुवृत्त्यादीति । [illegible] ततो [illegible] तदोदाहरणं रूपादिविशेषे [illegible] [illegible] समर्थयति—ततो रूपादिरपीत्यादीति तत्र विशेषे रूपम् यादृशा रसादिरपि भवेत् [illegible] व्यावृत्तिरहित स्यात् तर्हि सर्व किमपि [illegible] [illegible] भवेदेवेति महाविशाङ्कर्णे बोध्यम् । एवं भावोऽपि अनुवृत्तिरहित-त्वात्तर्हि रूपादिभ्यस्तेभ्योऽपि तस्यैव व्यावर्तेत खपुष्पवदिति [illegible]—भावोऽपि चेति । सामान्यविशेषयोरपि [illegible] परस्परहीनै यदि न स्यातां [illegible] स्यात्, परन्तु तथा नास्ति [illegible] भावोऽनुवर्तमान एव दृश्यते विशेषाश्च रूपादिभ्यो रूपं रसादिभ्यः परस्परं व्यावर्तमान एव दृश्यतेऽतो भिन्नयत्नस्थानत्वमनुभयत्वमपि [illegible]—यद्यनुवृत्तीति । उभयत्वं [illegible] निश्चिनोति । तयोरेवं भिन्नयत्नस्थान-त्वमपि [illegible] सामान्यविशेषयोर्न भावानुवृत्ततः भिन्नयत्नस्थानेन तत्र [illegible] प्रधानपुरुषादिष्वेव [illegible] भिन्नत्वमस्तु [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]—एतदनभ्युपगम इति भिन्नयत्नस्थानत्वस्यानभ्युपगमे [illegible] [illegible] । तर्हि [illegible]—सर्वोऽप्येकैकमात्रेति सर्वोऽप्येक एकस्मिन् भावे एव [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] भाव । तत्र दोषमाह—यथानि-ष्टमिति [illegible] [illegible] निरस्तमिति भावः । [illegible] परस्परपरिहार [illegible] [illegible] [illegible]—अनुभयत्वप्रतिषेधादित्यादीति [illegible] [illegible] [illegible] न [illegible] एकत्वं भावोऽपीति [illegible], तथापि [illegible] [illegible] [illegible] प्रतिषेधात् सामान्यविशेषयोः [illegible] [illegible] [illegible] सामान्यविशेषयोः [illegible] [illegible]—एवमापाद्येति । [illegible] [illegible]—एवं हि भवतीति भवतमग्नीन्ध-

१ भि. भवर्त्तिन च भवर्त्तित ।

श्रेयामि, स शब्दार्थः—स एव पदार्थः, वाक्यार्थस्तर्हि कः ? वाक्ये ज्ञाते वाक्यार्थो ज्ञायत एवेत्याह—[पद]संघातो वाक्यम्, वर्णसंघातः पदम्, एकाक्षरस्यापि स्वरव्यञ्जनसंघातत्वात्, पदसंघातो वाक्यं कस्मादिति चेदुच्यते देवदत्त ! गामभ्याज शुक्लामिति प्रत्येकवृत्तिसामान्यविशेषैकत्वान्यत्वानेकार्थसत्त्वात्—यस्माद्देवदत्तादीनि पदा[न्य]र्थसामान्ये प्रत्येकं वर्तमानानि विशिष्टसंसर्गे अर्थे वर्तन्ते स वाक्यार्थः, यथोक्तं 'सामान्यवर्तिनां पदानां विशेषेऽवस्थानं वाक्यार्थः,' ( ) यथोक्तं सामान्यविशेषयोरेकत्वान्यत्वोभयस्वातनेकसत्कार्यत्वस्यावचनीयत्वेन परिमहादनेकार्थे स्थितः शब्द एकरूपेणावधारयितुमशक्यत्वादवक्तव्यः तदर्थ इति, एवञ्च कृत्वा यदप्युक्तं 'सामान्यार्थशिरोभूतो विशेषो नोपजायते । यथा यस्य क्षयस्यागो निवृत्तिः क्ववचिद्भवाम् ॥ (वाक्यप० २ श्लो० १५) इति यदपि प्रयुक्तमेव यथाविचारितनिश्चितमवक्तव्यं सर्वथा वस्तिवति, दिङ्मात्रदर्शनमात्रेण शब्दोऽर्थमत्यासत्त्या विज्ञानापादनमात्रेण प्रतीतीत्युच्यते, एवमेवेति, यदपि ......रेण ......मुक्तं नामस्थापनाद्रव्यभावेष्वधिकरणाद्यपयुक्तवाची शब्दः' ( ) इति भावः पर्यायो नियमो गुणो वा नयुक्तवाची—तद्युक्तमर्थं ब्रूते शब्द इति शब्दनयमत तदप्यत्र युज्यते यदवक्तव्यमिति पर्यायमात्रमाह, सामान्यविशेषैकत्वान्यत्वानेकात्मकस्य वस्तुनो वा तदुभयशक्यत्वात् ।

शब्दनयदेशत्वात् पर्यायास्तिक एषः, किं कारणं भावयुक्तवाचित्वे पर्यायग्रहणम्, न सामान्यग्रहणमिति चेदुच्यते भुवो भिन्नधात्वर्थवाचित्वात्, न सत्तैव भूः, पर्येषति भवतीति

व्यभिमुखं भवतीति भाव । .....रेण युक्तिभिरनवस्थमनुमतस्य प्रधानोपसर्जनतामाधावयन्नतोऽवयाह—पदानामपीत्येवेति एतदर्थप्रदर्शनप्रसङ्गयुक्तिव्याप्तिवत् । वाक्यार्थपरिज्ञानार्थं वाक्यं प्रथमतो वर्णयति तज्ज्ञानाधीनज्ञानविशेषप्रसाधकार्थमेवाह—वाक्ये ज्ञात इति । एकाक्षरस्यापि वर्णसंघातत्वं पदत्वमवगमयन्नाह—एकाक्षरस्यापीति .....रपीत्यर्थः । पदसंघातस्य वाक्यत्वं समर्थयति—पदसंघात इति प्रत्येकमर्थे वर्तमानानां पदानामनेकात्मकेऽर्थे विशिष्टसंसर्गरूपे स्थितत्वात् पदसंघात एव वाक्यमित्यर्थः । तदाह प्रत्येकवृत्तीति प्रत्येकं शब्दैर्या तथामनेकत्वस्यैकेऽर्थे स्थितत्वादित्यर्थः । देवदत्त ! गामभ्याज शुक्लामित्यादौ देवदत्तादिपदानि पृथक् पृथक् तदर्थेषु वर्तन्ते वाक्यभावस्थितानि विशिष्टसंसर्गेऽर्थे च वर्तन्ते इत्याह—यस्माद्देवदत्तादीनीति विशिष्टः संसर्गो वाक्यार्थः विशिष्टसंसर्गो वा वाक्यार्थः अनयोर्वाक्यार्थोऽभिप्रेत यद्वा सामान्येन प्रतीयमानानामर्थानां वाक्येन विशिष्टेऽर्थेऽवस्थापनात्, एवञ्च वाक्यार्थो विशेष पदार्थः सामान्यमिति भाव । विशेषो वाक्यार्थ इत्यत्र परसम्मतं दर्शयति—यथोक्तमिति वाक्यं विशेषमनेकरूपं अत एव वाक्यं तदर्थश्च विशेष एवं हि सर्ववाक्येषु समानरूपतः पदं पदार्थश्च सामान्यरूप स एव वाक्येषु .....विशेषरूपेणावस्थितं वाक्यं इति भावः । वाक्यस्य पदसंघातरूपत्वेन विशेषत्वात् पदानामपि तदर्थेनैव सामान्यविशेषयोरेकत्वान्यत्वाद्यवक्तव्यत्वादनेकार्थे वर्तमानत्वेऽपि शब्द एकरूपेणावधारयितुमशक्यत्वादवक्तव्यत्वमित्याह तथोक्तेति एवञ्च पदं पदार्थः वाक्यं वाक्यार्थश्चावक्तव्य एवेति भाव । अत्र भावान्तरेणाक्षेपनिराकरणमाह—एवञ्च कृत्वेति, सम्मतिमाह वक्तव्यत्वमिति निश्चितत्वादेवेत्यर्थः । अत्र वाक्यपदीये कां० २ । १८२ ४४८ कारिकेयं दृश्यते 'सामान्यार्थशिरोभूतो न विशेषोऽवतिष्ठते । उपायस्य ह्यसमाप्त (क्षयस्याक्षय) निवृ० (निवेश) क्वावतिष्ठताम् ॥' इति । दिङ्मात्रप्रयोजनमाह—दिङ्मात्रदर्शनमात्रेणेति अत्र शब्दार्थस्य दिङ्मात्रमेव दर्शितम्, न विस्तरेण सर्वार्थं तथ ..... तेन बौद्धविशेष ..... बुद्धिरुपयत ..... बुद्धिमत्या तथ 'विरूपबोधम् तथा विरूप्य धन्यबोधम्' इत्यादीनामर्थस्य .....समस्य प्रकरणस्य ..... नात्, एतावतैव शब्दोऽर्थं प्रतीयीत्युच्यते न सर्वं वाक्यान्तरम् अतोऽति भाव । शब्दनयमतेन शब्दनयमतमाह—नामस्थापनेति । अस्मिन् पक्षेऽपि भावमुक्तेनावक्तव्यत्वं पर्यायं वदत तदेव युज्यत इति दर्शयति—तदप्येवमिति । ननु कि इत्यर्थे पर्यायार्थं ......नाह—शब्दनयदेशत्वादिति । ......पि 'भवत इ' इति ननु भावरूपः सामान्यरूपः

तावित्वयमनात्, पमेर्निपूर्वस्य यमि प्रादिसमासे निश्चितो यमो नियमोऽभिन्नो वा नियमः कस्मात्? तत्त्वविधिना सामान्यविशेषयोरेकत्वेऽन्यत्वे द्वित्वेऽनुमतत्वेऽन्यतरप्रधानोपसर्जनत्वे चायतत्त्वोत्तित्वामिति तनियतापिक्षमावेन, अवतभ्यते निश्चितनियतापिक्षमावेन यतस्तद्वृत्तिरायथार्थनियमस्तस्योऽयं भङ्गः ।

एवं वस्तुतोऽप्रतार्थत्वम नियमस्वरूपमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—

अत्र चाभिजल्पः शब्दार्थः प्रागेवोक्तः, आह हि—"शब्दो वाऽप्यभिजल्पत्वमागतो याति वाच्यताम् । सोऽयमित्यभिसम्बन्धाद्रूपमेकीकृतं यदा । शब्दस्यार्थेन तं शब्दमभिजल्पं प्रचक्षते ॥ तयोरपृथगात्मत्वे रूढेरव्यभिचारिणि । किञ्चिदेव क्वचिद्रूप्यं प्राधान्येनावतिष्ठते ॥" (वाक्य० का० २ श्लो० १२० १२१ ॥) इति सोऽयमित्येकीकृतत्वाच्छब्दरूपस्यार्थेनान्यत्वमवक्तव्यमित्युक्तम्भवति द्वित्वस्यैकीकरणमेकत्वमवक्तव्यमित्युक्तम्भवतीति, शेषमन्यूह्यम्, स शब्दार्थः, पदसंघातो वाक्यम्, तदवत् ? गामभ्याज शुक्लामिति प्रत्येकवृत्तिसामान्यविशेषैकत्वान्यत्वानेकार्थस्यस्यादवक्तव्यः सदर्थ इति दिक्, एवं च कृत्वा यदप्युक्तं 'सामान्यार्थस्तिरोभूतो विशेषो नोपजायते । उपात्तस्य कुतस्त्यागो निवृत्तिः क्वचतिष्ठतामिति' (वाक्यप० कां० २ श्लो० १५) तदपि प्रत्युक्तमेव यथाभिचारितनिश्चितमवक्तव्यं चास्त्विति, एवमेव 'नामस्थापनाद्रव्यभावेष्वकरणाप्रयुक्तवाची शब्द' इति शब्दनयमत पुष्यते पदवक्तव्यमिति पर्यवणमाप्रमाह सामान्यविशेषैकत्वान्यत्वानेकात्मकस्य वस्तुनो वाचा वक्तुमशक्यत्वात् ।

(अत्र चेति) अत्र चैवविधभावनावामभिजल्पः शब्दार्थः प्रागेवो[क्तो]ऽभिजल्पः शब्दार्थः प्रासङ्गिको व्यवस्थापितवस्तुमत्ताव्याख्यानप्रसङ्गेनोक्त इति न पुनर्व्याख्यायते, तत्सूचनार्थत्वात्—आह हीत्यादि तद्व्यवहारिणः सूचयतामेव मत्त सैन्दर्यन्ति—'शब्दो वाऽप्यभिजल्पत्वमागतः' इत्यादि तत्पर्यन्तग्रन्थ शेषमभ्यूह्यमित्यादि कथं पुनस्तेन ग्रन्थेनावक्तव्यतोक्तेति चेत्तत्प्रदर्शनार्थमाह—सोऽयमित्येकीकृतत्वात् शब्दरूपस्यार्थेन—सोऽयमित्यभेदसम्बन्धवशादेकीकृत्य यदेति वचनादन्यत्वमवक्तव्यमित्युक्तं भवति अर्थेनैकत्वं—अभिजल्पनार्थेनैकीकरण द्वित्वादेकीकरणस्यानेकमेकं क्रियते अभावस्यमन्योन्येति वचनात् एकत्वमवक्तव्यमित्युक्तं भवति एवानुपायमेव युक्तिव्याप्तमवक्तव्यमनुसरं प्रधानोपसर्जनत्वे चावक्तव्यमीति

तत्त्वमित्याह—यमेर्निपूर्वस्येति । 'यमिरमो नानुयम्ययम्यो वा चोपयमने' इति वार्तिकम् गत्यर्थकत्वात् निगमकः इति नियम- 'युगविभागः' इति समासो वा । तत्त्वविधिनेति एतदयोगमितिप्रकारेण सामान्यविशेषयोरेकत्वाद्यनुकल्प्य वस्तुन स्तरितं निश्चितनिश्चयाधिकमावेन नैव यतम् अवतभ्यते चैकत्वादिनिश्चितनियताधिकमावेन यत्तु यतस्तदेव भवतीति नियमस्याप्य भङ्गोऽत्रेति भाव । अथास्य भङ्गं निरूपयति—अत्र चेति । एवमवक्तव्यत्वनियमभावनाया प्रागुक्तोऽभिजल्पस्य शब्दार्थोऽस्माभिरुक्त इत्याह—पूर्वनियमाभावाभावामिति । शब्दार्थे व्यक्तिर्जातिर्वाऽभिमत् विचारितम्, नवचार्थो विचारणप्रसङ्गे प्रागुक्तोऽभिजल्पः सेऽत्र शब्दार्थो मान्य तत्स्वरूप तत्रोक्तमिति न पुनरत्रोच्यत इत्याह—व्यवस्थापितेति । तद् विना वाक्यार्थपरिता दर्शयति—आह हीत्यादीति । शब्दो वेति अभिजल्पत्वमुपगत शब्दो वाच्यतां प्राप्तोऽस्ति तदर्थं । प्रदर्शनार्थं तत्त्वानुसारिनिरुपयति—सोऽयमितीति निदर्शो शब्दार्थो योऽयमित्यभेदेनमनवेन शब्दस्यार्थेनैकत्वं यदा तदाभिजल्पत्वं प्रवोचते शब्दैकीभावाच्छब्दानामव पदार्थैकीभावेन शब्दस्यैकीकरणे तत्त्वावनयन्ता प्रतिपादितः सन्धी एतावत्त्वं हि एतदेवाभूत्य व्याहरणम्, तयोऽपायमत्यन्तत्वं तयोरेकत्वेनेत्येव न सम्भवति, यैः हि तत्र पृथक्त्वस्य-

१ सि. क्ष. छ. ई. 'स्वाहृति । २ सि. क्ष. छ. डे. निगममतं । ३ सि. क्ष. छ. डे. समर्थन ।

ह्येयानि, न समुदायार्थः—स एव पदार्थः, वाक्यार्थस्तर्हि कः? वाक्ये ज्ञाते वाक्यार्थो ज्ञायत एवेत्याह—[पद]संघातो वाक्यम्, वर्णसंघातः पदम्, एकाक्षरस्यापि स्वरव्यञ्जनसंघातत्वात्, पदसंघातो वाक्यं कस्मादिति चेदुच्यते देवदत्त! गामभ्याज शुक्लामिति प्रत्येकवृत्तिसामान्यविशेषैकत्वान्यत्वानेकार्थसत्त्वात्—यस्मादेवदत्तादीनि पदा[न्य]र्थसामान्ये प्रत्येकं वर्तमानानि विशिष्टसंसर्गे अर्थे वर्तन्ते स वाक्यार्थः, यथोक्तं 'सामान्यवर्तिनां पदानां विशेषेऽवस्थानं वाक्यार्थः', (　　) तयोश्च सामान्यविशेषयोरेकत्वान्यत्वोभयत्वापनेऽप्यत्मसमर्थत्वस्यावचनीयत्वेन परिगृहीतत्वमर्थे स्थितः शब्दः एकरूपत्वमपरिशुद्धमगम्यत्वात् अवक्तव्यः तदर्थ इति, यतश्च कृत्वा यदप्युक्तं 'सामान्यार्थैकतिरोभूतो विशेषो नोपलभ्यते । यथा चास्य कृतन्यासो निवृत्ति-व्यवतिष्ठताम् ॥ (वाक्यप० २ श्लो० १५) इति तदपि प्रत्युक्तमेव यथाविचारितनिमित्तमवक्तव्यम् सर्वथा भविष्यति, विशेषवदानमात्रेण शब्दोऽर्थप्रत्यासत्त्या विज्ञानाभासमात्रेण प्रतीतिमुच्यते, गवयवति, यदपि उक्तमनवस्थं शब्दनयस्यैवमुक्तं नामस्थापनाद्रव्यभावेष्वाकरणमाद्यनुपातावी शब्द' (　　) इति भावः यथायो नियमो गुणो वा तदुक्तवाची-तदुक्तमर्थं ब्रूते शब्द इति शब्दनयमतं तदप्यनेन युज्यते पदवाक्यमिति पदवाक्यमात्रमाह, सामान्यविशेषैकत्वान्यत्वानेकत्वस्य वस्तुनो वा वाङ्मगम्यत्वात् ।

शब्दनयदेशत्वात् पर्यायास्तिक एषः, किं कारणं भावयुक्तवाचित्वे पर्यायग्रहणम्, न सामान्यग्रहणमिति चेदुच्यते भुवो भिन्नधात्वर्थवाचित्वात् न सत्तैव भूः, पर्यवति भवतीति

मन्निमुखे भवत्येवं भावः । भाविरेव युक्तिभिरस्य सम्यगुपपत्तस्य प्रमाणोपपन्नत्वात्पाथायवाक्यात्याह—एताभ्यामनेनेति एतैरात्मनिष्ठैकरूपयुक्तिभ्यामित्यर्थः । वाक्यार्थनिरूपणाय वाक्यं प्रथमतो दर्शयति तत्रापि नामपदानामविवक्षयाऽऽख्यातार्थस्येत्याह—वाक्य ज्ञात इति । एकाक्षरस्यापि वर्णसंघातत्वं पदस्य दर्शयन्नाह—एकाक्षरस्यापीति व्याचष्टे इदं । पदसंघातस्य वाक्यत्वं दर्शयति—पदसंघात इति प्रत्येकं वर्तमानानां पदानामर्थसामान्ये विशिष्टसंसर्गरूपे विनिवृत्त्य पदरूपाण एव वाक्यमित्यर्थं । तदाह प्रत्येकवृत्तीति प्रत्येकं प्रत्येकं सामान्यरूपेऽर्थे विशिष्टार्थवृत्त्यर्थं । यस्मात् ! सामान्याच्च शुक्लामित्यादि देवदत्तादीनि पृथक् पृथक् स्वस्वार्थेषु वर्तन्ते आख्यातादिसहकृतानि विशिष्टसंसर्गेऽर्थे च वर्तन्त इत्याह—यस्मादेवदत्तादी-नीति विशिष्ट संसर्गो वाक्यार्थं विशिष्टसंसर्गो वा वाक्यार्थं अवयव वाक्यार्थोऽवस्थानमितेन पद सामान्यार्थ प्रतीयमाना-नामर्थानां वाक्येन विशिष्टेऽर्थेऽवस्थानात् एवं वाक्यार्थो भिन्नः पदार्थः सामान्यमिति भावः । भिन्नो वाक्यार्थं इत्यत्र परसम्मतं दर्शयति—यथोक्तमिति यत्र विशिष्टसंसर्गरूपः स एव वाक्यं तदर्थश्च भिन्न पदं हि सर्वपदस्थैर्गमानमात्र पदं पदार्थश्च सामान्यरूप. न एव वाक्येषु संनिवेशितस्वरूपमात्रमिति त्यागरोपितसिद्धार्थत्वादायस्थाने पदं भावन इति भावः । वाक्यस्य पदसमुदायरूपस्य विशिष्टस्य पदसमुदायरूपेण सामान्यविशेषयोरेकत्वान्यत्वोभयत्वैकान्तनिरासेनार्थे तन्मात्रेऽपि तथैव एकत्वेनावक्तव्यत्वसिद्धिरूपेण प्रत्यासत्त्यवक्तव्यस्य दर्शितोऽवतिष्ठत इत्याह तदर्थ इति एवं च पदार्थे वाक्ये वाक्यार्थे चाक्तव्यत्वं दर्शितं भावः । अत्र वाक्यप्रदीपस्याभिप्रायमाह प्रत्ययश्च कृत्वेति, सामान्यार्थे वक्तव्यमिति विशिष्टमवक्तव्यं । अत्र वाक्यपदीये का० १ पृ० १८२ ४८८ कारिका इत्थं 'सामान्यार्थेकतिरोभूता न विशेषोपलब्धिः । उपात्तस्य कृतत्यागः (कृतन्यास) निवृत्तिः (निवृत्ते) व्यवतिष्ठताम् ॥' इति । विशेषवदानमाह—विशेषवदानमात्रेणेति अत्र शब्दार्थयोः विज्ञानमात्र एवेत्यर्थम्, न विशेषेण सम्बन्धे इत्यत्र बौद्धसिद्धान्तः शब्दार्थप्रत्यासत्त्यात्मकः बुद्धिस्वरूपज्ञानेऽर्थसामान्ये बुद्धिरूपः शब्द 'विकल्पयोनय शब्दाः विकल्पाः शब्दयोनय' इत्यादिवचनात् प्रत्यासत्त्या शब्दार्थयोः शब्दज्ञानं प्रत्यक्षस्य गम्येऽवतिष्ठते भाव एतस्मात् शब्दार्थे प्रतीतिरुच्यते न तस्य वचनाद्यवयवे भवतीति भावः । शब्दनयमते शब्दनयमताह—नामस्थापनेति । एतस्मिन् शब्दे नामस्थापनाद्रव्यभावस्य वाक्यस्य यस्य शब्द इति युक्तम् इति शब्दार्थ—तदुक्तमिति । नन्वेवं हि शब्दार्थे सर्वत्र शब्दनयदेशत्वाद—शब्दनयदेशत्वादिति । भाषार्थ 'पवन उ' इति भूतु भवन्नपरः भवन्नपरः

भावा, पर्यवणञ्च प्रवेशनम्, परिशब्दः समन्तादर्थो, अयशब्दो प्रवेशार्थः, समन्तात् प्रविशत्येकतामन्यतामुभयतामनुभयताञ्च योऽर्थो स पर्ययः, तत्रास्तीत्येवं मतिरस्येति मूलसंज्ञाऽस्य नयस्य, उपनिबन्धनमस्य 'तदुभयस्स आदिट्ठे' (भग० श० १२ उ० १०) इत्यादि ।

(शब्देति) शब्दनयोत्थत्वात् पर्यायास्तिक एषः 'वस्स च सद्दविकप्पा साऽऽएसाइ तदुभयेसा' इति वचनाच्छब्दनयेऽन्तर्भूतः, किं कारणं भावयुक्तास्तित्वे पर्यायग्रहणं न सामान्यग्रहणम् भावश्च्यस्य सामान्यास्तित्वे इति चेदुच्यते—भुवो भिन्नभावपर्यायास्तित्वात्, भूवादयः सर्वभावयो भावाः, भूवादय इतिवचनेऽतीतादिके इत्युपलक्षणे भूवादयः सर्वभावयः, तस्मात्त सत्वेव भूः भूतमोः सर्वभावपर्यायास्तित्वात्, पर्येवति भवतीति भावा, पर्यवणञ्च प्रवेशनम् अत एवमुक्तमित्यभीतिप्रत्यागमनप्रवेशनमत्यस्यान्यपर्यायावन-विशेषाद्यादीत्यनात्मत्वाद्भिन्नमहिंसाघट्टनाद्यधिगमियिति पठितत्वात् भावा पर्यवः प्रवेशः समन्तादवः पर्येव इति परिशब्दः समन्तादर्थोऽयशब्दः प्रवेशार्थः तद्वस्तुतो दर्शयति—समन्तात् प्रविशत्येकतामन्यतामुभयतामनुभयतां च योऽर्थो सपर्ययः अस्तीत्येव मतिरास्तिका, पर्ये आस्तिकः पर्यायास्तिक इति मूलसंज्ञाऽस्य नयस्य शब्दस्य विशेषाः सन्निपितम् उच्यते ? स्याद्वादोपनिबन्धनसमार्थमपीति ? अस्तीत्युच्यते उपनिबन्धनमस्य 'तदुभयस्स आदिट्ठे' इत्यादि 'इमायं भंते ! रयणप्पभा पुढवी आया नो आया' इति पृष्टे भगवद्वचन गोयमा ! अप्पणो आदिट्ठे आया परस्स आदिट्ठे नो आया तदुभयस्स आदिट्ठे अवत्तव्वं आया तिय नो आया तिय' इति एवमवक्तव्यत्वमात्मानात्मपर्यायाभ्यामादेशे तत्र प्रापक निबन्धनमुच्यते ।

इति नियमभङ्गो नवमोऽरः श्रीमल्लवादिप्रणीतनयचक्रस्य टीकायां न्यायागमानुसारिण्यां सिंहसूरिगणिवादिक्षमाश्रमणकृतायां समाप्तः ॥

तत्कथमत्र भावयुक्तास्तित्वेऽपि पर्यायग्रहणस्य प्राधान्यमित्यत्र—किं कारणमिति । भूशब्दनिष्पन्नो भावशब्दः भूशब्दार्थश्च सर्वे धात्वर्था न तु सत्तामात्रेऽर्थं अत सामान्यवाची शब्दोऽत्यन्ताभिधायकः, भुवो भिन्नभावपर्यायास्तित्वादिति । अत्राऽयमाशयः विशेषे शब्दे पूर्वोक्तविशेषविनिर्मुक्ता विरुद्धैर्न शब्देन विधिप्रत्ययैर्न प्रतिपादनात् तद्विशिष्टार्थविनिश्चायकत्वान्मनीषिभिर्निर्णीतत्वात् तदर्थं परिकल्प्यते सामान्यात्मा स एव विशेषो भवति विशेषरूपत्वात् तदि तथा च विशेषरूपत्वेऽपि सामान्यात्मा पदार्थो न कारणं मन्यते अपि तु तद्विशेष इति अत एवाभिधीयते न तु सत्ता सामान्यं विवक्ष्यते यथा विशेषेऽन्यतामुपगच्छते सामान्याधीनमनुवर्तमाना तथा भूवादयोऽपि विशेषमात्रमनुवर्तमाना योऽसौ विशेषे न विशेषाम् ? न च सामान्यविशेषयोर्गुणप्रधानता सम्भवति, विशेषणतया हि सर्वत्र विशेषेण सामान्यस्य व्यवहारो विशेषस्य एवमुपात्तस्य सामान्यस्य भावस्वरूपः स च विशे तत्त्वार्थमुपगमे न पुन विशेषगुण निरपेक्षमभावात्मना सर्वत्रापि परस्य सामान्यविशेषात् तेनविधानं प्रतिपादिते विशेषे विधिरेव भाव-विशेषाम् ? तदभिधीयत एवार्थो धात्वाद्यन्तर्गत इति । अत एव सर्वधातवस्तत्र परिणमं स्यात् भूवादय इति भुवं यस्यादि भूवादय वर्तमानादिके इत्युपलक्षणे भूवादय इति विवक्षति तदर्थं सर्वधातव तथा च सर्वधात्वर्थं भुव न सर्वेषु भूत्वे सर्वधात्वर्थाभिधायकत्वात् तथाह्यत्र पर्यायवचन अनेकाभिधानमर्थादि भाव । भवति पर्येतीति भाव इति भुवस्तत्रापि पर्यायार्थे दर्शयति—पर्येवतीति । पर्येतीत्यत्र प्रविशतीत्यर्थे व्याख्यानव्याख्यातत्वमाह—भाव इत्यादीति । तत्र च भावशब्दार्थमाह—भावा पर्येव इति । तत्र पर्येति—समन्तात् प्रविशतीत्यर्थे किं प्रविशतीति पर्यायेणात्मा स्वरूपं पर्येति—समन्तादिति । एतेन तत्रभवस पर्यायास्तिकत्वं नयविशेषात्—अस्तीत्येवमिति [illegible] समन्तात् प्रविशत्य मतिरस्येति तत एतावत् नय-पर्यायास्तिक इति मूलसंज्ञा भवतु इति भाव । अर्थं निबन्धनमस्य नयस्य दर्शयति उपनिबन्धनमस्येति एवं रत्नप्रभा पृथिवी किमात्मा उत नो आत्मेति प्रश्नस्य प्रतिवचनं भगवत गौतम ! आत्मनः आदिष्टे रत्नप्रभा परस्यादिष्टे नो आत्मा तदुभयस्यादिष्टे अवक्तव्यम्, सर्वविरुद्धमा नयविशेषे आत्मेति तत्स्वापेक्षयाऽनवक्तव्यात्मत्वादितिं वचनं ज्ञातव्यमिति भाव ।

इत्याचार्यविजयलब्धिसूरिकृते द्वादशारनयचक्रस्य विषमपदविवेचने नवमो नियमभङ्गारः ॥

दशमो नियमविधिनयारः

विध्यादिनरउभयात्मकसम्यग्दर्शनाधिकारे वर्तमाने विकल्पनयस्वरूपज्ञानमूलत्वात् सम्यग्दर्शनस्य विध्युभयविकल्पचतुष्टयात्मकौ मार्गौ व्याख्याय नियमविकल्पचतुष्टयात्मके तृतीये मार्गे वर्तमाने तत्र नियमभङ्गं प्रथममुक्त्वाऽभिप्रायसम्पूर्णार्थमाभिमुख्येन विशेषलाभस्य न साक्षात्, वस्तुतः सामान्य-विशेषयोः कल्पितयोरेकत्वान्यत्वापत्तेः [illegible] नियमनयोऽभ्युपायात्, अत्राप्य-परितुष्यन् नियमविधिभङ्गारस्त्वाह—

नैवंविधो नियमो युज्यते, स्ववचनविरोधादिदोषात्, अनेकान्तस्याप्यवधारणे नियतत्वाच्च, इदं हि त्वदीयं वचनं लोकाभाणक एव संवृत्तम्, तद्यथा—इदं तत् तदेवोपयते तदेवापोयते त्वया तत्प्रासचत्, स्वयं विहितनिवर्तित्वात्, सर्वोक्तानृतपक्षवत् ।

(नैवंविध इति) नैवंविधो नियमो युज्यते स्ववचनविरोधादिदोषात् अनेकान्तस्याप्यवधारणे नियतत्वाच्च इदं हि त्वदीयं वचनं लोकाभाणक एव संवृत्तम् तद्यथा—इदं तत् तदेवोपयते तदेवापोयते त्वया,—तदेव नैवमत्र यदसि चेतयसे, ततः किं? तत्प्रासचत्—अमोमन नास्ति चेतयसे, कस्मात्? स्वयं विहितनिवर्तित्वात्—आत्मना विहितमेव निवर्तयितुं शीलमस्येति स्वयं विहितनिवर्ति त्वद्वचनम्, तद्भावात् स्वयं विहितनिवर्तित्वात्, किमिव? सर्वोक्तानृतपक्षवत्—यथा सर्वमुक्तमनृतमिति वदतो मदेवोक्तिं सर्वमुक्तमनृतमिति विधिना तदेवानृतत्वेन व्याप्तत्वात् प्रतिपिप्यमानमपोद्यते तथेदमपि त्वदीयं सर्वमनृतमयमिति ।

अथ नियमविधिमार्गमुपक्रमयन् [illegible] नियमविधिनिरूप-कारणं पूर्वोक्तपरिवारं [illegible] विध्यादीति । [illegible] यथाम्बेन निरूपणीयम् [illegible] [illegible] विधिविकल्पचतुष्टयं विधिनियमासनविकल्पचतुष्टय [illegible] नियमविकल्पचतुष्टयात्मके तृतीये मार्गे [illegible] नियमभङ्गं [illegible] [illegible] वस्तुत सामान्यविशेषयोः [illegible] [illegible] नियमविधिनयस्य [illegible] नैवंविध इति । सामान्यविशेषयोरेकत्वान्यत्वे विधिनियमाविभागेन [illegible] नियमो न युज्यते स्ववचनविरोधादिदोषसद्भावात् [illegible] [illegible] न हि [illegible] [illegible] नैवंविधो नियम इति । स्ववचनविरोधमुद्भावयति इदं हीति [illegible] [illegible] । [illegible] तदेवेति [illegible] [illegible] [illegible] सर्वोक्तेति [illegible] [illegible] [illegible]

1 सि. क्ष. ग. दे नियमवदोऽभिवाद् । २ ग. [illegible] । ३ सि. क्ष. ग. दे संवृत्तः । ४ सि. क्ष. ग. दे [illegible] ।

एतस्य प्रतिपादनार्थमेकत्वादि प्रतिषिध्य व्यवस्थाप्य चापोद्यते, तद्यथा प्रागेव तावत् सामान्यविशेषयोरेकत्वे प्रतिषिद्धेऽन्यत्वमुपस्थितं विधाय दृष्टान्तेऽग्नेरिन्धनपृथग्भूतं रूपमाख्येयमित्यादिना पुनः प्रतिषिद्धः, सोऽपि चाप्रसङ्गः यथोक्तमग्नेरिन्धनमित्यादि यावदसदापत्तेरित्यादि, तदेतत् पुनस्तयोः स्वयमेवापोदितम्, ननु ज्वाला देश इति निरूपणादन्यत्वं स्फुटीभूतमपि तदा कुतोऽनिन्धनमित्यनिन्धनप्रख्यानेन ज्वालारूपमिन्धनसहितमेवेति ब्रुवता ।

(एतस्येति) एतस्य प्रतिपादनार्थमेकत्वादि प्रतिषिध्य व्यवस्थाप्य च परस्परतः पुनश्चापोद्यते, तद्यथा—प्रागेव तावत् सामान्यविशेषयोरेकत्वे प्रतिषिद्धेऽन्यत्वमुपस्थितमर्थाच्चतुलेन प्रतिषेधात्, तदन्यत्वं विधाय पुनः प्रतिषिद्धम् कथं प्रतिषिद्धमिति चेदुच्यते तद्यथा—दृष्टान्ते यदुक्तमग्नेरिन्धनपृथग्भूत रूपमाख्येय-मित्यादिना च प्रतिषिद्धम् सोऽपि च प्रतिषेधोऽप्रसङ्गः तं प्रतिषेधमप्रसङ्ग दर्शय[ति च] प्रसङ्गत्वेन—यथोक्तमग्नेरिन्धनमित्यादि यावदसदापत्तेरित्यादि आदिग्रहणात् समुच्चित सर्वग्रन्थ संनिधत्ते तदेतत् पुनस्तयोः स्वयमेवापोदित—निराकृतम् कथमिति चेदुच्यते—ननु ज्वाला देशे—यदग्निरिन्धनपृथग्भूत रूपमग्नेः पृथक्क्यते तज्ज्वालाऽऽकाशदेशे पृथक्त्वेति निरूपयेदन्यत्व स्फुटीभूतमपि पुनस्तदा कुतोऽनिन्धनमित्यनिन्धनप्रख्यानेन ज्वालारूपमिन्धनसहितमेवेति ब्रुवता तदा चेदमुक्त भवत्यदीप्यमानं प्रागिन्धनमप्रकाश सदीप-काष्ठादि पश्चाद्दीप्तिसम्बन्धमिन्धन काष्ठं भवतीति येन संस्पर्शोऽग्न्यते दीप्यते च दीपकाष्ठादि तदग्नेः रूपमिति ।

भवतीति भाव । [illegible] भवति—यथा सर्वमिति [illegible] [illegible] [illegible] भाव । [illegible] प्रतिपादनार्थमिति, [illegible] । [illegible]—एतस्येति [illegible] परस्परे[illegible] [illegible] पुनर[illegible] [illegible] इति भाव । [illegible] परस्परतो [illegible] दर्शयति—तद्यथेति, [illegible] परस्पर[illegible] भवतीति भाव । [illegible] [illegible] तद्दूसनेति [illegible] । [illegible] विधाय पुनरन्यैना-[illegible] प्रतिषिध्य [illegible]—तदन्यत्वं विधायेति । अयं प्रतिषेधोऽपि न ते प्रस-[illegible] प्रतिषेधादिति दर्शयति—सोऽपि चेति । पुनरग्नेरिन्धनात् पृथग्भूत [illegible] निरूपणेनान्यत्वं स्फुटमपि तथापि [illegible] ब्रुवता निराकृतमिदम्—तदेतत् पुनरिति [illegible] पुनरितीन्धनं । [illegible] दर्शयति—ननु ज्वाला देश इति [illegible] वा [illegible] [illegible] रूपमिदं एतेनेन्धनादन्यत्वमस्य स्फुटीकृतमिति भाव । तदा कुतोऽनिन्धनमिति ग्रन्थेन तदन्यत्वं निराकृतमिदम् पुनस्त-देति [illegible] ज्वालारूपमिदं । [illegible] रूपमित्युक्तं भवतीति दर्शयति—तदा चेदमुक्तं भवतीति [illegible] प्रागदीप्यमानमपि [illegible] पश्चात्सम्बन्धात् दीप्यमानमिन्धनं काष्ठं भवति तदेव यस्मा-

---

१ सि. क्ष. छा. डे [illegible] । २ सि क्ष छा डे [illegible] । ३ सि क्ष डे छा °[illegible]न । ४ सि क्ष छा डे [illegible] । ५ सि क्ष छा. डे तथ सं । ६ सि क्ष छा डे. [illegible] ।

एतच्चान्यत्वस्यैव समर्थनत्वादप्रत्ययम् ।

(एतच्चेति) एतच्च—अन्यत्वप्रतिषेधार्थं वचनमन्यत्वस्यैव समर्थनत्वादप्रत्ययम्, यदन्यत्वं समर्थितमेव परिगृह्येत स्या[त्]त्सप्रत्ययम्, न तु तत् परिगृहीतम्, तस्मादन्यत्वप्रतिषेधोऽप्रत्ययः, तत्समर्थनादेव दृष्टान्तधर्मेणे[ऽ]न्यत्वप्रतिषेधोऽप्रत्यय ।

किञ्चान्यत्—

उपसंहारेऽपि यदुक्तं विशेषस्य भावपृथग्भूतं रूपमास्थेयमित्यादि, एतदपि स्ववचनापोदितम्, ननु भवद्विशेषा एव समुदिता एकमित्युच्यन्ते त्वाद्भिः, एकैक एव विशेषः प्रणिधानवद्भिरवगम्यते, रूपरसादिघटैकत्वविशेषवत् । पृथगेकत्वविलक्षणं प्रतिपादयितुं विशेषस्य भावपृथग्भूतं रूपमास्थेयमित्यादिना पृथगेकत्वमन्यत्वं विशेषाणां स्वरूपेणावधारयितव्यमिति वचनादेवान्यत्वं समर्थितमतोऽन्यत्वप्रतिषेधोऽतिस्फुट एव स्ववचनविरोधो दार्ष्टान्तिकोपसंहारेऽपीति ।

उपसंहारेऽपीत्यादि, भावविशेषयोरेकत्वं प्रतिपिपादयिषता व्यवस्थाप्य तदन्यत्वप्रतिषेधे दार्ष्टान्तिकोपसंहारे यदुक्तं विशेषस्य भावपृथग्भूतं रूपमास्थेयमित्यादि—एतमेव ग्रन्थं यदुक्तमित्यनूद्य, एतदपि स्ववचनापोदितं—अन्यत्वप्रतिषेधवचनम्, कथमिति चेदुच्यते—ननु भवद्विशेषा इत्यादि, ननु विशेषा एव भवन्ति[न] सामान्यं नाम किञ्चिदस्ति, ते च विशेषा एव भवन्तः समुदिता एकमित्युच्यन्ते, नैकं किञ्चिदनन्तात्मकं वस्तु किं तर्हि ? एकैक एव—एको विशेषोऽन्योऽन्यो भवतीति परमार्थः प्रणिधानवद्भिरभ्यनैरवगम्यते, अन्यथा तु विशेषा एव भवन्तः समुदिता ऐक्यमित्युपास्यते किमिव ? रूपरसादिघटैकत्वविशेषवत्, यथा रूपरसगन्धस्पर्शसंख्या इत्यादीतरेतरमूर्ते[षु] विशेषगुणा अन्योन्यो भवतीति समुदायरूपत्वादेकत्वात् भ्रान्तिवादिनाम्[?]

[illegible] रूपमिन्मुच्यमानतीति भावः । एतच्च वचनमप्रत्ययमेवाह—एतच्चेति । [illegible] अन्यत्वप्रतिषेधार्थं वचनमभिधानार्थमन्यत्वमेव समर्थयति [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] समर्थना-देव—अन्यत्वसमर्थनादेव । दार्ष्टान्तिके विशेषस्य भावस्य [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] उपसंहारेऽपीति । भावविशेषयोरेकत्वे [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] प्रतिषेधात् [illegible] [illegible] दार्ष्टान्तिकोपसंहारे [illegible] भावपृथग्भूतमित्यादिरिति । पूर्वं विशेषस्य [illegible] यदुक्तमिति । [illegible] [illegible] प्रतिषेधवचनम्—ननु भवद्विशेषा इत्यादीति विशेषा एव भवन्ति न चैकम् [illegible] [illegible] [illegible] विशेषा एव समुदिता [illegible] एकमित्युच्यन्ते न तु सामान्यं नामैकं किञ्चिदस्ति [illegible] [illegible] अन्योऽन्यो भिन्न एव तु [illegible] [illegible] भावः । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] इति भावः । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

१ भि० [illegible] । २ भि० [illegible] °मोधादि । ३ [illegible] । ४ [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ।

पृथगेकत्वविकल्पन-विविक्त विशेषविषयं प्रतिपादयितु—विशेषस्य भावपृथग्भूत रूपमाश्रेयमित्यादिना पृथगेकत्वमन्यत्वं विशेषार्थं सम्पेक्ष्यावधारयितव्यमिति प्रथमादवान्तरं समर्थितम्, अतोऽन्यत्वप्रतिषेधेऽपि स्फुट एव स्ववचनविरोधो दार्ष्टान्तिकेऽस्ताकारेऽपीति ।

मूपालरम्—

ननूभयतोऽपि प्रतिषेधावदोष, इति, अत्रेदमसि त्वं प्रष्टव्यः—किंविषया तदवक्तव्यता? तत्र न तावद्भावस्य विशेषस्योभयस्य वा भावस्यैकत्वस्यान्यत्वोभयत्वानुभयत्वानि प्रविभागेनाप्रविभागेन वा स्युः, अप्रविभागतस्तावदेकत्वं नास्ति, द्वितीयरहितस्योपाख्यानासम्भवत्वेन स्वयैव प्रतिषिद्धत्वात्, प्रविभागतोऽपि नास्ति सहासहभवनस्य द्विकत्वादित्यादिना निषिद्धत्वादेव, तथा विशेषस्योभयस्य च सिद्धे चैकत्वेतद्बलेनान्यत्व व्यावर्त्येत, तत्तु नास्ति ।

(नन्विति) ननूभयतोऽपि प्रतिषेधावदोषः—एकत्वं प्रतिषिध्य पुनरन्यत्वमपि प्रतिषिद्धमेव, तदोभयत्वमनुभयत्वञ्च प्रतिषिध्यावक्तव्यत्वेव समर्थितेति, अत्रेदमसि त्वं प्रष्टव्यः—किंविषया तदवक्तव्यता पृथुभयप्रतिषेध एव फलमास्तु तदवक्तव्यम्, किं तद्भावो विशेष उभयं वेति निर्धार्यम्, वस्तुत्वे सति विकल्पप्रधानविवृत्तेः, तत्र न तावद्भावस्य न विशेषस्य नोभयस्य वा प्रकारानुवर्तनात्, भावस्यैकत्वान्यत्वोभयत्वानुभयत्वानि प्रविभागेनाप्रविभागेन वा स्युः, अप्रविभागेनैकत्वं यथा पुरुष एवेदं सर्वमित्यादि, प्रविभागेन सति द्वितीये तेन सहासम्पर्कादैक्यं स्यात्, यथा—'न सिंहवृन्दं भुवि भूतपूर्वमासीद्विपाद्यमपि नास्ति वृन्दम् । एकाकिनस्ते विचरन्ति वीरास्तेजस्विनां नास्ति सहायकृत्यम् ॥ ( ) इत्येव

द्वितीयत्वाद् देवमैरो वा इति बुद्धिरपेक्षेति भाव प्रतिभाति । अन्यत्वं व्यवस्थाप्य प्रतिषिद्धमिति मुख्यं तत्त्वमपि—पृथगेकत्व विकल्पनमिति भिन्नं भवेदन्य—सामान्य तयो भिन्नत्वमित्यर्थः भावाद्विशेषस्यान्यत्वे सामान्याद् भिन्नत्वं यथं विशेषस्य प्रतिपादयितुमिति भाव । विशेषस्य भावपृथग्भूतमिति एवास्य [illegible] पृथग्भूतं यत्—यत एवैकत्वं, न तु भावैकत्वाविशेषयोर्भेदः, भावतोऽन्यत्वस्य तत एव [illegible] वचनातस्तत्वं समर्थितमिति भाव । अतोऽन्यत्वेति अन्यापत्त्यादत्तु तद्विषया [illegible] सति स्ववचनविरोधोऽस्मन्तं स्फुट एव दार्ष्टान्तिकेऽपीति भाव । एकत्वस्यान्यत्वस्य च प्रतिषेधात्तोभयत्वानुभयत्वस्य च निराकरणादवक्तव्यत्वं समर्थितवतो न स्ववचनविरोध इत्याह—ननूभयतोऽपीति । भाष्ये—एकत्वं प्रतिषिध्येति । एवमादीनां प्रतिषेधेऽवक्तव्यत्वं कथमित्याशङ्क्याह—अत्रेदमसीति । प्रश्नं भावयति—पृथुभयेति । एकत्वान्यत्वा प्रतिषेधेऽवक्तव्यत्वं वस्तु विधेयत्वं । तत्र भावो वा स्यात् विशेषो वोभयं वा वस्तुन सामान्यविशेषत्वतया विकल्प्यत्वमेव सम्भवादित्याह किं तद् भाव इति । [illegible] विशेषो न सम्भवत्वात्—तत्र न तावदिति । [illegible] विशेषेषूभयेन न सम्भवात् प्रकारापि विशेष [illegible] प्रकारेति । तत्र [illegible] भावे विभजति किं निरपेक्षत्वादन्यत्वादि सम्भवे उत सापेक्षत्वादि वेति विकल्पयति—भावस्यैकत्वेति । [illegible] निरपेक्षैकत्वं तदा पुरुष एवेदं सर्वमित्यादिवत् स्यात्, [illegible] सापेक्षत्वं यदि पृथक्त्वमन्तरेण [illegible] विभागेऽपि सहासम्पर्कत्वेन [illegible] सति द्वितीये प्रविभेदे तेन सहासम्पर्कत्वादेकत्वं [illegible] यथं सर्वमप्रविभागेनेति । [illegible] निदर्शनमाह—न सिंहवृन्दमिति विषयं [illegible] ।

१ सि क डे. °विरुद्धमपि ।

शब्दस्यासदाभार्यत्वात्, अप्रविभागवस्थापनैकत्व भावस्य विशेषस्योभयस्य वा नास्ति द्वितीयपक्षिवर्ग्योपा स्थानाग्रन्यत्वेन त्वयैव प्रतिषिद्धत्वात्, प्रविभागशोऽपि नास्ति, सदसदवचनस्य छिन्नत्वादित्यादिना निषिद्ध त्वादेव, तथा विशेषस्योभयस्य चैकत्व नास्तीत्युक्तम्, सिद्धे चैकत्वे तद्भेदेनान्यत्व व्यावर्त्येत—सम्भाव्यते चैकत्व परिगृह्य तद्द्वारेण—तदुपायेनान्यत्वस्य व्यावर्तनम् तत्तु नास्त्येकत्व तदभावादन्यत्वप्रतिषेधाभावः ।

स्यान्मतमन्यत्व सिद्धं तद्भेदेनैकत्वोभयत्वादि प्रतिषिध्यत इति तच्च—

न चान्यत्वं सिद्धम्, त्वयैव तस्यापि निषिद्धत्वात्, यद्भेदेनोभयस्य व्यावर्त्येतैकत्व वा तथानुभयत्वमपि नास्ति, एकत्वान्यत्वयोर्लक्षणभेदनियमादित्युक्तम्, यद्भेदेनैकत्वान्यत्वोभय त्वानि व्यावर्त्येरन्, यस्य वाच्यतामवाच्यतां वा गृहीत्वाऽवाच्य वाच्यं वा व्यावर्त्येत, व्यव स्थापूर्वत्वादितरव्यावर्तनस्य ।

(न चेति) भान्यत्व सिद्ध—यथैव[।] प्रविभागशो वान्यत्व नास्ति पटपटयोरिव जीवशरीरयोरिव वा संभाव्यमान त्वयैव तस्यापि निषिद्धत्वात् यद्भेदेन—अन्यत्वद्वारेणोभयत्वं व्यावर्त्येतैकत्व वा, तथानुभयत्वमपि नास्ति एकत्वान्यत्वयोर्लक्षणभेदनियमादित्युक्त यद्भेदेनैकत्वान्यत्वोभयत्वानि व्यावर्त्येरन्, यस्य वाच्यतां गृहीत्वेति, इद वाच्यमेकत्वमन्यत्वमुभयत्व वा इदम्, इदन्तु तद्भ भवति, अवाच्यम्, तथैव[न]वाच्यमनुभय तद्वतानि न वाच्यानीत्यवाच्यपक्षाद् वाच्य वा व्यावर्त्येत, व्यवस्थापूर्वत्वादि तरव्यावर्तनस्य ।

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थोऽभिमात्र, कथम्? एकशब्दो शब्दनिरपेक्षसंख्यार्थः, तस्मा

[illegible]मर्थं वाऽऽदीति एकत्वमपीति? ननु स्वरूपत्वा तेषां तदरूप कथमपि तदपि ताम् तदोत्तर–ते वीरा कतोऽन एकैकसमि[illegible]परमित तेनमित्या हि स्वामिन न किमपि प्रयोजनमस्तीति तदर्थे यत्र शब्दस्य सत्त्वाद्यपि तेन सह संपर्कमात्रोऽन्यत्वापरैकत्वेन सूचित इति भावः । तदेवं प्रविभागाप्रविभागतो द्विविधं [illegible] भावादिरेकत्वेऽनुपपत्ते [illegible]लस त्वयैव प्राङ् प्रतिषिद्धत्वेनासत्त्वापत्ति त्यादित्याह अप्रविभागतस्तावदिति । प्रविभागतोऽपीति भावस्य विशेषेण सहैकत्वरूपं प्रविभागत एकत्वं तत्र निषिद्धमत्र इदं सह इदम न सोऽपि विशेषतमन्यादिति भावः । एवमेव च विशेषस्योभयस्य चैकत्वप्रतिषेधः सिद्ध इत्याह–तथा विशेषस्येति एवमेकत्वादित्वास्मत्वे कथं व्यावर्तांचिन्तु एकत्व सिद्धत्वपरिग्रहरेवमन्यत्वव्यावर्तनसम्भवात्, नास्ति चैकत्वं तदाऽन्यत्वप्रतिषेधोऽपि न सम्भवतीति भावः । ननु अन्यत्वं सिद्धमस्त तद्द्वारैकत्वोभयत्वादिकं निषिध्यत इत्याह–न चान्यत्वमिति । पटपटयोरिव प्रविभागतो जीवशरीरयोरिवा- प्रविभागतो वा नान्यत्वं सिद्धमेवावगन्तव्यम् [illegible] एकत्वे हि [illegible] [illegible] सिद्धे न [illegible] सिद्धे निरन्वयोऽपि [illegible] त्वयैव प्रतिषिद्धत्वात तद्द्वारेणैकत्वोभयत्वादिव्यावृत्तिसम्भव इत्याशयेन व्याचष्टे–नान्यत्वं सिद्धमिति । एवमनुभयत्वमप्यसिद्धम्, एकत्वस्यासत्त्वमुक्तत्वात्, अन्यत्वस्य च [illegible] नियमितत्वात्, तयोर्भेदसिद्धत्वमित्याह–तथाऽनुभयत्वमपीति । एवञ्च येन व्यावर्त्येत तयोरुभयोर्भेदसिद्धत्वोरेव व्यावृत्ति सम्भवति, यथा–इदं एकत्वमन्यत्वमुभयत्वं वा वाच्यं इदम्, इदन्त्वनुभयत्वं वाच्यं न भवतीति वाच्यत्वव्यावर्तना- यत्नं स्यात् एवमनुभयत्वमवाच्यं इदम्, इदन्त्वेकत्वमन्यत्वमुभयत्वं वा नावाच्यमित्यवाच्यतव्यावृत्त्या वाच्यत्वं स्यादित्यत्र- यस्य वाच्यतामिति । [illegible]–अन्यथेति । सर्वत्रार्थविशेषेऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां भवति यथाऽयं घट एवैकत्वात

१ सि. क्ष. डा. डे. °रविनश्वरा । २ सि. क्ष. डा. डे. इदं । ३ सि. क्ष. डा. डे. °त्वात्वान्यत्वाभ्यां व्यावर्तितात्मत्वादुभयत्वाभिमता ।

देक इत्युक्ते नान्योऽस्तीत्युक्तं भवति, स चार्थो न घटते, न स निरपेक्षः, एकत्वान्यत्वोभयत्वा नुभयत्वविकल्पानामन्योऽन्यापेक्षत्वात्, असहायवचन एकशब्दः, तथा सति सहगते- र्योपर्येणान्यतिरेकादेकत्वं नास्ति किन्त्वन्यत्वमेव सिद्ध्येदिति पुनरन्यत्वमेवार्थः ।

(अन्यपेक्षेति) अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थाधिगमाय, कथमिति, तत्कथं भाव्यत इति पृच्छति, पश्यते—एकशब्दो ह्यन्यनिरपेक्ष संख्यार्थोऽविभागैकशब्दार्थत्वात्, द्विशब्दो यथाद्यर्थः यथा एकशब्दः संख्यायाश्चिन्नेऽन्यनिरपेक्षो संख्या संख्ये[यि]न प्राधान्येनाह संख्यान्तरव्यावर्तनार्थम्, एकोऽयं न द्वित्रादयोऽर्था इति लोके तस्मादेक इत्युक्ते नान्योऽस्तीत्युक्तं भवति, स चार्थो न घटते न स निरपेक्षः यस्मादेकत्वान्यत्वोभयत्वानुभयत्वविकल्पानामन्योऽन्यापेक्षत्वात् प्रागुक्तविधिना असहायवचन एव शब्दः—अथ मा भूत् दोषोऽन्यनिरपेक्षसंख्यार्थत्वकृत इत्यसहायवाची विकल्प्येतैकशब्दः तस्मादस्त्वेकत्व तदस्तित्वादन्यत्वापत्तौ स्वपक्ष्यविपक्षसद्भावसिद्धिरिति अत्र ब्रूमः तथा[स]तीत्यादि सहैतीति सहायः सहायेन सहगतिः द्वयोर्बहूनां वा भवतीति सहगतेर्द्वयोर्पर्येण [व्य]तिरेकादेकस्य नास्तीति तद्वत्समभव- व्याविपक्षत्वम् किन्त्वन्यत्वमेव च सिद्ध्येदिति पुनरन्यत्वमेवार्थः, एवमेकशब्दोऽप्यन्यत्वाभ्यत्ववाचीत्युक्तम्, अथान्य एकः सोऽपि ततोऽन्य एव इत्येकशब्दोऽन्यार्थवाची ।

ततोऽन्यार्थे तु साक्षादन्यत्वमेव विशेषविषयं ततोऽन्यत्वनिषेधेऽतिस्फुट एव स्ववचन- विरोध इत्युक्तम्, तथा चानन्यत्वमपि सिद्ध्यति प्रतिपक्षाक्षेपात्, यथा व्याख्यातमेकत्वान्य- त्वयोः परस्परमत्यपेक्षत्वं तथोभयानुभयत्वयोश्च, एवं तावदेकत्वसिद्धप्रतिपक्षभङ्गात् सिद्धं

न्यायेति [illegible] भवति [illegible] इत्यनेन [illegible]- रूपमितीति [illegible], तथा एवं च इत्यर्थे तथा [illegible] मत इति [illegible] एव एवार्थं यथे च [illegible], [illegible] हि [illegible] एव एव, नान्योऽस्तीति निरपेक्षत्वमुक्तं भवति [illegible] न भवते [illegible] परस्परापेक्षत्वादिति भाव । एतमेव भावं [illegible]- शब्दो हीति । एवं [illegible] तथात्र [illegible]—स चार्थ इति । न स इति, [illegible] न निरपेक्षमित्यर्थं । [illegible] परस्परसाकाङ्क्षत्वादित्यात—यस्मादेकत्वेति । न निर- पेक्षत्वस्य [illegible] एव [illegible] इति । न्यायेति—अथ मा भूदिति । [illegible] तथा सतीत्यादीति [illegible], तत्र द्वयोर्बहूनां वा पदार्थानां भवति, ते च पदार्थाः [illegible] [illegible], तथा च [illegible] [illegible] एव [illegible] इति भाव । द्वयोर्बहूनां वा मध्ये [illegible] च एव [illegible] इति [illegible] च भवति [illegible] [illegible] इति । [illegible] को दोष इत्यत्राह—ततोऽन्यार्थे त्विति । [illegible]

सन् व्यावर्त्यते नान्यपेक्षत्वावक्तव्यनिर्विषयता, एवमन्यत्वोभयत्वादावपीत्येकत्वादिप्रतिषेधाः किं कथमवक्तव्यम्? ते तु निषेध्यानामभावात्ते निर्मूला अवक्तव्यत्वमेव व्यावर्तयन्तीति ।

(सन् इति) ततोऽन्यार्थे तु सामान्यत्वमेव विशेषविषय ततोऽन्यत्वनिषेधेऽभिव्युक्त एव स्ववचन विशेष इत्युक्तम्, किञ्चान्यत्-तथा चानन्यत्वमपि—यथा चैकशब्दाऽन्यत्वन्यायेनान्यत्वे वर्तते तेन प्रकारेण तथाऽनन्यत्वमपि सिद्ध्यति, अनन्यत्वेन विनाऽन्यतरस्याभावात्, तत आह—प्रतिपक्षाक्षेपादिति गतार्थम्, यथा व्यावृत्तावेकस्यान्यतरयोः परस्परम[पि]व्यत्व तयोरपयानुभयत्वयोर्भेदेति, एष तावदेकत्वसिद्धप्रतिपक्षत्वात् सिद्ध सन्व्यावर्त्यते नान्यमन्यवक्तव्यनिर्विषयता नान्यपेत्युक्तम्, अनेन दोषमुक्तं भवतीत्यतिदिशति-एवमन्यत्वोभयत्वादावपीति, आदिग्रहणादनुभयत्वे चाय न्यायोऽवतार्यः, न तावदन्यस्य विशेषस्योभयस्य वा क्वचिदपि प्रविभागतोऽप्रविभागतो वाऽन्यत्वमस्त्युभयत्वमस्तीत्युपपन्नान्यतासिद्धानेकत्वा भावमुभयत्वाभावमुभयत्वासिद्धौ चैकस्यान्यत्वाभाव वाऽऽरोपयित्वा भावयित[व्य]मिति तदुपसंहरति—अन्यत्वादिप्रतिषेधाः किं कथमित्यादि यावत् व्यावर्तयन्तीति, एवमुक्तविधिनैकत्वादिप्रतिषेधाः किं—के ते प्रतिषेधाः न भवन्तीत्यर्थः, तत्प्रतिषेधाभावात् कथमवक्तव्यमिति निरुपपत्तिक निर्विषयत्वमित्यर्थः ते तु—एकत्वादिप्रतिषेधा निषेध्यानामभावात्ते निषेध्यत्वाभावे निर्मूलत्वादवक्तव्य[त्व]मेव व्यावर्तयन्तीति ।

अत्राह—

न पराभिप्रायगतैकत्वाद्येकान्तव्यावर्तनार्थत्वान्निर्मूलाः प्रतिषेधाः, न च निर्विषयम

नान्यपेक्षत्वादवक्तव्यमिति यदभाव प्रागन्यत्वं विशेषाणां समर्थितम्, अत एकत्वेन सामान्यत्वं समर्थितं तदधान्यत्वप्रतिषेधे नवचनभिधानतोऽभिव्युक्त सामान्यमिति—सामान्यत्वसमर्थनमिति । तथा [illegible] तथा [illegible] सर्वमपि [illegible] अन्यत्वं हि [illegible] अनन्यत्वाद् [illegible] तत्र [illegible] तस्मादनन्यत्वमपि सिद्धमन्यत्ववदिति तत्प्रतिषेधे नवचनभिधान एवैत्यायमन्यत्—तथा चानन्यत्वमपीति । तदन्योन्यान्यत्वयो परस्परापेक्षत्वात् [illegible] तथामन्यत्वमनुभयत्वमपि परस्परापेक्षमित्याह—यथा व्यावृत्तावितिति । एवं [illegible] प्रतिपक्षसिद्धौ [illegible] तथा [illegible] इति नवचनभिधानात् [illegible] न व्यावृत्ति [illegible] एवं तावदेकत्वेति । एवमेवान्य [illegible] उभय [illegible] भवनति । एवमेवानुभयत्वेऽपि [illegible] अनुभयत्व चेति । [illegible] न तावदन्यस्येति आचार्य प्रविभागतोऽप्रविभागतो वा [illegible] निषिद्धत्वात् प्रविभागतोऽप्रविभागात् [illegible] सिद्धे एकत्वे एकत्वादिकं [illegible] यत्तु [illegible] एकत्वोभयत्वाभिधाना [illegible] प्रतिषेधाभाव [illegible] सिद्धत्वादित्यर्थः [illegible] इत्येकत्वादिप्रतिषेधा इति । ते [illegible] प्रतिषेधा [illegible] प्रतिषेध्याभावात्ते निर्मूलत्वादवक्तव्यत्वमेव [illegible] न [illegible] न स्थितिः । एकत्वादिप्रतिषेधा निर्मूला न भवन्ति [illegible] तत्प्रतिषेधाः [illegible] निर्विषयं न भवति प्रतिषेधाभाव [illegible] न पराभिप्रायेति । व्यावर्-

1 सि क्ष डा डे °ण्यादभिप्रायगतैकत्वा° । 2 सि क्ष क भेद । 3 सि क्ष. डा. डे निर्मूलाभिर्मूलत्वा ।

वक्तव्यत्वम्, एकत्वादिप्रतिषेधतदर्थत्वात्, अथ त एकत्वादयो विद्यमाना अविद्यमाना वा कथं परेण प्रतिषिध्यन्ते? यदि तावद्विद्यमानाः सन्तः प्रतिषिध्यन्ते ततस्तत्रावक्तव्यत्वनिर्विकल्पतोक्ता, अथाविद्यमानाः, अत्यन्तमभूतत्वात् कथं प्रतिषेद्धुं शक्यन्ते? अप्रतिपन्नत्वादेव प्रतिषेधानुपपत्तिः।

(नेति) न परामिप्रायगमैकत्वापरान्यत्वाद्यर्थनार्थतयाभिर्मूकाः प्रतिषेधाः ये च निर्विकल्पवक्तव्य[त्व]म, एकत्वादिप्रतिषेधतदर्थत्वात्, तेऽपि पराभिमायगमानामेकत्वादीनां प्रतिषेध्यानामेकत्वान्यत्वाद्यर्थनार्थाः तस्मादवाप इत्यत्राप्यवद—अथ त एकत्वादय इत्या[दि]यावत् कथं परेण प्रतिषिध्यन्ते? इति, यदि तावदेकत्वादय परेण यथा विद्यन्ते तथैव प्रतिषिध्याः सन्तः प्रतिषिध्यन्ते ततस्तत्रावक्तव्यत्वनिर्विकल्पतोक्ता अथाविद्यमानाः अत्यन्तमभूतत्वात् खपुष्पवदसन्तस्ते कथं प्रतिषेद्धुं शक्यन्ते? अतोऽप्रतिपन्नत्वादेव न प्रतिषेध्या इति प्रतिषेधानुपपत्तिः।

ननु यादृच्छिकेश्वरवादवत् प्रतिषेध उपपद्यत इत्येतदयुक्तम्, तद्वैधर्म्यात्, न ह्येवं भवता एकान्तभवनं व्यावर्त्याऽनेकान्तभवनं प्रतिपाद्यते, तत्र ह्यनेकान्तरूपेण वक्तव्या एव सन्त एकान्तरूपेणावक्तव्या इत्युच्यन्ते सम्प्रतिपन्नत्वात्स्याद्वादिनाम्, तथा ह्याह 'अप्रतिषिद्धान्येतानि यतस्तस्मात् तानि वाच्यानि। एकान्तेन हि वदतो मिथ्यावादः प्रसज्येत॥' ( ) इति।

(नन्विति) स्या भव स्याद्वादेऽपि सामान्यविशेषयोः किमेकत्वं नानात्वमुभयत्वमनुभयत्वमवक्तव्यत्वमिति पृष्टे प्रतिषेधाः क्रियन्ते नैकत्वं न नानात्वं नोभयत्वं नानुभयत्वं नावक्तव्यत्वं किं तर्हि? स्यादेकत्वं स्यान्नानात्वं स्यादुभयत्वं स्यादनुभयत्वं स्यादवक्तव्यत्वमित्यादि यदवादुक्तम्, तद्वैधर्म्यादिति-तद्वैधर्म्यं दर्शयति—न ह्येवं भवतेव्यादि स्याद्वादो हि वादानामीषे निग्रहानुग्रहसमर्थत्वात् वादिभिरेकत्वादयो भवत एवैकान्तग्राहनिषेधेन निगृह्यन्ते अनुगृह्यन्ते वा अनेकान्तप्रतिपादनात् न तद्वदवक्तव्यत्ववादिना भवता

तेऽपीति। व्याचष्टे—अथ त इति परेण एकत्वादयो यथा विद्यन्ते तथैव सीकृत्य तेषां तथा प्रतिषिध्यमानत्वेऽवक्तव्यत्वं निर्विकल्पत्वेन भवेत्, यथाविधा विद्यमाना प्रतिषेधावसरात्, विद्यन्ते प्रतिषेधास्तेनाप्यविति भाव। अथाविद्यमाना एकत्वादयस्तर्हि तथापि तत्प्रतिपत्तिर्न भवेत्, अत्यन्तमभूतत्वात्, न ह्यत्यन्तमसत् खपुष्पादि केनापि प्रतिपद्यत इति प्रतिषेधासम्भवोऽप्रतिपन्नत्वादेव प्रतिषेध इत्याह—अथाविद्यमाना इति। अथ स्याद्वादे अनेकत्वादिप्रतिषेधा क्रियन्ते तत्रापि प्रतिषेधा उपपद्यन्ते एवेत्याशङ्कते—नन्विति। व्याचष्टे पृष्ट—सामान्यमिति। प्रतिषेध्यान् दर्शयति—नैकत्वमिति एकत्वादयः प्रतिषिध्यन्त इति भाव। स्याद्वादे किं व्यवस्थाप्यत इत्याह—स्यादेकत्वमिति अवक्तव्यत्वमित्यन्तं। एवमेकत्वादिभिरेकान्तैर्निषेधैरवक्तव्यत्वं व्यवस्थाप्यत इति भाव। न स्याद्वादवदस्मदीय युज्यते वक्तव्यतायामित्यस्य सामान्यवैधर्म्यमित्याह तद्वैधर्म्यादिति। वैधर्म्यमेवाभिव्यनक्ति—न ह्येवमिति स्याद्वादे हि वादप्रतिवादपरम्परा केनचित्प्रकारेण निगृह्यन्ते केनचित्प्रकारेणानुगृह्यन्ते नियमेन कस्मिंश्चिदपि न वादा वा परम ईश्वर इत्यवतु न ह्येकत्वादय सर्वथा प्रतिषिध्यन्ते किन्तु वादिभिरभ्युपगतस्तदेकान्तत्वेनैव ते निगृह्यन्ते अनेकान्तत्वेनतु स्वरूपत्वात्प्रकारेणानुगृह्यन्ते यथा हि वादिभिरेकत्वादीनामेकान्तरूपत्वमुच्यते

१ सि क डा डे °व्योमपे°। २ सि डा डा डे ते च निर्वि ।

एकत्वादीनामेकान्तभवनं स्याद्वादस्यानेकान्तभवनं प्रतिपाद्यते, तस्मादसत्प्रतिषेधादसमञ्जसोऽयं दृष्टान्तो वादपरमेश्वरस्यायमिति, तत्र ह्यनेकान्तरूपेण सर्वेषां व्याख्यानानामस्मिन्नवक्तव्या एव सन्त एकान्तरूपेणा-वक्तव्या इत्युच्यन्ते सप्रतिपक्षत्वात्प्रधानानाम्, तथा चाह—सप्रतिपक्षाण्यन्तानि यतस्तस्मान्न तानि वाच्यानि। एकान्तेन हि वदतो मिथ्यावादः प्रसज्येत' ॥ (   ) इति ।

अत्र साधनमाह नियमविधिनयः—

अवक्तव्यशब्दस्य तु प्रतिपक्षः सम्भाव्यते नञ्युक्तत्वात्, अब्राह्मणवत्, अपि च त्वयाप्यभिजल्पशब्दार्थभाविना विकल्पस्यासत्याऽवक्तव्योऽर्थ इत्यभ्युपगतम्, तन्मत्या स वावक्तव्य एवावक्तव्य इति नञा प्रतिषिध्यते, स च प्रतिषेधप्रतिषेधत्वात् प्रकृतिं गमयेत्, अनब्राह्मणवदिति ।

(अवक्तव्यशब्दस्येति) अवक्तव्यशब्दस्य तु प्रतिपक्षः सम्भाव्यते नञ्युक्तत्वात्, अब्राह्मण-वत्, सम्भाव्यमानप्रतिपक्ष एवावक्तव्यशब्दः तदर्थो वेति पक्ष[ः] नञ्युक्तत्वादिति अन्येऽर्थे च हेतुर्योज्यः, यथा ब्राह्मणोऽप्यब्राह्मणभवतीति ब्राह्मणो न भवति, अन्यो वा ब्राह्मणादित्यब्राह्मणः, तस्येव ब्राह्मणे प्रतिपक्षे क्षत्रियादिर्भवति, तथा प्रतिपक्षे वस्तुनि वक्तव्ये तदवक्तव्यशब्दोऽर्थो वा भवितुमर्हतीति, अपि च त्वया-पीत्यादि, न केवलं सम्भावनयाऽस्मदीयया[वक्तव्यत्वम्]वक्तव्यत्वम् वस्तुनः, किन्तर्हि ? त्वयाप्यभिजल्प-

---

तथिरस्वरूपादेवैकान्तत्वे नियममाना अनेकान्तभवनस्य वक्तव्यतादेवानुपपत्तेः अवक्तव्यतादिना तथा तु तथा न प्रतिपाद्यतेऽसौ वैरूप्यम् तथा हि यथा न विरुध्यते एकत्वादयस्तदभिधानानामेव प्रतिषेधादसत्प्रतिषेधत्वम्, तस्मात् समञ्जसोऽयं दृष्टान्त इति भावः । स्याद्वादे अवक्तव्यत्वस्यैव प्रतिपादनमित्याह—तत्र ह्यनेकान्तरूपेणेति, न तु सर्वथाऽवक्तव्यत्वम्, भावानां सप्रतिपक्षत्वेनैव युक्तत्वादिति भावः । अस्यार्थे मतान्तरसंवादमाह—तथा चाहेति यस्मादन्तानि सप्रतिपक्षाणि तस्मादेकान्तेन तानि न वाच्यानि, यदि तान्येकान्ततोऽभ्युच्यन्ते तर्हि स वादो मिथ्यावाद एव स्यादिति भावः । भावानां सप्रतिपक्षत्वेनैव युक्तत्वादवक्तव्यत्वेऽपि सप्रतिपक्ष इति मत्वा तत्पक्ष नियमानभिप्रायत्वं नियमविधिनयोऽनुमानमाह अवक्तव्यशब्दस्येति । व्याचष्टे—अवक्तव्येति । हेतुमाह—नञ्युक्तत्वादिति नञ्युक्तत्वमित्याद्युपपत्त्यादिकम् । दृष्टान्तमाह—अब्राह्मणवदिति । अन्येऽर्थे च प्रतिपक्षतामावाय दर्शितस्य पक्षमाह—सम्भाव्यमानेति यस्य सप्रतिपक्षतर्कस्य च प्रतिपक्षः सम्भाव्यमानतयाभिप्रेतोऽवक्तव्यशब्दस्तस्य नञ्युक्तत्वमवक्तव्यत्वम् नञर्थपरिहारमवक्तव्यस्यार्थस्य एवं नञ्युक्तत्वं सम्भवत्यतः नञर्थयुक्तत्वं तदर्थस्यापि हेतोरिति भावः । दृष्टान्तं स्फुटयति—ब्राह्मणो न भवतीति पौरस्त्यन्यायोऽत्र निर्वाच्यः प्रसज्ज्यप्रतिषेधपर्युदासयोः क्रियायोगाभावविशेषस्य प्रसज्यपूर्वकस्याप्युत्तरपदार्थेनापि च ब्राह्मणो-भविष्यः क्षत्रियादिरवक्तव्यात् ब्राह्मणान्योऽब्राह्मण इत्यनन्यत्वार्थः प्रधानम्, स च क्षत्रियादि अन्यादिसम्बन्धिसम्बन्धात् क्षत्रिये ब्राह्मणान्यः प्रयुज्यते स मिथ्यावक्तव्यः तं दृष्टान्तेनानुपपत्त्या सम्यगवक्तव्यत्वं निरूपयति, भावं ब्राह्मण्ये मिथ्यात्वेनप्रतिषिद्धः सम्यग्वक्तव्यस्येऽर्थं क्षत्रियादिरिति विरोधो भवति नञितव्यक्तव्यत्वप्रतिपादने तथा तत्त्वेनेतीति न्यायात्, एवमवक्तव्यप्रतिपक्षत्वप्रसक्तेरपि एवार्थं क्षत्रियादिरवक्तव्ये भवति तदेवावक्तव्यस्य वक्तव्यत्वं वा व्यवस्थापयति तदर्थस्य च सद्भाव एव भवितुमर्हतीति भावः । अवक्तव्यत्वे वादयोर्मिथःविरोधः प्रवृत्त स्यादवक्तव्य-त्वस्याभ्युपगमात्, त्वत्पक्षे वक्तव्योऽभिमतस्य इति स्थितत्वे अन्याभिमतः तत्त्वार्थं प्रकाशक इति विरुद्धवक्तव्यो-ऽभ्युपगम इत्याह—न केवलमिति, वस्तु वक्तव्यत्वमवक्तव्यमिति न केवलमस्मदीयसम्भावनया किन्तु त्वयाप्यभ्युपगतमिति भावः ।

तस्यार्थवादिना निक्षेपसमासस्याऽवक्तव्योऽयं इत्यभ्युपगतम्, यत्र वाचयोर्मतिसंवादः, स वावक्तव्य एव त्वन्मते यो ऽभिलप्येनोच्यतेऽर्थः सोऽवक्तव्य इति वक्तव्य एव तथा प्रतिपित्स्यते, तस्माद्व्याघातो द्विन-ञ्प्रयोगोऽवक्तव्य इत्यत्र कृत्यः, स च द्विनञ्प्रयोगः प्रतिषेधप्रतिषेधत्वात् प्रकृतं गमयति वक्तव्यत्व-मिति अथवा कश्चिल्लोके मूकावक्तव्यो न भवत्यवक्तव्यो न भवतीति प्रयोगात् सोऽवक्तव्यो द्विनञ् प्रयोगात् प्रतिषेधप्रतिषेधत्वात् प्रकृतिं गमयेदिति, एतेन स्ववचनाभ्युपगमविरोधावुक्तावन्यत्र वक्तव्यत्वे साधनमाहेति पिण्डार्थः ।

संवृत्यैव वाग्व्यवहार इति चेत्, अपरमार्थसर्ववक्तव्याः, संवृतिसत्यपदसमुदायार्थत्वात्, मण्डूकजटाभारकृतकेशालङ्कारवन्ध्यापुत्रखपुष्पदामकृतमुण्डमालाख्यानवत्, धर्मधर्मिविभागव्यवस्थाभावात् प्रतिपादनप्रमाणाभावेनाविदितं भवदवक्तव्यं वस्तु ।

(संवृत्यैवेति) संवृत्यैव वाग्व्यवहार इति चेत्—स्यान्मतं न शब्दः कश्चिदर्थं ब्रूते, यथोक्तं— 'विकल्पयोनयः शब्दा विकल्पाः शब्दयोनयः । तेषामन्योन्यसम्बन्धो नार्थं शब्दाः स्पृशन्त्यपि ॥ येन येन विकल्पेन यद्यद्वस्तु विकल्प्यते । परिकल्पित एवासौ स्वे भावो न हि विद्यते ॥' (   ) इत्यादि तत्र कः शब्दार्थः ? का वा क्रिया ? यथोक्तं सर्वं न त्वयोक्तमिति, तस्मात् संवृतिसत्यं व्यवहारगोचर-मात्ररोपं सर्वमिति, अत्र ब्रूमः, अपरमार्थसर्ववक्तव्याः, कस्मात् ? संवृतिसत्यपदसमुदायार्थत्वात्, यस्तथा

त्वन्मतिमत्र प्रमाणमवक्तव्यत्वे प्रतिज्ञार्थं सर्वमपि स्ववचनादीति । वक्तव्यत्वमभ्युपगतमिति एतदेवाह—स वावक्तव्य एवेति अभिलप्येनोच्यत एव, तथाऽभिलप्येनोच्यते योऽर्थो [illegible] सोऽपि [illegible] अभिलप्येनाव्यक्तोऽवक्तव्योऽसौ [illegible] अवक्तव्याऽभवक्तव्य एवं च अवक्तव्यो न वक्तव्य इत्यर्थं स्यात् तथा च [illegible] हि मुख्ये अस्य प्रकृतं गमयति प्रतिषेधप्रतिषेधात्वात्, [illegible] इति अत्र [illegible] प्रतिषेधाद्यत्र एव यस्मात् [illegible] अवक्तव्यप्रतिषेधमुख्यत्वा प्राप्तेति भाव । [illegible] यथा [illegible] न भवतीति [illegible] येऽपि [illegible] न भवतीत्यत्र [illegible] प्रतिषेधकेन [illegible]—अथवा कश्चिदिति अवक्तव्यो न भवतीति प्रयोग [illegible] प्रतिषेधप्रतिषेधत्वात् [illegible] न भवतीति प्रयोगादिति साधनम्, [illegible] प्रतिषेधेऽवक्तव्यादिषु [illegible] स्ववचनाभ्युपगमविरोधौ [illegible] नियमविधिनय [illegible] एतेनेति [illegible] । ननु [illegible] न [illegible] ब्रूते [illegible] इति, [illegible] निवर्तितार्थविषये [illegible] न [illegible] न त्वयोक्तं, [illegible] एव वा विकल्पात्मिका [illegible], [illegible] संवृत्यैवेति । स्यादेति—स्यान्मतमिति । नार्थं स्पृशन्ति सर्वमपि विकल्पयेति । [illegible] येन येनेति । [illegible] वस्तु परिकल्पितमेव, [illegible] न तु [illegible] न च भाव इति भाव । [illegible] कस्मात् [illegible] कस्यार्थो [illegible] न [illegible] एव [illegible] न तु [illegible] न कश्च इति । तस्मादपि—तस्मादिति । [illegible] परमार्थं स्यात्, [illegible] अपरमार्थसर्वेति । [illegible]—संवृतिसत्येति [illegible] । [illegible]—

1 सि. क डा. डे. अत्र वाचयोर्मतिसंवादः । २ सि. प डा. डे °त्यव्याघातो ।

पदसंघातोऽन्यथामि वाक्यमिति शब्दस्वरूपं च संवृतिमात्रार्थत्वादपरमार्थः, दृष्टान्तो मण्डूकजटेत्यादि, मण्डूकजटाभारेण कृतः केशालङ्कारो नर्तकेश्वमारको यस्य-मण्डूकजटाभारकृतकेशालङ्कारवन्ध्यापुत्रः तस्य खपुष्पदाम्ना मुण्डमाला कृता, तस्या आस्याय सुरभिः पञ्चवर्णैः साकारगगनकुसुममपीत्यादिवर्णनेन संवृतिसत्यपदमयुक्तवाच्यार्थं नाम परमार्थस्तथेदं सर्वमपीति नास्त्यवक्तव्यता, किञ्चान्यत्-धर्मधर्म्यादि, अविदितमित्वं अवक्तव्यम् वस्तु, प्रतिपादनप्रमाणाभावात्, प्रतिपादनप्रमाणाभावो धर्मधर्मिविभागव्यवस्थाभावात् तद्भावोऽवक्तव्यत्वात्, धर्मधर्मिणौ हि विभागेन व्यवस्थितौ पुनः समुदितौ पक्षः स्यात्, यथा-साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी पक्षः, अनित्यः शब्द इति, तस्य धर्मिणः कृतकत्वादिरन्यो धर्मो व्यवस्थित एव हेतुः स्यात्, तौ च[साध्य]साधनधर्मौ सहितौ धर्म्यन्तरे प्रदर्श्येते यत्र-यत्कृतकं तदनित्यं दृष्टम्, यथा घट इति स दृष्टान्त इतीद् धर्मधर्मिविभागव्यवस्थानात्मकं साधनं नोप[पद्यते]निरस्तधर्मधर्मिविभागव्यवस्थत्वात्, धर्मधर्मिनिरसनद्वारावक्तव्यत्वात्, भावविकल्पस्यान्यत्वादिनिरसनद्वारेण वस्तुनस्तस्य च निर्विषयत्वख्यापनस्य दोषत्वात् तस्माभिरस्तधर्मधर्मिसद्भावात्मकत्वात् पक्षाद्यसाधनम्, इदं कथयितव्य सूचितप्रस्तावाकाश स्थलेष्वपीति पक्षादिवत्, तस्मात् पक्षाद्यसाधनत्वात् [न]सम्भावनीयमवक्तव्य[त्व]म्, तत्परिकल्पितस्य वस्तुनो नान्यत्सुकरकोऽयम् ।

अभ्युपेताप्यवक्तव्यता नोप भूयः—

इदमसि त्वं प्रष्टव्यः, अथ यस्य च एते देशास्तेषां यो विशेषोऽवयवस्तस्मात् किम व्यतिरिक्तं ? व्यतिरिक्तं वा ? अवक्तव्यस्य विशेषावयवत्वनियमात् प्रश्नोत्थानम्, सामान्यविशेषैकत्वाद्याशङ्कासम्भववत्, यदि सामान्यमेव विशेष एवोभयमेवाऽन्यद्वा वस्तु, तत्र यदि

मण्डूकजटेत्यादीति मण्डूकस्य जटाभारोऽभ्रंस एवं तत्कृतः केशालङ्कारो यस्य स वन्ध्यापुत्रस्तस्य वक्तुरस्य तेन खपुष्पमालाकरणं मुण्डमालया सुरभ्यादिवर्णनेन सर्वं पदमात्ररूपत्वेन संवृतिसत्यसद्भावाच्च परमार्थतोऽपि सर्वं वाक्यरूपसत्यपीति न अवक्तव्यत्वं परमार्थ इति भावः । अवक्तव्यत्वाभ्युपगमाच्च धर्मधर्मिसाधनादीनां व्यवस्था न सम्भवति तदभावे वाक्यस्यावक्तव्यस्यापि न स्यादित्याह-धर्मधर्म्यादीति धर्मधर्मिणो पार्थक्येन व्यवस्थाभावात् समुदितस्य पक्षस्याभावात्, पक्षहेतुदृष्टान्तानुपपत्त्या साधनाभावेन अवक्तव्यत्वं असम्भाव्यं इति भावः । प्रत्युपेत अवक्तव्यमिति-अविदितमिति तथाऽवक्तव्यत्वमप्रमेयं भवति प्रमाणेन हि प्रमेयमिति अवक्तव्यत्वप्रतिपादकप्रमाणाभावेन च तत् प्रमेयं न भवतीति भावः । तदभिव्यक्तप्रमाणाभाव कथमित्यत्राह-धर्मधर्मीति तव मते धर्मधर्मिणोर्विभागेन व्यवस्था नास्ति तस्माभिरस्तं । तदपि कथमित्यत्राह तद्भावाऽवक्तव्यत्वादिति यतः सर्वमवक्तव्यमतः एव धर्मत्वेन धर्मित्वेनाप्यवक्तव्यमेवेति भावः । अत एव पक्षादिमात्रं तत्स्वरूपप्रदर्शनद्वारेण प्रकाशयति-धर्मधर्मिणौ हीति विशिष्टमतो विशेषणाद्यस्य विशिष्टतया प्रथमपदं साध्यधर्मोऽस्य च धर्मीति व्यवस्थापकत्वोऽयं साध्यधर्मविशिष्टो धर्मीति पक्षपरिज्ञानं स्यादित्यत्र शब्द इति, न तन्निश्चयस्य तस्य चापेक्षामे तत्र धर्मिभिन्नो यदि धर्मिवृत्तितया धर्मविशेषस्य हेतोः परिज्ञानं स्यात्, तत्र साध्यधर्मसामानाधिकरण्येन साधनधर्मस्य धर्म्यन्तरे प्रदर्शनं स्यात् यत्र यत्र कृतकत्वं तत्रानित्यत्वं यथा घट इत्यादि, एवं विभागे धर्मधर्मिणोर्विभागस्य व्यवस्थितत्वात् साधनं सम्भवतीति तत्स्वरूपप्रदर्शने प्रकाशितम् । इदं च साधनं तव मतेन न सम्भवतीत्याह-इतीदमिति तथा तु सामान्यविशेषयोरैकान्त्यादिव्याकरणद्वारेणापि व्यवस्थापकस्याभावात्, यथा च तत्र निर्विषयत्वेन व्यवस्थापनाधिकरणधर्मधर्मिविभागव्यवस्थानं साधनं सम्भवतो यथा कथितार्थं कार्यं, सूचितप्रस्ताव आकाशस्थलेऽपि विशेषत्वं पक्षादिसाधनमसाधनं तथा तदवक्तव्यत्वमपि प्रमाणाभावात् अवक्तव्यमपीति नास्ति सम्भवनाऽवक्तव्यत्वस्येति निर्गलितार्थः । अथावक्तव्यत्वमभ्युपगम्यापि विचार्यते-इदमसि त्वमिति । सामान्य

सामान्यकृतमेकत्वं विशेषीभूतमाक्रम्य विशेषस्वरूपं वस्तु व्यावर्तयत् तत् सामान्यकृतैकत्वं विशेषं व्यावर्तयेत् न सामान्यमेवेति, यदि वोभयकृतमन्यत्वं न सामान्यं न विशेषश्च वेति सर्वैकत्वान्यत्वयोरपि विशेषेणाव्यतिरिक्तत्वात् सत्यामवक्तव्यार्थः संवदेन्नान्यथा, तेषां स्वात्मन्येऽवक्तव्यत्वनिवृत्तेः ।

इदमसि त्वं प्रष्टव्यः, अथ यस्येत्यादि, अवक्तव्यात्मकस्य वेदिनो य एते वेद्याः—सामान्यविशेषैकत्वान्यत्वादयो वैतदवक्तव्यमिष्यते तेषां यो विशेषावयव[ः त]स्मात् किं तदव्यतिरिक्तमिष्यते, एवं हि नियमविधिनयो विशेषवादी तमेव स्वाभिमतं विशेषं गृहीत्वा चोदयति स्वाम्मत सामान्यविशेषैकत्वादिनिराकरणेनैवावक्तव्यं वाक्यार्थं वस्तु नियमितं निश्चितमित्वाभिधानाभावेन, तत्र कृतकत्वप्रतिरिक्तत्वादिभ मोक्षानभिसम्प्रोच्यते—अवक्तव्यस्य विशेषा भेदमपास्यमानियमादेव तस्य वस्तुनो व्यवस्थानात् तत् किं तेरव्यतिरिक्तं व्यतिरिक्तं वेत्यादिप्रश्नोत्थानम्, तद्यथानत्वाच तस्य सामान्यविशेषैकत्वाद्यायतनसंभवतीति तदुपपत्तिमदर्थे परस्परमतमाशङ्क्ते—तद्यथा—यदि सामान्येनापि सामान्यमेव सांख्यादीनामेकं वस्तु विशेष एव बौद्धस्य उभयं वैशेषिकस्य परमतेऽन्यत्, तत्रावक्तव्यवादे यदि तत्सामान्यकृतमेकत्वं विशेषीभूतमाक्रम्य विशेषस्वरूपं व्यावर्तयत् सामान्यकृतैकत्वविशेषं व्यावर्तयेन्न सामान्यमेवेत्यविशेषापादनेन, यदि वोभयकृतमन्यत्वं न सामान्यं विशेषश्च वेति तत्तदेकत्वान्यत्वयोरपि विशेषेणाव्यतिरिक्तत्वात् सत्यामवक्तव्यार्थः संवदेन्नान्यथा तेषामेकत्वादिविशेषाणां स्वात्मन्ये सत्यवक्तव्यत्वनिवृत्तेः ।

विशेषैकत्वान्यत्वादिभिरवक्तव्यस्य तस्योच्यते तत्राववक्तव्यस्य नियममूला न एतत्प्रदर्शयन्नाह सामान्यं विशेषं वा तु किंच एवैतत नियमविधिनयस्य विशेषाभिधानात् तत्सत्त्वादवक्तव्यं नियमितिरिक्तमवक्तव्येति इत्यवक्तव्यात्मकस्येति । सामान्यपरित्यागेन विशेषमात्रपक्षोऽयं नामभाव अयं हीति । अवक्तव्यं वस्तु वाक्यार्थं इति प्रत्युक्तेन सामान्यविशेषयोरभेदोऽभ्यस्ते उभयस्तेऽनुभवस्तेऽभ्यस्तमवामेसदर्शस्ते च निश्चितनियताभिधानाभावात् तदभिधानात् अवक्तव्यस्य एव निश्चितनियताभिधानेन गतस्तत्सिध्यतीति तथाहि सामान्यविशेषान्यतमवक्तव्यवस्तुनो व्यतिरिक्तत्वाव्यतिरिक्तत्वद्वयस्य अवसर एव नास्तीत्याशङ्क्ते—सामान्यतमिति । यमाचष्टे—अवक्तव्यस्येति अवक्तव्यस्य सामान्यं विशेषात्मकं एव तत्रैव निश्चितनियताभिधानाभावेनावक्तव्यत्वस्य व्यवस्थानात् एकत्वादिभिर्वक्तव्यत्वेन सामान्ये वा विशेषे वा व्यवस्थापते तत्स्वरूपस्य विशेषात्मका सामान्यात्मका वेति भावः । एकत्वान्यत्वादिभिरवक्तव्यस्य सामान्यं विशेषश्च व्यावर्तयतीति यदर्थं यदि—तद्यथा तत्त्वावेति । अवक्तव्यावक्तव्या उभयतीति परमतमेव दर्शयन्तीति—तद्यथेति । यथाह—सामान्यमीप्सितं वस्तु निर्विशेषं सामान्यमेवेति कपिला पुरुषान्यसमवायिनामित्यादि । एवं विशेष इत्यत्र विशेषे एकत्वं सामान्यापेक्षया कल्प्या विशेषाय बहुत्वात् कल्पनेन विशेषस्य व्यवस्थितेन तत्तदेकत्वं सामान्यकृतं विशेषीभूतम्, तदेकत्वं विशेषीभूतमाक्रम्य विशेषस्वरूपमापादयत् व्यावर्तयति सामान्यकृतमेकत्वं व्यावर्तयति यथा नैको विशेषः एवं हि विशेषो निर्विशेषं सामान्यमेव भवेत्, तस्मात् सामान्यमेवेति यदि सामान्यविशेषोभयकृतमन्यत्वं विशेषीभूतमाक्रम्य विशेषस्वरूपं व्यावर्तयदनुभयकृतमन्यत्वं व्यावर्तयति न सामान्यं विशेषश्च वेति तथा ते एकत्वान्यत्वे यदि विशेषाव्यतिरिक्ते तर्हि तदवक्तव्यार्थं संवदेत् एवमेवासौ विशेषोऽवक्तव्य इति, यदि तेभ्यः एकत्वान्यत्वे विशेषाद् व्यतिरिक्ते तर्हि ते तत्रापि न विशेषस्वरूपे तयोरिति विशेषेण तयोरवक्तव्यात्मा विशेषोऽवक्तव्यो न व्यतिरिक्तवक्तव्यमेव विशेषेति परमतं दर्शयन् एतदीयं—तथा वक्तव्यवाद इति । एकत्वान्यत्वादिविशेषाणां सत्स्वभावे तत्रैव निश्चितनियताभिधानेन नियमभागोऽवक्तव्यार्थो भवते न

१ °सि० वाक्यत्वा नियमादित्यादि इत्य । ब °वाक्यत्वाभिमते इत्य । का ×× विशेषा° °वाक्यत्वाव इत्य । २ सि ब विशेषा वाक्यतद्यथार्थेन ।

विशेषाणां हि वस्तुपरतन्त्रत्वे सत्यवक्तव्यार्थो नियम्यमानः संवर्तीत्यत आह—

अवक्तव्यत्वस्य नियमत्वादस्य च नियमस्य तथा तथाऽऽत्मान्तरनिवृत्त्याकारान्तरत्वापत्तेर्विशिष्यमाणस्य विशेषत्वमेव, यदि पुनर्विशेषव्यतिरिक्तं स्यात् ततो व्यतिरेकादन्यत्वाशान्तेः ।

(अवक्तव्यत्वस्येति) [अ]वक्तव्यत्वस्य नियमत्वात्, तस्य च नियमस्य तथा तथा–तेन तेन प्रकारेण सामान्यविशेषैकत्वान्यत्वोभयत्वादीनामात्मान्तरनिवृत्त्याकारान्तरत्वापत्तेर्विशिष्यमाणस्य नियमत्वादवक्तव्यत्वस्य विशेषत्वम्, तस्मादव्यतिरिक्तं विशेषादवक्तव्यवस्तु, यदि पुनर्विशेषव्यतिरिक्तं स्यात्ततो व्यतिरेकादन्यत्वे विशेषाणां वस्तुनः परस्परतश्चैकत्वादीनां स्यात्, तथाप्यर्थं न विघटते वस्तु, एकान्तापत्तेरवक्तव्यत्वलोपात् इष्टं चावक्तव्यं त्वयेत्यत आह–ततो व्यतिरेकादन्यत्वाशान्तेरिति, इत्थं विशेषाव्यतिरेकोपपत्तिरवक्तव्यवस्तुनेति । तथा भावोपगम्यविशेषकत्वैकत्वोभयत्वान्यत्वभावाव्यतिरिक्ततायामवक्तव्यार्थसंभवादवक्तव्यत्वस्य नियमत्वात्तथातथाविशेषादव्यतिरिक्तम्, ततो व्यतिरेकादन्यत्वाशान्तेरिति पठित्वा भावतादिपक्षेऽप्युपपत्तिरव्यतिरेकस्य तथैव योज्या तथा सामान्यविशेषाभ्यामाशान्तेः भावविशेषत्वैकत्वान्यत्वभावविशेषाव्यतिरिक्ततायामित्यभिप्रायेणान्यो भावैकत्वान्यत्वाशान्तेरित्युभयथापि पक्षेऽप्युपपत्तिरव्यतिरेकस्य तथैव योज्येति ।

एवमवक्तव्यस्यापि भवद्दर्शनाद्विशेषाव्यतिरिक्तं वस्तु, ततः किम् ?—

यद्येवं विशेषाव्यतिरिक्तं वस्तत्तु विशेषमात्रमेव, यथा भिन्नोऽप्येको विशेषो रूपादिस्वरूपादव्यतिरिक्तत्वाद्विशेष एवेत्यभ्युपगम्यते त्वयापि, तस्य भावेन सहैकत्वान्यत्वादि

ए वार्तम्मे, तथमेवान्तम वस्तुन्योऽव्यत्वापत्तेरित्याह–अवक्तव्यत्वस्येति । नियमत्वं विशेष्यमाणत्वं व्यावर्तकत्वमिति यावत्, तस्य व्यावर्तकत्वमिति चेत्, आत्मान्तरनिवृत्त्याकारान्तरत्वापत्तेः विशेष्यमाणत्वादवक्तव्यत्वमपि विशेष एवेत्यनेन व्याकरोति–अवक्तव्यत्वस्य नियमत्वादिति । सामान्यविशेषयोरेकत्वान्यत्वादय व्यस्ताः समस्ताश्चेति एषु तत्रोपपत्तिनिरेक-व्याकारमात्मान्तराणां निवृत्त्याकारान्तरत्वमापद्यते अन्योऽन्यप्रतिपक्षत्वात्, अवक्तव्यस्य तत्रे विशिष्यमाणत्वाद्विशेषत्वम् तस्य विशेषत्वम्, विशेषाव्यतिरिक्तमवक्तव्यं वस्तु भवतीत्याह–सामान्यविशेषेति । व्यतिरिक्तत्वे तद्विशेष स्यात् विशेषा अवक्तव्यवस्तुनो भिन्ना भवेयुः तथा परस्परं वैरूप्यात्मकत्वादीनाम् तद भवत्तु भावत्वं वस्तु न स्यात् व्यावर्त्यमेव तेषां वस्तुपरतोऽन्यत्वापत्तेरवक्तव्येन वस्तुना परस्परतश्चान्यत्वात्तदवक्तव्यत्वेन विघटिष्यते इत्याह यदि पुनरिति । तथं विरुद्धपक्षे विशेषाव्यतिरिक्तमवक्तव्यं वस्त्विति प्रतिपादितमित्याह इत्यवमिति । सामान्यपक्षेऽपि यदि तदवक्तव्यं भिन्नत्वमेकत्वं सामान्यमूलमवक्तव्यं सामान्यमवक्तव्यं व्यावर्तकम् विशेषार्थैकत्वं व्यावर्तकम् न विशेष एव हि सामान्यस्य निरपेक्षत्वादिति, यदि चेत्यवक्तव्यं न सामान्यं च न विशेषश्च वेति तत्कारणात्मकयोरपि सामान्यविशेषात्मकं सामान्यार्थः स्यात्, अन्यथाऽऽत्मव्यवस्थितिर्न अवक्तव्यस्य नियमत्वात् तथा विशेषाव्यतिरिक्तम् ततो व्यतिरेकादन्यत्वाशान्तेरित्युभयथापि पक्षेऽव्यतिरेकस्योपपत्तिमाश्रित्याह–तथा भावोपगम्यतेति । उभयोरेकत्वाभिप्रायेणाह–तथा सामान्यविशेषाभ्यामिति । एवमवक्तव्यस्यानेकात्मकस्य वस्तुनो विशेषाव्यतिरिक्तमिति पक्षमवगम्य दर्शयन्नाह–यद्येवमिति । विशेषाश्च वस्तु

१ प्र. भावादवक्तव्यत्वाशान्ते ।

विचार्यते, यस्माच्च तैर्भावोऽवक्तव्य इत्युच्यते, एष विशेषोऽप्येक एव, अव्यतिरेको ह्येकलक्षणम्, यथा पुरुष एवेदं सर्वमित्यादि, स च विशेषो भावो वस्तु, अवक्तव्यस्य विशेषाव्यतिरिक्तत्वात्, तत्स्वात्मवत्, यथा विशेषाव्यतिरिक्तं विशेषस्वात्मवस्तु विशेष एव, भवतीति भाव इति सत्तार्थत्वात्तस्य, ततश्च विशेषमात्रमेव, स्थितमिदमेक एव विशेषस्तदवक्तव्यसामान्यमिति ।

(यथेदमिति) यथेदं विशेषाव्यतिरिक्त तत्त्व एतद्भावात वस्तु विशेषमात्रमेव एवं नियमविधिनियमनोरथपूरणम् तद्दर्शयति—यथा भिन्नोऽपीत्यादि यथा परस्परविविक्तासाधारणस्परसादिविशेषार्थं भिन्नोऽप्येको विशेषो रूपादिस्वरूपात्—रूपाद्यात्मनोऽव्यतिरिक्तत्वाद्विशेष एवेति दृष्टान्तवर्णनम्, वस्त्वमात्मत्वाभ्युपगम्यत इति, तथाऽपीदमिदमनुमानयति, साम्प्रतं तत् कथं मयाऽभ्युपगतमिति तत्प्रदर्शनार्थमाह—यस्मामाथेनेत्यादि, योऽसौ त्वया किं भावेन सह विशेषस्यैकत्वसम्बन्धमित्यविशिष्यविचारेऽभ्युपगतः, यस्माच्च विशेषाद्भाव एकत्वान्यत्वादिभिरवक्तव्य इत्युच्यते नैष विशेषोऽप्येकैकः, कस्मात्? अव्यतिरेको ह्येकलक्षणम्, यदि न कुतश्चिद्व्यतिरिच्यते तदेकमित्युच्यते यथा 'पुरुष एवेदं सर्व'मित्यादि, स च विशेषो[1] भाव[ो] वस्तु अवक्तव्यस्य विशेषाव्यतिरिक्तत्वात् इत्यविधिना सिद्धो हेतुः, तत्स्वात्मवदिति विशेषाव्यतिरिक्त विशेष[स्वात्मवस्तु]विशेषः एक इति यथा तथाऽवक्तव्यमिति सम्बन्धः मा भूत् प्रागुक्तसामान्यपर्यायमावक्तव्यवुद्धिरिति[र्]भेदार्थं भावो वस्त्विति वस्तुपर्यायस्य ग्रहणमाह—भवतीति भाव इति सत्तार्थत्वात् तस्य ततश्च विशेषमात्रमेवेति सामान्यवादनिरासो वस्तुपर्यायेऽस्युपन्यासार्थः मात्रग्रहणात् सिद्धे स्फुटीकरणार्थमितरोऽवधारणार्थश्चैवकारग्रहणम्, स्थितमिदमेक एव विशेषस्तदवक्तव्यसामान्यमिति ।

अव्यतिरिक्तं तथा तदवक्तव्यं विशेषमात्रमेवेति नियमसामान्यस्य विशेष इति विचारे नियमविधिनियमस्य मनोरथमात्रेण परिपूर्णमिति प्रतिपादयति—तत एतद्भावादिति । तत्कथमित्यत आह—यथा भिन्नोऽपीत्यादीति भिन्ना परस्परं भिन्ना असाधारणा येऽपि ते विशेषा यथा रूपादिस्वरूपाद्भिन्नत्वाद्विशेष एवेति दृष्टान्त तद्विशेषमात्रमेव विशेषाव्यतिरिक्तत्वात्, न तु ततः व्यतिरिक्त एको विशेष इति सामान्यमिति भावः । ननु त्वयाऽभ्युपगम्यत इति भवतु तत्कथं मयाऽभ्युपगतमित्यत आह—योऽसाविति । विशेषस्य भावेन सहैकत्वान्यत्वादिविचारे विशेषात् भाव एकत्वादिभिरवक्तव्य इत्यभ्युपगम्यते त्वया अवक्तव्यमपि विशेष एव अव्यतिरेकलक्षणत्वादेकत्वस्य यथा पुरुषकारणमात्रादि पुरुषादि च न कुतश्चिद् व्यतिरिक्त इदं सर्वं पुरुष एकपुरुष एव एव च एक एकत्वलक्षणमपि विशेषाव्यतिरिक्तत्वाद्विशेष एवैक स चावक्तव्यरूपो विशेषो भावो वस्तु च अवक्तव्यस्य विशेषाव्यतिरिक्तत्वेनैकत्वादिति भावः । प्रयोगे दृष्टान्तमाह तत्स्वात्मवदिति विशेषात्मा विशेषाव्यतिरिक्तो विशेष एवैक एकत्वलक्षणमयीति भावः । विशेषो भावो वस्त्विति भावशब्दो न सामान्यपर्यायः किन्तु वस्तुपर्याय इति दर्शयितुं तत्र वस्तुपर्याय इत्याह मा भूदिति भावस्य सत्ताख्यवस्तुपर्यायत्वेन विशेषमात्रमेव अत एव सामान्यवादनिरास वस्तुपर्यायस्य भावस्य सामान्यमेकमनेकावृत्तमिति भावः । मात्रग्रहणेन सामान्यवादनिरासकत्वेन न स्यादिति विशेषकार स्फुटार्थं एवकारोऽवधारणार्थेन तथा चावक्तव्यं वस्तु एक एव विशेष इति सिद्धमिति भावः । अवक्तव्यं वस्तु त्वयाऽभ्युपगम्यते स एक एव विशेष इति प्रोक्तविधानेन सिद्धो स एकत्वादिभिरवक्तव्य एवं भवेत्, येन

---

१ क्ष सि. डा. दे. °विधिनियमयो । २ सि क्ष छा. डे. इतो विशेषेषि चैतन्य । ३ सि क्ष छा डे. विशेषमात्रो वस्तु । ४ सि क्ष छा. डे. विशेष एव विशेषः ।

तस्मिंश्च स्थिते तदेकत्वात् कुतोऽवचनीयता तस्य न हि विशेषोऽवचनीयो विशेषाव्यतिरिक्तत्वात् स्वात्मवत्, एवं निर्धारितो विशेषो वाच्य एव तथा च निर्धारितार्थावक्तव्यवचनादुष्णत्वेन निर्धारितस्याग्नेः शीतोऽग्निरिति वचनव्यवहारवदबुद्धिपूर्वकयादृच्छिकवचनव्यवहारप्रसङ्गः, अतथा चेदिच्छस्येवं तर्हि विशेषो वचनीयः, विशेषाव्यतिरिक्तत्वात्, अवक्तव्यसामान्यवत् ।

(तस्मिंश्चेति) तस्मिंश्च स्थिते तदेकत्वात् कुतोऽवचनीयता ? द्वितीयाभावात् केन सहैकत्वान्यत्वादवक्तव्यता तस्य–विशेषमात्रस्य भावस्येति, तद्व्याख्या–न हि विशेष इत्यादिनाऽवचनीयो विशेषो विशेषाव्यतिरिक्तत्वात् सामान्यनिर्मुक्तोपसंहारार्थं साधनं गतार्थम्, एवं निर्धारितो विशेषो निर्धारितत्वाद्वाच्य एव स्यात्, अनिर्धारितो ह्यवाच्यः स्यात्, यथा चेत्यादि, एवं निर्धारितमपि विशेषं स्वपक्षरागादवाच्यमेव मन्यसे तथा च निर्धारितेत्यादि यावत् प्रसङ्गः, अबुद्धिपूर्वको यदृच्छया क्रियते व्यवहारस्तथा, निर्धारितार्थावक्तव्यवचनात्, उष्णत्वेन निर्धारितस्याग्नेः शीतोऽग्निरिति वचनव्यवहारवत्, तस्माद्विशेष एवेति निर्धारितोऽवक्तव्यसामान्यार्थो विशेष एवेति वक्तव्यः, विशेषाव्यतिरिक्तत्वात् तत्स्वात्मवत् अतथेत्यादि, स्वपक्षरागेणैव विशेषाव्यतिरिक्तत्वेऽप्यवचनीयमेव वा वचनीयसामान्यमिच्छसे[वं] तर्हि विशेषो विशेष इत्यवचनीयो विशेषाव्यतिरिक्तत्वादवक्तव्यसामान्यवत् ।

स्यान्मतं सिद्धमेव विशेषावाच्यत्वमित्येतच्च न—

त्वया विशेषस्यैकत्वादि वाच्यत्वेनाभ्युपगम्य प्रतिषेधेनावक्तव्यप्रतिपादनस्य कृतत्वात्, तस्याप्यवाच्यत्वे वस्तुनश्चावाच्यत्वे तयोः परस्परमवचनीयत्वादुभयतोऽप्यवचनीययोर्द्वयोरपि वचनीयत्वं स्यात् ।

सदेकत्वादिभिरवक्तव्यत्वं वक्तव्यं स्यात् तस्याभावात् एकमेव हि विशेषमात्रं वस्तु, नान्यत् किञ्चिदस्तीत्यत एवाह तस्मिंश्च स्थित इति । व्याचष्टे–द्वितीयाभावादिति । तदेवानुमानेन साधयति–न हीति विशेषो नावचनीयः विशेषाव्यतिरिक्तत्वात् स्वात्मवत् यथा विशेषात्मा विशेषाव्यतिरिक्तत्वात् नावचनीयः किन्तु विशेषात्मकत्वेनोच्यते तथा विशेषोऽपि । एवमवक्तव्यसामान्यस्य विशेष एवेष्ट इत्युक्ते निर्धारित स वाच्य एव स्यात्, अनिर्धारितं ह्यवाच्यं भवति न निर्धारितमित्याह–एवं निर्धारित इति । एवं निर्धारितमपीति, इत्यनुपपत्तिमिव्याप्तिमिवास्मिन्नेव वक्तव्यता निर्धारितमपि विशेषमवाच्यमेवेति मन्यसे तत्र केवलं स्वपक्षराग एव कारणं नान्यत् किमपि प्रमाणम्, तथापि समवचनीयत्वव्यवहारस्त्वबुद्धिपूर्वक यादृच्छिक एव यथोष्णत्वेन निर्धारितस्याग्नेः शीतत्वेन व्यवहार इति भावः । एतदेवाह अबुद्धिपूर्वक इति । हेतुमाह–निर्धारितेति निर्धारितस्यार्थस्य स्वपक्षरागादवक्तव्यस्य इति वचनादित्यर्थः । निदर्शनमाह–उष्णत्वेनेति । फलितार्थं निगमयति–तस्माद्विशेष एवेतीति । एवं विशेषाव्यतिरिक्तत्वादवचनीयसामान्यस्य विशेष एवेति वक्तव्ये विशेषोऽपि तद्वचनीयसामान्यवचनीयस्वरूपे वेत्युक्ते तदवचनीयसामान्यमेव विशेषमपि विशेष एवावचनीयत्वं व्याप्तिवदुक्तमित्यत्राह–अतथेति । नार्थं विशेषे वक्तोऽपि, अवचनीयत्वमवचनीयत्वात्मनुपपन्नमिति चेदाह–त्वया विशेषस्येति । वाच्यत्वस्याभ्युपगमार्थं त्वया प्रथमं विशेषस्यैकत्वादिवाच्यत्वमभ्युपेत्य तत्प्रतिषेधेन कृतम् अवक्तव्यप्रतिषेधे दोष-

1 नि भ प्र. टे इच्छसेवमि ।

विचार्यते, यस्माच्च तैर्भावोऽवक्तव्य इत्युच्यते, एष विशेषोऽप्येक एव, अव्यतिरेको ह्येकलक्षणम्, यथा पुरुष एवेदं सर्वमित्यादि, स च विशेषो भावो वस्तु, अवक्तव्यस्य विशेषाव्यतिरिक्तत्वात्, तत्स्वात्मवत्, यथा विशेषाव्यतिरिक्त विशेषस्वात्मवस्तु विशेष एव, भवतीति भाव इति सत्तार्थस्यास्य ततश्च विशेषमात्रमेव स्थितमिदमेक एव विशेषस्तदवक्तव्यसामान्यमिति ।

(यथैवमिति) यथैव विशेषाव्यतिरिक्त तत् एकत्वादि वस्तु विशेषमात्रमेव एव नियमविधिनय-मनोरथपूरणम्, तद्दर्शयति—यथा भिन्नोऽपीत्यादि, यथा परस्परविविक्तासाधारणरूपत्वाद्विशेषाणां भिन्नो-ऽप्येको विशेषो रूपादिस्वरूपात्—रूपाद्यात्मनोऽव्यतिरिक्तत्वाद्विशेष एवेति दृष्टान्तवर्णनम् वक्ष्यमाणत्वाद् भ्युपगम्यत इति, एवमपीदमित्यनुमानमस्ति, साम्प्रतं तत् कथं मयाऽभ्युपगतमिति तत्प्रदर्शनार्थमाह—यस्मात् माभैत्यादि योऽसौ त्वया किं भावेन सह विशेषस्यैकत्वमन्यत्वमित्यादिविचारेऽभ्युपगतः, यस्माच्च विशेषा-द्भाव एकत्वान्यत्वादिभिरवक्तव्य इत्युच्यते, एष विशेषोऽप्येवैकः कस्मात्? अव्यतिरेको ह्येकलक्षणम्, यदि न कुतश्चिद्व्यतिरिच्यते तदेकमित्युच्यते यथा 'पुरुष एवेदं सर्व'मित्यादि स च विशेषो भाव[ो] वस्तु अवक्तव्यस्य विशेषाव्यतिरिक्तत्वात्, व्यतिरेकिणा सिद्धो हेतुः, तत्स्वात्मवदिति विशेषाव्यतिरिक्तं विशेष[स्वात्मवस्तु]विशेषः एक इति यथा तथाऽवक्तव्यात्मकमिति सम्बन्धः, मा भूत् प्रागुक्तसामान्य-पर्यायमात्रशब्दबुद्धिरिति[स]मेतार्थं भावो वस्त्विति वस्तुपर्यायत्व दर्शयन्नाह—भवतीति भाव इति सत्तार्थ त्वात् तस्य ततश्च विशेषमात्रमेवेति सामान्यशङ्कानिरासो वस्तुपर्यायत्वमेवेत्युपसंहार्यः, मात्रग्रहणात् सिद्धे स्फुटीकरणार्थमितरतोऽवधारणार्थमेवकारग्रहणम्, स्थितमिदमेक एव विशेषस्तदवक्तव्यसामान्यमिति ।

[illegible] स्याद् तदवक्तव्यं विशेषमात्रमेवेति नियमस्तदवक्तव्यस्य विशेष इति विचार्ये नियमविधिनयस्य मनोरथमेव परिपूर्णमिति प्रतिपादयति—तत एकत्वाद्यापादितमिति । तत्प्रतिपादनाय यथा भिन्नोऽपीत्यादीति विशेषा परस्परं भिन्ना असाधारणाश्च, तथैकोऽपि विशेषो यथा रूपादिस्वरूपाव्यतिरिक्तत्वाद्विशेष एवेति दृष्टान्तः तद्विशेषमात्रमेव विशेषाव्यतिरिक्तत्वात् [illegible] व्यतिरिक्त तदेव विशेष इति साध्यमिति भाव । ननु त्वयाऽभ्युपगम्यत इति कथं तत्कथं मयाऽभ्युपगतमित्याह—योऽसावितिति । विशेषस्य भावेन सहैकत्वान्यत्वादिविचारो विशेषात् भाव एकत्वादिभिरवक्तव्य इत्यभ्युपगम्यते त्वया [illegible] विशेष एवैकः अव्यतिरेकलक्षणत्वादेकत्वस्य यथा पुरुषमात्रमात्मादि पुरुषादि च न कुतश्चिद् व्यतिरिक्तं इदं सर्वं पुरुष एवेत्युक्ते [illegible] एवमवक्तव्यमपि विशेषाव्यतिरिक्तत्वाद्विशेष एवैक. स चावक्तव्यात्मको विशेषो भावो वस्तु च अवक्तव्यस्य विशेषाव्यतिरिक्तत्वादिति भाव । प्रयोगे दृष्टान्तमाह तत्स्वात्मवदिति विशेषस्वात्मा विशेषाव्यतिरिक्तो विशेष एवैक एवमवक्तव्यमपीति भाव । विशेषो भावो वस्त्वित्यत्र भावशब्दो न सामान्यपर्याय किन्तु वस्तुपर्याय इति दर्शयितुं वस्त्विति तत्पर्यायं वस्तुपदमाह [illegible] मा भूदिति भावशब्द सत्तार्थत्वात्सत्तावाचकत्वेन विशेषमात्रमेव, अत एव सामान्य-शङ्कानिरास वस्तुपर्यायत्व भावशब्द [illegible] भाव । मात्रग्रहणेन सामान्यशङ्कानिरासत्वेन च वस्त्वभिधि [illegible] स्फुटार्थं [illegible] तथा अवक्तव्यं वस्तु एक एव विशेष इति सिद्धमिति भाव । अवक्तव्यं वस्तु त्वयाभ्युपगम्यत स एक एव विशेष इति भेदविचारेण सिद्धो स एकत्वादिभिरवक्तव्य कथं भवेत्, येन

---

१ अ. मि का. दे °विधिनियमो । २ सि क का. दे. एको विशेषेति दर्शयः । ३ सि क क्ष. दे विशेषमात्रा वस्तु । ४ मि क का दे विचार क्व भिन्नः ।

भावत्वे भवत्कल्पनैव, अभावत्वेऽप्यसदिति वक्तव्यतैवेत्यवक्तव्यत्वनिवृत्तिः, एवमस्मन्न्यायेन दोषः, किञ्चान्यत्—तथा खपुष्पवदप्यवस्तुना—तेन प्रकारेण तथा—विशेषव्यतिरिक्तत्वन्यायेन खपुष्पेणैव तदवक्तव्यस्य वैस्तवस्तु कस्मात् ? अभूतावक्तव्यत्वात् भावकृत्वा[वि]विशेषद्वारेण अवक्तव्यत्वमुक्तम्, तद्व्यतिरिक्तत्वे तस्याभूतावक्तव्यत्वम्, अभूतावक्तव्यत्वात् खपुष्पवदवस्त्विति, भावपक्षेऽपि भवत्येव भवतीति भावस्य अवक्तव्यत्वादभूतावक्तव्यत्वम् तस्यास्यभवतैनैव भावपक्षेऽप्यभूतावक्तव्यत्वात् प्रधानादिवदवस्त्विति, किञ्चान्यत्—यथा चेत्यादि यथा च तदवक्तव्यस्य वस्तु विशेषव्यतिरिक्तमिष्यते तथा विशेषोऽप्यवक्तव्यस्यवावस्तुनो व्यतिरिक्तो व्यतिरेकस्य द्विष्ठत्वात्, एवञ्च सति तदवाच्यत्वमनयो वस्तुविशेषयोः प्राप्तम्, खपुष्पवदसत्, अविशेषत्वात्—विशेषव्यतिरिक्तत्वात् खपुष्पवत्, विशेषोऽप्यसत्, वस्तुव्यतिरिक्तत्वात्, खपुष्पवत्, नो चेत् खपुष्पं स्यात्, विशेषव्यतिरिक्तत्वात् वस्तुवत् खपुष्पं सत् वस्तुव्यतिरिक्तत्वाद्वा विशेषवत्, तथा चेत्यादि एव तस्य वस्तुनोऽसत्त्वे सामान्यविशेषयोः भिन्नैकत्वमव्यक्तमवक्तव्यमित्यादिविकल्पप्रपञ्चनमाकाशरोमन्थनवत् परिक्लेशमात्रफलम्, अयथार्थत्वादित्याकाशकुसुमगौरत्वागौरत्वादिविचारवदयथार्थत्वादिवदयथार्थत्वमस्य विचारस्योक्तविधिना सिद्धमित्येवं व्यतिरेकपक्षेऽप्यवक्तव्यत्वाभावः ।

अथावक्तव्यविशेषव्यतिरेकाव्यतिरेकं वस्त्वस्त्वेष मे पक्षः, तथापि द्विविशेषांशवृत्तेः विशेषप्रधानावक्तव्योपसर्जनपक्षता, विशेष एवावक्तव्यत्वेन विशेष्यत्वाद्गौरद्रव्यगुरुत्ववद्विशेषणविशेष्यवैषम्यवत् प्रधानः, अवक्तव्यस्य चोपसर्जनता स्यादिति प्रधानोपसर्जनपक्षताऽप्रतर्कितोपस्थिताऽनिष्टा च सेति ।

(अथेति) अथावक्तव्यविशेषव्यतिरेकाव्यतिरेक—स्यान्मत सामान्यविशेषैकत्वान्यत्वावक्तव्य-

पक्षेऽपि वस्तु भावरूपेणान्यरूपेण वा वक्तव्यमेव स्यादिति पुनरपि—भावत्व इति । वक्तव्यत्वमवक्तव्यतेनार्थ तन्मतेन वस्तुनोऽवस्तुत्वमेवेत्याह—तथा खपुष्पवदपीति वस्तुनोऽवक्तव्य च सामान्यविशेषत्वान्यत्वविनिर्मुक्तस्याभिमतकल्पना विशेषव्यतिरिक्तत्वादुच्यते तथा तथा च तद्वस्तु भवतीति भाव । हेतुमाह अभूतावक्तव्यत्वादिति, तद्वस्तु विशेषव्यतिरिक्तत्वात् भवत्वमर्थं सामान्यविशेषा हि भवनमर्थी तस्मादभूतावक्तव्यं तत् तथा च खपुष्पवदभूतावक्तव्यस्य वाऽवस्तुत्वेति भावः । यदपि त्वदीयं वस्तु भावरूपं तथात्वे भवतीति वक्तव्यत्वात्ते तस्याभूतान्योऽपि प्रधानादिवदवस्तु, अभूतावक्तव्यत्वादित्याह—भावपक्षेऽपीति । वस्तुनो विशेषव्यतिरिक्तत्वे च व्यतिरेकस्य द्विनिष्ठत्वात् विशेषोऽपि तद्वस्तुव्यतिरिक्तः परस्य परव्यतिरिक्तत्वे अवश्यमपि यथा परस्यापि व्यतिरिक्तत्वम् तथा च वस्तुविशेषयोरसत्त्वं व्यतिरेकव्यतिरिक्तत्वात् वस्तुव्यतिरिक्तत्वाच्चेत्याह यथा चेत्यादीति । एतच्च प्रमाणतो दर्शयति खपुष्पवदसदिति अनुमानमस्य दर्शितम् । हेतुं व्याचष्टे—विशेषेति । वस्तुविशेषयोर्विशेषवस्तुव्यतिरिक्तत्वेऽपि यदि सत्त्वमिष्यते तर्हि खपुष्पमपि सत् स्यादित्येवं वस्तुनश्च व्यतिरिक्तत्वादित्याह—नो चेदिति । एवं तन्निमित्तं तयोरसत्त्वमिष्यत एव, तदा सामान्यविशेषयोरभावे किं तयोरेकत्वमन्यत्वमवक्तव्यमित्यादिविकल्पप्रपञ्च आयासमात्रमेव अयथार्थविचारत्वेनायथार्थत्वात् आकाशकुसुमाश्रयेण गौरत्वागौरत्वविचारस्यायथार्थत्वमिवेत्याह एवं तस्य वस्तुन इति । एवं विशेषव्यतिरिक्तत्वपक्षेऽपि वस्तु भावपक्षमिव दुष्टम्—एवं व्यतिरेकपक्षेऽपीति । ननु सामान्यविशेषयोरेव तदन्यत्वाविनिर्मुक्तं तथाऽवक्तव्यमित्युक्तत्वात् व्यतिरेकाव्यतिरेकित्वेन वाऽवक्तव्यमेव विशेषव्यतिरेकाव्यतिरेकं वस्त्वेव मयाऽवक्तव्यमिति । व्याचष्टे—स्यान्मतमिति ।

१ सि० क्ष० डे० वस्तवस्तु तस्य कस्मात् । २ सि० क्ष० डे० व्यतिरेकाव्यतिरेकाव्यतिरेकं ।

(तथेति) तथा विशेषस्यैकत्वादिवाच्यत्वेनाभ्युपगम्य प्रतिषेधेनावक्तव्यत्वप्रतिपादनस्य कृतत्वात् तथापि विशेषस्यावाच्यत्वे वस्तुनश्चावक्तव्यसामान्यस्यावाच्यत्वेऽवक्तव्यसामान्येन विशेषो न वाच्यो विशेषेण सामान्यमवाच्यम् तयोश्चावचनीययोः परस्परमवचनीयत्वम्, ततः किं? तदुभयमप्यवचनीयमवचनीय सदवचनीय सामान्यमिति द्विःप्रतिषेधस्य प्रकृत्यापत्तेर्वचनीयं प्रसक्तम्, तथा विशेषोऽपीति वचनीयत्वमेव स्यात्, द्वयोरपीति, एव तावत् विशेषाव्यतिरिक्तत्वादवक्तव्य वक्तव्यमेवमित्युक्तम्।

अथ विशेषव्यतिरिक्तं वस्त्विष्यतेऽवक्तव्यत्वादेव, नन्वेवं तस्य भावत्वे वक्तव्यतैव, अभावत्वेऽप्यसदिति वक्तव्यतैव, तथा खपुष्पवदप्यवस्तुता, अभूतावक्तव्यत्वात्, खपुष्पवत्, भावपक्षेऽप्यभूतावक्तव्यत्वात् प्रधानादिवदवस्तु यथा च तद्विशेषव्यतिरिक्तमिष्यते तथा विशेषोऽपि वस्तुनो व्यतिरिक्तः, एवञ्च तदेवासत्त्वमनयोः, तथाहि वस्त्वसत्, अविशेषत्वात् खपुष्पवत्, विशेषोऽप्यसत्, वस्तुव्यतिरिक्तत्वात्, खपुष्पवत्, तथा च सामान्यविशेषयोरेकत्वान्यत्वादिविकल्पप्रपञ्चनमाकाशरोमन्थनवत् परिक्लेशमात्रफलम्, अयथार्थत्वात्।

अथ विशेषव्यतिरिक्तमित्यादि, अथ मा भूदमी दोषा इति वस्तुनो विशेषाद् व्यतिरिक्तमिष्यत इति अत्रापि पुनः प्रमोत्थाने चोद्योपक्रमे विशेषव्यतिरिक्तमारभ्याह–[न]वक्तव्यत्वादिति–यस्मात् सामान्यविशेषैकत्वादिविशेषैर्वक्तव्यैरवक्तव्योऽर्थो भिन्नस्वरूपत्वादवक्तव्यत्वादेव तस्मान्नार्थेन व्यतिरिक्त विशेषाद्वस्तिसुपपत्तिः इयमेव भावैकत्वोभयान्यत्वयोः पूर्ववद्व्यतिरिक्तत्वे दोषोपपत्तिः, अस्मिन्नपि पक्षे नन्वेवं तस्य विशेषव्यतिरिक्तत्वात् द्वयी गतिः [भावो वा] अतत्त्वाभावो वा नान्यास्ति,

---

विशेषप्रतिषेधे वाच्यत्वमभ्युपगतं भवति, अन्यथा प्रतिषेधासम्भवादित्याशयेन व्याचष्टे–तथेति। ननु तदानीमपि विशेषस्य वचनीयत्वमेवाभ्युपगम्यत इति चेदाह–तथापि विशेषस्येति प्रतिषेधप्रसक्तस्य विशेषस्यावचनीयत्वे सोऽपि विशेषे वक्तव्यस्तर्हि वस्तुनश्चावक्तव्यसामान्यस्याप्यवाच्यमिति सामान्यविशेषयोरुभयोरप्यवक्तव्यत्वात्, अवक्तव्यमेव सामान्यं तद्विशेषेणावाच्यमवचनीयम्, अवचनीयो विशेषोऽपि सामान्येनावाच्यत्वादवचनीयमिति तयोर्द्वयोरप्यवचनीयत्वेन द्विःप्रतिषेधस्य प्रकृत्यापत्तेर्वचनीयत्वमेव प्रसज्यत इति भावः। परस्परमवचनीयत्वमाह–अवक्तव्यसामान्येनेति। [illegible] सामान्यात्मकेन येनमाह–अवचनीयं सदिति। विशेषमधिकृत्याह–तथा विशेषोऽपीति अवचनीयो विशेषोऽवचनीय इति वचनीय एव प्रसक्त इत्यर्थः। [illegible] वस्तु विशेषादव्यतिरिक्तत्वादवक्तव्यमेवेति तदपि द्वितीयं विकल्पमवलम्ब्य वस्तु विशेषव्यतिरिक्तमिति विकल्पमुत्थापयति–अथ विशेषेति। व्याचष्टे अथ मा भूदमिति। ननु सामान्यविशेषयोरभिन्नत्वेनावक्तव्यत्वे कथमन्यद् वस्तु भिन्नमिति व्यतिरिक्तव्यतिरिक्तत्वादिप्रश्नोत्थाने पुन उत्थापयति–अत्रापीति सामान्यविशेषैकत्वादिविशेषैर्वक्तव्यैरवक्तव्यत्वादेव वस्तु [illegible] विशेषाद् व्यतिरिक्तमिति पूर्ववद्व्यतिरिक्तमिति भावः। इयमेव भावैकत्वोभयान्यत्वयोरपि व्यतिरिक्तताऽनुपपत्तिः इत्येवाह–इयमेवेति। एवं वस्तुनोऽवक्तव्यत्वे विकल्पोपमाह–अस्मिन्नपि पक्ष इति। सामान्यविशेषैकत्वान्यत्वादिविशेषे वस्तु यदि भिन्नं तर्हि तत्तावद् भावो वा स्यादभावो वा [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] नान्या गतिरित्याह–द्वयी गतिरिति।

---

१ [illegible] । २ [illegible] । ३ [illegible] ।

भावत्वे वक्तव्यतैव, अभावत्वेऽप्यभवदिति वक्तव्यतैवेत्यवक्तव्यत्वनिवृत्तिः, एवमवाच्यायेन दोषः, किञ्चा-न्यत्-तथा खपुष्पवदप्यमुना-तेन प्रकारेण तथा-विशेषव्यतिरिक्तत्वन्यायेन खपुष्पवत्त्वेव तदवक्तव्यमास्य वस्तु कस्मात्? अभूतावक्तव्यत्वात् भावैकत्वा[दि]विशेषद्वारेण यदवक्तव्यत्वमुक्तम्, तद्व्यतिरिक्तत्वे तस्याभूतावक्तव्यत्वम्, अभूतावक्तव्यत्वाच्च खपुष्पवदवस्तित्वमिति, भावपक्षेऽपि भवत्येव भवतीति भावस्य वक्तव्यत्वादभूतावक्तव्यत्वम्, तस्मादस्मन्मतेनैव भावपक्षेऽप्यभूतावक्तव्यत्वात् प्रधानादिवदवस्तित्वमिति, किञ्चान्यत्-यथा चेत्यादि, यथा च तदवक्तव्यमात्मवस्तु विशेषव्यतिरिक्तमिष्यते तथा विशेषोऽप्यवक्तव्यमात्मवस्तुनो व्यतिरिक्तो व्यतिरेकस्य द्विष्ठत्वात्, एवञ्च सति तदवस्थामवस्थमनयोः वस्तुविशेषयोः मा भूत्, खपुष्प-वदसत्, अविशेषत्वात्-विशेषव्यतिरिक्तत्वात् खपुष्पवत्, विशेषोऽप्यसत्, वस्तुव्यतिरिक्तत्वात्, खपुष्पवत्, नो चेत् खपुष्पं स्यात्, विशेषव्यतिरिक्तत्वात् वस्तुवत् खपुष्पं सत् वस्तुव्यतिरिक्तत्वाद्वा विशेष-वत्, यथा चेत्यादि एव तस्य वस्तुनोऽसत्त्वे सामान्यविशेषयोः किमेकत्वमन्यत्वमवक्तव्यमित्यादिविकल्प-प्रपञ्चनमाकाशशयनवत् परिक्लेशमात्रफलम्, अयथार्थत्वादिलाकाशकुसुमसौरभासौरभादिविचारवद्यथार्थ-त्वादिवद्यथार्थत्वमस्य विचारस्योपपत्तिविना सिद्धमित्यत्र व्यतिरेकपक्षेऽप्यवक्तव्यत्वाभावः ।

अथावक्तव्यविशेषव्यतिरेकाव्यतिरेकं वस्त्विष्यते मे पक्षः, तथापि द्विविशेषाद्यावृत्तेः विशेषप्रधानावक्तव्योपसर्जनपक्षता, विशेष पर्यायवक्तव्यत्वेन विशेष्यत्वात्क्षीरदन्तुरत्वद्वयविशेषण-विशेष्यदेवदत्तवत् प्रधानः, अवक्तव्यस्य चोपसर्जनता स्यादिति प्रधानोपसर्जनपक्षताऽभ्युप-गतोपस्थिताऽनिष्टा च सेति ।

(अथेति) अथावक्तव्यविशेषव्यतिरेकाव्यतिरेकं-व्याख्यात सामान्यविशेषकत्वान्यत्वावक्तव्य-

पक्षिकेऽपि वस्तु भावस्येवाभावस्येव वा वक्तव्यमेव स्यादित्युक्तवति-भावत्व इति । वक्तव्यत्वमनन्यमनोर्थे स्वमतेन वस्तुनोऽवस्तुत्वमेवेत्याह-तथा खपुष्पवदपीति वस्तुनोऽवक्तव्यत्व सामान्यविशेषैरस्मान्मवादिभिर्विशेषैर्धर्मैर्भिन्नवक्तव्यता-विशेषव्यतिरिक्तत्वात्खपुष्पवत् तथा तथा च तदवस्तु भवेदिति भाव । हेतुमाह-अभूतावक्तव्यत्वादिति तदवस्तु विशेष व्यतिरिक्तत्वात् भवतमन्यत् सामान्यविशेषौ हि भवतमावस्य तस्मादभूतावक्तव्यं तत् तथा च खपुष्पवदभूतावक्तव्य वावस्तु चेति भाव । भावे तदीयं वस्तु भावमवर्त तथात्वे भवतीति वक्तव्यतायां तस्माद्भावपक्षेऽपि प्रधानादिवदवस्तु, अभूतावक्तव्यत्वादित्याह-भावपक्षेऽपीति । वस्तुनः विशेषव्यतिरिक्तत्वे च व्यतिरेकस्य द्विनिष्ठत्वात् विशेषोऽपि वस्तु व्यतिरिक्तः तस्य वस्तुव्यतिरिक्तत्वे स्वसत्तापि तथा वस्तुव्यतिरिक्तत्वम् तथा च वस्तुविशेषयोरसत्त्वं स्याद्विशेषव्यतिरिक्तत्वात्, वस्तुव्यतिरिक्तत्वादेवाह यथा चेत्यादिति । इत्येव प्रमाणमा दर्शयति-खपुष्पं वस्त्विति अवक्तव्यत्वे वस्त्वित्यर्थः । इदं व्याचष्टे-विपर्ययेति । वस्तुविशेषविशेषत्ववस्तुव्यतिरिक्तत्वेऽपि यदि सत्त्वमिष्यते तर्हि खपुष्पमपि सत् स्याद्विशेषवस्तुव्य व्यतिरिक्तत्वादित्याह-वा यदिति । एवान्तर्नीय तयोरसत्त्वमिष्यत चेत् तदा सामान्यविशेषयोरभावेन किं तयोरेकत्वमन्य त्वमुभयत्वमित्यादिविकल्पप्रपञ्च आकाशशयनं अयथार्थविचारत्वेन यथार्थत्वाय आकाशकुसुमसौरभ तयोरसौरभौरर्थविचा-रवदयथार्थत्वमेवास्य सर्वं तस्य वस्तुन इति । एवं विशेषव्यतिरिक्तत्वादपि तदवस्तु भावपक्षमित्युपसंहृतं-एवं व्यतिरेकपक्षेऽपीति । ननु सामान्यविशेषपक्षपातिभिरवक्तव्यं तथाप्यवक्तव्यमित्यवोचि व्यतिरेकाव्यतिरेकौ पक्षेण वाच्यमभवा एवाह व्यतिरेकाव्यतिरेकं वस्त्वभ्युपगम्य-अथावक्तव्येति । व्याचष्टे-व्याख्यातमिति ।

1 सि क्ष डा डे वस्तुवत् तस्य कथाद् । 2 सि क्ष डे व्यतिरेकाव्यतिरेकावितिरेकं ।

रवस्तुसतिरेकमव्यतिरेके वाभिधातृत्त्वरवकव्यविशेषव्यतिरेकाव्यतिरेकमिति च पक्ष इत्युच्यते–[1]द्विर्विशेषांशवृत्तेर्विशेषप्रधानावक्तव्योपसर्जनपक्षता–विशेषस्य–भावविशेषैकत्वादेर्भावविशेषैकत्वान्यत्वाव-वक्तव्यधर्मांशवृत्तिभावव्यतिरिक्तव्यतिरिक्तविशेषावक्तव्यत्वधर्मांशवृत्तितामाश्रित्य प्रधानावक्तव्यत्वेन वि-शेषत्वात् गौरवनुरूपत्वात् विशेषणविशेष्यरूपवत् प्रधानोऽवक्तव्यस्य चोपसर्जनता च स्यात्, ततश्च विशेषप्रधानावक्तव्योपसर्जनपक्षतैवं अभवर्तितोपस्थिताऽनिष्ट च सेति ।

किञ्चान्यत्—

तस्या अपि च रूपं निरूप्यम्, किमेकत्वमन्यत्वमुभयत्वमनुभयत्वं वेति प्रतिषेध्यविपक्षरूपत्वाश्रयितव्यत्वात्, तत्र तस्य किं द्विर्विशेषांशवृत्तिराश्रीयते ? अथ नाश्रीयते ? यद्या-श्रीयते निषिध्यमानप्रतिपक्षरूपता ततः पर्यायेण सांख्यादिवादगतानन्यत्वादिदोषप्रसङ्गः, तत्र स्वयमेवोक्तदोषास्तथाऽऽपतन्ति ।

(तस्या इति) तस्या अपि च रूपं निरूप्यम् कथं निरूप्यमिति चेदुच्यते–[2]किमेकत्वमित्यादि द्वाभ्यां न्यायाभ्यामन्यतरेणावक्तव्याभ्युपगमाभिरूप्यम् तथथा–एकत्वे निषेध्येऽन्यत्व-मापतति अन्यत्वे निषेध्ये चैकत्वम्, तयोर्निषेधेऽनुभयत्वम्, अनुभयत्वनिषेधे चोभयत्वम् तस्मात् प्रतिषे-ध्यविपक्षरूपमाश्रयितव्यम्, तत्र तस्य विशेषप्रधानावक्तव्योपसर्जनस्य द्विर्विशेषां[श]वृत्तिराश्रीयते यथा, अथ नाश्रीयते किमिति पृच्छामो गतिद्वयानतिवृत्तेरिति, किमिति च तदेव निरूपयितुम्, द्विधाऽपि च दोषा तत्र यावद्याऽऽश्रीयते निषिध्यमानप्रतिपक्षरूपता ततः पर्यायेण सांख्यादिवादगतानन्यत्वादिदोषापादनम्–

अनवक्तव्यं द्विधा विशेषात एव यदेव इति विशेषप्रधानावक्तव्योपसर्जनता प्रसज्यत इति समाधत्ते द्विर्विशेषांशवृत्तेरिति, द्वि द्विवारं विशेषस्यैव वृत्तिरवक्तव्यस्यैवम् । तदेवाभिव्यनक्ति–विशेषस्येति भावविशेषैकत्वान्यत्वविरूपविशेषस्य व्यतिरि-क्ताव्यतिरिक्तविशेषस्य चावक्तव्यतोक्ता विशेष प्रधानावक्तव्यत्वमुपसर्जनम्, भावविशेषैकत्वान्यत्वावक्तव्यत्वे धर्मे व्यतिरिक्ताव्यतिरिक्तविशेषावक्तव्यत्वे धर्मे चावरूपेण वक्तव्यता विशेषस्य द्विरेतावत् स्यादिति यावत् । विशेषप्रधानेति । एतद्वक्तव्येन विशेषस्यैवावक्तव्यत्वस्य प्राधान्येन विवक्षणात्, विशेषांशावक्तव्यत्वेन विशेष्यमाणो विशेष एव प्रधानः यथा पौरस्त्यमनुष्यविशेषणत्वेन विशेष्यमाणो देवदत्तः प्रधानः अवक्तव्यत्वस्य विशेषकत्वादुपसर्जनं भवेदिति भावः । एवं विशेषप्रधानावक्तव्योपसर्जनतापक्षोऽभिहितोऽभिधाय दूषयति–ततश्चेति । ननु परस्परापादनैकत्वान्यत्वादिदूषण-न्यायेन प्रधानोपसर्जनतायाः अवक्तव्यप्रभेदाभ्यासेन प्रवृत्तावस्थानमात्रस्य एकत्वादिरूपमपि निरूपयितुमाह–तस्या अपि चेति । निरूपयितुमाह–किमेकत्वमित्यादीति । परस्परपरिहारस्थितिलक्षणत्वेन–एकत्वे निषेध्य इति । यदि नैकत्वं तर्ह्यन्यत्वं प्राप्यते यदि नान्यत्वं तर्ह्येकत्वम्, यदि नैकत्वान्यत्वे तर्ह्यनुभयत्वम्, यदि नानुभयत्वं तर्ह्युभयत्व-मन्यतरेणावश्यम्भावनियमात् प्राप्यत इति भावः । एषु धर्मेषु निषिध्यमानस्य च प्रतिपक्षरूपत्वमवश्यमाश्रयणीयमित्याह तस्मादिति, अन्यतरेणावश्यम्भाव्यत्वादित्यर्थः । तत्रेति प्रतिषेध्यविपक्षरूपाश्रयणे प्रतिषेध्यविपक्षरूपस्य द्विर्विशेषांशवृत्ति-द्विविधो यो विशेष एकत्वान्यत्वादिरूप तस्मिन् एकत्वेऽन्यत्वे च वृत्तिरिति तत्र च वृत्तिः विशेषप्रधानावक्तव्योपसर्जनतया-श्रियमाणा तत्र नेति पृच्छामि पृच्छता चास्माह–गतिद्वयेति एकत्वं वा अन्यत्वं वा चान्या गतिर्नास्तीति भावः । अन्यथाऽपि तदेव निरूपयितुमाह–किमिति चेति । तत्र दोष दर्शयति–अथाश्रीयत इति । निषिध्यमानो य एकत्वादिस्तत्प्रतिपक्षोऽन्य-

---

1 छा. यथा द्विर्विशेषांशवृत्ते, क डे द्विर्विशेषांशवृत्ते । 2 सि क छा. डे °किमेकत्वमित्यादि । 3 सि. क. छा. डे °विशेषोरैकत्वं । 4 सि क छा डे °द्विर्विशेषां वृत्तेराश्रीयतेऽन्यथा ।

ऽस्तीति न किञ्चिदत्यन्ताः संवृत्ताः, तथापि वाचकत्वेऽर्थस्यानभ्युपगमे तेऽभ्युपगमविरोधान्मनस्विनो विजिगीषुत्वं निरुन्धन्ति तेनापि सह विरुद्धत्वात् पूर्ववदिति ।

अथैकान्तवादगतदोषविदूरीकरणार्थमसदेव तदस्तीति वदेत्तदपि न शोभनं विशेषद्वारा निषेधानुपपत्तेः, ततोऽप्ययुक्तमवक्तव्यत्वम्, विशेषधर्मासत्त्वे विशेष्यत्वाभावात्, खपुष्पवत् ।

अथैकान्तेत्यादि, अथ मतं निषेध्यप्रतिषेधकयोरभ्युपगमे त एव मदुक्ता दोषाः स्याद्वादाभ्युपगमेऽभ्युपगमविरोधः तदुभयवादैकान्तवादगतदोषविदूरीकरणार्थं पर्यायेण प्रतिषिद्धप्रतिषेधकसद्भावमनभ्युपगम्य [अ]सदेव तदस्तीति वदेत्–उच्यते त्वया एतदप्यशोभनम् विशेषद्वार[ा]निषेधानुपपत्तेः ततोऽप्ययुक्तमित्यादि यदसदेवास्ति तदस्तित्वस्य खपुष्पवदत्यन्तासत्त्वाद्वा विशेषैकत्वाद्यवक्तव्यमित्ययुक्तम्–विशेषधर्मासत्त्वे विशेष्यत्वाभावात् खपुष्पवत्, एवं मत्तोऽन्यैकत्वानन्यत्वाभ्यां भावविशेषयोरवक्तव्यमयुक्तम्, असत्त्वे तदभावेनाप्ययुक्तम् सदसत्त्वासत्त्वाभ्युपगमस्य एकत्वान्यत्वयोः सत्त्वाद्वारेण वाऽभावस्यात्यन्तासत्त्वस्याप्यत्र[त्य]ता सिद्धान्ताभिप्रायस्य त्वयैव दृष्टत्वात् ।

अथाप्येतत् प्रतिपादनार्थं विकल्पैकत्वान्यत्वाद्यसदेव कल्प्यते ग्रामादिपथोपदेशे दिग्विप्रदर्शनवत्, अत्र भिन्नलक्षणोपपत्तेस्तत्र तयोश्च स्वरूपेणावक्तव्यतैवेति, एवं तर्हि ननु प्रतिपादनमित्यप्यवचनीयमेव अत्यन्तासत्त्वात् खपुष्पवत् प्रतिपादनमिति चोच्यते त्वया लोकवद् प्रतिपादनवैधर्म्येण, विशेषवचनस्य च विशेषाविशेषाद्येकत्वाद्यवक्तव्यत्वात्, प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोरपि चैकत्वान्यत्वाद्यवक्तव्यत्वात् तदवचनीयत्वे च सत्यसत्त्वमवश्यम्भावि, वक्तव्यवत् ।

[illegible]–तेनापि सहेति [illegible] । ननु प्रतिषेध्यप्रतिषेधकयोः [illegible] न [illegible] अथैकान्तवादेति । अथ मतमिति निषिध्यमानप्रतिषेधकयो [illegible] पर्यायेण [illegible] मदुक्त [illegible] स्याद्वादाभ्युपगम [illegible] । मतमिदं निराकरोति–विशेषद्वारेति सामान्यविशेषयो [illegible] विशेषद्वारेण [illegible] खपुष्पवत् [illegible] नास्ति धर्मी यस्य सामान्यविशेष [illegible] पर्यायाभावात् नास्ति धर्मी [illegible], [illegible] सामान्यविशेषयो [illegible] भाव । तदेवाह–यदसत्त्वात्तदेवेति । [illegible] तेनापि [illegible] इति [illegible] । [illegible] सामान्यविशेषयो [illegible] । [illegible] वस्तु, [illegible] सामान्यविशेष [illegible] तथापि [illegible] अपोह्यतेति । [illegible] सामान्यविशेष [illegible] वस्तु [illegible] इति [illegible]–

१ सि. क्ष प्र. ह. प्रइस्तु । २ सि क्ष प्र. डे. [illegible] ।

(अपोह्येतेति) अपोह्येत प्रतिपादनार्थम्, 'उपायः शिक्षमाणानां बालानामुपलालना । असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते (   ) इति विशेषैकत्वान्यत्वाद्यसत्येन प्रतिपादनार्थं कल्प्यते, गतिरिव प्रतिपादनस्य, ग्रामादिपथोपदेशे वृक्षादिप्रदर्शनवत्, चित्रमतिबिम्बदर्शनवदिति, अत्र त्री-समुच्चयोपपत्तेः—प्रतिपेध्यप्रतिषेधसंसर्गे तयोरेकत्वान्यत्वयोः सत्यमितरेतरनिषेधार्थोपपत्तिविधिवदुभयरूपेण वस्तु-मापयेत, अनिर्दिष्टेतरत्, तस्मादत्र—अवाच्यवस्तुनि तयोश्च—एकत्वान्यत्वयोः सत्यरूपेणापरामृष्टत्वेनेति, अत्र भूमः—एवं तर्हि ननु प्रतिपादनमित्यप्यवचनीयमेव—यत्तदेकत्वादिप्रतिपादनमसत्कल्पितमुपायत्वाभिमतं तत्प्रति-पादनमित्यवचनीयमसदन्तासत्त्वात् खपुष्पवत् प्रतिपादनमिति चोच्यते त्वया प्रतिपादनं हि लोके विशेष-वचनं यदं यो गौरः स देवदत्त इति तद्धर्मेण, तथासत्त्वाद्विशेषवचनं प्रतिपादनमुक्तम्, किञ्चान्यत्—विशेषवचनस्य विशेषाविशेषापेक्षत्वादवक्तव्यत्वात्—वचनमपि किं विशेषोऽविशेष एकोऽन्य उभयमनुभयम-वक्तव्यमित्येवमादिविकल्पेऽप्यवक्तव्यमतो विशेषवचनस्याप्यवचनीयत्वात् प्रतिपादन प्रतिपादनमित्यवचनीयम्, किञ्चान्यत्—प्रतिपाद्यो यदन्यः यश्च प्रतिपादकस्तयोरप्येकत्वान्यत्वोभयत्वादवक्तव्यम्, तस्मादपि प्रति-पादनमित्यवचनीयम् तदवचनीयत्वे च तत्त्वस्य मवद्यन्यादि, वक्तव्यमितिति ।

अपोह्येत न प्रतिपाद्यात् प्रतिपादकभेदोऽस्ति, किन्तु सर्वस्य विशेषणतद्विशेष्यस्यास्य वाक्यसंघातस्यैकस्यैवोक्तप्रकारेणावक्तव्यार्थप्रतिपादनवचनाददोष इत्यत्र भूमः, ननु यद्यवचनी-

प्रतिपाद्यमार्थमिति । अत्रार्थे प्रमाणभूतां कारिकामवतारयति—उपाय इति । एकत्वान्यत्वोभयत्वानां प्रत्येकं समवायोपगत्य सत्यं मन्वेत निषेध्यप्रतिषेधकयोः आश्रयत्वे द्वैतस्य प्रतिषेधेऽपरस्यापरस्य प्रतिषेधे चैकस्य तत्त्वावितरेतरनिषेधार्थोपपत्त्यो-भयरूपं तत्समाश्रयेत्याह—अत्र त्रीति । अनिर्देश्य तथापि तत्त्वमतोऽत्रास्य वस्तुन्येकत्वान्यत्वयोः नास्त्यतोऽसत्यत्वेन, प्रतिपादनार्थमेव कल्प्यं कल्प्यते इत्याह—अनिर्दिष्टेतरदिति । एकत्वादिप्रतिपादनमुपायभूतमप्यसत्येव तदप्यवचनीयमेव खपुष्प-वदसत्त्वात्तत्त्वादिपुरुषार्थ—एवं तर्हीति । असत्कल्पितमनेकान्तमूलप्रवक्तव्यान्यत्वादिप्रतिपादनमवचनीयमेव खपुष्प-वदसत्त्वात्तत्त्वादित्याह—यत्तदेकत्वादीति । लोके हि प्रतिपादनं विशेषाभिधानरूपं दृश्यते यश्चोक्तो दृश्यत इति देवदत्तस्य-विभागस्या यो गौर स देवदत्त इति गौरत्वलक्षणविशेषवचनेन देवदत्तस्वरूपं निर्णीयते तथा तु तद्धर्मेण प्रतिपादनमुच्यते यत् एकत्वादिप्रतिपादनमसदिति सम नुपपन्नत्वं इत्याह—प्रतिपादनमितीति तद्धर्मेण—शेषमप्रतिपादनतद्धर्मेण प्रतिपादन-मुच्यते तत्रैव बोद्धव्यम्, तत्र—तैर्धर्मैः । ननु विशेषवचनमपि किं विशेषरूपं सामान्यरूपं वा एकमनुभयमनुभयं वेत्यादि-विकल्पेष्वनेन तैरवक्तव्यमेव तस्मात् प्रतिपाद्यं प्रतिपादनमित्यवचनीयमित्याह—विशेषवचनस्येति । न्यायवदे—वचनमपीति । प्रमाणान्तरेणाप्यवचनीयत्वात् प्रतिपाद्य इति विशेषवचनरूपं प्रतिपादनं सामान्यं प्रतिपादकम्, तस्य च यः प्रतिपाद्यो विशेषपरत्वेन विशेषसम्बन्धात् वैशिष्ट्याविशिष्टैरवचनीयत्वादपि प्रतिपादनमित्यवक्तव्यमिति भाव । ननु प्रतिपाद्यं विशेषवचनम-वाच्यम् प्रतिपादकोऽप्यवाच्यः तयोश्च प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः परस्परमवचनीयत्वादवचनीयस्यावचनीयत्वेन हि प्रतिपादन प्र-सापेक्षे प्रतिपाद्ये वचनीयमेव स्यात् तथा प्रतिपादकोऽपि तस्मात् प्रतिपादक विशेषवचनस्य तत्त्वमतत्त्वे स्यात् कथञ्चनावक्तव्यमपि प्रयुक्तं तदित्यमनेनाह—तदवचनीयत्वे चेति प्रतिपादकस्यावचनीयत्वे च प्रतिपादनस्य तत्त्वमतत्त्वमपि, प्रोक्तदोषोऽपीति भाव । ननु प्रतिपाद्यस्यावक्तव्यसामान्यस्य प्रतिपादकस्य विशेषवचनस्य च नास्ति भेदः केनाप्यवक्तव्यत्वेनैकोऽनु-रूपसुपायः स्यात् किन्तु निरवस्य वाक्यस्यैवैकस्य प्रकारान्तरेणावक्तव्यार्थावबोधकत्वमित्याशङ्कते—अपोह्येतेति । न्यायोपि-

१ सि क्ष. प्रा. द प्रतिपादनार्थमुपाय । २ सि क्ष. प्रा. द. विकल्पनात् । ३ सि क्ष प्रा द °नितिरवत्र । ४ सि क्ष. प्र. दे. °मायत । ५ सि क्ष प्रा. द °दन पुष्प ।

यमित्येतदप्यवचनीयमेव, वस्तुत्वात्तदर्थवदिति, अत्रेदानीं परमनिश्चये त्वदीये तावत् प्रत्यक्ष-मुच्यमान किं कथञ्चिदवचनीयं ? सर्वथा वा ? उभयथा च प्रत्यक्षादिविरोधाः, एकत्वेनान्य-त्वेनोभयत्वेनानुभयत्वेनान्यतरप्रधानोपसर्जनतया तथातथावचनीयत्वात् ।

अथोच्यतेत्यादि, न प्रतिपादकमेदोऽस्ति अवक्तव्यस्य, नापि केचिद्विशेषाः प्रतिपादकाः, प्रति-पाद्यात् सामान्यादिरूपत्वे, किन्तु सर्वस्य विशेषस्याविशेष्यत्वात् वाक्यसंघातस्यैकस्यैवोच्यमानस्य वक्त-व्यार्थप्रतिपादनसमर्थत्वोप इत्यत्र ब्रूमः, ननु यदवचनीयमित्यादि, गतप्रत्यागतेन विरोधापादनं गद्यार्थम्, अथोच्येत स्यादवचनीयमित्येतदपि वचनमवचनीयमेव अहो पुनश्चावचनीयवादी यत्किञ्चिद् वचनीय-मपि प्रतिपद्यस्व ! किन्तु सर्वार्थेन प्रतिपाद्यप्रतिपादकभेदरहित समस्तवस्तुविषयवचनमेवदपि मोच्यते एव वस्तु-त्वात्तदर्थवत् इत्यत्रेदानीं परमनिश्चये त्वदीये तावत् प्रत्यक्षमुच्यमान—ब्रूयमाण वचनीयं तस्यावचनीयत्वे त्रूपी तहि —तत् किं कथञ्चिदवचनीयं ? सर्वथा वेति ? पर्यनुयुज्य दूषयं—सर्वथा वेत्यादि उभयथा च सर्वथा, यदि केनचित्प्रकारेण यदि सर्वथेत्यर्थः, तत्र यदि केनचित्प्रकारेणावचनीयं यथा सामान्यविशेषैकत्वान्यत्वादि विकल्पानामन्यतमेन त्वयैवोक्तत्वोक्त्या तस्यावक्तव्यस्य प्रतिपादनस्य कृतत्वात्, एकत्वेनान्यत्वेनोभयत्वे[नानु-भयत्व] नान्यतरोपसर्जनप्रधानतया तथा तथा वचनीयत्वात्, प्रत्यक्षभूयमाणत्वात् प्रत्यक्षविरोधः स्ववचनविरोधः स्वयमभ्युपगमादभ्युपगमविरोधः भिन्नत्वेनवक्तव्यत्वादिनाऽनुमानेन तथा तथा चोक्त-प्रकारेणानुमानादनुमानविरोधः, लोके शास्त्रेषु च वाच्यवाचकभेदप्रसिद्धेर्लोकागमविरोधौ एवं तावत् केनचित्प्रकारेणावक्तव्यत्वे पक्षे स्ववचनादिविरोधाः, सर्वथाप्यवक्तव्ये तथैव प्रत्यक्षादिविरोधाः ।

इत्येवंविधमवस्तु सर्वथाऽप्यरूपत्वात् खपुष्पवत्, सर्वेण वा विरोधात्, खपुष्पवदेव, प्रत्यक्षरूपादिवत् ज्ञानसुखादिरूपादिवत्, तस्मादवाच्यं वस्तु ।

न प्रतिपादकमेदोऽस्ति अवक्तव्यस्य प्रतिपाद्यस्य तत्प्रतिपादक वाक्यं न तस्य क्रियाकारकादिपदभेदोऽस्ति अवक्तव्यत्वेन निरंशत्वात्, नापि वै प्रतिपादकाः केचिद्विशेषाः वाक्यरूपाये प्रतिपाद्यावक्तव्यस्यार्थस्य सामान्याद् भिद्यन्ते किन्तु क्रियाकारकादि-विशेषविशेषणपदसमुदायवर्णसमूह वाक्यस्यावक्तव्यार्थप्रत्यायकमिति भावः । समाधत्ते—ननु यदवचनीयमित्यादीति अवचनी-यमित्येतद्वचनं किं वचनीयमवचनीयं वेति विकल्पे पूर्वस्मिन् पक्षे त्यागो अपसिद्धान्तः, स्ववचनादिविरोधः स्युरिति भावः । तं एवार्थं अथोच्येत त्वयेति अयं अवक्तव्यवादी किञ्चिदपि वचनादि वस्तु वचनीयमिति नाभ्युपैति, किन्तु प्रतिपाद्यो वचनं प्रतिपादकमित्यस्य प्रतिपाद्यप्रतिपादकभेदरहितं निर्विषयसर्वाभिधानम्, तमोऽवार्थवचनमस्यैवावक्तव्यत्वमवक्तव्यत्वे समस्तार्थस्यावचनीयत्वेन परित्यागदोषेणैव स्थितं वक्तव्यमेवापेक्षावादिभिरुपगम्यमवचनीयमुच्यते वस्तुत्वात् तदर्थवदिति यदिदं वचनं निश्चय इति भावः । अथात्र तं परमनिश्चयवादि प्रत्याह ब्रूयमाणं वाक्यं तवावचनीयत्वे किं कथञ्चिदवचनी-यम् ? सर्वथा वा ? इति पर्यनुयुङ्क्ते पृच्छति—इत्यवचनवादीमिति । उभयथा दोषमावर्जयति—उभयथा चेति । तमेव प्रत्य-क्षादिविरोधं व्याख्याति सर्वथेति तु एव सर्वे प्रकारा इत्यर्थः सर्वथा इति—यदीति । केनचित्प्रकारेणावचनीयत्वे प्रत्यक्षादिविरोधमाह-तत्र यदि केनचिदिति । तमेव प्रकारमाह—यथा सामान्येति । तत्र दोषमाह एकत्वेनेति एकत्वादिना वचनीयत्वात् एव दर्शयति, प्रत्यक्षादिविरोधाः भूयते हि प्रत्यक्षतो वचनीयरूपेण वस्तु, का प्रत्यक्षेण गम्यम्, कथं प्रत्यक्षं वाचनं प्रत्यक्ष-प्रत्यक्षविरोधमिति भाव । त्वमपि वचं तथा उक्तेति स्ववचनविरोध इत्याह—स्ववचनमुक्तेरिति तत्समर्थनेन विरोध एवं इतरे वाक्यमित्याद्यभिप्रायं । अनुमानविरोधं माह—स्वयमिति । सर्वथाप्यवक्तव्ये एवमेव प्रत्यक्षादिविरोधा इत्याह सर्वथापीति ।

१ डा. य. प्रतिपाद्यप्रतिपादक । २ सि. प. डा. के. कथमिति । ३ सि प. प्र के. °इत्यत्रेदानीं रिवानी ताव ।

इत्येवंविधमवस्तु, इतिशब्दो हेतूपसंहारार्थः, यस्मात् कारणमवक्तव्यत्वस्य यदेवंविधं विकल्पितरूपा नास्तीति तदवस्तु, कस्मात्? सर्वथाऽप्यरूपत्वात्—सर्वैः प्रकारैः सर्वथा, यदि सामान्यविशेषैकत्वान्यत्वादिविकल्पैर्वाच्यमवाच्यम्, अथ तैरव्यतिरेकव्यतिरेकादिविकल्पैर्वाच्यमवाच्यमलक्ष्यम्, तदेव वा सामान्यविशेषरूपमप्रतिपाद्यप्रतिपादकादिविकल्पैर्वा वक्तव्यमवक्तव्यमुक्तपूर्वविधिना सर्वथा विचार्यमाणस्य रूपं नावतिष्ठते तस्मात् सर्वथाऽप्यरूपं खपुष्पवदवस्तु तत्, किञ्चान्यत्—सर्वेण वा विरोधात्, अवस्त्विति वर्ण्यते, वक्ष्यविधिनैव सर्वेण स्ववचनादिना प्रमाणेनानेन विरुध्यत एव अतोऽप्यवस्तु खपुष्पवदेवेति साधर्म्यदृष्टान्तः, इतरः प्रत्यक्षरूपादिवदिति वैधर्म्यदृष्टान्त इत्यर्थः यस्य रूपमस्ति तत्सर्वेण न केनचिद्विरुध्यते, यथा प्रत्यक्षं स्वसंवेद्यं सर्ववादिनं प्रति, ज्ञानसुखादिरूपादिवदिति विज्ञानमात्रशून्यवादिनं मुक्त्वाऽन्यान् प्रति, तस्मात् नावक्तव्यं वस्त्वित्युपसंहारः ।

नापि निर्विचारावक्तव्यमेकान्तवादप्रसङ्गात् तत्र चोक्तदोषत्वात्, विशेषोऽपि रूपादिवन्न भवति वस्तु, समुदायत्वात्, न भावोऽपि, त्वयैव प्रतिषिद्धत्वात् कुतस्तदेकत्वाद्यवक्तव्यता? ।

(नापीति) नापि निर्विचारावक्तव्यम् एकान्तवादप्रसङ्गात्, तत्र चोक्तदोषत्वात्, न द्रव्यं न कारणं न सामान्यमिति पूर्वोद्भावितविकल्पप्रतिषेधेनानेकस्य तेषामेव यथा त्वयैव[अ]वक्तव्यवादिना निषिद्धम्, स्यान्मतं विशेषस्तर्हि घटादिरस्तु वस्तु, तदपि रूपादिवदिति न भवति वस्तु, सत्यपि विशेषत्वे समु-

---

प्रतिज्ञार्थमाह—इतिशब्द इति । हेतुमाह—सर्वथेति । कै प्रकारैरित्यत्राह—यदीति । सामान्यविशेषैकत्वान्यत्वादिविकल्पैः अव्यतिरेकव्यतिरेकादिविकल्पैर्वा सामान्यविशेषरूपमप्रतिपाद्यप्रतिपादकादिविकल्पैर्वा वक्तव्यं वस्त्विदं तदवक्तव्यमिति प्रोक्तविधिना विचार्यमाणत्वात् सर्वथाऽनिरूप्यं तत्, यत्प्रत्यक्षादिरूपस्वरूपस्याभावात् खपुष्पवदवस्तु तदिति भावः । हेत्वन्तरमाह—सर्वेण वा विरोधादिति एवंविधमवस्तु, सर्वेण विरोधात्, साधर्म्यदृष्टान्तः खपुष्पवत् वैधर्म्यदृष्टान्तः प्रत्यक्षरूपादिवत् ज्ञानसुखादिस्वसंवेद्यमिति प्रयोगः एकत्वादिप्रतिषेधस्यान्यतरस्याप्यनुपपन्नत्वादभिलाप्येन पुनरप्यविशेषात् सामान्यविशेषयोरेकत्वादिर्वक्तव्यतानुपपन्नस्य प्रतिषेधात् अवक्तव्यानुपपन्नादिविरोध एवमवक्तव्यं प्रत्यक्षाद्यभावेनास्याभावात्, प्रत्यक्षप्रमाणाभावात्, सर्वेण स्ववचनादिप्रमाणेन विरोधादवक्तव्यं वस्तु खपुष्पवदेवेति भावः । वैधर्म्यदृष्टान्तमाह—प्रत्यक्षरूपादिवदिति । ज्ञानसुखादीति विज्ञानमात्रवादिमते विज्ञानस्य शून्येऽपि सुखादिस्वरूपभावाः शून्यवादिमते सर्वस्याप्यभावात्, तान् मुक्त्वाऽन्यान् प्रति दृष्टान्तोऽयमिति भावः । अनेकान्तवादिभिस्त्वेवं तदवक्तव्यं वस्त्विति न ब्रूमो येन सर्वथाप्यरूपत्वं सर्वेण विरोधो वा भवेत्, किन्तु निर्विचारावक्तव्यं वस्त्विति ब्रूम इत्यत्राह—नापीति । तत्र यदि एकान्तेन निर्विचारावक्तव्यत्वं वस्तुनः प्रतिज्ञायते तदैकान्तवादप्रसङ्ग इत्युक्तदोषप्रसक्तेति । तथाविधस्य वस्तुनो भावात्मकत्वे विशेषात्मकत्वे वा त्वयैव दोषस्योक्तत्वादित्याह—तत्र चेति । अवक्तव्यवाद्यभ्युपगतकारणमवेताभ्यामेकत्वान्यत्वाभ्यां प्रकारविशेषैर्द्रव्यकाभ्यामप्रतिषिद्धविशेषैर्द्रव्यमात्रमवक्तव्यं वस्तु भवतीत्याशङ्का वस्तुन एकत्वान्यत्वयोः प्रतिषेधनात्, तत्र वस्तु न द्रव्यं न कारणं न सामान्यविशेषौ त्वयैव प्राक् प्रतिषिद्धत्वादवक्तव्यत्वं प्राप्स्यत इति भावः । भवतु तर्हि विशेषो घटादिविज्ञानग्राह्यः सोऽपि न सम्भवतीत्याह—रूपादिवदिति । विशेषोऽपि न वस्तु, समुदायत्वादित्यभिप्रायेणाह—तदपीति । ननु विशेषस्य वस्तुत्वनिषेधे तदधिकरणस्य भावस्य वस्तुत्वं स्यादित्यत्राह—न भाव इति । यद्यपि

---

१ सि. क्ष. पा. डे. यानमिदे । २ सि क्ष पा डे °वेषामवैकत्वं । ३ सि क्ष पा डे. तदपि ।

दाव्यवहारप्रसिद्धवत् न भावः सामान्यात्मको विशेषप्रतिपक्षोऽपि[1]—तस्य विशेषा[द]र्थान्तर[त्वा]भावाद् सर्वस्य प्रतिषिद्धत्वात् कुत एवंरूपस्यापवक्तव्यता ?—भावविशेषयोरेवासिद्धौ कुतः पुनस्तद्वैलक्षण्यमन्यादिधर्मद्वारानुगम्य[ता] तस्मात्मकत्वमिति ।

किं तर्हि अस्तीति चेदुच्यते—रूपादय एव समुदायिनः, न समुदायो नाम कश्चित्, त एव हि भवन्ति, यत्तैर्भूयते स भावो भवनं भूतिः, ते हि तस्या भवनक्रियायाः कर्तारः, योऽन्यैः परिकल्प्यते समुदायः कारणं द्रव्यमित्यादिः स न भावः कश्चिदस्ति, अरूपादित्वात्, खपुष्पवत्, को हि सः पृथिव्यादिविनाभूतः, एवं के पृथिव्यादयो रूपादिविनाभूताः, केऽन्ये रूपादिभ्यो विना, अभिधानमात्रमेवैतत् आत्मा च न नामान्यः कश्चिदस्ति, अरूपादित्वात् खपुष्पवत् ।

(किमिति) किं तर्हि अस्तीति चेदुच्यते—रूपादय एव समुदायिनः—समुदायोऽसन्नपि परमार्थतो तेषां संवृतिसत्प्रतीतिः समुदायिनः, त एव हि भवन्ति, न समुदायो नाम कश्चिदितरभावरूपः, यत्तैर्भूयते स भावो भवनं भूतिः भावसाधनो भावशब्दः ते हि तस्या भवनक्रियायाः कर्तारः, एतदर्थसम्प्रत्ययेन योऽन्यैः परिकल्प्यते समुदाय[ः] कारणं द्रव्यमित्यादिः स न भावः—सामान्यात्मा कश्चिदस्ति, कस्मात् ? अरूपादित्वात् समस्ता रूपादयो वृत्त्येनोच्यन्ते रूपाद्यन्यत्वमानात्मकरूपादिसर्वं, किमिव ? खपुष्पवत्, एवं साधनेन भावस्य सामान्यस्य[ा]भावं प्रदर्श्य वस्तुनो दर्शयति—को हि सः पृथिव्यादिविनेत्यादि पृथिव्युदकाग्निपवनाकाशाद्यनन्तराद्यादिः समुदायमात्ररूपादिपृथग्भूतः—कोऽसौ भावः, तद्व्यतिरेकेण नास्तीत्यर्थः, एवं पृथिव्याद्यप्कादि[रूपादि]विनाभूता यावत् केऽन्ये रूपादिभ्यो विनेति तदर्थः अभिधानमात्रमेवैते—

[illegible] सामान्यं ब्रवीति तथापि तथापि तत्रैव [illegible] सामान्यस्य निषिद्धत्वात् सामान्यविशेषयोरभावयोः [illegible] धर्माधर्मयोः [illegible] भावः । तस्मान्न वस्तुनिर्णयः [illegible] रिति । [illegible] समुदायिनो रूपादय एव परमार्थतः [illegible]—रूपादय एवेति, तेषां [illegible] समुदायिनो रूपादय एव [illegible] भाव । एवमस्माभिरेवास एव हीति रूपादय एव [illegible] परमार्थेन न समुदायो नाम कश्चित् परमार्थभूतोऽस्तीति भावः । भावशब्दो भावसाधनो भवनार्थः [illegible]—यत्तैर्भूयत इति रूपादिभिर्भूयते [illegible] भवनक्रियाकर्तारः [illegible] । [illegible] तस्य अर्थः । समुदाय कारणं द्रव्यमित्यादि परमार्थरूपो भावो न भवति रूपाद्यन्यत्वात् [illegible] । [illegible] अरूपादित्वादिति [illegible] रूपादिभ्योऽन्यः [illegible], रूपाद्यात्मकत्वाभावात् । [illegible]—खपुष्पवदिति [illegible] समुदायरूपत्वाभावात्, [illegible] समुदायो [illegible] न हि [illegible] न समुदायं द्रव्यादि [illegible] पृथिव्यादिव्यतिरेकेण दर्शयितुं शक्यते—को हि स इति । एवं पृथिव्यादयोऽपि रूपादिव्यतिरेकेण न सन्ति [illegible] अपि [illegible]—एवं पृथिव्याद्यप्कादिरिति पृथिव्येव पृथिव्युदकादिना [illegible]

1 [illegible] । 2 [illegible] । [illegible] । 3 [illegible] ।

आभिमुख्यार्थं वचनं रूपाद्यधिगमार्थमित्यर्थः, रूपरसगन्धस्पर्शसंख्या रूपादयः, रूपवेदनासंज्ञासंस्कारविज्ञानसंस्काराः वा तद्व्यतिरिक्तमन्यत् पृथिव्यादि तदभिधानमात्रम्, अत आह–आत्मा च न नामान्यः कश्चिदस्ति, अरूपादित्वात्, खपुष्पवत् ।

रूपादिसमुदायमात्रप्रतिपादनाय दृष्टान्तमाह—

यथा चक्रपाण्यक्षादिहस्त्याद्यङ्गसमूहे रथसेनासंज्ञा समुदायो विभज्यमानोऽङ्गेषु तान्यपि स्वांशेषु, प्रत्येकमेवं परमाणुपर्यन्तं विभज्य सुष्ठु निभाल्यमानोऽपि न रथादिरङ्गव्यतिरिक्तो दृश्यते किन्तु तत्समुदाय एवाऽऽभासते तथा, यदि सोऽङ्गेषु रूपाद्यात्मव्यतिरिक्तेनात्मना स्यात्तत उपलब्धिधर्मा तत्प्रतिबन्धिनामभावे रूपादिवदुपलभ्येत, वस्तुत्वात्, न तूपलभ्यते, तस्मादसन्, रूपादिभ्यतिरिक्तोऽस्ति चेत्समुदायोऽनात्मको नासौ ततः खपुष्पवद्भवेत्, अरूपत्वात् अरूपाद्यात्मकत्वाद्रूपादिभ्य इव वा खपुष्पादेरपि भवेत् ।

यथा चक्रपाण्यक्षेत्यादि, चक्राद्यङ्गसमूहे रथसंज्ञा हस्त्याद्यङ्गसमूहे सेनासंज्ञा यथा समुदायो विभज्यमानोऽङ्गेषु[विभ]क्ति तान्यप्यङ्गानि विभज्यमानानि आत्मांशेषु परतो वा परत इति यावत्परमाणु, सो विभज्य रूपादिष्वेव तिष्ठति प्रत्येक-प्रत्येकमङ्ग परमाणुपर्यन्तं विभज्य सुष्ठु निभाल्यमानोऽपि रथो न दृश्यते तथा सेना वन पुरुषोऽन्यो वाऽसौ न दृश्यतेऽङ्गव्यतिरिक्तः किन्तु तत्समुदाय आभासते–रूपादय एव प्रत्यवभासन्ते समुदितास्तथेति यदि सोऽङ्गेष्वित्यादि [स तथात्मा नात्मकः]सोऽत्मा वाऽनात्मा वा स्यात्, यदि रथोऽन्यो वा रूपाद्यात्मव्यतिरिक्तेनात्मना ततः स उपलब्धिधर्मा सत्यप्यन्यनिमित्तानामतिदूरसन्निकर्षाभिभवाद्युपलब्धिप्रतिबन्धिनामभावे रूपादिवदुपलभ्येत वस्तुत्वात्, न तूपलभ्यते तस्मादसन् रथादिः समुदायः, ततोऽन्यस्ते

यथैवात्मा[illegible] । रूपादिरेव वस्तु सन् [illegible] पृथिवी [illegible] रूपादिसमुदायमात्रमिति रूपादिव्यतिरेकेण पृथिव्यादिवचनं नास्ति न पृथिव्यादि [illegible] रूपादिविनाभूत [illegible]–अभिधानमात्रमेवेत्यर्थः इति । [illegible]–रूपवेदनेति । एवमेवात्मापि रूपादिभ्यतिरिक्तो [illegible] आत्मा चेति विज्ञानस्कन्ध एवात्मेति भावः रूपादिपरेण [illegible] इति [illegible] आत्मा चेति मन्त्र । पृथिव्यादिप्रसमा रूपादिसमुदायमात्रा रूपादिसमुदायविशेष एव पृथिव्यादिसंज्ञाविशेषप्रवृत्तिः निदर्शनमाह–यथा चक्रेति । रथो नाम न कश्चित् [illegible] समुदायापेक्षया व्यतिरिक्तो दृश्यते न [illegible] समुदायापेक्षया व्यतिरिक्तः अपि [illegible] [illegible] व्यतिरिक्तम्, किन्तु [illegible] रथ इति सेनेति [illegible] क्रियते तथा च यथा रथादय समुदायविशेषा पृथक् पृथक् विभज्यमाना [illegible] नास्ति कश्चिदपि तथा [illegible]ऽपि समुदायस्वरूपादिभिः [illegible] अपि [illegible], [illegible], एवं [illegible]परमाणु विभज्यमानं वस्तु, [illegible] न तु ततः पृथक् कश्चिदस्ति परमाणवोऽपि रूपरसादिसमुदायमात्रमेव न हि [illegible] [illegible] किन्तु रूपादिसमुदाय एव [illegible]–[illegible]ति । एवं तर्हि किं दृश्यत इत्यत्र विभिन्नमिति । [illegible] रूपादिव्यतिरिक्तः [illegible] इति [illegible] रूपादिवदुपलभ्येत, न चोपलभ्यते [illegible]–यदि सोऽङ्गेष्वित्यादीति [illegible] स्यात्, [illegible] उपलब्धिधर्मत्वात् [illegible] भावः । [illegible] अतिदूरादिदोषप्रतिबन्धकाभावेऽपि [illegible]–अन्यनिमित्तानामिति । ननु रूपादिभ्यतिरिक्तो [illegible]–

१ सि. क्ष. डा. दे. [illegible] । २ सि. क्ष. डा. दे. [illegible] । ३ सि. क्ष. डा. दे. °[illegible] । ४ सि. क्ष. डा. दे. °[illegible] ।

त्वमिष्टापादनम्, रूपादिव्यतिरिक्तोऽस्ति घटसमुदायोऽवदात्मकोऽनुपलभ्यमानोऽपि[१] खपुष्पवद्धेतुरूपत्वात्। [वतो न] [अ]रूपात्मकत्वात् रूपादिभ्य इव न व्यवहारकस्य समुदायस्योत्पत्तौ रूपादयो हेतुभावमविपद्यन्ते व्योमकुसुमस्य तत्र घटादिसमुदायस्य रूपादयो हेतवो भवन्ति खपुष्पादयो नेति रूपादय एव घटादिसमुदायस्य हेतवो न व्योमकुसुमादीनीत्यत्र को विशेषहेतुः ।

अथानर्थान्तरतायां रूपादिष्वदृष्टं भारवहनादिकार्यं रथादौ कथम्? अत्र प्रयोगः सतो व्यतिरिक्तसहकारिसम्बन्धिनो रूपादयः, स्वासम्भविकार्यदर्शनाच्चक्षुरादिवदिति, क तर्हि तद्दृष्टं? तस्यैव, नन्वविवादसिद्ध शिबिकावाहकेभ्यश्चतुर्भ्यो व्यतिरिक्तात् सहायात् तेऽपि शिबिकावहन इष्ट कार्यम्, अतोऽनैकान्तिक सत्, तथा प्रत्येकवस्तुवृत्तिमनतिक्रममन्त एव स्वां वृत्तिमवतिष्ठन्ते रूपादयः तेषामेव वस्तुत्वात्, अन्यथाऽर्थस्य परिकल्पनामात्रत्वम्, अनवस्थितैकस्वतन्त्रत्वात् अज्ञातपक्षवत् ।

अथानर्थान्तरतायामित्यादि, यावत् कथम्? सामस्त्य अथानर्थान्तरे रूपादिभ्यो रथादिसमुदायः रूपादिष्वदृष्टं भारवहनादिकार्यं तत्रासम्भवद्भासमानं दृष्ट लोके तत्कथम्? प्रतिनियतकारकसाध्यत्वात् कार्याणाम् तन्तुपटादिवत् अत्र प्रयोगः सतो व्यतिरिक्तसहकारिसम्बन्धिनो रूपादयः, स्वासम्भविकार्यदर्शनात् चक्षुरादिवत् यथा कृष्णतारादिचक्षुर्व्यतिरिक्तमिन्द्रियमुपलब्धिकारणं सहकारि चक्षुषः सम्बद्धमनुमीयते चक्षुष्यसम्भवद्दर्शनात् कार्यं दृष्टं तथा रूपाद्यसम्भविभारवहनादिकार्यदर्शनाद्रथादिसमुदायान्यत्वमनुमेयमित्यत्रोच्यते-क तर्हि तद् दृष्टं तद्भारवहनादिकार्यं? तेष्वेव-रूपादिषु दृष्टम्, अतः

घटादिसमुदायोऽनात्मकत्वादनुपलभ्यमानोऽप्यस्तीत्याह-रूपादिव्यतिरिक्त इति अवदात्मकत्वादनुपलभ्यमानोऽपि यदि स तर्हि खपुष्पमपि भवेत् अवस्तुत्वात् निःस्वभावत्वात् [illegible] भाव । न हि घटादिसमुदाय खपुष्पवदसौ, अत एव च व्यवहारकस्य रूपादिभ्यो भवति, व्योमकुसुमादिस्तु न व्यवहारकसमुदायोऽत एव न रूपादिभ्यो भवति, एवं नाभ्युपगम्यते घटादिसमुदायस्यैव रूपादयो हेतवो न व्योमकुसुमादेरिति विशेषो न स्यात्, [illegible] माह अरूपाद्यात्मकत्वादिति [illegible] रूपादिभ्यो [illegible] खपुष्पादेरपि च [illegible]। [illegible] न हीति रूपाद्यनात्मकसमुदायस्य न रूपादयो हेतव इति भावः। समुदायस्य [illegible] रूपादेरेव तस्य हेतुत्वे न [illegible] तद्घटादिसमुदायस्येति। ननु [illegible] रूपादिष्वदृष्टं भारवहनादिकार्यं रथादौ न स्यात्, भवति तु, [illegible]-अथानर्थान्तरतायामिति। [illegible]-सामस्त्यमिति, भारवहनादिकार्यं रूपादावदृष्टं तत्रासम्भवदपि न [illegible] अनर्थान्तरतायां कथं भवेदिति भावः। नहि कारणमन्तरा [illegible] कार्यस्य सम्भवः भारवहनस्य [illegible] स्यात्, प्रतिनियतकारकसाध्यत्वात् कार्याणाम्, यथा तन्तव पटस्य प्रतिनियतं कारणं तदभावे च न भवतीत्याशयेन हेतुमाह-प्रतिनियतेति। [illegible]-अत्र प्रयोग इति [illegible] कार्यस्य सतो [illegible] तत्र [illegible] कार्यं कृष्णतारादिचक्षुर्व्यतिरिक्तमिन्द्रियमनुमापयति तथा रूपाद्यसम्भवि कार्यं [illegible] रथादिसमुदायं [illegible] रूपादिभ्योऽर्थान्तरमेवेति भावः। [illegible]-यथा कृष्णतारादीति। [illegible] क तर्हि तद्दृष्टमिति भारवहनादिकार्यं [illegible] यदि [illegible] तर्हि तद्भारवहनादिकार्यं [illegible]-रूपादिष्वदृष्टं कथम्? अतः [illegible]

[१] [illegible]

स्यात्सम्मतिरविशेषणासिद्धिः, सिद्धत्वमभ्युपेत्याप्यनैकान्तिक स्मयदर्शन तद्दर्शयति—नन्वविभावत्वेऽपि, भाव मोरविनाशन शिबिकावाहकेभ्यस्तुभ्यों व्यतिरिक्तात् सहायाद्येऽपि शिबिकावहन एव कार्यमतोऽनैकान्तिक तत्, यथा मस्तकवस्तिरिवसापि यावदन्तावयवकरनिति भारवहनक्रियाया समुदायिष्वन सम्भव समुदाय च [अ]सम्भव दर्शयितु समुदायप्रतिपत्यार्थं न्यायमाह–येन प्रकारेण तथा रूपादिवस्तुन मस्तक वृत्तिः, वामन-शिक्षमन्त एव सर्व वृत्तिमवशिष्यन्ते रूपादयः, समुदायस्त्वागम्यवस्थैव भारवहनादिक्रियामारभन्ते, तेषामेव वस्तुत्वात् अन्यथा—वस्तुनो विपर्यय, निर्विषर्द देशभेदेन स्थितानां रूपादीनामेव वस्तुत्वात् ततोऽन्यथा—समुदायाख्यस्यार्थस्य परिकल्पनामात्रस्यानवस्थितैकस्वतत्त्वात् अलातचक्रवत्, यथाऽलातस्य भ्राम्यतः चक्ररूपाभान भ्रान्तपरिकल्पनामात्र निर्विषयत्वात् तथा रूपादीनां निर्विवराणां परमाण्वादिवदाभान भ्रान्त परिकल्पनामात्रम् किमङ्ग ! पुनः सविवरसनियतमरमविवरत्वमभ्युपगमविनगरादिपृथिव्यादी[ना]म्, सद-मुदायानाम् न तेषां समुदायानामेक स्वतत्त्वमवस्थितम् रूपादिवत् परस्परविविक्तमस्त्यतोऽलातचक्रवद् भ्रान्त रूपादि परतत्त्वरम्यपदेशमात्रत्वात्, यस्मादसतः समुदायस्य[न] भा[र]व[ह]नादिका क्रियेति ।

आह—

ननु घटादावनवस्थितैकस्वतत्त्वस्यास्य सत्त्वमिति चेन्न समुदायत्वात् घटस्य शकटादिवदथ साध्यत्वात्, रूपरूपादिस्थितैकरूपत्वेऽपि सत्त्वमिति चेन्न, रूपसामान्यसमुदायसाध्यत्वात् ।

स्वभिधेयनाभिप्रायाऽसिद्धो हेतुरन्येऽपि भाव । हेतोः सिद्धत्वमभ्युपेत्यापि हेतोरनैकान्तिकत्वमाह सिद्धत्वमभ्युपेत्यापीति, यतोऽत्र रूपादावदर्शनात् सिद्धत्वमिति भाव । अनैकान्तिकत्वं दर्शयति—नन्वविभावेऽप्यादीति यतः शिबिकावाहकाः वहन्ति शिबिकाम्, अतोऽन्तु शिबिकावाहकेषु वहनमप्यस्ति तन्नो व्यतिरिक्तस्य सहायस्य समवायेनैव एव समवाये वहन्ति तस्मात् व्याप्यव्यभिचारदर्शनं तदर्शनि नास्ति च साध्यं ततो व्यतिरिक्तसहायसमवायस्थितमिदमनैकान्तिकमिति भाव । ननु भारवहनक्रियाऽपि शिबिकावाहकसमुदाये एव भवति ततोऽत्र शिबिकावाहकेभ्यः अन्यस्यासिद्धत्वाद—यथा मस्तक वस्तिस्यस्यापीति । अस्य मूलस्य भावमाह—भारवहनेति । रूपादय मस्तकस्तम्भकारणपरिस्पन्दैर भारवहनादिक्रियाः कुर्वन्ति तथाविधस्यैव वस्तुत्वात् यदि समुदाय एव तत्क्रियां कुर्याद् रूपादय न तु तत्क्रियाम् न क्रियामारभन्त इति स्यात्तथा समुदायस्यासत्त्वात् सर्वविपरिणामात् तस्मान्नास्ति कश्चित्समुदाय इति भाव । एवम् निर्विवर देशभेदेन स्थिता रूपादय एव वस्तुभूता परमार्थसत्त्वा तदन्यथ ततोऽन्यप्रकार समुदाय कल्पित एवेत्याह अन्यथेति । अन्यप्रकारेण दूषण अनवस्थितैक-स्वतत्त्वत्वादिति अतोऽत्र रूपादीनां स्वतत्त्वस्य व्यवस्थितत्वाभावः । निर्विवरत्वात् तथाभावाऽनवस्थानाच्च परस्पराविरुद्धतोऽन-भासत भवति अन्यथा यथा भ्रान्त्याऽलातस्य निर्विवरत्वाऽवस्थानम् तत्र चक्रत्वावभासन भवति तथा परिकल्पनामात्रं तथा रूपादय सविवरनिर्विवरत्वात्तस्मात् परमाणुप्रचयरूपादिघटपटादिपृथिव्यादिविषयसमुदायस्यैवाभाव एव समुदाया प्रति-विशेषाभावत्वे न व्यवस्थिता रूपादिवत् किन्तु परस्परविविक्तस्वतत्त्वस्य तदभावात् भ्रान्ता एव घटादिरूपा व्यतिरिक्त-तत्त्वव्यपदेशभ्रमत्वात्, तस्मान्नास्ति कश्चित् समुदाय तस्य भारवहनादिक्रिया भवेत् किन्तु समुदायिभिरेव भारवहनादिक्रिया भवति निरवधि—यथाऽलातस्येति । दार्ष्टान्तिके परमाण्वादेः स्वसामान्यस्य सिद्धत्वेऽपि परिकल्पनामात्रत्वादिति दर्शयति किमङ्ग पुनरिति । एवं समुदायानां कल्पनामात्रत्वेन वस्तुत्वाऽभावात् समुदायस्य भारवहनादिका क्रियेति तस्मादिति । समुदायस्य असतः स्वभावस्थितैकस्वतत्त्वरूपाऽनिश्चयमाशङ्कते ननु घटादावपीति । अन्यत्रापि घटो

---

१ प्रा. स्यादि भावनामविभावत्वादि भावनाविनाशत्व । २ प्रा. तदिदं । ३ सि० च प्र. डे °सर्वदात्मकत्व । ४ सि. भ. प्र. डे वस्तुरूपत्वापत्तिः ।

ननु घटादावेति, यावत् संस्थानमनेकान्विकोऽयनम्, अ[न]वस्थितैकस्वरूपघटादिसद्भावादिसत्रोच्यते न समुदायत्वात्-नानैकान्तिकत्वमस्य हेतोः समुदायत्वादृष्टस्य घटादिवदेव साध्यत्वात् घटवत्पत्स्यानैकान्तिकाभासत्वेऽर्थः, रूपरूपादिस्थितैकरूपत्वेऽपि सत्त्वमिति चेत्-शुक्लनीलादिरूपेषु रूपसामान्यस्यानवस्थितस्वरूपस्य दृष्टं तस्मादनैकान्तिकत्वमिति चेत्, न रूपसामान्यसमुदायसाध्यत्वात् शुक्लादिविविक्तरूपव्यतिरिक्तसामान्यरूपस्य समुदायाख्यस्य सत्त्वासिद्धेरसत्त्वात्सिद्धपक्षासिद्धेर्नानैकान्तिकता।

अधुना वस्तुतत्त्वं निरूपयति—

प्रत्येकं पृथग् रूपादिव्यक्तिभेदरूपैव, स्थानवस्थितैकरूपेत्येतन्मात्रसत्त्वमेव वस्तु, तत्त्वमभिवचनमात्रं घट इति परिकल्पनामात्रार्थत्वाच्छब्दस्य, संसारानुबन्धवत्, परमार्थतस्तु पश्चात् पूर्वञ्च भावाद्यथा रथस्यात्मा नास्ति तथा संयुक्तावस्थायामपि, यथोच्यते किञ्चित् कार्यं बुद्धिपूर्वकं पुरुषेण क्रियते, स्वत एव च कारणात् कार्यमुत्पद्यत इत्येतन्मृषा तैर्यथोच्यते—सत् कार्यं यथा रूपादिभिराकाशादीनां भूतानामुत्पत्तिरिति वाचोयुक्तिमात्रेण मक्रियावत्त्वात्क्षणिकत्वादिति।

(प्रत्येकमिति) प्रत्येकं पृथग् रूपादिव्यक्तिभेदरूपैव, न सामान्यम्, सं[ा]थानवस्थितैकरूपा-परस्परविविक्तैकरूपत्वेऽत्मात्रसत्त्वमेव वस्तु, तत्त्वं तु वस्तुनोऽभिवचनमात्र—वाभिमुख्येन प्रतिपत्तिनिमित्तं समुदायवचनं घट इति पटो रथ इत्यादि वा उच्यमान एव स रथः सम्यग्विकल्पितो वस्तुविपरीतः संवृति-

हेतो सत्त्वाद्व्यभिचार इत्यत्र-अनेकान्तिकत्वोद्भावनमिति। यतोऽपि समुदायरूपता रथादिरूपस्यापि व्याप्तिर्नचास्ति व्यभिचारेऽपि चाभिन्नकालभावादनैकान्तिकत्वोद्भावनस्याप्यसम्भवेनाह-समुदायत्वादिति। ननु शुक्लनीलादिरूपेषु रूपसामान्यस्य सत्त्वेन रूपसमुदायत्वात् अनवस्थितैकरूपत्वादनैकान्तिकत्वसम्भवे—रूपरूपादीति रूपं हि शुक्लनीलादि रूपसमुदायात्मकं तत्र सत्त्वमनुपपन्नत्वे शुक्लनीलादिव्यतिरेकेणानवस्थितैकरूपत्वादनैकान्तिकत्वमिति मन्वा। रूपसामान्यसमुदायस्यासत्त्वं साध्यम्, तत्र रूपसामान्यं शुक्लनीलादिसमुदायो नास्ति रूपविशेषसमुदायरूपत्वात्पक्ष एव इत्यत्र शुक्लादिविव्यतिरिक्तरूपसामान्यस्य समुदायस्य शुक्लादिसमुदायेऽसत्त्वात् तत्समुदायस्याप्यसिद्धेरनैकान्तिकत्वमिति-रूपसामान्येति। व्याख्याने-शुक्लादीति। समुदायस्य वस्तुत्वे वस्तुत्वं प्रत्येकमाह-प्रत्येकमिति। प्रत्येकमस्य वर्तमाना रूपादिव्यक्तिविशेषरूपैव न सामान्यात्मिका व्यक्तिसत्त्वपरित्यक्तव्यतिरेकेण व्यक्तिसत्त्वपरिसमाप्तेर्भेदकत्वात् सा च रूपादिव्यक्तिविशेषस्वरूपसमवस्थितैव न हि सामान्यरूपं नर्तते तत्त्वावस्थापरिसमाप्तिपरिहारेणापि च यथा घटः पृथिव्यादिसमुदायात्मा घटः क्रियते न तु वास्तवः परमार्थतस्तु भेदेन सन्ति केवलं कार्येण नियमव्याप्तिनिमित्ता प्रतिपत्तिः परिकल्पितार्थे अत एवास्य व्याख्यानं व्याचष्टे प्रत्येकं पृथगिति एकविशेषविषय इत्यादि। प्रत्येकमस्य वर्तमाना रूपादिव्यक्तिविशेष एव न सामान्यमनेन तत्समवायसमवेतस्य तत्स्वाभाव्यादिति भावः। परस्परेति। परस्परं रूपरसादिव्यक्तिविविक्त मिथः अतः एकस्मिन् व्यक्तित्वेन परमार्थतः समुदाये परिकल्प्यते। तेन घटपटादिशब्दाः समुदायात्मना तत्प्रतिपत्त्यर्थमुच्चार्यन्ते तत्र स्थितिरिति व्यवहारप्रवृत्त्यर्थं विकल्पितम्। न तु वास्तवः कश्चित्, परमार्थतोऽपि किन्तु व्यक्तिप्रतिपत्त्यर्थं कल्पित एवेति, तेन च व्यवहार इत्याह—उच्यमान एवेति। समुदाय परिकल्पनामात्रार्थो वाच्यमात्र-

1 सि. क्ष. ड. डे. रूप । सि. × × । 2 सि क्ष ड. डे. समुदायविरते ।

सत् सत्कार्यमात्रमेव, परिकल्पमात्रार्थत्वात् शब्दस्य, किमिव ? संसारानुबन्धवत्—यथा संसारस्यानुबन्धेषु माता मे पिता मे भ्राता भार्या पुत्र इत्यादिरनुपकारिष्वप्युपकारित्वबुद्ध्या व्यवहारोऽवस्तु प्रेमवासनाभ्यासाद्भवति तथा समुदायोऽवस्तव्यवहारवासनया वस्तु क्रियते, नात्र कश्चित् परमार्थः, कस्तर्हि परमार्थः ? परमार्थवस्तु पश्चात् पूर्वं च भावाद्रूपेषु प्राक् चक्राद्यादिसंयोगात् यथा रथस्यात्मा नास्ति, पश्चादपि विसंयोगीकृतेषु च पश्चादपि तथा संयुक्तावस्थायामप्यङ्गेषु स्वात्मरहितस्यासत्त्व एव इति, यथोक्ते[वे]त्यादि, अनेनैव न्यायेन किञ्चित्कार्यं घटपटादि बुद्धिपूर्वकं पुरुषेण क्रियते, तच्च पूर्वं च कारणात् कार्यमु[त्पद्यत इ]त्यभ्युपेतव्युक्तं भवति, ततः पुनः कार्यमुत्पद्यते कारणमिति यथाऽन्ये मन्यन्ते तथाऽनुपपन्न इति तद्दर्शनार्थमाह—तैर्यथोच्यते सत् कार्यम्, तद्यथा—रूपादिभिरितरादि, शब्दादितन्मात्राण्यत्र रूपादिग्रहणेन गृहीतानि, वाय्वोपुरुक्तिमात्रेण प्रक्रियावशात्क्रमतादि[भि] यथाऽऽकाशादीनां भूतानां शब्दाद्येकोत्तरोत्कर्षेण सन्निवेशात्, प्रक्रिया प्रागरान्तरे व्याख्याताऽस्माभिः पुनर्व्याख्यास्यते ।

साधनम्—

यदेवस्तु सन्नाम ततोऽन्यदेव तु कार्यम्, तदतुल्यविकल्पत्वात्, रूपादिखपुष्पवत्, कथमतुल्यविकल्पः ? इह शब्दादीनां कारणानामाकाशादीनां कार्याणामुभयेषां सत्त्वं कार्याणामाकाशादीनामेव सत्त्वमिति द्वौ भङ्गावुपयोग्यौ, इतरयोरभ्युपगतप्रतिपक्षत्वाद्वादाभावात्,

संसारानुबन्धवदिति । व्याचष्टे—यथेति सत्स्वपि आत्मना न परस्परं कश्चन परमार्थभूतः सम्बन्धोऽस्ति अत एव ते परस्परमनुपकारिणः किन्तु [illegible]प्रेमवासनावशात् माता मे पिता भ्राता भार्या मातेत्यादिरूपेणोपकारित्वबुद्ध्या संसारप्रसङ्गानुबन्धेऽवस्तुभूतो व्यवहारः प्रवर्तते तथा तथैवावस्तुभूतः समुदायोऽनादिवासनावशाद्व्यवहारविषयो भवति नात्र व्यवहारे कश्चन परमार्थो विद्यत इति भावः । तर्हि परमार्थभूतं वस्तु किमपीति प्रश्ने—कस्तर्हीति । यदि व्यवहारविषयीभूतो वासनाविकल्पस्तावत् तर्हि परमार्थभूतं वस्तु किमिति भावः । परमार्थवस्तु एव इति न कश्चिदस्ति पूर्वं पश्चाद्वाऽभावात्, न हि रथस्य कश्चिदात्मा चक्राद्यवयवसंयोगात्मकस्वभावमस्ति चक्राद्यादिसंयोगात् प्राक् चक्राद्यादिविसंयोगाच्च पश्चात्, यथा न रथस्य कश्चनात्मा दृश्यते यस्य पूर्वं पश्चाच्च नास्ति स वर्तमानावस्थायामपि नास्ति रूपादि च पूर्वं पश्चादपि विद्यते तस्माद्वर्तमानावस्थायामपि तदेवास्ति तस्माद्रूपादय एव परमार्थं रूपादिसमुदायरूपो व्यवहारमात्रमिति [illegible]—परमार्थवस्त्विति । अनेनैव न्यायेन वैशेषिकैरुच्यते व्यवस्थितस्वरूपं किञ्चित् कार्यं पुरुषेण बुद्धिपूर्वकमेव क्रियते अत एव तु कारणात् कार्यमुत्पद्यत इत्येवमुक्तं [illegible] दर्शयति—तैर्यथोच्यत इति । कार्यं सत एव कारणादुत्पद्यत इति [illegible] दर्शयति—तैर्यथोच्यत इति । कार्यं सदुत्पद्यते सतैव कार्यं भाव्यते यथा रूपादिभिराकाशादीनां भूतानामुत्पत्तिरिति निरूपयति—सत् कार्यमिति । रूपादितन्मात्रविवक्षयाह—शब्दादीति शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रमित्येतेभ्यः पञ्चभूतान्युत्पद्यन्ते, तथा—शब्दगुणाच्छब्दतन्मात्रादाकाशमेकगुणं शब्दस्पर्शगुणात् स्पर्शतन्मात्राद् द्विगुणो वायुः शब्दस्पर्शरूपगुणात् रूपतन्मात्रात् त्रिगुणं तेजः शब्दस्पर्शरूपरसगुणात् रसतन्मात्रात् चतुर्गुणा आपः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणात् गन्धतन्मात्रात् पञ्चगुणा पृथिवीत्येकोत्तरोत्कर्षेण भूतविशेषाणामुत्पत्तिः [illegible] इति सांख्यप्रक्रियेति भावः । तदवस्थामपि निराकरोति—वाय्वोपुरुक्तिमात्रेणेति [illegible] न तु [illegible] इति भावः । सांख्यानां प्रक्रिया प्रागुक्तिस्थानान्तरे व्याख्याताऽस्माभिः न व्याख्यायते इत्याह—प्रक्रियेति । वाय्वोपुरुक्तिमात्रेण

१ सि. × × ।

ननु घटादाविति, यावत् संस्वभिन्नानेकान्तिकोद्भावनम् अ[न]वस्थितैकरूपघटादिसद्भावादित्वोच्यते, न, समुदायत्वात् नानैकान्तिकत्वमस्य हेतोः समुदायस्यापि घटस्य रूपादिवदेव साध्यत्वात् घटशब्दस्यानैकान्तिकत्वमाशङ्क्येत्यर्थः, रूपरसादिस्थितैकरूपत्वेऽपि सत्त्वमिति चेत्—शुक्लनीलादिरूपेषु रूपसामान्यसत्त्वमनवस्थितैकरूपस्य एव तथाप्यनैकान्तिकत्वमिति चेत्, न रूपसामान्यसमुदायस्याप्यसत्त्वात्, शुक्लादिविविक्तरूपव्यतिरिक्तसामान्यरूपस्य समुदायस्यास्य सत्त्वासिद्धेरनवस्थितैकरूपत्वासिद्धेर्नानैकान्तिकता ।

अधुना वस्तुतत्त्वं निरूपयति—

प्रत्येकं वृत्ता रूपादिव्यक्तिर्भेदरूपैव, सा चानवस्थितैकरूपेत्येतन्मात्रसत्त्वमेव वस्तु, तस्य त्वभिधानमात्रं घट इति परिकल्पनामात्रार्थत्वादस्य, संसारानुबन्धवत्, परमार्थतस्तु पश्चात् पूर्वं च मात्राद्यथा रथस्यात्मा नास्ति तथा संयुक्तावस्थायामपि, यथोच्यते किञ्चित् कार्यं बुद्धिपूर्वकं पुरुषेण क्रियते, स्वत एव च कारणात् कार्यमुत्पद्यत इत्येतन्मृषा तैर्यथोच्यते—सत् कार्यं यथा रूपादिभिराकाशादीनां भूतानामुत्पत्तिरिति वाचोयुक्तिमात्रेण प्रक्रियाबद्धाभिमतत्वादिति ।

(प्रत्येकमिति) प्रत्येकं वृत्ता रूपादिव्यक्तिर्भेदरूपेण न सामान्यम्, सा[च]ानवस्थितैकरूपा—परस्परविविक्तैकरूपत्वेतन्मात्रसत्त्वमेव वस्तु तस्य तु वस्तुनोऽभिधानमात्रं—आभिमुख्येन प्रतिपत्तिनिमित्तं समुदायवचनं घट इति घटो रथ इत्यादि वा उच्यमान एव स रथः अन्यविकल्पितो वस्तुविपरीतः संवृ-

---

हेतोः सत्त्वाद्व्यभिचार इत्याद्यनैकान्तिकत्वोद्भावनमिति । घटादेः समुदायरूपस्य [illegible] व्यभिचारमभिधाय [illegible] समुदायत्वादिति । ननु शुक्लनीलादिरूपेषु रूपसामान्यस्य [illegible] रूपरूपादीति [illegible] । रूपसामान्यसमुदायस्यासत्त्वं साध्यम्, [illegible] रूपसामान्येति । [illegible] शुक्लादीति । [illegible] प्रत्येकमिति । [illegible] परस्परेति । [illegible] उच्यमान एवेति । [illegible]

---

१ सि. क्ष. प्र. डे. [illegible] । सि. × × । २ सि. क्ष. प्र. डे. [illegible] ।

पक्षत्रयसङ्ग्रहणात्—

अथ वैषम्यरहितविविक्तस्वरूपपररूपादिप्रादुर्भाववत्त्व भूम्यादिप्रादुर्भावः, तच्च कार्यं सदेवेति निश्चितं ततः कार्यमेव सदस्तु, रूपाद्यसत् स्यात् सद्विलक्षणत्वात् खपुष्पवत्, स्वरूपतत्त्वेन भूतत्वाद्रूपादेः पररूपतत्त्वाविर्भाविनः सतः कार्याद्विलक्षणत्वात्, अथेदमपि सत् स्वतत्त्वप्रादुर्भावात्मकमिष्यते ततस्तद्वैलक्षण्यात् कार्यमसत् प्राप्नोति, अस्वतत्त्वाविर्भावात्मकत्वात्, अजातपुत्रवत्, अथ मा भूद्दोष इति सदेव कार्यमिष्यते ततः स्वत एव प्रादुर्भवेत्, सत्त्वात् रूपादिवदिति तुल्याविर्भावत्वे प्राप्तः ।

(अथेति) अथ न भूम्यादीति एकोत्तररूपादिपररूपोत्कर्षापकर्षवैषम्यरहितविविक्तस्वरूपपररूपादिप्रादुर्भाववद्भूम्यादिप्रादुर्भावो वैलक्षण्यात्तुल्यमित्यस्य त्वेतीष्यते तच्च कार्यं सदेवेति निश्चितं ततः कार्यमेव सदस्तु, न रूपादि स्वपररूपप्रादुर्भाववैलक्षण्यादनयोरसतः सद्विलक्षणत्वाद्रूपाद्यसत् स्यात् सद्विलक्षणत्वात् खपुष्पवत् सद्विलक्षणत्वस्य हेतोर्व्याख्या—स्वरूपतत्त्वेन भूतत्वात् रूपादेः पररूपतत्त्वाविर्भाविनः सतः कार्याद्विलक्षणत्वादिति अथेदमपीत्यादि—रूपादिस्वतत्त्वप्रादुर्भाववैलक्षण्येऽपि रूपादि सत् स्वतत्त्वप्रादुर्भावात्मकमिष्यते ततस्तद्वैलक्षण्यात् कार्यमसत्प्राप्नोति, अस्वतत्त्वाविर्भावात्मकत्वात्—एकोत्तररूपादिपररूपतत्त्वोत्कर्षापकर्षस्य तत्त्वाविर्भावः, तच्च सद्वैलक्षण्य, कस्येवेत्यत आह—अजातपुत्रवदिति—यथोत्सुक भ्राम्यमाण कन्यामात्रस्वतत्त्वत्यागेन पुत्रभावमुत्पद्यमान[म]सदेव कार्यमपीति अथ मा भूद् दोष इति सदेव कार्यमिष्यते ततः सत्त्वे सत एव प्रादुर्भवेत् कार्यम् यथारूपं स्वतत्त्वरूपमनाश्रित्य प्रादुर्भवति

रूपादिप्रादुर्भावो नेष्यते कार्यमपि च सदेव निश्चितमिति असत्प्रसङ्गदोषभयादुच्यते [illegible] अथ नेति । अथ वैषम्येति रूपादेः प्रादुर्भावो यथा न तथा भूम्यादिप्रादुर्भावः रूपादिर्हि एकोत्तररूपादिसम्भवरहितः परस्परोत्कर्षापकर्षरहितत्व विविक्तस्वरूपापि भूम्यादयस्तु एकोत्तररूपादिवैषम्यवन्तः पृथ्वी पञ्चगुणा आपश्चतुर्गुणाः त्रिगुणं तेजः द्विगुणो वायुः एकगुण आकाश इत्यनुपलम्भात्, तस्मादेषु येषु यो यः [illegible] तद्वैषम्यवन्तो भूम्यादयः पृथिव्या [illegible] कृष्णं रूपं साधारणे रसः मधुरः अपां शीतः स्पर्शः शुक्लभास्वरं रूपं मधुरो रसः तेजसः उष्णः स्पर्शः शुक्लभास्वरं रूपम्, वायोरनुष्णाशीतः स्पर्शः [illegible] रूपादयः [illegible] भूम्यादयः न एव रूपादयो न भूम्यादिस्वतत्त्वा इति भूम्यादिप्रादुर्भावो रूपादिप्रादुर्भावविलक्षणः तस्मात् रूपादिभ्यस्तत्त्वं न भूम्यादि एवमपि खपुष्पवदसत्त्वं कार्यस्य [illegible] किन्तु सत्त्वमेवेति निश्चितमिति भावः । तत्र यदि कार्यं रूपादि सत् स्यात्, सद्विलक्षणत्वात्, खपुष्पवदिति एतदाह—ततः कार्यमेवेति यदेवमनयोर्वैलक्षण्यं कार्यमेव सदिष्यते तर्हि कार्यमेव सत् स्यात् तु कारणमिति भावः । [illegible] वैलक्षण्यमस्याविष्करोति स्वपरेति, रूपादिप्रादुर्भावः स्वरूपप्रादुर्भावः भूम्यादिप्रादुर्भावः पररूपप्रादुर्भाव इति वैलक्षण्यमिति भावः । एवं वैलक्षण्ये सत्त्वलक्षणस्यापि वैलक्षण्यं स्यात्, कार्यमेव सदिष्यते ततस्तत् सत्त्वविलक्षणमसत्त्वं रूपादीनां स्यादित्याह—असत् इति । कथं सद्विलक्षणत्वमित्याह—स्वरूपतत्त्वेनेति । यदि च रूपादि स्वतत्त्वेनाविर्भावात्मकवैलक्षण्ये सत्यपि रूपादि सदेव स्वतत्त्वप्रादुर्भावात्मकमिष्यते तर्हि तद्विलक्षणं कार्यं कथं सत् स्यादित्याह—अथेदमपीत्यादीति । हेतुमाह—अस्वतत्त्वेति परस्वरूपेण कार्यस्य भूम्यादेराविर्भावः—स्वतत्त्वाविर्भावः ततोऽन्यत्वात् तेषां स्वतत्त्वाविर्भावस्य सद्विलक्षण इति भावः । निदर्शनमाह—अजातपुत्रवदिति । व्याचष्टे—यथोत्सुकमिति । कार्यं-

1 सि. प. पा. ए. °स्यमसत् । 2 सि. प. पा. ए. °स्वतत्त्व ।

तथापि तावदुभयसत्त्वं सत्त्वाविशेषात् कार्यकारणयोरविशेषः, सति चाविशेषे यथा स्वरूपतस्ता एव शब्दादय उत्पद्यन्तेऽभिव्यज्यन्ते वा तथाऽऽकाशादयोऽप्युत्पद्येरन् सत्त्वाविशेषात्, रूपादिवत्, शब्दस्पर्शाद्येकोत्तरपरतत्त्वोत्पत्तिर्मा भूत्, इष्यते चासौ, तस्मात्तत्तुल्यविकल्पता सिद्धा ततस्ततोऽन्यस्वभावं कार्यम् ।

(यदेतदिति) यदेतत् सभाग ततोऽन्यदेव तु कार्यम्, तदतिरिक्तस्वभावं—स्वम् स्वभावं न भवतीत्यर्थः, [तत्तुल्यविकल्पत्वात्] किमिव ? रूपादिखपुष्पवत्—यथा रूपादयः सन्तः खपुष्पमसत्, ततस्तैस्तुल्यविकल्पत्वं न भवति तथा कारणैः सद्भिः रूपादिभिः कार्यमाकाशादि तुल्यविकल्पं न भवति तस्मात् खपुष्पवत् ततस्ततोऽन्यस्वभावमिति, एतस्य साधनस्यासिद्धपक्षधर्मत्वनिराकरणार्थं न्यायस्यापयितुं [illegible] तत्समेव पृच्छति परोक्त्या न्यायस्यापयितुम्—कथमतुल्यविकल्प इति चतुर्षु भङ्गेषु द्वौ भङ्गावुपयोग्याविति तद्भेदोपन्यसति—इह शब्दादीनामित्यादि इह शब्दादयः कारणानि वियदादयः कार्याणि तेषामुभयेषामपि सत्त्वमित्येको विकल्पः, द्वितीयः कार्याण्याकाशादीन्येव सन्तीति न कारणसत्त्वकार्यासत्त्वविकल्पो नाभावसत्त्वविकल्पो वा कस्मात् ? उभाभ्यामितरयोरभ्युपगतस्य सत्कार्यवादस्य [illegible] भावाभावाद्वैतौ द्वावेवोपन्यस्तौ तत्रापि तथापि तावदुभयसत्त्व प्रथमविकल्प इति सत्त्वाविशेषात् कारणानां शब्दादीनां कार्याणामाकाशादीनामविशेषः सति चाविशेषे यथा स्वरूपतस्ता एव—शब्दस्पर्शैकपरस्तत्त्व तस्ता एव शब्दादय उत्पद्यन्तेऽभिव्यज्यन्ते वा तथाऽऽकाशादयोऽपि तत्स्वभावा एवोत्पद्येरन्, नाभिव्यक्तिमात्राः कस्मात् ? सत्त्वाविशेषात् रूपादिवत् शब्दस्पर्शाद्येकोत्तरपरतत्त्वोत्पत्तिर्मा भूत्, इष्यते चासौ, तस्मात्तत्तुल्यविकल्पता सिद्धा, ततस्ततोऽन्यस्वभावं कार्यमाकाशादीत्यर्थः ।

प्रतिभाष्यमाह्निकस्य व्याचष्टे—यदेतदिति । अस्यसाकल्यं व्याचष्टे यदेतत् सभागमेति, यदेतत्कार्यमुच्यते [illegible] तत् [illegible] भवति तत्स्वभावं न भवति यथा रूपादयः खपुष्पम् [illegible] तस्मात् ततो रूपादेः [illegible] कारणै कार्यमाकाशादि न तुल्यत्व खपुष्पवत् ततोऽन्यस्वभावमिति मान । तत्तुल्यविकल्पत्वं न [illegible] कार्ये तदविशेषिताद्ध विचारयितुं परोक्त्यैव तत् न्यायपयितुं पृच्छतीत्याह—एतस्य साधनस्येति । तत्तुल्यविकल्पत्वाभावमेवाह । कारणकार्ययोः सत्त्व कारणस्यैव सत्त्व कार्यस्यैव सत्त्व कार्यकारणयोरुभयोरसत्त्वमिति चतुर्विधेषु भङ्गेषु [illegible] —चतुर्ष्विति । [illegible] कारणं सत् कार्यमसत्, कारणमसत् कार्यं सदिति भङ्गौ [illegible] । कारणमाह—उभाभ्यामिति कार्यकारणयोरसत्त्व कार्यसत्त्व [illegible] न तत्र चार [illegible] विचारात् तावेवोपन्यस्ताविति भावः । [illegible] विचारयति—तथापि तावदिति । तत्र कारणकार्ययोरुभयोरपि सत्त्वमिष्टं तर्हि सत्त्वाविशेषात् [illegible] विशेषो न स्यात्, इष्यते च विशेषः कारणापेक्षया कार्यस्य [illegible] [illegible] उत्पद्यन्तेऽभिव्यज्यन्ते वा [illegible] एवोत्पद्येरन् अभिव्यज्येरन् वा न [illegible] सत्त्वाविशेषात्, इष्यते च विशेष [illegible] । [illegible] सति चाविशेष इति । एवम् कारण- [illegible] इति । [illegible]

---

१ सि ध छ. डे [illegible] । २ सि. छ. डा डे °[illegible] । ३ सि छ. डा डे. तस्य- [illegible] ।

पीति रूपादिसमुदायस्यावस्तुत्वेऽप्युक्त्वा, रूपादेव स्त्रियादि, घटिकाङ्गिमिति सामान्यवचनात् विशिष्य प्रतीक्रियते—रूपमेव प्रत्यक्षं सत एवाविर्भवितृत्वात्, इतरवदिति सामान्यवचनादसदिति विशिष्य दृष्टान्तः, एवञ्च शेषाणामपि रसादीनां विशिष्य प्रत्यक्षत्वमितरदृष्टान्तसाध्यत्वादविरुद्धम् प्रत्यक्षपूर्वकत्वादनुमानस्यापविरोधः, तस्मात् प्रत्यक्षस्यापविरोधात्तदेव भवति—रूपादेर वस्तित्वं सिद्धम् ।

अथैवंदोषवदित्युभयसत्त्वपक्षं त्यक्त्वा कार्यासत्त्वाभ्युपगमपरिहारेण कार्यसत्त्वपक्षमेवाश्रयेः, ततः कार्यमेव सदित्यवधार्यमाणः पक्षः स्यात्, तत्र कार्यमेव सदिति कार्यसमीपे एवकारः क्रियते 'यत एवकारस्ततोऽन्यत्रावधारणात्' कार्यस्य सत्त्वेन नियमात् कार्यं एव सत्त्वं नियतं नान्यत् सदिति नियम्यते ततश्च रूपादि न सदिति ते प्रसक्तम्, तस्यासत्त्वे कार्यस्यासतः सत्त्वे विपरीता संज्ञा क्रियते सतोऽसदिति असतश्च सदित्यभिमन्युनामवत्, कार्यसत्त्वमिति च नाममात्रमेव ।

(अथैवमिति) अथैवंदोषवदित्युभयसत्त्वपक्षमुक्तदोषभयात्त्यक्त्वाऽन्यतरं सत् कारणं रूपादि, कार्यं वाऽऽकाशपदीप्यमाने कार्यासद्वादिनो मे माविरस्त्वेव कार्यासत्त्वाभ्युपगमे बाधावसान मा भूदिति कार्यासत्त्वाभ्युपगमपरिहारेण कारणसत्त्वपक्ष त्यक्त्वा कार्यसत्त्वपक्षमेकमेवाऽऽश्रयेस्त्वं ततः कार्यमेव सदित्यवधार्यमाणः पक्षः स्यात् तत्रच, यः पुनरसौ कार्यमेव सत् कारणमिति प्रतिपद्यते, यस्य सिद्धान्ते रूपादयो न सुराकाशादय एव सुरिति अत्रोच्यते, तस्यैवोभयसद्वादिनः सांख्यस्य कारणे कार्यसत्त्वसिद्धान्ता द्रूपेऽयं पक्षः, कारणाविनाभावित्वात् कार्यस्य कार्याभ्युपगमेऽभ्युपगतमेव कारणम्, किन्तु न नियम्यते कारणमसदे[व सदेव]ेति, यदि त्वादस्तु को वारयति कार्यन्तु सत्त्वेन नियम्यते तत्रापि च द्वयी गतिः—

अवधार्यता पक्षेणाह—रूपादेव स्त्रियादि । रूपादेव तु यदिङ्गिनिद् प्रत्यक्षम्, सत एवाविर्भवितृत्वादितरवदिति सूत्रेण यदिति विशिष्य सामान्येनोक्तं विशिष्य दर्शयति—घटिकाङ्गिवदितीति न च रूपरसगन्धस्पर्शस्वरूपा प्रत्यक्षा इति वाच्यम् प्रतिबन्धबोधकाद्दृष्टान्ताभावात् किन्तु यदिकविद् प्रत्यक्षमिति वाच्यम्, यथा यत्किञ्चिद् पदेन रूप विवक्षितं तदितरवदित्यनेन रसादिरिति निर्देशस्य, यदा तु रसे विवक्षितस्तदा रूपादिवदिति निर्देशमेदं यथायथमपि भाव्यम् हेतुश्च सत एवाविर्भवितृत्वात् न तु घृतिकादेरिव परस्परापेक्षयाऽऽविर्भवितृत्वादिति भावः । एवञ्च रूपादीनां प्रत्यक्षत्वाविरोधः सिद्धोऽस्य एवानुमानाप्यविरोधोऽपि सिद्ध्यति प्रत्यक्षपूर्वकत्वादनुमानावेरेतस्मात्तदेव भवति वस्तु, न घृतिकादि, प्रत्यक्षाविरुद्धत्वादिति सिद्धमित्याह एवञ्चेति । एवं कार्यकारणोभयसत्त्वपक्षे प्रोक्तदोषप्रसङ्गभयात्पक्ष परित्यज्य कार्यमेव सदिति पक्षो यदि परिगृह्यते तत्र दोषोपदर्शनाय तमेव पक्षमुत्थापयति—अथैवमिति । उभयसत्त्वमेवंदोषवदिति तत्पक्षं परित्यज्यान्यतरसत्त्वपक्ष प्राप्तेति कारणमेव सत् कार्यमेव वा सदिति, तत्र कार्यासत्त्वपक्ष कारणमेव सदित्येतस्तो न तथा परिग्रहीतु शक्य, तत्पक्षाश्च मयितत्त्वैव तथापि गतिम् परिगृहीत बाधाभावात्, बाधावसानं मा भूदिति तत्पक्षं परित्यज्य तत्परित्यागपूर्व कार्यमेव सदिति पक्षः कारणसत्त्वाभ्यागतो यदि परिगृह्यते तथापि दोषं वक्ष्यं पक्षं भावयति—अथैवंदोषवदितीति । तदभिमतपक्षप्रदर्शनपूर्वकं तत्सकमावार्थमाह—ततः कार्यमेव सदितीति । अस्मिन् पक्षे यदि सांख्यस्य, तत्पक्षमिदमाह—तस्यैवेति अयं पक्षः सांख्यस्यैव कारणे कार्यसत्त्वाभ्युपगमवादिन इति भावः । यदि कार्यस्यैव सत्त्वमिष्टं तत्राह—कारणाविनाभावित्वादिति कारणं विना कार्यं न भवति, तेन च कार्यमभ्युपगम्यते येन तावत्कारणमभ्युपगतमेवेति तस्मात् कार्यं न सत् कार्यं सदिति न कस्यापि सम्मतम् किन्तु कारणमसदेवेति न नियम्यते कार्यमेव च सदिति तु नियम्यते कारणं यद्यप्यसत् नामैव यदि स्यात् कारणमस्तु नाम इति भावः । तत्र पक्षे नियमार्थ विकल्पयति—तत्रापि चेति, कार्यं सत्त्वेन नियम्यत इति पक्षे एवकार कार्यमेव सत्, ततेन कार्यमेवेति

रसोऽपि रूपरूप यथा स्पर्शगन्धाभ्यां परस्परतस्तरूपम्, किन्तु सर्वैव रूपेणाविर्भवन्ति तथाऽऽप्यावेक्षयन्ति स्वरूपमेवाविर्भवेत् परस्पर एवैकगुणत्वभयाभ्यामभिनन्दीत्यनिष्टत्वादाविर्भावस्ते मातः, सत्त्वाद्रूपादिव विलय प्रादुर्भावस्यैक्यमभ्यासुत्पत्तिस्समापादितं तस्मो रूपादिभ्यः कार्यस ।

तदनिष्पन्नतः प्रादुर्भावाविक्षेपप्रसङ्गपर्यवसानं चक्रक तत्रैव प्रसङ्गे स्थितं सत्त्वाद्रूपादिव विलयादाप्य सत्त्वाद्रूपादिवविलयेव विपर्ययेण गमनीयम् तस्मात् सतोऽन्यस्यभावमेव कार्यम्, यद्यप्तु रूपादिप्रतिनियतचक्षुराद्यविषयत्वात् पृथिव्यादयो न प्रत्यक्षाः, मनाविर्भाव्यत्वात् खपुष्पवत्, रूपाद्य तु यत्किञ्चित् प्रत्यक्ष स्यात् एवाविर्भावितृत्वात्, इतरथाऽपि प्रसङ्गस्या यविरोधात्तदेव भवतीति ।

(तदनिष्पन्नत इति) तदनिष्पन्नतः प्रादुर्भावाविक्षेपप्रसङ्गपर्यवसान चक्रक तत्रैव प्रसङ्गे स्थितं सत्त्वाद्रूपादिवविलयादाप्य सत्त्वाद्रूपादिवविलय-पुनरिदानीं भूम्यादिप्रादुर्भावस्यरूपादिप्रादुर्भावप्रयोजकत्वं यावत् स्थितं तत्रैव भूम्यादिप्रयोजकत्वं सतोऽसम्भवात्स्वरूपोत्पत्तेरुत्पाद्य तत्पर्यवसानमेव चक्रक तद्विपर्ययेण यावद्भूम्यादिविलयादिति गमनीयम् तस्मादनुत्पत्तिस्समत्वात् सतोऽन्यस्यभावमेव कार्यमिति उपसंहारार्थः, किञ्चान्यत्—यदस्त्वित्यादि रूपादिषु विषयेषु चक्षुरादीनां प्रतिनियत ग्रहणम् चक्षुषा रूपमेव जिह्वया रसमेवेत्यादिग्रहणे व्यक्तिताविर्भावः स न स्यात् चक्षुराद्यविषयत्वात्, रूपादय एव हि प्रत्यक्षं नियतास्य-चक्षुरादीनां विषयाः पृथिव्यादयस्तु न प्रतिनियतरूपादिलक्षणा इत्यनाविर्भाव्याः, तस्मादनाविर्भाव्यत्वात् न प्रत्यक्षाः पृथिव्यादयः, प्रतिनियतचक्षुराद्यविषयत्वात् खपुष्पवत् आविर्भावादनुमानाद्यविषया-

---

भीवस्त्वरोत्पत्तिप्राप्त तत्त्वमेव यथानुमान्यते तर्हि तत एव तस्य प्रादुर्भावो भवेत् न तु परस्परापेक्षया प्रादुर्भावः स्यादेवैकैकस्यानेनाय—भव मा भूदिति । अत्र आह—यथा रूपमिति कथं रसादिस्वरूपमन्तरेण रसादेरपि स्वस्वरूप-मतामय तेनैव रूपेणाविर्भावी तथाऽऽस्माकादिसर्वमपि परस्परं प्रत्यादित्वस्वरूपस्य तेनैव रूपेण भवेत्, न चैवम्, एकैकस्य स्वपरस्परापेक्षाविर्भावस्येष्टत्वादिति भाव । अनेन क्रमेण कार्यस्य रूपादिभ्योऽनुत्पत्तिप्रसक्तौ प्रादुर्भावस्यैक्यस्यापादितत्वेनाव-सत्त्वाद्रूपादिवविलीति । एवं प्रादुर्भावाविक्षेपप्रसङ्ग आपादित इति भाव । तत एव प्रादुर्भावमनुस्मृत्य पुनरुक्तक्रमेण पुनः पुन प्रसक्तोऽपीतिविपरीते—तदनिष्पन्नत इति । तत्तत्क्रमेण निर्वर्तमान माम्यमिति किम् दर्शयति—पुनरिदानीमिति, एवम् पर्यन्त रूपादिभ्योऽनुत्पन्नत्वात् सतोऽन्यत्वमेवेति विपरीति चक्रकसारार्थं । दोषान्तरमाह—यदस्त्वित्यादीति पृथिव्यादीनां रूपाद्यत्वे प्रतिनियतचक्षुराद्यविषयत्वात्तत्वमेव चक्षुरादयो हि प्रतिनियतविषयग्राहकाः चक्षु रूपमेव पश्यति, जिह्वा रसमेव घ्राण गन्धमेव त्वक् स्पर्शमेव श्रोत्र शब्दमेवेति प्रतिनियतविषयग्राहकाणीन्द्रियाणि, रूपादीनामेव च चक्षुरादिना ग्रहणात् पृथिव्यादीनां प्रतिनियतरूपादिलक्षणत्वाभावात्तस्य प्रत्यक्षं व्यक्त्याविर्भावो न स्यात्, तथाऽनाविर्भाव्यत्वान्न प्रत्यक्षाः पृथिव्यादयः अनुमानादिविषया अपि, प्रत्यक्षपूर्वकत्वादनुमानस्याप्यनवस्थितत्वादिति भाव । इत्येव दर्शयति—रूपादि-ष्विति रूपादीनां मध्ये चक्षुरादय प्रतिनियतमेव गृह्णन्ति आविर्भावयन्ति तस्मात् प्रतिनियतचक्षुराद्यविषयाः पृथिव्यादयस्तु न प्रतिनियतरूपादिलक्षणाः यस्माच्चक्षुरादिना न ग्राह्या आविर्भाव्या वा अनाविर्भाव्यत्वाच्च ते न चक्षुरादिना ग्राह्याः प्रति-नियतचक्षुराद्यविषयत्वात् खपुष्पवदिति भाव । एवं प्रत्यक्षाविषयत्वेऽनुमानाविषयत्वात् प्रमाणाविषयतया रूपादिसमुदायविशेषस्य पृथिव्यादेरसत्त्वं स्यादेवमत आविर्भावादिति, प्रतिनियतचक्षुराद्यविषयत्वादित्यादिहेतुवर्णनं । पृथिव्यादीनामसत्त्वे

---

१ ख. रसेनाद्युत्पत्त्यंशाविर्भावनिर्णय ।

विरोध इति, किञ्चान्यत् कारणकार्ययोरन्यथा तु स एवोभयसत्त्ववादोऽवश्यम्भावी, तत्र चोक्तदोषाः—अनुत्पन्नविनष्टत्वात् सतोऽन्यदेव तु कार्यमित्याद्युपक्रम्य भवत्पक्षे त एव चापतिता इति, एवं तावत्कार्यमेव सदित्यवधारणे दोषः ।

अथ सदेव कार्यमित्येवकारात् सदनवधृतेः पूर्वदोष एवेति ।

(अथेति) अथ मा भूवन्नमी दोषा इति सदेव कार्यमित्यवधार्यते, तद यदकारस्ततोऽन्यत्रावधारणमिति, सत्त्वेन कार्यं नियत सत्त्वन्त्वनियतम्, कारणस्यापि सत्त्वाभ्युपगमात्, सदनवधृतेः पूर्वदोष एव—उभयसत्त्वापादनदोष एवेति ।

यथा च पृथिव्यादेर्धर्मात्मापि संवृत्या तत्समुदाये प्रज्ञाप्यते तत्सन्ताने वा, 'राशिवत् सार्थवत्,' ननु शुक्लपटमयोगादेव नासावात्मेति रूपादिविषयेषाऽन्य इति चेन्न, शब्दान्तरवाच्यत्वादेवानन्यत्वात्, यथाऽनन्या नररथाश्वद्वीपवती शब्दान्तरवाच्या सेनेति, नरादिपृथक्त्वम् चेत्तत्र स्यात्तत्त्वम्, आत्मनस्तु नाभूद्रूपापृथग्भावात्तदात्मत्वाच्च तत्त्वाप्यते, अनन्यत्व प्रवृत्तेरपि समुदायस्यानर्थान्तरत्वात्, यथा च शिखरादिभ्यः शिखरिणो नार्थान्तरत्वम् ।

(यथा चेति) यथा च पृथिव्यादेर्धर्मात्मापि—यथा पृथिवीघटादीनि रूपादिभ्योऽन्यानि न सन्ति तथा रूपवेदनाविज्ञानसंज्ञासंस्कारेभ्यः स्कन्धेभ्योऽन्य आत्मा नास्ति किं तर्हि ? संवृत्या तत्समुदाये प्रज्ञाप्यते तत्सन्ताने वा, यथा राशिवत् सार्थवदित्यादिदृष्टान्ता समुदायासत्त्वप्रतिपादनार्थाः रूपादिमात्रवस्तुत्वप्रतिपादनाः, दृष्टान्तपाठस्तु चेतसि भावनोत्पादनार्थं दृढीकरणार्थश्च तदर्थस्य, अत्राह—ननु शुक्लपट

स्यात् तदर्थपरिच्छेदो कार्यं स्यात्, तथापि प्रमाणस्य यथाऽपि प्रमाणं स्यात् यथायोगाभावात् प्रमेयपि व्यापारे न स्यादेवानुमीयतेऽन्यत् कार्यमिति तदानीं तस्य सत्त्वाभ्युपगमे तेनानुमानेन विरोध इति भावः । कारणे कार्यं न दृश्यते यथा तु दृश्यते इति प्रत्यक्षविरोधः सत्त्वाभ्युपगमे इत्याह तथा दर्शनादिति । उक्तरीत्या कारणे कार्यसत्त्वस्याभ्युपगमे तु कारणकार्ययोरुभयसत्त्वपक्ष आपतितः तत्र च भवत्पक्षोक्ता दोषा इत्याह—कारणे कार्यसत्त्वेति । तदेवं कार्यमेव सदिति पक्षे दोषा उक्त्वा इत्युपसंहरति एवं तावदिति । अथ कार्यमेव सदिति पक्षे कारणमसत्त्वं युक्तिरिति सत्त्वेन कार्यमवनियतं कार्येण सत्त्वमनियतं कारणस्यापि सत्त्वाभिमत्युपगमे त एवोभयसत्त्वपक्षदोषा आपतिता इत्याह—अथ सदेवेति । व्याचष्टे—अथ मा भूवन्निति तदेव कार्यस्य सत्त्वपक्षे मायायम विचारितः दोषाणां प्रसङ्गात् कार्यस्यासत्त्वे विकल्पोऽपि भावः । यथा च रूपवेदनासंज्ञासंस्कारविज्ञानरूपपञ्चस्कन्धा एव पृथिव्यादयः रूपादीन्यन्तर्भाव्य पृथिवीत्वा व्यपदिश्यते तथैवाऽत्र आत्मापि इति समुदायसन्तानमितिसन्तानभावेनात्माऽपीत्याह—यथा चेति । ननु यद्यपि तत्समुदायभावेन रूपस्कन्धं यथा रूपादि, आत्मा तु न तत्सन्तानादिरूपः उपलभ्यते रूपादिवस्तुभिन्नत्वात्, न मानसेन नियतरूपेणैव तदभिन्नत्वात् प्रज्ञप्तावपि स्वरूपाभावभावेनैव पदार्थान्तरत्वाभावात् आत्माऽपीति किन्तु पृथिव्यादिपदार्थवत् संवृत्या समुदाये सन्ताने वा परिकल्प्यत इति व्याचष्टे—यथा पृथिवीघटादीनीति । पञ्चस्कन्धानाह—रूपवेदनेति । व्याचष्टे—संवृत्येति रूपादिसमुदाये रूपादिसन्ताने वा घटाय पृथिव्यादि आत्मादि च प्रज्ञाप्यत इत्यर्थः । निदर्शनान्याह—यथा राशिवदिति, धान्यादिसमुदाये धान्यराशिः प्रज्ञप्तिरिति भावः । तात्पर्यमाह—समुदायासत्त्वेति । अनर्थकदृष्टान्तोपन्यासमाह—दृष्टान्तेति । नन्वात्मेति प्रत्ययस्य समुदायात् नाम आत्मा किन्तु रूपादि एव एव, शुक्लत्वं गमनादयश्च समुदाय-स्यैकस्येव आत्मनानिष्टत्वाद्—ननु शुक्लपटेति । शब्दान्तरवाच्यत्वसमानत्वमेव आपद्यतेत्याह—शब्दान्तरेति, यथ-

1 सि. च प्र. रे कारणे कार्यसत्त्वाभावोऽपत्त् । 2 सि. प्र. रे पा. "मात्मापि ।

कार्यमेव सत् सदेव कार्यमिति वा तत्र कार्यमेव सदिति कार्यसमीप एवकारः क्रियते, स च एवकारस्ततोऽन्यव्यावधारणमिति कार्यं सदेवेत्यवधार्यमाणे कार्यस्य सत्त्वेन नियमात्—सत्त्वस्य कार्येण[अ]नियमात् कारणेऽपि सत्त्वमिति पूर्वविचारितोभयसदसत्पक्ष एवाऽऽपततीत्यवधारणवैफल्यं स्यात्, तथाभिहितम् तस्मादेवकारप्रयत्नसाफल्यात् कार्यस्यावधार्यत्वम् सच्छब्दार्थे न तत्प्रतियोगिनि नियमः कार्यं सदेवेति, तदर्थमपि—सत्त्वं कार्ये एव नियतं नान्यत्रेति, ततः किं ? ततश्च रूपादि न सदिति ते प्रसक्तम्, तच्च—रूपादेरेवासत्त्वमुपलभ्यमानस्यासत्त्वे कार्यस्यासतः प्रमाणाद्यनुपलभ्यमानस्य सत्त्वं विपरीता सामग्रीविषया संज्ञा क्रियते सतोऽसदिति असतश्च सदिति, सहस्राऽभिनवसम्भावनवत्, पश्चिमापश्चिमत्ववत् । यदपि च कार्यसत्त्वं कारणविपर्ययाधीनं सदिति नामैव नामकमात्रमेव कार्यं भवति ।

किञ्च—

कार्यासत्त्वनिवृत्त्येकान्तत्यागाच्च स्ववचनादिविरोधाः, कारणे कार्यसत्त्वाभावे तु स एवोभयसत्त्ववादः तत्र चोक्ता दोषाः ।

(कार्येति) कार्यासत्त्वनिवृत्त्येकान्तत्यागाच्च—अभ्युपगतस्यैकान्तेन सत्कार्यमित्यस्य च त्यागः, न हि कार्यमसदपि केनचित्प्रकारेणेष्यते त्वयेत्यभ्युपगमविरोधवत् स्ववचनादिविरोधाः, यदि कार्यं [असत्] कथं सदित्युच्यते इति हि [स]त्कार्यमेव सत् कथं कार्यमिति स्ववचनविरोधः, लोके कार्यासत्त्वं मत्वा तत्सिद्ध्य[र्थं]प्रयत्नदर्शनात् लोकविरोधः कुम्भकारादिव्यापार[ऽऽ]दानादनुमानविरोधः तथा दर्शनात् प्रत्यक्ष-

विरोध इत्येवमादि एव इति भाव । कार्यमेव सदिति यदि नियम्यते—तत्र कार्यमेवेति एव एवकार श्रूयते ततोऽन्यव्यवच्छेदमिति न्यायेन कार्यस्यापि श्रूयमाण एवकार सत्त्वेन नियमयति कार्यम्, सदन्याप्यं कार्यमिति न तु कार्यव्याप्यं सत्त्वमिति सत्त्वस्य कार्येण न नियम क्रियते तथा च सत्त्वस्य कारणान्तरे प्रसरत्वात् कारणेऽपि सत्त्वमपीतिमिति कार्यकारणोभयसत्त्वपक्ष एव पुनः आपतेत् तथा च कार्यमेव सदित्यवधारणस्य निष्फलत्वं समापतेदिति भावः । एवकारस्य फलवत्त्वं प्रकारान्तरेण नियमं दर्शयति—तस्मादेवकारेति कार्यत्वेन समभिव्याहृत एवकारः कार्यात्मन्—कार्यप्रतियोगिनि कारणे सच्छब्दार्थं नियमयति—कार्यं सदेवेति । तद्भावार्थमाह—सत्त्वं कार्ये एव नियतमिति सत्त्वं कार्ये न व्यभिचरतीत्यर्थः तेन च कार्यासत्त्वपक्षः सत्त्वं कारणनियतं भवति नान्यत्र इति एवञ्च कार्यान्तरत्व कारणं रूपादि तदसदिति प्रसक्तमिति भावः । तत्र दोषमाह—तच्चेति रूपादि कारणस्य रूपादेरसत्त्वं प्रसज्यते भावात् उपलभ्यमानस्य तथा अभावे सत्त्वे कार्यस्य सत्त्वे सामग्रीविशेषैव ततोऽसदित्यतश्च सदिति विपरीता संज्ञा लोकेऽनुपलभ्यमाना क्रियते पश्चिमापश्चिमत्ववदिति भावः । यदपि चेति कार्यसत्त्वमिति नाम कारणविपर्यये सदिति नामकमेव कार्यं भवति इति भावः । यदा कारणस्य कार्यस्य सत्त्वं क्रियते तदा कार्यमेवात्मनेन सदिति तदा-अनुपलभ्यमान स्ववचन च स्ववचनादि-विरोध सूचितवान्—कार्यासत्त्वेति । व्याचष्टे—अभ्युपगतस्येति त्वया कथञ्चिदपि प्रकारेण कार्यमसदपीति नेष्यते तथा-प्यभ्युपगमविरोध तथैव स्ववचनादिविरोधोऽपीति भाव । स्ववचनादिविरोधानेवाह—यदि कार्यमिति, यदि कार्यमसत्, तर्हि तत् कथं सद्रूपेण क्रियते असतः सद्रूपताव्यापादनासम्भवात् अन्यथाऽसत परनिरपेक्ष सद्रूपतया कार्यं स्यात् तस्मात् कार्य-मसदित्यभ्युपगमम्, अथ सदिष्टं तर्हि कथं कार्यम् कार्यसत्त्वयोर्विरोधात् कार्यत्वस्य प्रागसत्त्वव्याप्तस्य सत्त्वाभावात्, सत्त्व-विरुद्धत्वात् तयोः परस्परविरोधात् स्ववचनविरोधः । लोके प्राक् कार्यमसदिति मत्वैव लोके तत्सिद्ध्यर्थं प्रयत्नदर्श-नात् स्वोक्तविरोधेन स्यात्—लोक इति । कुम्भकारादीति कुम्भकारप्रभृतिहेतूनां व्यापारात्—तद्व्यापारसकाशे व्यापारस्य स्यात् तत्र कार्योत्पत्त्यात् तत्त्वानुविध कार्यविशेषनिरूपणसामर्थ्यं साधनव्यापार क्रियते तथैव व्यापारस्य मानि कार्यं च

१ सि० क्ष० डे० प० तथा नियम्यता । २ सि० क्ष० छा० डे० प्रसक्तमेव । ३ सि० क्ष० डे० प० तस्यैवापि० ।

नसिद्धिर्यथा तद्व्यतिरिक्तार्थाभावेऽपि तथा कर्मफलसम्बन्धादिसंव्यवहारप्रयोजनसिद्धिः पञ्चसु रूपादिषु स्कन्धे ष्वेव, अतस्तद्व्यतिरिक्तपरिकल्पनावैयर्थ्यमिति कृत्वा पुनरात्मभावः प्रवर्तेत इत्यतोऽत्रैव-औदासीन्याच्च तस्येप्सि-तार्थे-तत्त्वविचारं प्रत्यौदासीन्यात् पञ्चस्कन्धव्यतिरिक्तविपरीतात्मपरिकल्पन[ा]या विपर्ययज्ञानीभूतत्वात् विषम मानापमानादिसमानान्वर्गवाहमानाद्भवसंस्कारानुरूपात्मानात्मबद्धधर्मनिक्षिप्तवासनापरिपाकावस्था-त्मानोऽवतीसाहङ्कारः प्रवर्तेते, ततः पञ्चस्कन्धव्यतिरिक्तः पुरुष इति, एष वसुवोऽस्य नयस्य दर्शनं प्रदर्शितम् ।

अधुना कथमनयविकल्पोऽयमित्येतदभिप्रायार्थमाह—

एवञ्च रूपादितत्त्वस्य वस्त्वन्तरसङ्क्रान्तेरयथार्थत्वाद्वस्तुभ्यवस्थागतिविनिर्मुक्तेरुभया-वस्तुत्वमापादयेत् सेति प्रतिपत्तेः समभिरूढः, एकीभावेनाभिमुख्येनैक एव रूपादिरर्थस्तां तां संज्ञां समभिरूढः, यस्य शतसंख्यस्यापीदमेव लक्षणम् 'वत्थूओ संकमणं होति अवत्थू णये समभिरूढे' (आव० नि० ७५७) इति, तत्रायं नियमविधिर्द्विधा भिन्नस्य शतभेदसमभि-रूढैकदेशस्य गुणसमभिरूढस्य नामभेदः ।

एवञ्च रूपादितत्त्वस्येत्यादि, एष नयो रूपादिमात्रमेव वस्तु, तच्च वस्त्वन्तरं समुदायात्म न सङ्क्रामतीत्यतो घटादिसमुदायवस्त्वन्तरसङ्क्रान्तेरयथार्थत्वोपादवस्तुभ्यवस्थाया या गतिस्तां विमुञ्चतो वस्तु भ्यवस्थागतिविनिर्मुक्तेर्घटादिसमुदायवस्त्वन्तरसङ्क्रान्तिः स्यात्, स[ा]चोभयावस्तुत्वापादनार्थं स्यात्—रूपा दयः समुदायश्चावस्तुनी स्याताम्, रूपादयः समुदायरूपापत्तेः स्वरूपेऽनवस्थितत्वादवस्तु, रूपादि-समुदायो रूपादिवत् स्वरूपेण तस्यानवस्थितत्वादवस्थितस्वरूपावस्तुत्वमापादयेत् सा—वस्त्वन्तरसङ्क्रान्तिरिति-इत्थं प्रतिपत्तेः समभिरूढः—एष नयैकीभावेनाभिमुख्येनैक एव रूपादिरर्थं एवेति या या संज्ञा तां तां समभि-रूढः, यस्य शतसंख्यस्यापीदमेव लक्षणं—एकैको य सतविहो० इति शतसंख्य सप्तभेदभेदम्भूत व्यापकोक्तिमेवलक्षण वस्त्वाद्यभूतं तत्संवादिनिर्मुक्तिलक्षणमाह—'वत्थूओ संकमणं होति अवत्थू णये समभिरूढे' (आ.नि ७५७) इति, तत्रायमित्यादि तत्रैतल्लक्षण 'वत्थूओ संकमणं होति अवत्थू णये समभिरूढे' इति तस्य शतभेदस्य, सप्तनयशतारनयचक्रे समभिरूढे शतधा भिन्ने कतमः समभिरूढोऽयमिति मृग्यमाणे गुणसमभिरूढो नामाय पर्यायसमभिरूढादन्या, तदन्येभ[ा]एव वक्ष्यमाण[ा] अयञ्च नियमविधिरसौव गुणसमभिरूढस्य पुनरिमे

स्वमात्मस्वरूपस्य धर्मादि-एव नय इति । रूपादेरपरत्वं विकल्पयति रूपादय इति वस्त्वन्तरसङ्क्रान्तेरन्यत्वे स्यादि समुदायस्वरूपमापद्येत ततः तत्स्वरूपेऽनवस्थितत्वादवस्तु भवेत्, समुदायोऽपि रूपादिरिव तत्स्वरूपेऽनवस्थितत्वादवस्तु भवेदित्यु-भयावस्तुत्वं वस्त्वन्तरसङ्क्रान्तिरापादयतीति प्रतिपत्तेः समभिरूढनय इति भावः । समभिरूढपदव्याख्यामाह-एवं नयेति समित्येकीभावे, अभीत्याभिमुख्ये, एकीभावेनाभिमुख्येनैव रूपादिरर्थ एव तां तां स्वस्वाभिधानवाच्यार्थरूपतामिति समभिरूढ इति भावः । एतस्य समभिरूढस्य शतभेदत्वमनुसन्धत्ते-यस्य शतसंख्यस्येति । शतभेदसमभिरूढस्य नामभाह-एकैको इति । समभिरूढलक्षणमाह आवश्यकनिर्युक्तिसंमतं वत्थूओ इति लक्षणमिदं शतभेदस्य समभिरूढस्यैकत्वं । सप्तनयशतार नामा नयचक्रस्य तस्मिन् शतधा भिन्ने समभिरूढेऽयं समभिरूढः कतम इति मृग्यमाणे क पर्यायसमभिरूढादन्यः गुणसमभि-रूढस्य निपातादिरूपसमभेदस्य वक्ष्यमाणः तदानयनेऽस्य नियमविधिरयमित्याह-सप्तनयशतारेति । गुणसमुदायस्वरूपमाह-गुणसमभिरूढस्येति । भावार्थमाह-द्वादशारेति, समभिरूढः इत्यपर्याये भेदे पर्यायाधिकः अत एव च पर्याय-

1 सि क्ष डा. दे. 'रूपादिसमुदायवस्त्वन्तरमवस्तुनि । २ सि क्ष डा. दे वापूर्वं । ३ डा. गुणमन्यः । ४ नय-विधिविधिः २ नियमविधयः १२ इति ।

प्रयोगादेव नौसमाप्तेति पुरुषपरेण—द्रव्यान्तरेणोच्यमानरसायपरिणतेव तेभ्योऽन्यं इत्येतच्च न, द्रव्यान्तरवाच्यरसादेवानन्यत्वात्, तद्यथा[ऽन]न्या[नर]त्वाभक्तिपरतीत्यादि, द्रव्यान्तरवाच्यरसानन्यत्वमभिप्रेत्यैतदर्थं तद्धर्म्योपावनार्थमाह पुनरपि—मधुरादिपृथक्पृथगेवात्र स्वादसत्त्वं—तत्रास्मिन् नयवादीनां पृथक् समूहात् प्रत्यविदर्शनात् तत्समूहादन्यत्रादर्शनात् तेनाया॰ स्वादसत्त्वम्, आत्मनस्तु नामूनाम, रूपादयस्य-भावत्वात्स्त्वाच्च ततोच्यते—एवमपि नोत्तरम्, अनन्यत्र [प्र]वृत्तेरपि समुदायिभ्यः समुदायस्यानर्थान्तरत्वात् तद्यथा—यथा च शिखरणिम्य इत्यादि ।

तत्रापि शिखरादिविभागादेव न स्यादिति चेन्न बुद्धिविभागेऽप्यनन्यत्वात् पानकवत्, तद्यथा मरिचक्षोद पानकम्, एवं तस्मस्तु मूर्तविज्ञानादिधर्मव्यतिरिक्त आत्मा नास्ति, तद्यथा सुखितो दुःखितो एको द्वितोऽस्म्याऽस्मीति संव्यवहारसिद्धिर्विज्ञानादेव तथैव पुरुषकर्मफलसम्बन्धादिसंव्यवहारसिद्धिः पञ्चसु स्कन्धेष्वेव कुतः पुनरात्मग्राहः प्रवर्तते ? अत्रोच्यते 'मौढ्यादीम्यात्म तत्त्वेषु' ( ) पंचस्कन्धतत्त्व-विपरीतात्मकल्पनाया विपर्ययज्ञानीभूतत्वात् चित्तस्य सदसमानान्तर्गतात्मानाकुशलकर्मसंस्का-रानुशयात् आत्माऽस्मीत्यहङ्कारः प्रवर्तते ततः पञ्चस्कन्धव्यतिरिक्तः पुरुष इति ।

(तत्रापीति) तत्रापि शिखरादिविभागादेव न स्यादिति चेत्—स्यान्मत बुद्ध्या विभज्यमाना शिखराद्यवयवाः पृथगुपलभ्यन्ते पृथक् च शिखरी, न तद्व्यतिरिक्त आत्मेति तदपि न बुद्धिविभागेऽप्यनन्यत्वात् पानकवत् तद्यथा—मरिचक्षोदेत्यादि पानकमिति दृष्टान्तवर्णनम्, दार्ष्टान्तिकवर्णनन्तु एवम-पुरुषविज्ञानादिधर्मव्यतिरिक्तात्माभावसामर्थ्यात् तद्यथा सुखितो दुःखित इत्यादि, माधुर्यादिपानकाङ्ग-द्रव्यगुणविचारेऽनन्यत्वसाधनाच्च नाऽन्यमिति दृष्टान्तः दार्ष्टान्तिकत्वेन पुरुषेत्यादि, एव्याख्येयादिप्रयोज

तत्स्कन्धेभ्योऽनन्य आत्मा द्रव्यान्तरवाच्यत्वात् तेषामिवेति यथा इक्षुरसादिभ्योऽनन्या तेषां द्रव्यान्तरवाच्या न तथा आत्मापीति न तेभ्योऽन्य इति भाव । समुदायात् समुदायिना पृथक् प्रत्यविदर्शनात् समुदायोऽनन्य इति द्रव्यान्तरवाच्य [illegible] मानिवादिता, समुदायसमन्न तेषामा प्रत्येकदर्शनासमावरत्वम्, आत्मा तु रूपवादस्य एव [illegible] स्यादिति [illegible] वक्ष्यते—द्रव्यान्तरवाच्यत्वेति । अत्रीति [illegible] पृथक् आत्मनि प्रत्यविदर्शनात् [illegible] अन्यत्रादर्शनात् [illegible] आत्मनस्तु न समुदायिभ्यो भेदे [illegible] पृथक् विभाज्यत्वेन [illegible] भाव । [illegible]—अनन्यत्वेति पृथक् [illegible] समुदायसमुदायिनोर्भेद [illegible] शिखरणिभ्यो विभाज्यत्वेन पृथक् [illegible] शिखरिणो नान्यत्वेति भाव । ननु शिखरणिं [illegible] बुद्ध्या विभाज्यत्वेन शिखरादि [illegible] पृथगुपलभ्यन्ते [illegible] तथा [illegible] आत्माऽन्य इति वक्ष्यते—तत्रापीति । [illegible]—स्यान्मतमिति बुद्ध्या विभज्यमानं शिखरणिविभागे पृथगुपलभ्यन्ते, [illegible] आत्मा पृथगुपलभ्यते किन्तु रूपादिरेवाऽस्मीति गम्यतामिति भाव । बुद्ध्या विभागेऽपि शिखरणिशिखरावयवोऽनन्य एव समुदायस्यानर्थान्तरत्वाभि-प्रायेणार्थ [illegible]—बुद्धिविभागेऽपीति । विभज्यमानोऽपि [illegible] परमार्थतो वस्तु, तस्य च [illegible] समुदायेन न [illegible] एवं यदि [illegible] वस्त्वन्तरत्व समुदायत्व [illegible] स्यात् तस्य [illegible] न स्यात् [illegible] वस्त्वन्तरत्वमपि [illegible]

१ सि. क. ख. दे. °वेसमस्तारतेति । २ सि. क. ख. दे. तेभ्योऽन्ये इत्येतच्च न । ३ सि. क. ख. दे. [illegible] ।

त्तिर्न वस्त्वन्तरसंक्रान्तिरिति चेत्, कस्मात् ? प्रतिवस्तु समाप्तभवनस्य भूतत्वात्—रूपस्य रसाद्यात्मना रसस्य रूपाद्यात्मना गन्धस्यापि शेषात्मना—परस्परव्यावृत्तात्मना सर्वस्य वस्तु[नः]प्रतिनियतत्वात्, न च भवनेनापि व्याप्तिरस्त्येषामिति भवन-भावः संक्रमस्वभावं भावाभाव इति महती संक्रान्तिः, तस्मा एव हेतुतोऽवस्तुता, तस्मात् स्थित्युत्पत्तिविगतिनिरपेक्षा रूपादयः, तन्मात्रत्वम्—तन्मात्रत्वमेव तद्भवनमात्ररूपता, तस्माच्च स्थित्युत्पत्तिविगतिनिरपेक्षरूपादितन्मात्ररूपतायां सर्वसिद्धिः—सर्वं सिध्यति नात्र कश्चिद्दोषः, अन्यस्य त्व मेवंसमभिरूढमभ्युपगच्छतः भूतसमभिरूढस्य दर्शनेन तुल्यावन्यप्रयोग एव रूपादीनामिति सोऽप्यस्ति कश्चि द्विशेषः किं तेन ? इत्यत समेऽप्यव्यामूढत्वात् तस्य, एवं चायं गुणसमभिरूढनियमविधिरुक्तः, अत्राप्यवक्त- व्यत्वमप्यस्याप्यनन्तरस्य नियमस्य विधेः ।

तद्भावनार्थमाह—

एवं हि नियमो भवति यदि वस्तु, एष नयोऽनन्तरातीतनयप्रतिक्षेपेण पूर्वतरातीतविचार प्रसिद्धोत्सर्गविधिवृत्तासमीचीनाख्यापवादेन नियमः क्रियते विपरीत इत्यतथेति, पर्यय इति परिगमनं तत्रानेकत्वा गुणः परितो गमनात् स यत्रास्तीति मतिरस्येति पर्ययास्तिकः ।

एवं हि नियमो भवतीत्यादि, कथं ? यदि वस्तु येन प्रकारेणाविद्यमानत्वात् सामान्यादयः समुदायश्च नाम्याः किन्तु विशेषा एव रूपादयो इत्यभिमाः प्रत्यक्षादिप्रमाणगोचरत्वात् परिमाया इत्युक्त ततोऽधिकतरमसत्, तस्मात्ततो विशेषेण विविच्यन्ते यदि वस्तु ततोऽस्यैव नियमो युज्यत इति एष नियमस्य विधिरनन्तरातीतनयप्रतिक्षेपेण पूर्वतरातीतविचारप्रसिद्धपुरुषाद्विवादोत्सर्गविधिवृत्तानां तदनन्तरातीतानां च विधुभवादिवृत्तानामसमीचीनानामपवादेन नियमः क्रियते विपरीत इत्यतथा वा विचारप्रसिद्धोत्सर्गविधि- वृत्तासमीचीनापवादनियमवि[म]मेति व्याख्या[तो]नयः, तदर्थस्तु पर्यय इति परिगमनं तत्रानेकत्वा गुणः,

यद्युक्त स्थितिविनाशाद्वे—अथ अन्यस इति । व्यवपरत्वादि प्रत्येक वस्तु परस्परव्यावृत्तात्मकत्वेन भूतमिति न तत्रैकस्येन भवनेन व्याप्तिरस्तीत्याशयेन समाधत्ते प्रतिवस्त्विति । तथा भवनमेव दर्शयति रूपस्येति, भवनस्य चक्षुर्मये मात्रोऽभावं चक्षुर्मयीति भावाभावकर्म वस्तु स्यात् न चैवम् तस्मात् चक्षुरान्तिरसीत्योऽवस्तु भवेत् अभावे भवस्य चक्षुर्मयोऽभावरूपता इत्यु चेति स्थित्युत्पत्तिविनाशरूपि न सम्भवन्त इति भावः । तस्मादित्यर्थं स्थित्युत्पत्तिविनाशरहितरूपादिमात्रत्वम्, तनेव सर्वव्यवहारसिद्धिरिति दर्शयति—तस्मादिति । उत्पत्तिविनाशकामूलादिविषयत्वेऽपि भवनेषु समभिरूढेषु भवति समभिरूढोऽप्यस्ति स विशेषाङ्ग भवितिविनाश स्वनाम च तथा, किं तेन अन्यस्तु गुणसमभिरूढ उत्तरस्यानयोर्न नेत्यतादि गुणसमभिरूढ नियमविधिरिति विवक्षति—अन्यस्येति । ननु सामान्यविशेषकारणत्वाद्युपपत्त्याऽवस्थानं वस्तिरिति पूर्वनयोक्तनियमस्यैव तथा विचारादिकमविविरवं नय इति भावयति—एवं हीति । केन प्रकारेण नियमो भवति तदाह—एवमिति, वस्तु सामान्यादिरूपेण समुदायरूपेण वा नास्ति यतोऽयं सामान्यादयश्चान्या किन्तु विशेष एव रूपादयो प्रत्यक्षादिप्रमाणविषयत्वात् प्रमाणाः तेऽपि देशभेदेन भिन्ना स्युः—यदि वस्तिरिति । तर्हि केन प्रकारेण वस्तु विद्यमानमित्यत्राह किन्तु विशेषा एवेति, यत्र देशभेदे रूपादि चक्षुरादेव ग्राह्यं तत्र नापरदेशस्थम् तस्मात्तेऽप्यर्थे रूपादि भिन्नम् यदेवं भवेत् सत्यत्व- पदार्थैव एवैताभ्यो देशभेदेन भिन्ना रूपादिविशेषाः परिभाषाः तद्विशेषा व्यपदेशेनासद्रूपम् सामान्यसमुदायादिरूपाणां तत्रस्यैवासत्त्वादिति तथाविशेषेण वस्तु विवेचित यदि वस्तु स्यात्तदेव स्यादिति विषय युज्यत इति नियमोऽपि स्थित भावः । नियमविधिसार्थमाह एव नियमस्य विधिरिति, अनन्तरातीतनय तत्त्वव्यवस्थापितोभावेन नियमो युज्यत इत्यत्रासता प्रतिक्षि- प्यत तथा यदि विधिविधिनयभिन्नभावनिर्माणप्रतिक्षेपोत्सर्गोपवादव्यवस्थानं तदभावे प्राप्तं तदप्यपाकृत तथा यदि स्याद्वा स्यादेव एव दर्शनस्य यथार्थः सकलसमापत्तिस्वभाव, न सामान्य तथा समुदायो वा यथार्थं इति नियमो विपरीत इत्यर्थं निय-

१ सि. क्ष. छा. व. वस्तुप्रत्यन्तरत्वात् न भवनमात्रेणापि व्याप्तिरिस्त्येषामिति । २ सि. क्ष. छा. डे. अन्यसमभिरूढस्य ।

भेदाः—विधिः १, विधिविधिः २ विध्युभयम् ३ विधिनियमः ४ उभयम् ५ उभयविधिः ६ उभयोभयम् ७ उभयनियमः ८ नियमः ९ नियमविधिः १० नियमोभयम् ११ नियमनियमः १२ इति द्वादशधा भिन्नस्य तस्यैवसमभिरूढैकदेशस्याम नियमविधिर्नामभेद इति ।

किञ्चान्यत्—यथा चायं वस्त्वन्तरसङ्क्रान्तिं नेच्छति रूपादीनां तथा—

अस्य नयस्य योत्पत्तिविगतिस्थितिभिरपि नैव सम्बध्यते रूपादि, उत्पत्तिविगमयोश्चात्र प्रागभावप्रध्वंसाभावात्मकत्वादुभयममूर्तं रूपादि च भूतम्, तयोर्वस्त्वन्तरसङ्क्रान्त्येनैनूभयं व्याहन्यत भूतश्चेत् कथममूर्तम्? अभूतश्चेत् कथं भूतं रूपादिवस्तु ? इति ।

(अस्य चेति) अस्य योत्पत्ति[वि]गतिस्थितिभिरपि नैव सम्बध्यते—नयस्योत्पादादित्रयसङ्क्रान्त्येरभावात् यद्युत्पत्त्यादि वस्त्वन्तरसंक्रान्तिः स्यात् कुतोऽस्य समभिरूढता स्यादिति कथमिति दर्शयति—उत्पत्तिविगमयोश्चात्र प्रागभावप्रध्वंसा[भावा]त्मकत्वात्—उत्पत्तिः प्रागभावो विनाशः प्रध्वंसाभावः, तदु भयममूर्तं रूपादि च भूतम्, उभयोर्भूतामूर्तयोर्वस्त्वन्तरसंक्रान्तेस्तूभयं व्याहन्यते भूतश्चेत् कथममूर्तम्? अभूतश्चेत् कथं भूतं रूपादिवस्तु ? इति ।

उत्पत्तिविनाशानभिमता स्थितिर्भूतत्वान्न व्याहन्यते रूपादिने[ति] चेदुच्यते सत्यम्—

भूता स्थितिरपि च भवनात्मिका सर्वत्र सङ्क्रामति वस्त्वन्तरमिति न वस्तुतैव, अथ तथा तथा भाव एव भवतीति तर्ह्येकस्याभिव्याप्तिर्न वस्त्वन्तरसङ्क्रान्तिरिति सत्, प्रतिवस्तु तथा भवनस्य भूतत्वात् परस्परव्यावृत्तात्मना सर्वस्य वस्तुनः प्रतिनियतत्वात् न च भवनेनापि व्याप्तिरस्त्ययमिति स्थित्युत्पत्तिविगतिनिरपेक्षरूपादिमात्ररूपतायां सर्वसिद्धिरिति ।

(भूतेति) भूता स्थितिरपि च भवनात्मिका भवत्येव भवतीत्यतो भवनव्युत्पत्तेः सर्वप्रकारैः सर्वं भवति घटोऽपि रूपमपि रसोऽपीत्यादि, भवनं सर्वत्र सङ्क्रामति वस्त्वन्तरमिति न वस्तुतैव स्थितेरपीति, अथ तथा तथेत्यादि अथ मन्यसे तेन तेन प्रकारेण घटरूपरसादिभाव एव भवतीति तर्ह्येकस्याभिव्या-

समभिरूढ उच्यते पर्यायाः द्विविधा रूपभाविन उद्भाविन इति तद्भाविनो [illegible] अतः रूपभावित्वमेवास्य समभिरूढस्य पुनरर्थाभिप्रायः स च विध्यादिभेदेन द्वादशधा भिन्न तत्र नियमविधिरयमन्तर्भवति इति भ च । नयस्यास्याभिमतमन्यदाह यथा चायमिति । न वस्त्वन्तरसङ्क्रान्तिमनुरूपमसङ्ग्रहरूपोत्पत्तिस्थितिविगतिभिरपि न सम्बध्यते [illegible] अस्य नयस्य चेति । व्याचष्टे—अस्य चेति अस्य नयस्य मते रूपादिवस्तु उत्पत्तिविगमस्थितिभिर्न सम्बध्यते [illegible] तद वस्तु सङ्क्रान्तिः सम्बन्धः नैव [illegible] सङ्क्रान्तिमपि नेच्छतीति भावः । यदि सङ्क्रमणमभिमतं स्यात् तर्हि तेन रूपस्य यद्युत्पत्त्यादीति सङ्क्रान्तिः [illegible] सङ्क्रान्तिमभिमन्येत तर्हि [illegible] समभिरूढत्वं व्याहतं स्यात्, वस्त्वन्तरसङ्क्रान्त्या [illegible] रूपादेरपरवस्तुसंक्रान्तत्वापत्ते [illegible] तं तं स्वार्थमभिरोहतीति [illegible] । उत्पत्त्यादिसङ्क्रान्त्यभावस्तु रूपादीनां दर्शयति—उत्पत्तिविगमयोश्चात्रेति उत्पत्तिः प्रागभावात्मिका विगतिः प्रध्वंसा[illegible] [illegible] प्रागभावप्रध्वंसाभावात्मकत्वादमूर्तत्वं रूपादि च [illegible] भूतमिति तदुभयसङ्क्रान्तौ परस्पर[illegible] सङ्क्रान्त्यनुपपत्तेः भूतामूर्तत्वे व्याहन्येत भूतश्चेत् कथममूर्तममूर्तश्चेत् कथं भूतमिति तस्मान्नोत्पत्त्यादिसङ्क्रान्तिरुक्ता इति भावः । ननु रूपादि स्थित्यात्मकं भवतु स्थितिरपि भूतत्वेन रूपादिना सहाविरोधादित्यत्राह—भूता स्थितिरपि चेति । [illegible] स्थितिर्न सङ्क्रामति, स्थितेर्भवनात्मकत्वात् सर्वस्य वस्तुनः [illegible] प्रवर्तमानत्वात् स्थितिरपि न वस्तुभूता [illegible] घटोऽपि भवति पटोऽपि भवतीत्येवं भवनस्य सर्वत्र वस्त्वन्तरेषु सङ्क्रमणात्, [illegible] स्थितिर्न वस्तुभूता [illegible] स्थितिरिति व्याचष्टे—भूतेति । ननु भाव एव सर्वो [illegible] न तु भावो [illegible] सङ्क्रामति तत्राह-

एकादशो नियमोभयनयः

भवनाभवनसम्यग्दर्शनाधिकारे प्रत्येकनयस्वरूपपरिज्ञानपूर्वकत्वादुभयनयज्ञानस्यानन्तरनयदर्शने चाप-रितोषादुत्तरोत्थानमिति स एव सम्बन्धः, पूर्वस्य सूत्रस्य समवप्रक्रिया च सोच्यते नियमोभयेऽ-स्मिन्निदम् आह—

इदमशक्यं यदुत रूपादिभवनमेव भाव इति स्वमतं व्यवस्थाप्य वस्तुसंक्रान्तिप्रतिषेधे नोत्पत्त्यभाव इति वचनं श्रोतुमपि, अवश्यं हि तैः केनापि प्रकारेण भवितव्यं, अत एव, तत्र च तयोरत्यन्तभवनस्य व्यावर्तितत्वाद्भावरूपेण भवनाभावात् परिशेषादुत्पादविनाशैर्नैषां भवनमभ्युपगतम्, तद्व्यावर्तने प्रमाणता तेषां स्यात्, खपुष्पवत्, उत्पादविनाशरूपं भवनं स्वमापि ननु तैर्यथानुभूयते स एव भाव इत्युक्तम्।

इदमशक्यमित्यादि, इदं श्रोतुमप्यशक्यं कुतो वक्तुम्? स्ववचनादिविरोधात्, कथमशक्यम्? यदुतेत्यादि यद्—यस्मादित्यर्थः, यदुतेति वचनमभिसम्बध्यते, रूपादिभवनमेव भाव इति स्वमतं व्यवस्थाप्य वस्तुसङ्क्रान्तिप्रतिषेधेनोत्पत्त्यभाव इति कथं पुनरेतदशक्यमत आह—अवश्यं हीत्यादि, तैरवश्यं हि रूपादिभिः केनापि प्रकारेण भवितव्यं भावरूपेणाभावरूपेण वा अत एव—स्ववचनात्, विसंवादस्य वचनादेरवर्तत्वात् तदवधारयितुमाह—तत्र चेत्यादि तयोश्च भावाभावयोरत्यन्तभवनेन यद्भवनं तद्व्यावर्तितं द्रव्यार्थिकमतभेदेषु पर्यायास्तिकनयेषु, अतो भवनस्य व्यावर्तनात् भावरूपेण भवनाभावात् परिशेषा

अविनिश्चितोऽस्मिन् पक्षे सम्यग्दर्शनम्, तत्र प्रत्येकनयज्ञानमिति प्रत्येकनयज्ञानस्य पूर्वेण समासात् प्रत्येकनयपरिज्ञानस्या-नन्तरत्वे दर्शनेऽपि तत्सम्यक्त्वाभावोऽनन्तरेति उच्यते पूर्वनयस्वरूपे तदाश्रयेण नियमोभयनयस्योत्थानं भवति तत्रापि तदुभय-मन्तरेणाप्येतन्नयसम्बन्धेन तदुभयस्य वचनाद्वते तत् एतत्प्रक्रिया च पौर्वापर्येणानिश्चित्य सैव प्रवर्तते इति पूर्वेण सदृशिमार्गे-णेति—यदुतेति इत्यपि व्याख्यातमेव, इष्टभवनमात्रतो प्रतिभासमात्रो भेदः भेदमात्रो नाम समुदायविशेषसमुदाय-समुदायविनाशप्रतिपत्तिस्वभावाभावरूपापत्ते पक्षे क्षणोत्पत्तिविनाशोपचाराभावेऽस्य समवायित्वात्तु इति नियमे विधीयते नियम्यते चेति नियमोभयमतम्। ननु तयोर्भवते रूपादिभिरवस्तुत्वा रसादिपरस्परभ्रान्ततया प्रतिनियतत्वात् तत्प्रतिपत्तिनियमादिभिः प्रथमभावादिसैवैतत्स्वरूपं वस्तु इति तदवीचिनियमात् इदमशक्यमिति। भावकं श्रोतुमेव-मसं विरोधादाशु वर्णं वक्तुमित्याह—इदमिति अथैव प्रसङ्गेन वचनमित्यर्थः। किं स्ववचनमित्यत आह—यदुतेत्या-दीति। रूपादिमात्रमेव भाव तत्र रूपादि भावादिसमुदायात्मकं वस्त्वन्तरं न प्रतीयते यदि प्रतीयते तर्हि रूपादीनां समुदायरूपपतया तत्स्वरूपेऽनवस्थितत्वाद्वस्तुत्वं स्यात् समुदायोऽपि रूपादिवत् तत्स्वरूपेऽनवस्थितत्वादवस्तु स्यात् तथा-ऽप्यभूतत्वात् प्रथमभावाप्रथमभावयोः पर्यायविनाशयोरभूतत्वात् वस्त्वन्तरत्वाद्गन्धो न मूलेऽस्तमुत्पन्नमूलेन, कथं मूलमिति व्यावर्तितत्वादुत्पादविनाशयोः इति तदवोद्यमित्याह नियुक्त स्वयं रूपादिभवनमेवेति। अवश्यं हि केनापि प्रकारेण भवितव्यमन्यथा वस्तुत्वाभाव एव स्यादतः भावाभावरूपेण भवनस्य द्रव्यार्थिकमतभेदेषु पर्यायास्तिकनयेषु व्यावर्तितत्वात् रूपेण भवनाभावे उत्पादविनाशरूपेण भवनमेवं दुर्निवारम् रूपादिभवनमात्रवस्तुत्वोपन्यासस्य-वेन दुर्भावने—तैरवश्यं हीति केनापि प्रकारेण भावरूपेणाभावरूपेण वा। तदभावत्वप्रतिपत्त्यनन्तरं तथा प्रतिषेधायाह—तयोश्चेति। भावरूपेण भवनव्यतिरेकादभिन्नयाभावाभावरूपेणैव भवनं प्राप्तम्, अभावस्योत्पत्तिविनाशौ तद्रूपेण रूपादीनां भवनं न व्यावृत्त-मित्याह—अत इति। इत्यत्रैव क्रमस्यो न तु तदवधारणमित्याह—यस्मादिति भावरूपभवनव्यावर्तितभावरूपेण

गम गुण संख्याने, तथाच परस्परविशिष्टा गुणाः, सम्यक् ख्यानात्, स च गुणः पर्यायः परितो गमनात् पर्ययो वा पूर्ववत् स एवाख्यातमित्याख्या गतार्था ।

पृथक् स्वेन स्वेनार्थेन युक्तानि पदानि वाक्यम्, तथामेवार्थो वाक्यार्थः, तदुपनिबन्धनमस्य 'गोयम ! चउप्फासे पण्णत्त त जहा—वण्णमंते रसमंते गन्धमंते फासमंते (भ० श० २० उ० ५) वर्णश्चेत्यादिनिर्देशे मत्वर्थीयः संसर्गे परस्परसंसृष्टा एव वर्णादय इति ।

(पृथगिति) पृथक् पदानि वाक्यार्थः स्वेन स्वेनार्थेन युक्तानि देवदत्त[1] गामभ्याज शुक्लामित्येवमादिपदान्येव वाक्यम् तेषामेवार्थो वाक्यार्थः, तदुक्तत्वात् समुदायासत्त्वात् अस्य तदुपनिबन्धनमर्थमुच्यते यतोऽस्य निर्गमः, तद्यथा—'कइविहे णं भंते भावपरमाणू पण्णत्ते' इति प्रश्ने व्याकरणं 'गोयम ! चउव्विहे (पण्णत्ते) त जहा—वण्णमंते रसमंते गन्धमंते फासमंते (भ श २० उ ५) इति वर्णश्च इत्यादि, मत्वर्थीयेन सूत्रे [कुतः] वर्णोऽन्योऽन्येऽर्थो व्याख्या इति चेदुच्यते न केचित् किन्तु त एव वर्णादयः परस्परमन्तः रसगन्धस्पर्शा वर्णवन्तः वर्ण[वन्तः], तथा रसवन्तो रसवन्तो गन्धवन्तो गन्धवन्तः, स्पर्शवन्तः स्पर्शवन्त इति मतुपा निर्दिष्टाः यस्मान्मतुप् संसर्गे, परस्परसंसृष्टा एव वर्णादय इति, 'भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने । संसर्गेऽस्ति विवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥' तद्यथा—भूम्नि गोमान् यवमान्, निन्दायां ककुदावर्ती व्याधावर्ती प्रशंसायां—रूपवान् शीलवान्, नित्ययोगे—क्षीरिणो वृक्षाः कण्टकिनो वृक्षाः, अतिशायिने उदरिणी कन्या (महाभा अ ५ पा २ सू ९४) संसर्गे—दण्डी छत्री अस्तिविवक्षायाम्—अस्तिमानिति तत्राय वर्णमन्त इत्यादिनिर्देशे मत्वर्थीयः संसर्गे अभिन्नवर्णत्वे स्याद्वादवर्तिनि तु द्रव्यपरमाणोरपेक्षा वा यथा 'एग पएसोगाढ एगवण्णाइ परमाणु भवति । उप्पायठिइभग इति दविअलक्खण एयं ॥' (सम्मति गाथा० १२) इति परमार्थो जिनमते किं तु मतान्तरव्याख्यानात् भावमात्र एतेन गृहीतमिति ।

दशमो भङ्गो नियमनियमनयः समाप्तः ॥

मत इतीति भावः । अर्थं हि मतः पर्यायार्थिक— मतः पर्यायार्थिकव्याख्यायाम्—तथाच परस्परविशिष्टत्वं सम्यग्ख्याने, वाक्यानुरूपत्वं पर्यायोऽर्थः—तत्स्वरूपं पर्याय स एवार्थोऽर्थमिति मतः ततश्च गतिरत्र पर्यायार्थिकः तत्स्वरूपमवधारणेऽर्थस्य गुण तदेव तत्स्वरूपमेव सम्यक् प्रख्यानात्, एकान्तत्वे गुणो न सम्यक्स्वरूपतया ख्याताः तेनैवैव भेदात् एवमेव विशेषस्य तत्स्वरूपमनात्मभावात् तत्स्वरूपस्य एवार्थ परस्परविशिष्टा गुणाः सम्यक् प्रख्यानात् परितो गमनाच्च पर्याय इत्यन्य इति भावः । अत्र वाक्यार्थं दर्शयति—पृथगिति । समुदायासत्त्वात् स्वार्थमेव पदान्येव वाक्यं न तु समुदायादि तद्यथा देवदत्त ! गामभ्याज शुक्लामित्यादौ देवदत्तादिपदान्यर्थवन्ति वाक्यसूत्रस्य इत्याह—पृथक् पदानीति । तदर्थ एव वाक्यार्थ इत्याह—तथामेवेति देवदत्तादिसमासमर्थं । पदसमुदाय परमार्थतो वाक्यत्वाभावे हेतुमाह—उक्तरूपादिति, समुदायस्य वर्णवत्त्वाभावात् समुदायादीनामनर्थत्वादिति भावः । अस्य नयस्यागमप्रामाण्यमाह अस्य नयस्येति । भगवत् भावपरमाणुः कतिविधः प्रज्ञप्त इति प्रश्ने व्याकरणं गौतम । चतुर्विधः प्रज्ञप्तः तद्यथा—वर्णवन्तो रसवन्तो गन्धवन्तः स्पर्शवन्त इति इत्यादिवचनमभिप्रायेण नय भावेदिति भावः । ननु मात्वर्थीयप्रत्ययान्ता प्रश्नेऽपि किमिति व्याख्यायोऽर्थमवधार्य व्याकरणं वर्णमादाय—वर्णवन्त इत्यादीति । स्यादेतत्—न केचिदिति न वर्णादयोऽन्योऽन्येऽर्थो व्याख्यातः किन्तु परस्परसंसर्गवन्तः वर्णादय एव वर्णादिमन्त इत्या यथा रसवत्त्वादयो वर्णसंसर्गात् वर्णवन्त उच्यन्ते तद्वत् वर्णवत्त्वस्य रसादिसंसर्गात् रसवत्त्वादि वर्णरसादिमत्त्वे व्यवच्छेद्यं स्पर्शादिसंसर्गात् स्पर्शवन्त इति मतुप्प्रत्ययान्तादिति भावः । मतुप्प्रत्ययार्थमाह—यस्मादिति, अत्र हि मतुप् संसर्गेऽर्थे मतुपं वर्णादिभिरन्योन्यसंसर्गात् प्रत्ययार्थम्, तेन वर्णाद्यन्यतमसंसर्गो रसादिमत्त्वमिति दर्शितं भवतीति भावः । तदर्थे मतुप्प्रत्यय महाभाष्यकारोक्तं उपन्यस्यति भूमनिन्देति ।

इति नियमनियमसारविरचित नियमपदविवरण नयचक्रव्याख्यायां दशमो नियमनियमारः समाप्तः ॥

1 सि क्ष. प्र ड. वर्णादिभिः । २ सि ४ प्र डे. वर्णादयोऽन्यो व्याख्या इति ।

विनाशस्वभावपर्यायम्, अस्यास्माभिर्मूलम्, निर्मूलत्वाच्च स्यादिति क्रमेण हेतुहेतुमद्भावेन गमार्थम्, प्रत्येकं चैते हेतवः, तस्मादुत्पादविनाशात्मना वस्तुना भवितव्यमेवेनेति ।

अपि च नानित्यत्वसामान्यमात्रेण वस्तुप्रतिपक्षनित्यसंस्पर्शसम्बन्धिना सन्तुष्यामः, किं तर्हि ? प्रतिपक्षविनिर्मुक्तमेवानित्यत्वं वस्तुनः, तानि रूपादीनि क्षणिकानीत्यवधार्यताम्, यो हि भाव उत्पन्नः स 'नष्टा चेन्नाशविघ्नः कः ?' (   ) यदि हि उत्पत्तिविनाश स्वभावो भावः तर्हि तस्य विनाशधर्मणः सतः को विनाशप्रतिबन्धी विघ्नः येनावतिष्ठेत तद्विशिष्टमपि कालम्, स उत्पन्नमात्र एव विनाशमनुभवेत्, अनन्तरासत्त्वे सति तत्स्वभाव स्यात्, विनाशक्षणवत्, 'न चेमेव विनंक्ष्यति', एवमनिच्छतः स नैव नश्येत् पूर्ववत् ।

अपि चेत्यादि, नानित्यसामान्यमात्रेण सन्तुष्यामः कालान्तरस्थायिनो पृथिव्युदकादेः कीनाशोत्पादविनाशत्वेनानुमितेनानित्यसामान्यमात्रेण सन्तुष्यामोऽनित्यवस्तुप्रतिपक्षनित्यसंस्पर्शसम्बन्धिना, कालान्तरावस्थानस्याप्यनित्यप्रतिपक्षत्वात्, किं तर्हि ? प्रतिपक्षविनिर्मुक्तमेवानित्यत्वं वस्तुनः, [इति] तानि रूपादीनि क्षणिकानीत्यवधार्यताम्—क्षणोऽस्यास्तीति क्षणिकः परमनिरुद्धः कालाख्यः स एवास्यास्ति, न द्वितीयादिसमयान्तरावस्थायीनीति निश्चीयताम् न्यायोऽप्यत्र—यो हि भाव उत्पन्नः स नष्टा चेन्नाशविघ्नः, [कः] तद्व्याख्या—यदि हीत्यादि उत्पत्तिविनाशावनन्तरभाविनौ, स उत्पन्नस्वभावो विनाशस्वभावश्चेत्तस्य विनाशधर्मणः सतः को विनाशप्रतिबन्धी विघ्नो येनावतिष्ठेत तद्विशिष्टमपि कालं स उत्पन्नमात्र एव विनाशमनु-

---

नष्टेयं वस्तुसत्तेति भावः । अस्माभिर्मूलं निर्मूलत्वेऽन्यत्रोक्त्वा तत्र यथोत्पादविनाशयोर्हेतुरित्याह—क्रमेणेति । यथाक्रमं हेतुहेतुमद्भावः—प्रत्येकं चेति । एवं यदि रूपादि वस्तु तर्हि तन्नैरन्तर्यविनाशात्मना भवितव्यमित्युपपद्यते—तस्मादिति । उत्पादविनाशात्मना वस्तुना भवितव्यमिति [illegible] प्रतिपाद्य न नित्यता किन्तु क्षणमात्रसामान्यमनित्यत्वं वस्तुन इति निश्चयाय इत्याह अपि चेति । ननु [illegible] पृथिव्युदकादेरपि [illegible] कालान्तरस्थायिनो रूपादीनामनित्यत्वम् [illegible] अनित्यप्रतिपक्षनित्यसम्बन्धि क्षणमात्रसामान्यं द्वितीयादिसमयस्थायि न [illegible] कालान्तर-स्थायित्वेन हि प्रतिपक्ष [illegible] अनित्यवस्तुप्रतिपक्षनित्यसंस्पर्शसम्बन्धिना अनित्यसामान्यमात्रेण [illegible] इत्यत्र—नानित्य-सामान्येति । [illegible] प्रतिपक्षेति कालान्तरावस्थानविनिर्मुक्तमनित्यत्वं वस्तुनः सम्मतमिति भावः । इत्येव निश्चयति—तानि रूपादीनीति । [illegible] न कर्तुं [illegible] एवंभूत [illegible] स एव यस्य वस्तुनोऽस्ति [illegible] न हि [illegible] वस्तुनः [illegible] द्वितीयादिसमयोऽस्ति, [illegible] क्षणोऽस्यास्तीति । द्वितीयादिसमयान्तरावस्थानं न्याय उच्यते यो हि भाव इति अत्र 'नष्टा चेन्नाशविघ्नः कः न चेमेव विनंक्ष्यति' इति च [illegible] । उत्पन्नमात्रस्य वस्तुनो विनाशस्वभावत्वेनोत्पत्तिसमनन्तरं विनाशोऽवश्यम्भावी, न हि तदानीं तद्विनाशप्रतिबन्धकः कश्चन विघ्नः न चोत्पत्तिक्षण एव विनाशः [illegible] उत्पत्त्यनन्तरभाविविनाशस्वभावत्वात् तथा च [illegible] द्वितीयादिसमयस्थायि वस्तु [illegible] एव विनाशमनुभवति द्वितीयादिसमये यदि विनाशस्वभावात्, यथा विनाशक्षणे वस्तु अनन्तरासत्त्वे यदि विनाशस्वभावत्वात् विनाशमनुभवति यदि विनाशस्वभावत्वं न तर्हि विनाशं अनुभवेत् तदा न कदापि तस्य विनाशः स्यात् [illegible] रूपादीनि [illegible] । तदाह—उत्पत्तिविनाशाविति । [illegible] [illegible] न पर्यवेति । विनाशस्वभावस्यापि विनाशमनुभवतः [illegible] न कदापि नाशमनुभवति [illegible]

मुत्पादविनाशैर्नैवैषां रूपादीनां भवनमभ्याहृतम्, किं कारणम्? यस्मादनुत्पन्नेऽनापन्ने तेषां रूपादीनामुत्पादविनाशरूपेऽपि भवने व्यापर्यते अपुण्यवदभावता स्यात् तर्हि केनचिद्रूपेणाभवनात् बलस्यास्य तथा मा भूदित्युत्पादविनाशरूप भवन स्यापीति यदुक्तं—ननु तैर्भवतानुभूयते स एव भाव इति भवतैवोक्तम्भवनाभ्युपगमात् ।

इतर आह—

ननु तैर्भूयतेऽनुत्पादावित्वेनैवेति, न तर्हि तैर्भूयते, अकारणत्वेऽकारणत्वात्, त्वदुक्तिविरुत्पादाद्यनभ्युपगमादकारणत्वम् उत्पादविनाशावेव हि वस्तूनां भवनबीजम्, रूपादय इव तन्त्वादिभवनबीजम्, तदभावे तदभावात् तद्भावे तद्भावात्, इतरथा ह्यनुत्पादविनाशत्वादपर्यायत्वान्निर्मूलत्वाच्च स्यात्, वन्ध्यापुत्रवत् ।

(नन्विति) ननु तैर्भूयतेऽनुत्पा[दा]वित्वेनैवेति यदोक्तमपारदुक्तमित्यत्रोच्यते न तर्हि तैर्भूयते, अकारणत्वेऽकारणत्वात् नास्य कालोऽतीतमनयः, अकारणत्वे समकारणत्वात्, कारणाभावत्वात् कथं तत्स्थाशङ्का स्यात् मा भूदित्यकारणत्वे समकारणत्वादिति विशिष्यते, त्वदुक्तिविरुत्पादाद्यनभ्युपगमादकारणत्वम् आविर्भावतिरोभावानभ्युपगमात् कस्मात्? उत्पादेत्यादि, यस्मादुत्पादविनाशावेव वस्तूनां रूपादीनां भवनस्य बीजम् हि यस्मात् हेत्वर्थे उत्पादविनाशधर्म वस्तु भवन तद्बीजत्वात्, किमिव? रूपादय इव तन्त्वादिभवनबीजं तदभावे तदभावात् तद्भावे तद्भावात् रूपादिसमुदायो हि तन्तुपटादयः तदभावे न सन्ति तद्बीजत्वात् तद्भाव एव च भवन्ति एवं वस्त्वपि उत्पादविनाशबीजत्वात् तदात्मभवनकमिति, पक्षमनभ्युपगमे दोषः—इतरथा हीत्यादि यावत् वन्ध्यापुत्रवदिति, भावे च साधर्म्यवैधर्म्यदृष्टान्तौ, अनुत्पाद

भवनस्यापि व्यापकत्वे पुण्यस्येव रूपादीनामभावत्वेन स्यात् केनचिदपि रूपेणाभवनात् तथा भूदिति तेषामुत्पादविनाशयो भवनमभ्युपेयमित्यत्र—तेषामिति । अनुभवस्येव कस्यचिदुक्ता तथापि ननु तैर्भवताऽनुभूयते तदेव भाव इत्युत्पादाद्यात्मकत्वमुपगम उत्पादविनाशरूपेण भवन्तीत्यात् उत्पादविनाशरूपमिति उत्पादविनाशस्येव रूपादीनामनुभवस्यात्मरूपेण भवनं तथाभ्युपेयमेवेति भाव । वदते—ननु तैरिति । एतस्य सत एव भावाः न तत्स्येव केनापि रूपेण त भवा तैर्हि भूयतेऽनुत्पादावित्वेनैवेति समाधिप्रस्य मते वदत—ननु तैर्भूयत इति । उत्पत्तिविनाशविनिर्मुक्तेन तेषाम्भवनाऽनुत्पादावित्वेन भवनाभ्युपगमे भूत भविष्यद्वर्तमानरूपाणामुत्पादादीनामभावे भवनस्यान्यथासम्भवादकारणमेव भूयत एवेति समाधत्ते—न तर्हि तैरिति । अकारणत्वे समकारणत्वादिति कारणविकले सति कार्यस्यानियमाभावादित्यर्थः । कार्ये कारणान्तरानपेक्षितेऽपि व्यभिचारस्यासम्भवात् कारणभिन्नत्वे कार्यत्वमनुपपन्नम् तत्स्याह—अकारणत्वेति । कस्मात् हेत्वन्तरं दर्शयति—त्वदुक्तिविरिति उत्पादे भविष्यत विनष्टे भूतता रूपादीनां तदनभ्युपगमात् कारणस्याभावादिति भाव । रूपादीनामकारणत्वे तत्कारणत्वाभावाद्वाभवनात्समवायस्य कार्यत्वं प्रकृते यत उत्पादविनाशौ वस्तुनः भवने बीजम्, यथा रूपादिसमुदायात्मकतन्त्वादिभवनस्य रूपादयो बीजम् रूपाद्यभावे हि तन्त्वादिभवनाभाव रूपादिभाव एव तन्त्वादि भवति तस्मात्तद्भवनस्य रूपादिबीजम्, एवमेव रूपादिभवनस्योत्पादविनाशौ बीजम्, तदनुत्पादविनाशत्वे रूपादिभवनमनुत्पादवदि—पक्षादिति । साधर्म्यदृष्टान्तमाह—रूपादय इति । वैधर्म्यदृष्टान्तमाह—इतरथा हीत्या दीति रूपादेरुत्पादविनाशलक्षणकारणानभ्युपगमे तत्र पर्यायाद्यभावान्निर्मूलतापत्ति तथा सति वन्ध्यापुत्रवदसत्त्वं स्यात्, न हि वन्ध्या-

विनाशस्यावस्थापर्यायम्, अपर्यायत्वान्निर्मूलम्, निर्मूलत्वाच्च स्यादिति क्रमेण हेतुहेतुमद्भावेन गमार्थम्, प्रत्येकं वर्ते हेतवः, तस्मादुत्पादविनाशात्मना वस्तुना भवितव्यमेवेत्यनेनेति ।

अपि च नानित्यसामान्यमात्रेण वस्तुप्रतिपक्षनित्यसंस्पर्शसम्बन्धिना सन्तुष्यामः, किं तर्हि ? प्रतिपक्षविनिर्मुक्तमेवानित्यत्वं वस्तुनः, तानि रूपादीनि क्षणिकानीत्यवधार्यताम्, यो हि भाव उत्पन्नः स 'नष्टा चेन्नाशविघ्नः कः ?' (   ) यदि हि उत्पत्तिविनाश स्वभावो भावः तर्हि तस्य विनाशधर्मणः सतः को विनाशप्रतिबन्धी विघ्नः येनावतिष्ठेत तद्विशिष्टमपि कालम्, स उत्पन्नमात्र एव विनाशमनुभवेत्, अनन्तरासत्त्वे सति तत्स्वभावत्वात्, विनाशक्षणवत्, 'न चेन्नैव विनंक्ष्यति', एवमनिष्यतः स नैव नश्येत् पूर्ववत् ।

अपि चेत्यादि, नानित्यसामान्यमात्रेण सन्तुष्यामः कालान्तरावस्थायिनां पृथिव्युदकरूपादीनामुत्पादविनाशदर्शनानुमितेनानित्यसामान्यमात्रेण सन्तुष्यामोऽनित्यवस्तुप्रतिपक्षनित्यसंस्पर्शसम्बन्धिना, कालान्तरावस्थानस्याप्यनित्यप्रतिपक्षत्वात्, किं तर्हि ? प्रतिपक्षविनिर्मुक्तमेवानित्यत्वं वस्तुनः, [इति] तानि रूपादीनि क्षणिकानीत्यवधार्यताम्—क्षणोऽस्त्यासामिति क्षणिकाः परमनिरुद्धः कालांशः क्षणः स एषामस्ति, न द्वितीयादिसमयान्तरावस्थायीनीति निश्चीयताम् न्यायोऽप्यत्र—यो हि भाव उत्पन्नः स नष्टा चेन्नाशविघ्नः [कः] तद्व्याख्या—यदि हीत्यादि उत्पत्तिविनाशावनन्तरभाविनौ स उत्पन्नस्वभावो विनाशस्वभावश्चेत्तस्य विनाशधर्मणः सतः को विनाशप्रतिबन्धी विघ्नो येनावतिष्ठेत तद्विशिष्टमपि कालं, स उत्पन्नमात्र एव विनाशमनु-

---

तदर्थितं स्यादिति भावः । अपर्यायत्वे निर्मूलत्वं निर्मूलत्वेऽपर्यायत्वं तत्र चाहेतुकत्वमित्यभिप्रेत्य हेतुरित्याह क्रमेणेति । तथापि हेतुत्वे हेतुत्वमित्याह—प्रत्येकं चेति । एवं यदि रूपादि वस्तु तर्हि तस्मैवोत्पादविनाशात्मना भवितव्यमित्युपसंहरति—तस्मादिति । ननूत्पादविनाशात्मना वस्तुना भवितव्यमिति कालान्तरावस्थायिपृथिव्यादीनामनित्यत्वसाधनार्थं प्रतिपाद न विरमामः किन्तु क्षणमात्रस्थायित्वं वस्तुन इति निरूपयाम इत्याशयेनाह अपि चेति । ननु पृथिव्युदकादय उत्पादविनाशवन्तो अपि बहुतरकालं यावत् स्थिताः पश्चाद्विनश्यन्तो दृष्टाः तस्मात् क्षणिकत्वमनित्यत्वाधारत्वमनित्यत्वं रूपादीनामित्यनुमितम् इत्यनित्यत्वं अनित्यप्रतिपक्षनित्यत्वसम्बन्धि क्षणमात्रस्थायित्वं द्वितीयादिक्षणसमयावस्थायित्वं च तत्प्रतिपक्षः नित्यं कालावस्थानस्य कालान्तरावस्थानमेव हि प्रतिपक्षः, एवमेवानित्यवस्तुप्रतिपक्षनित्यसंस्पर्शसम्बन्धिनाऽनित्यसामान्यमात्रेण नास्माकं परितोष इत्याह—नानित्यसामान्येति । कालान्तरावस्थायित्वमाह—प्रतिपक्षेति, कालान्तरावस्थानविनिर्मुक्तमेवानित्यत्वं वस्तूनां सम्मतमिति भावः । एतमेव निरूपयति—तानि रूपादीनीति । क्षणिकत्वे यस्य विनाशो न कर्तुं शक्यते विनाशसम्भवस्तत्र विनाशस्य दुर्लभत्वात् यथा स एव यस्य वस्तुनोऽस्ति सोऽयं क्षणिक इष्यते न हि किञ्चिदपि वस्तुनः क्षणाद् द्वितीयादिसमयेऽप्यस्ति यथाभावाऽभिप्रायः तथाऽस्यार्थमिति । द्वितीयादिसमयान्तरावस्थाने न्याय उच्यते यो हि भाव इति अत्र नैव चेन्नाशविघ्नः कः न चैव विनंक्ष्यति इति न कदाचिदपि विनश्येत । उत्पन्नमात्रानां वस्तूनां विनाशस्य भावे ततश्चोत्पत्तिक्षणानन्तरं विनाशस्वभावः न हि तदानीं तद्विनाशप्रतिबन्धकः कश्चन विघ्नः न चोत्पत्तिक्षण एव विनाशः उत्पत्त्यनन्तरभावित्वाद्विनाशस्य इत्यतः तथाच उत्पत्तिविशेषणमात्रेण न द्वितीयादिसमयावस्थानं वस्तुनः किन्तूत्पन्नमात्र एव विनाशमनुभवति द्वितीयादिसमयावस्थाने यदि विनाशस्वभावत्वात्, यथा विनाशक्षणे वस्तु अनन्तरासत्त्वे यदि विनाशस्वभावत्वात् विनाशमनुभवति, यदि विनाशस्वभावत्वे न तर्हि विनाशं नानुभवेत् तदा न कदापि तस्य विनाशः स्वभावात् प्रच्युतं स्यादिति भावः । तदाह—उत्पत्तिविनाशाविति । स्वभावात् प्रच्युतिरूपं तदभावात् न घटेतेति । विनाशस्वभावस्यैव विनाशमनुभवतो उत्पत्तिक्षण इव न कदापि नाशमनुभवेदिति व्याख्यानं

मेव, अनन्तरासत्त्वे सति तत्समानत्वात् विनाशप्रसङ्गात्, न केनैव विनंक्ष्यति, अस्य भाव्यं यावत् पूर्वमिति, अनिष्टपावनसाधनमेवमनिष्टत्व इति गद्यार्थम् ।

कालान्तरावस्थाप्यभिधानायाह—

अस्ति विघ्नः कोऽसौ ? विनाशहेतुसान्निध्यम्, का कस्य विनाशहेतुः ? सत्सन्निधानासन्निधानाभ्यां विनाशाविनाशौ यथा घटस्य मुद्गराद्यभिघातोऽग्निसंयोगः पार्थिवानां रूपादीनामपाक विनाशहेतुरित्यथोच्यते 'साम्यं विनाशहेतुत्वं' (   ) अन्यतरासिद्धेः कथं निर्धार्यते हेतुरेवेति विशेषहेतुर्वाच्य इति अस्ति विशेषहेतुः, तस्मिन् सति 'पश्चाद्ग्रहणं यत्' इति अथोच्यते—इदमज्ञापकम् 'स्वयं विनाशे तुल्यत्वात् तथानुत्पत्तिरसोऽग्रहः' कथं कृत्वा ? यथासंख्यमिर्देशा हि पार्थिवघटरूपादयः रूपादय एव घटाकारेणोत्पद्यमाना घट इत्याख्यां लभन्ते, समुदायविशेषात्, ते पुनः स्वयमेव विनष्टाः, उत्पत्तेरेव विनाशकारणत्वात्, तत्राभिघातप्रत्ययपश्चादन्ये रूपादयो न पुनस्तथोत्पन्नाः, तस्मात् तदानीं घटत्वेन रूपाद्यग्रहणम् तेन न घटो विनाशितः, तथा पार्थिवा अपि रूपादयः आपक्व ।

(अस्तीति) अस्ति विघ्नः, कोऽसौ ? विनाशहेतुसान्निध्यम् तेनैव व्याख्यापयितुकामः पृच्छति—कः कस्य विनाशहेतुः ? सत्सन्निधानासन्निधानाभ्यां विनाशाविनाशाविति स ब्रूयात् यथा घटस्येति यत्र मुद्गराद्यभिघातो विनाशहेतुरस्ति,[अग्नि]संयोगः पार्थिवानां रूपादीनामपाक विनाशहेतुः, तत्सान्निध्ये विनाशोऽसान्निध्येऽवस्थानमिति, अथोच्यते—साम्यं विनाशहेतुत्वम् कथं साम्यमिति तथा साम्ये मुद्गराद्यभिघातेन घटस्य विनाशोऽग्निसंयोगात् पार्थिवरूपादीनामपाकेति, यथा स्वयमेवेतीति, तथान्यो व्यापारः सम्भवव्यम् ? तस्मादन्यतरासिद्धत्वाद्धेतुः कथं निर्धार्यते हेतुरेवेति, विशेषहेतुर्वाच्यः, इत्याह—अस्ति विशेषहेतुः तस्मिन् सति पश्चाद्ग्रहणात् तत्सान्निध्ये ग्रहणात् तत्सन्निधानग्रहणप्रत्ययाद्

[illegible] तर्कयति—अस्य साम्यमिति । यस्तु विनाशस्य समानं वस्तुन: [illegible] न हि विनाशस्य [illegible] तदैव विनाशोऽपि [illegible] विनाशनियम [illegible] एव विनाशकसान्निध्ये [illegible] अपि [illegible] उत्पत्ति [illegible] किन्तु यथोत्पत्ति [illegible] विनाशे भवति [illegible] न विनाशहेतु [illegible] अस्ति विघ्न इति । तस्मै विनाशहेतु [illegible] न विनाशोऽस्त्व एव विनाशहेतु [illegible] विनाशे विघ्न इत्याह—कोऽसाविति । तस्य मते विनाशहेतुत्वमेवाभिमतमतोऽयमेव [illegible] विनाशहेतुं पृच्छति—कः कस्येति । [illegible] सर्वकारणकलापसामग्र्यस्य [illegible] विनाशाविनाशौ [illegible] कारणविनाश- [illegible] इति । विनाशकारणं [illegible]—यथा घटस्येत्यादीति [illegible] मुद्गराद्यभिघातस्य पार्थिवरूपादीनामग्नि- [illegible] हेतुत्वं [illegible] । ननु विनाशहेतुत्वं साम्यम्, [illegible] विनाशस्य [illegible] यथा हि विनाशः [illegible] एवेत्यनुमन्तव्य इति [illegible]—साम्यमिति । अत्र साम्यं विनाशहेतुत्वं पश्चाद्ग्रहणं यत् । स्वयं विनाशे तुल्यत्वात् तथानुत्पत्तिरसोऽग्रहः ॥ इति [illegible] तथा साम्यं तेन विनाशे [illegible] न [illegible] विशेषहेतुर्वाच्य [illegible] निर्धार्यं न [illegible] । [illegible] हेतुविशेषात् अस्ति विशेषहेतुरिति । मुद्गराद्यभिघाते

१ पर्यायेषु 'साम्यं'

विनाशे स स हेतुरिति निरूप्यते, अत्रोच्यते—दृष्टमज्ञापकम्—यस्मात् तस्य विनाशेऽप्यसत्त्वे तुल्यमेव सति[न]ग्रहणं तेषाम्, कस्मात्? यस्मात्तथाऽनुत्पत्तितोऽग्रहः, अभिघातादिसान्निध्यात् प्राक् तथोत्पत्तेर्ग्रहणम्, पश्चादग्रहणं तत्सान्निध्ये तथानुत्पत्तेः, कथं कृत्वा?—का भावना?—अत आह—यथार्थसंख्यनिर्देशादि पार्थिवरूपादयः—पृथिव्यां पञ्चवर्णपञ्चरसद्विगन्धाष्टस्पर्शाः शेषेष्वप्तेजोवायुषु हीनतरा इति या या संख्या यथार्थसंख्यं यथासम्भवमित्यर्थः, रूपादय एव घटाद्याकारेणोत्पद्यमाना घट इत्याख्यां लभन्ते समुदायविशेषात्, ते पुनः स्वयमेव विनश्यः स्वस्थैरेव विनाशकारणत्वात्, तथाऽम्भसामभिघातेन स्वस्थितिपरिणतानामन्येषां रूपादीनामुत्पादो निरुध्यते तस्मादभिघातप्रत्ययसान्निध्ये रूपादयो न पुनस्तथोत्पन्नाः, तस्मात् स्वस्थितिनिरोधात् तदानीमभिघातकाले घटत्वेन रूपाद्यग्रहणं तेनाभिघातेन न घटो विनाशितः, तथा पार्थिवा अपीन्धनानि, तेष्वपि रूपादिषु सैव भावना, अत्राग्निसम्बन्धसामर्थ्यमन्येषां तत्सन्ततिरूपादीनामुत्पत्तिस्थिति-विरोधकम्, न पूर्वेषां विनाशकम्, तथाऽग्नावपि, अग्निसंबंधः तत्सन्ततेर्भूयस्तथोत्पत्तिनिरोधे हेतुः, पश्यमानां विनाशः स्वयमेव भवति, अन्यासां स्वयमभावत्वात्, स्वयमुत्पादनासामर्थ्यात् सर्वविनाशः, एवमन्यासामप्यनुत्पन्नत्वात्, एवं स्वयमेव विनाशो भावानां, नान्येन केनचिद्विनाशितत्वादिति ।

अत्राह—

कथमिदमवगन्तव्यं दृश्यमानेऽभिघातादौ विनाशहेतौ स्वयमेव विनाश इति, एतद्

यदि स्वयमक्षयत्, तत्सविधाने घटादिरूपादिविनाशे स हेतुरिति भावः । ननु सर्वं विनाशानुपलम्भेऽपि मुद्गराभिघाते घटाग्रहणमुपपद्यते मुद्गराभिघातेन न रूपादीनामुत्पत्तेर्व्याघातकत्वम्, न तु सोऽभिघातो घटविनाशकः तत्स्थासो विनाशहेतुरिति समाधत्ते-दृष्टमज्ञापकमिति, ग्रहणाग्रहणे नाभिघातादेर्विनाशकत्वस्य ज्ञापके इत्यर्थः । सर्वं विनाशसद्भावेऽपि तथाः सम्भवमाह यस्मादिति । अग्रहणे कारणमाह—यस्मात्तथेति अभिघातादिसविधाने घटत्वेनानुत्पत्तेरग्रहणम् तदसविधाने तु तथोत्पत्तेर्ग्रहणम् इति भावः । ग्रहणाग्रहणे एव स्फुटयति—का भावनेति । यथार्थसंख्यनिर्देशा इति, पृथिवीत्वजातेर्यावन्तो व्यवस्थिताः सन्ति रूपादीनि परे तावन्तस्तावद्रूपादयस्तथा पृथिव्यादय इति भावः । पञ्चवर्णेति पञ्चवर्णपञ्चरसद्विगन्धाष्टस्पर्शाः । मधुराम्लादिभेदेन पञ्चविधो रसः पीतादिभेदेन पञ्चविधो वर्णः सुरभ्यसुरभिभेदेन द्विविधो गन्धः स्निग्धरूक्षादिभेदेनाष्टविधः स्पर्शः सर्वे एते पृथिव्यां सन्ति, जलादौ तु तदपेक्षया हीनाधिकभेदा इति भावः । एवं विनाशकस्याभिमताः समुदिता रूपादय एव घटादित्वेनोत्पन्ना घटादिव्यपदेशभाजो भवन्ति विनाशस्तु तेषां स्वयमेव स्वस्थैरेव विनाशहेतुत्वादिति भावः, एव विनाश इत्याह—रूपादय एवेति । अभिघातादीनां क्रममाह—तथेति विनाशहेतुत्वेन त्वयाभिमतानां मुद्गराभिघातादीनामसविधाने घटादिरूपेण रूपादीनामुत्पत्तिविनाशधारा प्रवर्तते यदा तु घटादिरूपोत्पत्त्यन्तरं रूपादिना मुद्गराभिघातस्य सविधानं भवति तदा घटादित्वेन न रूपादेरुत्पाद इति घटादित्वेन तेषामुत्पादविनाशप्रवाहे विरुद्धेऽप्यन्यदानीं घटादित्वेन रूपादीनामग्रहणम् न तु मुद्गराभिघातेन घटादिविनाशकरणमिति भावः । एवं पृथिव्यादित्वेनोत्पन्ना रूपादयोऽपि विनाशकारणत्वेनाभिमतसाग्निसंयोगादि सविधानात् पूर्वसन्तानस्य निरोधो भवति न तु तद्विनाश इत्याह—तथा पार्थिवा इति । एवं भस्मादिरूपेणोत्पन्नानामपि भावमित्याह—तथाऽग्नावपीति । विनाशः स्वयमेव भवतीत्यत्र निदर्शनमाहित्यन्यदपि भवति—स्वयमुत्पादनासामर्थ्यादिति, यथा समुत्पन्नं कपिशमं स्वस्मात् स्वोत्तरवर्तिविशेषाद् भवनात्। स्वयमविनाशित्वेऽपि स्वयमेव विनश्यति स्वोत्तरवर्तिविशेषस्य उत्पन्नमात्रस्य सर्वोऽपि क्षणिकः पृथिव्यादिरूपादिः स्वयमेव विनश्यति विनाशहेतोरभिमतस्य सन्तत्युत्पत्तिविरोधकत्वं एवेति भावः । निगमयति—एवमिति । अन्यथानुपपत्त्याऽभ्यासा विनाशहेतुत्वमभिघातादीनां प्रसक्तं यत्, तत्तु विशेषमभिघातादेः सन्तत्युत्पत्तिविरोधकत्वमेव विनाशस्तु स्वयमेवेत्याह—कथमिदमिति। अभिघातादौ विनाशहेतुत्वं दृश्यमानमपि विनाशः स्वयमेव भावानां न तु हेतुना केनचिदिति प्रमाणमन्तरेण मानाभावा-

धुनाऽनुमानेन प्रसाध्यते—स्वयं विनाशि घटादि, जातत्वात्, प्रदीपशिखावत्, आगमोऽपि 'जातिरेव हि भावाना विनाशे हेतुरिष्यते । यश्चात् विनाशस्वभावाश्च विनश्यत् कराचन ॥' ( ) तथा—'जुगुप्सितस्स मिलेहम्मि उप्पाद अत्थि कारणं । पडुणे कारणं णत्थि अणत्थु ··· ··· ॥ ( ) इति, तस्मात् प्रतिक्षणमुत्पत्तरेव विनाशित्वं सिद्धं रूपादीनाम् तत्रैवं रूपादीनामभूततथार्थत्वाद्देशाभेदभवनाभावसमुदायवत् कालाभेद भवनाभावादसत्त्वम्, यथा हि समुदायस्य दशाभेदस्य संवृतिसतः परमार्थतोऽसत्त्वं तथा रूपादेरपि रूपादिपरमार्थतया भवतोऽप्येकस्मिन् क्षणे न क्षणान्तरप्रतीक्षण कालतो भेदात् रसादिरूपकालाभेदादित्यर्थः, तस्योपरतकालाप्रतीक्षितस्यात्तदयदमित्यशक्यं वक्तुम्, ततोऽत्यन्तमन्यस्यात्प्रसादिवत् ।

(रूपमिति) कथमिदमवगम्यते दृश्यमानेऽभिप्रायो विनाशहेतुः स्वयमेव विनश्यति पदार्थो न तु तेन हेतुना विनाशिता इति, कोऽयमनेन मन्यास्या स्वयं विनाश इति, एतदधुनाऽनुमानेन प्रसाध्यते—स्वयं विनाशि घटादि जातत्वात् प्रदीपशिखावत्, एतदनुमानसाक्षीभूतोऽयमागमस्तदर्थसंवादी-यथा 'जातिरेव हि' इत्यादि, तथा—'जुगुप्सितस्स मिलेहम्मि उप्पादे अत्थि कारणं । पडुणे कारणं नत्थि अणत्थुके कारणात्' ( ) इति तस्मात् प्रतिक्षणमुत्पत्तेरेव विनाशित्वं सिद्धं रूपादीनाम्, तदा किं ? तत्रैवं प्रतिक्षणनश्वरतायां सत्यां रूपादीनाममूततथार्थत्वम्, अभूततथार्थत्वात् समुदायवदसत्त्वमर्थस्य रूपादेः तेन प्रकारेण-देशाभेदभवनात्मनाऽभावः-तदभूततथार्थत्वं प्रतिक्षणनश्वरताया उपपत्तेः, तथा चाभूतार्थत्वात्तदसत्त्वम्, किमिव ? समुदायवत्, तद्व्याख्या-यथा हि समुदायस्येत्यादि, रूपादित्वेन सन्तो रूपादयो देशाभेदेन भवादिसमुदायात्मना न सन्ति, तथाभूतदेशाभेदभवनाभावात् समुदायस्य संवृतिसतः परमार्थतोऽसत्त्वात् तथा रूपादेरपि रूपादिपरमार्थतया भवतोऽप्येकस्मिन् क्षणे रूपादिपरमार्थोऽ-

टिप्पणी—रूपमिति । प्रतिक्षणं विनाशाः प्रतिपत्तव्यास्तथा विनाशो विनाशहेतुव्यापारवैफल्येन स्वयमेव भवति [illegible] पदार्थेषु तथा रूपादीनामुत्पन्नस्य स्वयमेव विनाशित्वमनुमानेन प्रसाध्यते इत्याह—एतदधुनेति । जातत्वं [illegible] विनाशित्वं [illegible] इति [illegible] प्रमाणयति—जातिरेव हीति [illegible] । [illegible] जुगुप्सितस्स इति । एवं प्रतिक्षणमुत्पत्तेर्विनाशित्वं रूपादीनामपीति देशतोऽभेदरूपेण भवनाभावात् समुदायस्य [illegible] रूपादीनाम्—तत्रैवमिति अभूततथार्थत्वं—तथा देशतोऽभेदभवनाभावाभूततथार्थो रूपादिरित्यर्थः । [illegible] प्रतिक्षणेति [illegible] समुदायस्य [illegible] । यथा समुदायो देशतोऽभेद-[illegible] तथा रूपादिरपीति [illegible]—समुदायवदिति । [illegible]—रूपादित्वेनेति [illegible] भवतोऽपि देशाभेदात्मना न भवन्ति देशाभेद [illegible] न तु परमार्थतः । एवं [illegible] रूपादयस्तु परमार्थतया एव [illegible] भावात्, ते च न द्वितीयादिक्षण [illegible] विनाशित्वात्, द्वितीयादिक्षणेषु [illegible] एव रूपाद [illegible] न रूपादीनामपि देशाभेदेन [illegible] कालाभेदेन भवनाभावाद् सन्ति रूपादय इति भावः । एवं रूपादित्वेन सन्तोऽपि रूपादयो कालाभेदभवनात्मनाऽसन्तः [illegible] प्रतिक्षणं रूपादेरन्यान्यत्वेन द्वितीयादिक्षणान्तरानपेक्षणात् ततोऽपि रूपमिति [illegible]—तथा-

१ [illegible] । २ [illegible] । ३ [illegible] ।

त्येव, स तु क्षणान्तरे न प्रतीयते, कालतो भेदात् पूर्वक्षणरूपादुत्तरक्षणरूपमन्यदेव, एवं रसादयोऽपि, अतः कालभेदमननाभावात् देशाभेदमननाभावसमुदायवच्च सन्ति, तस्य स्फुटीकरणार्थमाह-रसादिरूपकालभेदादित्यर्थं इति, तस्मोत्तरक्षणप्रतीयमानत्वादरूपमित्यभव्य एकं रूपम्, ततोऽत्यन्तमन्यत्वात्, रसादिवत्।

तस्मान्यत्वसमर्थनेन समर्थयितुमाह—

कृत्वा कल्पनया इत्थं स्याद्यदि स्यात् तद्यथारूपं तथारूपं तद्रूपं स्यात् द्वितीयक्षणादिषु न कदाचित्, इदन्तु तदभावपरम्परापतितमसदेव समुदायवत्, यथा समुदायः स्वरूपेणासन्नेव रूपादीनामेव रूपमपि, पृथक्स्थानवस्थितार्थत्वात्, अतो रूपं, रूपस्वरूपासत्त्वं एवं नियमो नियमितोऽसत्त्वेन विशेषो रूपादिः।

कृत्वा कल्पनया इत्थं स्याद्यदि स्यादिति, तद्यथा-यदि तद् यथारूप-रूप-रूप—रसादिव्यतिरिक्तं रूपात्मकमेव रूपं तत्त्वे[न]तेनैवात्मना रूपेण तथारूपं तद्रूपं यदि स्यात् द्वितीयक्षणादिषु [न] कदाचित्—न कदाचिदपि भवतीत्यर्थः, यदि स्यात्तदवस्थमिति कृत्वा रूपमुच्यते, न तु भवति प्रतिक्षणनश्वरत्वात्, किं तर्हि? इदन्तु तदभावपरम्परापतितं-यद्रूपं भवति तदस्मिन्नेव क्षणे न भवति पुनरपि क्षणान्तरे भवत्येव न भवति पुनरपि न भवतीत्येवमभावपरम्परयाऽऽपतितत्वादसदेव, समुदायवत्, तदुक्तस्फुटीकरणार्थमुपसंहारं साधनमाह-यथा समुदायः स्वरूपेणासन्नेव रूपादीनामिति दृष्टान्तः, एवं रूपमपीति साध्यनिर्देशः, असन्नेवेति वर्तनात् पृथक्स्थानवस्थितार्थत्वादिति हेतुः, प्रतिक्षणप्रवृत्तित्वात् पृथक्स्थानवस्थितार्थत्वम्, अतो रूप[म्,]रूपस्वरूपासत्त्वेन नियमो नियमितोऽसत्त्वेन विशेषो रूपादिः।

अथ किं विशेषस्यासत्त्वेन नियमः? एव किमभाव एव? नत्युच्यते—

अभावार्थस्तु नियमः यत्तत् प्रतिक्षणभवनं तस्य तत्तु क्षणे क्षणे वृत्तमत्यन्ताभावविपरीतवृत्ति सत् कथमनर्थतायां स्यात्? किन्तु नास्ति तत्, अत्यन्ताभावत्वात्, खपुष्पवदिति स्यादतः प्रतिक्षणं न भवति न भवतीति विशेषाभ्युपगमात् सोऽभावः समर्थ्यः।

रूपादेरर्थापत्ति। ततोऽत्यन्तमिति प्रथमक्षणोत्पन्नं रूपादि द्वितीयादिक्षणेष्वत्यन्तादत्यन्तं भिन्नं रसादिवदिति भावः। अन्यत्वमेव तावत्प्रतीतानुमानेन समर्थयति-कृत्वा कल्पनयेति। प्रतिक्षणभावित्वं रूपात्मकमर्थमिति कृत्वा द्वितीयादिक्षणादिषु एवं यदि तद्रूपमेव-प्रथमक्षणभाविरूपमेव स्यात्तत्वेन स्यात्-तथैवेत्यिति वस्तु सत्त्वं स्यात्, न तु कदाचित्तथा भवति तस्यान्यत्वात् रूपादि रसादिवदित्यर्थमाह-यदि तद्यथा रूपमिति। यथास्वं यदि तद्रूपं स्यात्तदेवं स्यादिति दर्शयति-यदि स्यादिति। द्वितीयक्षणभाविरूपं प्रथमक्षणभावितं यदि स्यात्तत्स्वरूपमप्रत्यात्मत्वात् तदेवं तद्रूपमेवेति कृत्वा रूपमित्युच्यते न तु तथा तद्रूपं भवति प्रतिक्षणविनाशित्वादिति भावः। प्रतिक्षणविनाशित्वादेव च रूपस्य क्षणभावाभावी भवति प्रथमक्षणे भवत् एवाभवनात् एवं द्वितीयादिक्षणेष्वपि एवमेवमित्येव भव रूपादेरभावमापत्तत्त्वं समुदायवत् रूपादीनां समुदायो हि स्वरूपेणासन्नेव तथा-रूपादिरपीत्याह-इदन्त्विति। रूपादिरप्यसन्नेव पृथक्स्थानवस्थितार्थत्वात् समुदायवदित्यनुमानमाह यथा समुदाय-इति। रूपादिरभावत्व पृथक् तत्त्वत्वाभ्युपगमोऽर्थं रूपादौ प्रतिक्षणमभावस्य भवनात् स हि न भवति न भवति प्रतिक्षणमित्याह-प्रतिक्षणवृत्तित्वादिति। एवं सर्व सत्त्वरूपेणार्थेति नियमो-विशेष-रूपादि असत्त्वेन नियमित इत्याह-अत इति। ननु रूपादेरभावत्वेन नियमः न नियमार्थ एवेत्याह अभावार्थस्त्विति। रूपादिर्हि खपुष्पादिवदत्यन्ताभावरूपः किन्तु तर्हि

१ सि. क. छा. कालभेदात्। २ डि. छा पुरतिक्षणभावलानेन्तु ।

(अभावार्थोऽस्त्विति) अभावार्थस्तु-अभावश्चासावर्थश्च, भावमेवार्थः, कथं ? यथा प्रतिक्षण-मभवन् तत्र रूपादिवस्तुनः यस्तु भवनमपि क्षणे क्षणे इत्यपुष्पवदत्यन्ताभावविपरीतवृत्ति सत् कथ-मनर्थतायां-अवस्तुतायां स्यात् ? किं पुनः स्यात् ? इत्थं स्यात् नास्ति-न तत्क्षणे क्षणेन भवेत् अत्यन्ता-भावत्वात्, खपुष्पवत्, अनिष्टमेतत्-प्रतिक्षणं न भवति न भवतीति विशेषाभ्युपगमादित्यतः सोऽभावः सन्नर्थो-वस्तु चेत्यर्थः, खपुष्पवदत्यन्ताभावविपरीतवृत्तित्वात् ।

ननु च भवनव्यपदेशः सत्त्वे घटते, अन्यथा हि कुतोऽस्यात्यन्तमेवास्य भवतीति भवनेनोपाख्या ? अभावो वाऽर्थोऽस्त्येतस्य शब्दनिर्देशस्योऽन्योऽन्योऽर्थः सप्तसता सम्बध्यते, अभा-वस्याश्रयभूतत्वात्, भाव एव ह्याश्रयो भवितुमर्हति, एकक्षणविज्ञानवद्रूपादिसद्वस्तुवत्वादस्य, इतरथा निराश्रयौ प्रागभावप्रध्वंसाभावौ न स्याताम्, इष्टौ च तौ न हि भावमनाश्रित्य भवितुमुत्सहेते, असद्विशेषत्वात्, स चाश्रयोऽर्थः पूर्वमसद्रूपः पश्चाच्च स्थितिमुपयमानत्वात् तदुपपन्नत्वात्, अर्थ इति नामावमन्तरेणोत्सहते, अभाव इति चार्थम् ।

ननु च इत्यादि, तत्र भवनाभावस्य दर्शयति, प्रतिक्षणमत्यन्तवि[ना]शव[त्वा]दि[ष] रूपं रूपमेव रूपमेवैक भवति तथेहापि तद्रूपमेव रूपमेवेत्यादि भवतीति भवनव्यपदेशः सत्त्वे घटते, अन्यथा हि कुतोऽस्यात्यन्तमेवास्य-अत्यन्ताग्रपरावृत्तस्य भवतीति भवनेन व्यपदेशात्यन्तस्योपाख्या ? इत्थं एव न पुष्प-भाव इत्युपाख्या, अभावो वाऽर्थोऽस्येति बहुव्रीहिसमासो वा, अभावोऽर्थोऽस्येत्यस्य शब्दनिर्देशस्योऽन्योऽर्थः

पदीन मद्[illegible] तत्र प्रतिक्षणमभवत्कत्वोऽपि भवतस्तत्त्वमप्येव भवत् हि न भवति प्रतिक्षणम् तत्स्वभावः तथापि भावोऽपि यदि सोऽर्थो न स्यात् [illegible] स्यात्, प्रतिक्षणम न भवतीति न स्यात्, [illegible] [illegible] [illegible] मभावश्चासाविति । [illegible] च [illegible]-[illegible] [illegible] भाव । [illegible] [illegible] [illegible]-खपुष्पवदिति । [illegible] कि [illegible] किं पुनः स्यादिति [illegible] [illegible] [illegible] न स्यात् [illegible] खपुष्पवदिति [illegible] भाव । न भवति न भवतीति [illegible] [illegible]-प्रतिक्षणमिति न भवति न भवतीति प्रतिक्षणमभावस्य [illegible] [illegible] [illegible] न घटते न हि [illegible] प्रतिक्षणं न भवति न भवतीत्युच्यते [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] ननु च इति । प्रतिक्षणं [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] भवति [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] भवति [illegible] भवनव्यपदेशम् तत्र न [illegible] [illegible] [illegible] प्रतिक्षणमिति । [illegible] [illegible] न [illegible] प्रतिक्षणं [illegible] भवति भवतीति [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] हि प्रतिक्षणं न [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] अन्यथा हीति, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] भाव [illegible] [illegible] न [illegible] भाव । अभावो वाऽर्थोऽस्त्येतीति [illegible]-भावे-[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] बहुव्रीहि[illegible] [illegible] भावाः [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] भाव [illegible] भाव । [illegible] अस्य शब्दनिर्देशस्य इति । [illegible] बहुव्रीहि[illegible]

1 सि [illegible] [illegible] [illegible] ।

समस्तता सम्बध्यते, बहिरर्थत्वाद्बुद्धीतेः, कस्मात्? अभावस्याश्रयभूतत्वात्, भाव एव हि आश्रयो भवितुमर्हति, एकक्षणविज्ञानपरूपादिसदसद्विचारस्य, इतरथा निराश्रयौ प्रागभावप्रध्वंसाभावौ न स्याताम्, इष्टौ च तौ, न हि भावमनाश्रित्य प्रागभावप्रध्वंसाभावौ भवितुमुत्सहेते, असद्विशेषत्वाच्चत्वाभाव वैलक्षण्यात् स चाश्रयोऽर्थ एतयोः, पूर्वमसद्रूपमुत्पत्त्यवस्थायां सत्, पश्चाच्च[भ] सवितुर्भ्यमानत्वात्, तदुपसर्जनत्वात्, अर्थ इति नाभावमन्तरेणोत्सहते, अभाव इति भावोपपदत्वप्रयोगात्, प्रतिषेधवाचित्वात् सिद्धार्थ एव नासिद्धार्थविषयः ।

ननु रूपादिभावोऽर्थः क्षणिकतायां सत्यामपि नाभावमन्तरेण नोत्सहते भवितुम्? न चाभावो नञुपपदत्वात्, अब्राह्मणवत् भावाद्रूपादेरन्यस्याभाव इति निर्देशो युक्तः। नन्वेवं क्षणिकत्वादसत्त्वे कथमुत्पन्ने पुत्रादौ घटादौ वाऽर्थे भूतमित्याश्वासः, तदभूतप्रध्वस्तेषु चानाश्वासः? अविषयत्वात्, नन्वविषय एवायं व्यवहारः, क्षणिकस्यासम्भवात्, उक्तवत्। एवमेव च वैराग्यभावना घटते, तदर्थश्चायमारम्भ इति गुणोपचयः।

(नन्विति) ननु रूपादिभावोऽर्थः क्षणिकतायां सत्यामपि—रूपादिरर्थो भावो नाभावमन्तरेण नोत्सहते—उत्सहत एव भवितुम् न चाभावो [भावमन्तरेण] भवितुमुत्सहते, नञुपपदत्वादब्राह्मणवत्—यथा ब्राह्मणादन्यस्याभावस्य इति निर्देशः तथा रूपादेर्भावादन्यस्याभाव इति निर्देशो युक्तः सत्यमेव क्षणिकतायां न भवतीत्यभावाभिधो भाव एव भवतीति भावाद्रूपादेरित्युक्त एवार्थस्तमाह—नन्वेवमित्यादि, क्षणिकत्वादसत्त्वे कथमुत्पन्ने पुत्रादौ घटादौ वाऽर्थे भूतमित्याश्वासः—अनेन मया कार्यं कार्यम्? तदभूत-

---

बहिरर्थत्वादिति समासप्रकारान्तरसिद्धस्यार्थस्योपन्यासः । योऽन्यस्यार्थो भाव इति व्यभिचाराह अभावस्येति । यथा रूपादिसदसद्विचारस्य [illegible] भवितुं भावरूपं विज्ञानमात्रस्य इत्याह—एकक्षणेति । तथाऽन्यो भावे न स्यातां तुच्छत्वादभाव एव न स्यादित्याह—इतरथेति । भावमनाश्रित्य प्रागभावप्रध्वंसाभावावुत्पत्तिविनाशरूपौ न स्याताम्, इष्टौ च ताविति भावः । कथं तदाश्रयत्वे तौ न स्यातामित्यत्राह—असद्विशेषत्वादिति अभावयोरेकस्य असत्त्वाभावात्, विशेषत्वात् विशेषणत्वादित्यर्थः । विशेष्यमेवाह स चेति । एतयोरुभयभूतोऽर्थ एवेत्यर्थः । तथाश्रयत्वं पश्चात् प्रागभावरूपं प्रागुत्पत्तेरसद्रूपत्वाभ्युपगमात्, पश्चाच्च असदित्युच्यमानत्वात्, असदिति शब्दे सतो विशेषणत्वात्, सद्रूपेणोपलक्षणात् पूर्वमसद्रूपमिति । उत्पत्तेः पूर्वमित्यर्थः । एवं प्रागसद्रूपेण पश्चात् सद्रूपेण पुनरसद्रूपेणार्थो भवतीति भावः । अर्थोऽपि नाभावमन्तरेण भवतीत्याह अर्थ इतीति । एवमभावस्योऽर्थो भावोऽस्तीति अभावोऽपि इति भावः । योऽन्यभावो भावप्रतिषेधोऽभावादुर्वोऽभिधानबोधक इति सिद्धार्थविषय एव नासिद्धार्थविषय इत्याह—अभाव इतीति । न भावोऽभाव इति भावोपपदं नञ्पूर्वं विषमेवार्थं बोधयति तत्रैव भावप्रतिषेधात्, भविष्यदुत्पन्न-सत्त्वाविषयत्व इति भावः, न त्वसिद्धार्थं बोधयतीति भावः । अथ भावोऽभावमन्तरेण भवितुमुत्सहते अभावस्तु न भावमन्तरेण भवितुमुत्सहते इत्याह—ननु रूपादिभाव इति । व्याचष्टे—रूपादिरर्थ इति क्षणिकतायां तत् तथाभावित्वुत्पन्नतादित्युत्पत्तौ किं भावोऽभावमन्तरेण भवितुं न नोत्सहते? किन्तूत्सहत एवेति भावः । अभावस्तु च भावमन्तरेण भवितुमुत्सहते भावोपपद-नञ्प्रयोगात् प्रतिषेधार्थविषयत्वापेक्षात्—न चाभाव इति । निदर्शनमाह अब्राह्मणवदिति ब्राह्मणभिन्नः क्षत्रियादिर्यथाऽब्राह्मणोपपदत्वस्य बोध्यते तथाऽभाव इति भावाद्रूपादेरन्याभ भावोपपदस्य बोध्यः तस्मादभावाभिधो

1 सि. क्ष. भावामुचितो ।

प्रत्ययेषु चाभासाभासः एवं कार्यभिन्नेष व्यवहारो नोपपद्येत, अविषयत्वात्, सविषयत्वे वाऽस्य व्यवहारस्य पुत्रादेरभिन्नत्वे पुत्र आभासः कालान्तरभिन्नत्वेऽनाभासमेवतत्रोच्यते—नन्वविषय एवायं व्यवहारो वस्तुनि क्षणिकेऽत्यासम्भवात्तुल्यत्वात्—यथा तथाभूतदेशाभेदभवनाभावात् रूपादिसमुदायाभावः तथा तथाभूतक्षणभेदभवनाभावात्तदभावात्तदभावपरम्परापत्तिरेव रूपाद्यपीति तदभावेन रूपाद्यसत्त्वे कुतोऽवकाशः आभासानाभासव्यवहारस्य? एवमेव च वैराग्यभावना—शरीरक्षणभङ्गभाविनैर्मल्यात् कस्यचिदनाभासात् संसारोद्वेगनिर्वाणाभिमुखत्वेन घटते, तदर्थमारम्भ इति गुणोपपत्तिः क्षणिकभावे ।

एष व्यवहारविषयस्त्वयुक्त एव भवति, यस्मात्—

स हि युज्यते संवृत्या सन्तानविषयत्वात् उत्पादो विनाशश्च किं सूक्ष्मः महान् वा? महोत्पादः सूक्ष्मोत्पाद इत्येवम् महत्ता सन्ताने उत्पादविनाशयोः, सूक्ष्मता क्षणयोः बुद्बुदतृष्णयोरिव न तर्हि सूक्ष्मौ स्त एव, अकारणत्वात् खपुष्पवत्, सन्तानगतावेव स्तः सकारणत्वात् घटकपालघटस्येव न घटस्येव विनाश इति अत्रोच्यते परस्परकारणत्वात्, आदेर्विनाशस्य कारणं आदेर्विनाशः तयोर्युगपद्भावात्, 'नाशोत्पादौ समं यद्वन्नामोन्नामौ तुलान्तयोः'।

(सेति) स युज्यते संवृत्या व्यवहारस्तु सन्तानविषयत्वात्, तद्विषयविभागेनापि उत्पादविनाशौ विकल्पयति—सूक्ष्मोऽणुमेयः महतोत्पादेन विनाशेन[चोत्पादः]विनाश इति द्वयोः प्रत्येकं द्वैविध्यात्तद्वैविध्यम् तद्दर्शयति—महोत्पादः सूक्ष्मोत्पाद इति, भङ्गोऽप्येवमित्यतिदेशेन च, तद्विवेकप्रदर्शनम्—महत्ता सन्ताने उत्पादविनाशयोः सूक्ष्मता क्षणयोः—तयोर्महोत्पादमहाभङ्गयोः प्रत्यक्षदर्शनात् बुद्बुदतृष्णयोरिव तत्र सन्तानस्य पुत्रघटादेर्महत्युत्पादे महत्त्वाभासः, विनाशेऽनाभासः इतरयोः सूक्ष्मोत्पादभङ्गयो-

मात्र एव भवतीति भावः । यदि क्षणिकत्वस्य कालान्तरस्थायित्वस्य तर्हि आभासानाभासौ, क्षणिके तौ युज्येते इत्याशङ्क्य क्षणिकत्वादिति । आभासानाभासौ क्षणिकत्वे एव भवतः सर्वधर्मोत्पादनाशा पुत्रादौ स्कन्धधर्मोत्पादनाशा तत्रैव तौ स्याताम्, न तु निर्विकल्पस्य क्षणिकस्य उत्पादे—नन्वविषय इति क्षणिके वस्तुनि तयोर्व्यवहारो नैव क्षणिकत्वात्, उक्तं हि पूर्वं देशाभेदभवनाभावात् समुदायाभावः क्षणभेदभवनाभावात्तद्वत् न भवतीति क्षणिकस्य रूपादेरभावपरम्परापत्तिरूपत्वेन कुतो व्यवहारावकाश इति भावः । वस्तुतोऽयं व्यवहाराविषयत्वादेव क्षणिकत्वविभावनाभावात् सर्वत्र वैराग्यभावना संसारोद्वेगनिर्वाणाभिमुखत्वेन प्रवर्तते एवमभिप्रायानुसारेणैवं विषयारम्भोऽस्माकमिति क्षणिकवादेऽपि युज्यतेऽस्य व्यवहारस्य एवमेव चेति । एवं व्यवहारस्य विषयः कोऽपि नास्तीति न प्रतिपत्तव्यम्, सन्तानविषयोऽसौ सन्तानस्य सांवृतिकत्वात्स हि युज्यत इति । एव सन्तानस्य विषयता ? तत्सन्तानस्य क्षणिकत्वात्तद्विषयविभागेनापार्थमिति । सूक्ष्ममहत्त्वेनोत्पादविनाशौ द्विभेदौ तत्र महतोत्पादेन सूक्ष्म उत्पादः महता विनाशेन च सूक्ष्मो विनाशोऽनुमेयः एवं महोत्पादः सूक्ष्मोत्पादो महाविनाशः सूक्ष्मविनाश इति चातुर्विध्यमित्युत्पादविनाशयोः सूक्ष्ममहत्त्वाभ्यां विवेकम् । एतदेव दर्शयति—महोत्पाद इति । उत्पादविनाशयोः च महत्त्वसम्बन्धात्—महत्त्वेति । प्रत्यक्षविषयसन्ताने उत्पादविनाशयोर्महत्त्वम्, सूक्ष्मत्वं सूक्ष्मोत्पादविनाशयोः क्षणिकत्वेन महदुत्पादविनाशयोरप्रत्यक्षत्वात् सूक्ष्मोत्पादविनाशावनुमीयेते यथा बुद्बुदतृष्णयोः प्रति-दर्शनात् सूक्ष्मयोरनुमानमिति भावः । सन्ताने आभासानाभासौ दर्शयति—तत्रेति । पुत्रादेरुत्पत्तिकालान्तरस्थितिसमये उत्पादे महत्त्वे विनाशेऽनुभूतिरेव विनाशाभावेन महाविनाशे कार्यमिथ्यात्वमिति व्यवहार उपपद्यते इति भावः । तथाप्युत्पादविनाशाभ्यां भ्रान्तिविभ्रान्ती यथाऽनुमीयेते तथा महोत्पादविनाशाभ्यां सूक्ष्मोत्पादविनाशावनुमीयेते इत्याह इतरयोरिति । ननु

१ क ख डे । २ सि क ख डे महोत्पादः ।

दृष्ट्वासमिः भासानुमितभ्रान्तिविभ्रमात्स्योरिवानुमेयता, इतर आह—न तर्हि सूक्ष्मौ स्व एवाकारणत्वात् खपुष्पवदुत्पादविनाशाविति, सन्तानगतावेव यौ तौ नाशोत्पादौ स्तः सकारणत्वात् भग्नघटस्येवोत्पादः आहतघटस्येव विनाश इत्यत्रोच्यते सूक्ष्मोत्पादभङ्गयोरकारणत्वमसिद्धम्, परस्परकारणत्वात्, यदिदृष्टोत्पत्ति—जातिर्विनाशस्य कारणं जातेर्विनाशः, तयोर्युगपद्भावात्, किमिवेत्यत आह—यतः 'नाशोत्पादौ सम यद्वन्नामो-न्नामौ तुलान्तयोः ।' (　　) यथा तुलाया एकोऽन्यो नमत्युन्नमत्यपर एकस्मिन्नेव क्षणे तथोत्पत्ति-रूपान्तरविनाशाविति ।

एवमेव च सन्तानसिद्धिः, युगपदुत्पादविनाशौ रूपैनैरन्तर्यात्, अन्यथाऽनवस्थानेन क्रियाकर्तुरभावात् का क्रिया ? उक्तञ्च—'क्षणिकाः सर्वसंस्काराः अस्थितानां कुतः क्रिया । भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते, ॥' (　　) इति, अथ वा नायमर्थो युक्तिसाध्यः प्रत्यक्षत्वात्, अन्यदेव हि रूपादि उत्पद्यमानं दृश्यते, सदृशीयोदकं, मन्दबुद्धेस्तु सन्ताने स्रोतसि तदेवेति मिथ्याप्रत्यय उपजायते ।

(एवमेव चेति) एवमेव च सन्तानसिद्धियुगपदुत्पादविनाशैः रूपनैरन्तर्यात्—सन्ततमनवरतं भावात्, अन्यथा—उक्तन्यायादन्यथा न कारणं सर्वथा विनाशोत्पादयोरवस्थानेन क्रियाकर्तुः—भवितुरभावात्, एतदर्थसंवादिविज्ञापनमाह—'क्षणिकाः सर्वसंस्काराः' इति श्लोकं उत्पत्तेः सकारणत्वात् क्षणजन्मानः संस्काराः क्षणमात्रस्थायिनो द्वितीयक्षणमस्थितानां कुतः क्रिया तेषाम् ? का तर्हि क्रिया लोके परिगृहीता क्रियते घट इति ? किं कारकं करोति कुम्भं कुम्भकारः ? इत्यादि, अत्रोच्यते—भूतिर्येषां—जन्मैव क्रिया सैव च कारकं आत्मानमात्मनैव निर्वर्तयतीति जन्मैव विनाशकारणमित्युक्तम्, अथ वा नायमर्थो युक्तिसाध्यः प्रत्यक्ष

महोत्पादविनाशयोः महेतुकत्वात्सम्भवेऽपि सूक्ष्मोत्पादविनाशयोः क्षणमात्रभाविनो निर्हेतुकत्वात्सम्भव एवेत्यत्राह—न तर्हीति । सूक्ष्मोत्पादविनाशयोरकारणत्वमसिद्धम्, उत्पादं प्रति विनाशस्य विनाशं प्रति चोत्पादस्य कारणत्वोपपत्तेरित्याह—सूक्ष्मोत्पादेति । तथापि सूक्ष्मोत्पादविनाशौ पूर्वान्तरमध्यमक्षणमनुपपन्नौ मतौ न तु पूर्वोत्तरभावेन युगपदपि भवतोऽत एव कार्यकारणभावो-मन्योन्यमविरुद्धमिति भावः । तदेव दर्शयति—नाशोत्पादावित्यादि । ननु नमनोन्नमने नैकस्य युगपत् किन्तु भिन्नयोरन्तयोः उत्पादविनाशौ लोकस्य, तत्कथं युगपदित्यत्राह—तद्वदुपादानवीति । तथा च नैकस्य युगपदुत्पादविनाशावपि तु विनाश एकस्य अपरस्य उत्पादोत्पाद इति भावः । कार्यकारणभावेनैकस्य विनाशेऽपरस्योत्पादः प्रतिक्षणं भावीति सन्तानसिद्धिः पूर्वक्षणविनाशकाले उत्तरक्षणोत्पादो भवत्यत एव वस्तुनो क्षणिकत्वम् इत्यादि यथासम्भवं भवति । भावार्थ—एव-मिति । विनाशोत्पादयोरकारणत्वे सर्वथाऽनवस्थानात्पूर्वविनाशकालविनाशकर्तुः—तयोरुभयोरभावः इत्याह—अन्यथेति परस्परकारणत्वात् सन्ततभावात् उत्पादविनाशयोरिति युक्तमवगन्तव्यम् । अत्र प्रमाणभूतां कारिकामाह—क्षणिका इति । उत्पत्तिविनाशयोः सकारणत्वात् सर्वे संस्काराः क्षणजन्मत्वात् क्षणमात्रस्थायिनः न तु कदापि द्वितीयक्षणेऽवस्थिताः इति न तेषां क्रिया सम्भवति इति कारिकार्थभावार्थं इत्याह—उत्पत्तेरिति । ननु क्रियाया अभावे घटो घटः क्रियत इति क्रियामाश्रित्य करोति घटं कुम्भकार इति क्रियानिर्देशः कथमित्यत आह का वा क्रिया ? किं वा तत्र कारकमिति चेदत्राह भूतिर्येषामिति, तेषां पदार्थानां भवनमेव क्रिया तदेव च क्रियायाः कारकं कर्म च भवति आत्मनैवात्मानं निर्वर्तयतीत्यर्थः क्रियाकर्त्रादिव्यवहार इति भावः । ननु भिन्नतानुमानप्रवृत्तेः क्षणं क्षणं दृश्यमानस्य

---

१ *कारकं कर्म चोच्यते इत्यपि क्वचित्पाठः निर्दिष्टः ।

स्यात्, अन्यथैव हि रूपाद्युत्पद्यमानं दृश्यते प्रमाणत एव, तद्यथा-बहुतीनोदके, यथा स्रोतसि नद्यादीनां बहुदकमन्यदन्यदेवागच्छति, गच्छतु गच्छत्येव, अथ च मन्दबुद्धेः भ्रान्तस्य सन्ताने-अनभरवे स्रोतसि तदेवेति मिथ्याप्रत्यय उपजायते तथा सर्वरूपादिषु।

अत्राह—

अथ सन्तानवत् सूक्ष्मोत्पादविनाशयोरप्यन्तरे वस्तु दृश्येत, सन्तानमपि वा न दृश्येत सूक्ष्मोत्पादविनाशवत्, अत्रोच्यते न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम, चक्रं हि बुद्धिमान्द्यादुदकस्रोतोवदवस्थानदर्शनमसतः सन्तानस्य, प्रत्यक्षं दृश्यमानत्वादथ वा न चोद्यम्, प्रत्यक्षस्य प्रमाणान्तरेणाबाध्यत्वात्, तथा हि 'यद्येकस्मिन् क्षणे जातं ॥' ( ) इति, तस्मात् स्थितमेतत्क्षणिकं रूपादि बाह्यं वस्त्विति।

अथ सन्तानवदित्यादि,—यथा सन्तानोऽवस्थितो दृश्यते स्रोत्पादविनाशयोरन्तरे तथा सूक्ष्मोत्पादविनाशयोरप्यन्तरे वस्तु-रूपादि दृश्येत सूक्ष्मोत्पादविनाशौ सान्तरेऽनुपलभ्यमानत्वपरिच्छेदहेतुभूते स्याताम् उत्पादविनाशत्वात्, सन्तानोत्पादविनाशवत्, सन्तानगतौ वोत्पादविनाशौ सान्तरानुपलभ्य[मान]त्वपरिच्छेदहेतुभूते स्याताम् उत्पादविनाशत्वात् सूक्ष्मोत्पादविनाशवत्, अत्रोच्यते, न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम चक्रं हि बुद्धिमान्द्यादुदकस्रोतोऽवस्थानदर्शनमसतः सन्तानस्य प्रत्यक्षं दृश्यमानत्वादेव वा न चोद्यम्, न हि प्रमाणमेतत् प्रत्यक्षमविसंवादोपपन्नमिति प्रत्यक्षविरुद्धं प्रतिपत्तुं योग्यम् प्रत्यक्षस्य प्रमाणान्तरेणाबाध्यत्वात् तथा हि स्वैववार्षस्य संज्ञानुपपत्त्यन्तरस्याविज्ञापकत्वाद्-'यद्येकस्मिन् क्षणे जातं' ( ) मिति श्लोकः अनुत्पत्तिरेव विनाशकारणं न स्यात् द्वितीयक्षणस्यावस्थानवत्, सदाऽवस्थानमेव स्यात् विनाशहेतोरभावादिति मुख्यम् न चैतदेव भवति, तस्माज्जन्मैव विनाशहेतुरात्मनः तद्विनाश एव चोत्पत्तेरप्यभिकरणमिति स्थितमेतत्क्षणिकं रूपादि बाह्यं वस्त्विति।

[illegible]

),

एताभ्यामेव महोत्पादभङ्गाभ्यां सन्तानजाभ्यां क्षणिकौ सूक्ष्मोत्पादभङ्गावनुमेयौ, तद्यथा—अन्ते क्षयदर्शनादादौ क्षयोऽनुमीयते, प्रदीपशिखावत्, तथा घटादिरपि, तथा बुद्धिरपि क्षणिकेति; अयञ्च नयः प्रतिक्षणमन्यो भवत्येव न भवतीत्यभ्युपगच्छति, अतो नियमोऽयं वाञ्छति, भावनिक्षेपविकल्पमनागमतो भावमुपयोगसम्भूतं भावं रूपादि प्रतिपद्यते, उपयोगैव भूतस्य नयस्यैकदेशत्वात्, पर्यायमूलनयभेदश्चायं, परि समन्तादयते इति पर्यायाक्षरार्थत्वात्, स एवार्थोऽस्यास्तीति पर्यायार्थिकः, इन्द्रोऽग्नि ब्रह्मेन्द्रः, पुरन्दरादित्यस्य स्वनयप्रकाश एष क्षणिकत्वात्, तन्नाम्नस्यैव तत्प्रवृत्तत्वादिति ।

(एताभ्यामेवेति) एताभ्यामेव महोत्पादभङ्गाभ्यां सन्तानजाभ्यां क्षणिकौ सूक्ष्मोत्पादभङ्गा वनुमेयौ, तद्यथा-अन्ते क्षयदर्शनादादौ क्षयोऽनुमीयते प्रदीपशिखावत्, यथा प्रदीपशिखोत्पत्तिक्षणप्रभृत्यारभ्य क्षीयमाणान्ते निर्वाणेऽपि सर्वथा क्षीयते, सा च क्षणान्तरावस्थाने सति न क्षीयेत कदाचिदित्युक्तम्, क्षीयते तु सर्वा, तस्मादादित आरभ्योपरतेरनुमीयते, प्रत्यक्षैव वा, तथा घटादिरपि अन्ततः प्रभृति क्षीयतेऽन्ते क्षयदर्शनादिति, तथा बुद्धिरपि क्षणिकेत्युक्तं वस्तु नयमतेन, अधुना नय उच्यते-अयञ्च नयः प्रतिक्षणमन्यो भवत्येव[न] भवतीत्यभ्युपगच्छति, अतो नियमं विदधाति नियमयति चेति नियमोऽयं वाञ्छति, निक्षेपचतुष्टये च भावनिक्षेपविकल्पमनागमतो भावमुपयोगं क्षायोपशमिकमौदयिकं पारिणामिकं वा भावमुपयोगसम्भूतं विज्ञानकल्पितं भावं रूपादि प्रतिपद्यते, उपयोगैकसम्भूतस्य नयस्यैकदेशत्वात्, आगमतः उपयोगैकसम्भूतादेर्विशिष्यते 'वंजण अत्थ तदुभयं एवम्भूओ विसेसेइ' (अनु० १३९) इति सामान्यलक्षणात्, पर्यायमूलनयभेदश्चायं—[परि]समन्तादयते पर्येयते इति पर्यायाक्षरार्थत्वात्, स

क्षणिकोत्पादविनाशाभ्यां सूक्ष्मोत्पादविनाशयोरनुमेयत्वमभिप्रायमाह—एताभ्यामेवेति । अनुमानप्रकारमाह—तद्यथेति, प्रदीपस्य अन्ते क्षये दृश्यत स च प्रतिक्षणं क्षणमन्तरेण न सम्भवतीति इत्वा क्षणे क्षणे विनाशसिद्धिरित्यर्थः यथा प्रदीपस्य शिखा जन्मत आरभ्यैव क्षणे क्षणे विनश्यन्ती पर्यन्ते सम्पूर्णतामेत्यपि सर्वथा विनश्यति तद्वदिति भावः । एतमेव व्याचष्टे—यथेति । एवमपि प्रत्यक्षसिद्धं विनश्यदवस्थायोगादाह—प्रत्यक्षैव वेति । एवं सर्वे पदार्थाः क्षणक्षणिका इत्याह—तथा घटादिरपीति एवं पदार्थस्वरूपमुक्तम् । तथा बुद्धिरपीति । ज्ञानमपि क्षणिकमिति भावः । कोऽसौ नय उच्यत इत्याह—अयं नय इति । अयं नयो नियमं-विशेषं स्वाभिमतत्वेन विपरीतमतत्वेन च नियमयतीति नियमोऽयमस्य उच्यत इति भावः । एतन्निक्षेपेषु कतमस्य भावमतीत्याह—निक्षेपचतुष्टये चेति । नामस्थापनाद्रव्यभावलक्षणनिक्षेपचतुष्टये योऽयं भावनिक्षेपः स आगमतो नोआगमतश्चेति द्विविधः तत्रायं नोआगमतो भावमभ्युपैति भावः—उपयोगे नोआगमतो भावश्च ज्ञानम् स च क्षायोपशमिक औदयिकः पारिणामिको वा सोऽस्य नयस्य विषयः उपयोगसम्भूतत्वाद्भावस्याभ्युपगमात्, अयं हि विज्ञानैव कल्पितं विषयीकृतं भावं वस्तु क्षणिकमभ्युपैति, विज्ञानविषयतातिरिक्तस्य तत्त्वतः अभावात्, भावोऽनागमत इति विशेषणादागमतो भावनिक्षेपस्येत्याह आगमत उपयोगादिति । 'वंजण' इति अभिप्रायविशेषं प्रसज्योच्यते यमेव क्रिया कुर्वन्तमेवम्भूत-मुच्यते, यदोऽभ्युपगतोऽस्य भावं यथा अर्थ—तदभिप्रायस्त्वयं व्यञ्जनार्थेन व्यञ्जनार्थौ तौ च तौ तदुभयं व्यञ्जनार्थोभयम्, तद्विशेषयति नैगमेन स्थापयति स नयं एवम्भूतः शब्दसमभिरूढार्थं चेष्टेन विशेषयति । अर्थो व्यक्तरेव नय अभिप्रायशब्दाद्यवसाय इत्यर्थः शब्दार्थः व्यञ्जनोऽपि यथा कुर्वन एव वाच्यो वाच्यत्वेनेति व्यवस्थापयतीति भावः । नोआगमतः उपयोगैकसम्भूतस्यैकदेशो पर्यायार्थिकनयभेद इत्याह—पर्यायेति परि समन्तादयते-गच्छति प्राप्नोति विनाशोत्पादाविति पर्यायः स एवार्थोऽस्यास्त्युपयोगसम्भूत इति पर्यायार्थिकः, उपयोगविषयतातिरिक्तोऽर्थो नेति भावः । एतमेवार्थं निदर्शयन्नाह—

एतदपि उपयोगस्यैवोऽर्थोऽस्तीति पर्यायार्थिकः, तदुदाहरणमिदम् इत्यादि इन्द्रोऽग्निरिन्द्रः, इति परमैश्वर्ये, पारमैश्वर्यानुभवनकाल एवेन्द्रोऽन्यदाऽग्निः इन्द्रोपयोगकाल एव चोपयोगेन्द्रः तदन्यानन्तरमग्निः, तदुपरमात् पुरन्दरादिलक्षणकाल एव प्रतिक्षणादुपयोगस्य तद्भावस्य च, यथा पूर्वारम्भकाले तदुपयोगो वा पुरन्दरः, अपुरन्दरोऽन्यथा कस्मात् ? तद्भावस्यैव तद्रूपत्वात् स एव भाव उपयोगीभूतः पुरन्दरधर्मकपर्यायः तदर्थ एव च नाम्नेति भावितार्थम् ।

वाक्यार्थः को वेत्युच्यते—

अत्र च प्रतिक्षणादिभिन्नमित्याद्वस्तुनो बुद्धिस्थो योऽर्थः स वाक्यार्थः 'यो वाऽर्थो बुद्धिविषयः । कैश्चिदिष्यते ॥' ( ) इति, सन्तानवृत्तिश्च क्रमो वाक्यार्थः, वाक्यं वर्णपदादिग्रथनानामानुपूर्व्योच्चारणम्, तपनिबन्धनमस्य तद्यथा—'इमाणं भंते ! (जीवाभि० ३ १-७८) इत्यादि ।

(अत्र चेति) अत्र च प्रतिक्षणाद्भिन्नमित्यात् वस्तुनो बुद्धिस्थो योऽर्थः स वाक्यार्थः क्षणे क्षणेऽन्यदेव च वस्तु उत्पादोत्पादाविभ्रमवदपि बुद्धौ तिष्ठति, यत्तु तथो बुद्धिस्थः सोऽर्थः शब्दस्य, रूप रसो गन्ध इत्यादि पदसंघातागमान्तरं ज्ञापकमाह, नयवादानां जैनागमप्रभवत्वात् 'यो वाऽर्थो बुद्धिविषयः' इत्यादिव्याख्यातार्थानुसारित्वात व्याख्यास्ये, कैश्चिदिष्यत इति, जैनागमोपयोगैकमूलस्य मतमित्यर्थः, वाक्यार्थस्तर्हि कः ? उच्यते—सन्तानवृत्तिश्च क्रमो वाक्यार्थः—विज्ञानसन्ताने रूपादिवाक्यार्थसन्ताने च च उत्पत्तिविनाशक्रमः स वाक्यार्थः, वाक्यं वर्णपदादिग्रथनानामानुपूर्व्योच्चारणम्, प्रतिक्षण क्रमनिरोधानुगतः क्रमः मा भंक्षाः सामीप्यैकैवोच्यत इति जैनागमोऽप्येवमित्यत आह—तपनिबन्धनं क्वोऽस्य निर्गमः तद्यथा—'इमाणं भंते !' इत्यादिरस्यो गतार्थः अज्ञात्व[ये]न पर्यायानां निर्देशात् ।

इति नयचक्रटीकायां एकादशोऽरः नियमोभयभङ्गः सम्पूर्णः ॥

तदुदाहरणमिति इति परमैश्वर्ये इत्यादिना परमैश्वर्यमिति योगेन परमैश्वर्यमनुभवति तदैवायमिन्द्रः अन्यदा तस्मिन्नेव, तस्यापि योगेन सामर्थ्यादिरूपेण सता न चैवम्, एवमिन्द्रस्योपयोगे यदा स एवेन्द्रो वर्तते इन्द्रोऽग्निरिति तदैवाग्निः इन्द्रोपयोगकाले तस्मिन्नेव उपयोगस्य निरुपचारादिति भाव । इन्द्रोपयोगकाले च न पुरन्दरादिलक्षण तत्तदर्थोपयोग-लेनाऽऽश्रयस्य एकोपयोगविषयात्, न चाऽन्यदा तदेवोपयोगस्य पुरन्दरत्वकालत्वम्, प्रतिक्षणोपयोगस्य तद्विपर्ययीभूतस्य चेत्याह—पुरन्दरादिलक्षणेति । एवं पूर्वारम्भकाले यदा पुरन्दरे नाम्यदा तदैव तस्य पूर्वारम्भोपयोगो भवति, तदैव हि स पूर्वारम्भकालेन स्थितो भवति, नाम्यदेति भावः । तेनाह—तद्भावस्यैवेति, पूर्वारम्भकाल एवोपयोग. पुरन्दरत्वेन निर्दी-क्रियत इति ध. पुरन्दरो भवति नान्यदेति भाव । अथ प्रसङ्गतः वाक्यार्थमाह—अत्र चेति । बुद्धिप्रतिभासेनाऽऽकार वाक्यार्थो न वस्तुतः प्रतिक्षणभिन्नवस्तुविषय—अत्र च प्रतिक्षणेति यस्मात् तत्र प्रतिक्षणभिन्नविशिष्टाकार तथा बुद्धिरपि तत्र वाक्यतः विज्ञानतः न तदा वर्णाद्युपादि तत्तदुपादानसामर्थ्यात् तथा वाक्यार्थप्रतिबिम्बो बुद्धौ भवति, स एव बुद्धिस्थ आकारः वाक्यार्थं इति एव इति बुद्धिर्योगस्य तदर्थविनिश्चयाकार एव वाक्यार्थ इति भाव. । तदुक्तमन्यत्र— मध्वनयति—यो वार्थ इति । वाक्यार्थमाह—सन्तानवृत्तिश्चेति । वाक्यमाह—वाक्यमिति । अत्र न्याय विषये प्रमाण जैनागमं दर्शयति—'इमाणं भंते' इति जीवाभिगमसूत्रे पृथिव्यादिपर्यायाणां सर्वोत्पत्तिपर्यायाणां रत्नप्रभादिपृथिव्यादीनाम वाक्यार्थस्य तदागमरूपत्वमिति विवेचम् । अयमाद्यभिप्राय—इतीति ।

इति विजयलब्धिसूरिविरचिते विषमपदविवेचने नयचक्रस्य एकादशो नियमोभयभङ्गः समाप्तः ॥

द्वादशो नियमनियमनयः

पूर्वनयमतापरितोषप्रकरणमुत्तरनयोत्थानम्, तस्योत्तरसूत्रसंक्षिप्त्या च पूर्वस्य दोषदर्शनात् स्वमतसौस्थित्याभिमानात्प्रारम्भ इमत आह—

अन्ते क्षयापायेयं ततो वस्तुवत् प्रसिद्ध्युपगमः कुतो भवति, इतरथा विनाशोत्पादयो रप्यभावः, प्रतिसन्धानाभावात्, स्थितस्यैव हि भवनमित्यभ्युपगमस्ते, वस्तुव्यवस्थासिद्ध्युपहितनियमानतिक्रमात् निश्चित तर्हि तत्, अन्तवत्त्वात्, घटादिवस्तुवत्, निश्चितत्वात् कृतकं तदप्यारब्धमपि, एवं ते पूर्वनिर्वृत्तवस्तुनिबन्धनाः, क्रियावत्त्वादन्तवत्, यथाऽन्ते क्रिया-भवन सा पूर्वनिर्वृत्तवस्तुनिबन्धना तथा प्रारम्भादिक्रियाः।

(अन्त इति) अन्ते क्षयापायेन-यदि त्वयाऽन्ते क्षयदर्शनात् सामर्थ्येनैव क्षय पदार्थानामनुमीयते, ततः किं? ततो वस्तुवत् प्रसिद्ध्युपगमः कुतो भवति-वस्तुनीव वस्तुवत् यथा वस्तुनः प्रसिद्धस्य लोके क्षयस्य पदार्थः क्षयो भवतीति प्रसिद्धिः, तथा त्वयाऽभ्युपगतमिति प्राप्तम्, विनाशस्योत्पादस्य च प्रसिद्धवस्तुनिष्पन्नत्वात्, इतरथा पदार्थाभावस्य स्थितमभावे विनाशोत्पादयोरप्यभावः प्रतिसन्धानाभावात्, स्थितस्य-भवत एव हि भवनमिति-इत्यमभ्युपगमस्ते, तस्माद्वस्तुव्यवस्थासिद्ध्युपहितनियमानतिक्रमात्—इत्यस्मादतोऽभवत एवोत्पादविनाशप्रतिसन्धानात् व्यवस्थित वस्तु सिद्ध मित्यनुत्पादविनाशव्यपदेशमात्म-वर्तिन्येवमियम नातिक्रमति, यदुपन्यासविशेषणमभ्युपगमेनोपहितमतो वस्तुव्यवस्थासिद्ध्युपहितनियमानतिक्रमात् नियमेन स्थित निश्चित—व्यवस्थितमिति गृहाण तत्साधनार्थमेव आह—निश्चित तर्हि तत्, अन्तवत्त्वात्, घटादिवस्तुवदिति दृष्टान्तः यथा मृत्पिण्डादिवस्तूनामन्ते घटोऽस्त्येव, अवस्थित प्रमाणवत् तथा मृत्पिण्डाद

अस्यापि मतस्याप्युक्ता क्षयाऽस्यन्तीति भक्ति इति धर्मस्मृत्यानी व्याख्यानपदीव्या प्रसादाभिमतार्थाभ्युपगमात् अनिर्दिष्टस्वारम्भाभावपक्षयोर्वस्तुन्युपहितत्वापत्त्या प्रसक्तस्यैव वस्तुन इति नियमनियमनयं व्याचष्टे पूर्वनयमतऽ-परितोषं दर्शयति—पूर्वनयमतमिति अपरितोष एवोत्तरनयोत्थाने कारणम् अपरितोषश्च सूत्रसंक्षिप्त्या विचारे क्रियमाणे पूर्वनयमते दोषदर्शनात्स्वमतसौस्थित्याभिमानाच्चाऽऽरम्भ इति भावः। पूर्वनये दोषमुद्भावयति—अन्ते क्षयापायादिति। अन्ते क्षयदर्शनादपि यत एव क्षयोऽनुमीयते प्रतिपद्यमानादिति हि तव मतम्, अत्र हेतुरन्ते क्षयदर्शनम्, तत्र दर्शने क्षयस्य स्थितस्य वस्तुनो विगमः स्थित च वस्तु मध्येन सिद्धं प्रसिद्धमिति तर्धाभिमतस्याभ्युपगमे प्रसिद्धो स्थितस्याभ्युपगमः कृतो भवति तथा च विनाश उत्पादश्च प्रसिद्धवस्तुनिष्ठ वस्तुनः स्थितमात्र तदभावात्तस्यैवोत्पादविनाशयोरप्यभावः प्रसज्यते इति स्पष्टयति। स्थितमात्र हि यस्यैवोत्पादस्तस्यैव विनाश इति प्रतिसन्धान न स्यादित्युपात्तविनाशसमर्थ हेतुमाह—प्रति-सन्धानाभावादिति। भवदभ्युपगत तत्त एव भवतश्च भावस्यैवोत्पादस्यैतस्य सम्बन्धस्याभावाद्धितस्य भवतीति भवन-शब्देनाभ्युपगमस्यापि नीचारात् त्वयापि स्थितस्य भवनमित्यभ्युपगमनियमात्—स्थितस्येति अत एव प्रतिसन्धाने भवतीति भावः। एवञ्च वस्तुनो या व्यवस्था तस्याः सिद्धा अवहिता भाव्ये यो नियम—प्रयुज्यमानैरभ्युपगमैः स्थित एवोत्पादविनाशाभ्युपगम-इति नियमस्तदनतिक्रमात्वस्तुनो निश्चितत्वं त्वयाभ्युपगतमेव स्यात् तस्मादसिद्धं स्यादिति। तत् निश्चितमन्तवत्त्वात् घटादिवत्, मृत्पिण्डादिवत् यथा घटो मृत्पिण्डादवस्थानामन्ते व्यवस्थित एवं कल्पपि अविशिष्ट तत्तद्वस्तु इत्यस्य मतपरम्परा घटादि वस्तु वस्तुन आरम्भक्रियादिदृष्टान्तेन साधयति—निश्चितं तर्हि तदिति। आरम्भक्रियाभिधानमुपपन्नम् ...

यस्यासत्त्वपि विशिष्टत्वात् कृत[क] तद् वस्तु, घटादिवस्तुवदेव, तथम—कृतकत्वात् आरम्भमपि घटादिवस्तुवदेवेति हेतुहेतुमद्भावेनारम्भक्रियाभिप्रायः सामिषा उपसंहृत्यैकत्वेनाह—एष च इत्यादि-आरम्भक्रियाभिप्रायः पूर्वनिर्वृत्तवस्तुनिबन्धनाः, क्रियावस्थारम्भपद्—अन्व इत्यादयत्, यथाऽन्ते-निवृत्तिकाले क्रियामवन जन्म आत्मलाभः, सा पूर्वनिर्वृत्तवस्तुनिबन्धना तथा मारम्भादिक्रिया ।

इतर आह—

कुतः क्रिया क्षणिकत्वात्? उक्तं हि—'क्षणिकाः सर्वसंस्कारा अस्थितानां कुतः क्रिया ॥ भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते ॥' इति, अत्रोच्यते तिष्ठतु तावत् यद न्यत्, क्षणिकशब्दार्थतत्त्वान्वीक्षणादेव क्षणभङ्गवादभङ्गः शक्यते कर्तुम् क्षणिकशब्दस्य अस्त्यर्थस्थितसम्बन्धाभिधानसमर्थस्य [illegible] स्थितार्थाभावेऽभिधेयाभावप्रसङ्गात्, न हि क्षणिकशब्दः क्षणेन स्वेन सता वार्थेन स्वामिना विनाऽर्थवान् यथा चैत्रेण स्वामिना दण्डेन स्वेन च विना दण्डिक इति शब्दो नार्थवान् इति तत्समवस्थानशब्दार्थलक्षणार्थो भवितुमर्हति, इतरथा क्षणोऽस्यास्तीति क्षणिक इति न शब्दार्थो घटते ।

(कुत इति) कुतः क्रिया क्षणिकत्वात्—अन्तेऽपि च क्रिया न ताम्भ्युपगम्यते मया क्षणिकत्वादर्थस्य, प्रागुक्तविधिना क्रिया? पुनरारम्भकल्पनावस्थासु अवस्थितवस्तुनभ्युपगमात्, उक्त हीत्यादिश्लोकः 'क्षणिकाः सर्वसंस्काराः' इत्यादिश्लोकः प्राग्व्याख्यातार्थ इति न पुनर्व्याख्यायते, अत्रोच्यते—तिष्ठतु तावदित्यादि यदन्य[त्—]द्रव्यार्थनयदर्शनलोकव्यपोहाद्यभिक्रियाऽभ्युपगमादि वस्तुव्यवस्थापि [illegible] वा क्षणभङ्गाभावप्रतिपादनसमर्थम् तत्तावदास्ताम् किं तर्हि? क्षणिकशब्दार्थतत्त्वान्वीक्षणादेव क्षणभङ्गवादस्य भङ्गः शक्यते कर्तुम्, कस्मात्? क्षणिकशब्दस्य स्वस्वामिसम्बन्धाभिधायिनः [illegible] स्थितार्थाभावेऽभिधेयाभावप्रसङ्गात्, तद्दर्शयति—न हि क्षणिकशब्द इत्यादि क्षणोऽस्यास्तीति क्षणिकः, यथा [illegible] । पूर्वेति [illegible] क्रिया [illegible] क्रिया पूर्वनिर्वृत्तवस्तुनिबन्धना [illegible] क्रिया इति भावः । [illegible] क्रिया [illegible] कुतः क्रियेति । [illegible]—अन्तेऽपि चेति, [illegible] नास्ति क्रिया क्षणिकत्वात् [illegible] क्रियमाणा इति भावः । [illegible] इति । [illegible] तिष्ठतु तावदित्यादीति । क्षणोऽस्यास्तीति क्षणिक इति [illegible] सामी, [illegible] क्षणोऽस्यास्तीति क्षणिक [illegible] स्वामी, [illegible] इति भावः । क्षणोऽस्यास्तीति क्षणिक [illegible] स्वामी, [illegible] विना क्षणिक इति न भवति तथा क्षणिक [illegible] स्वामी [illegible] क्षणोऽस्यास्तीति । [illegible]—

१ सि० [illegible] । २ सि० क्ष० डे० [illegible] ।

क्षणोऽस्यास्तीति क्षणिकः यथा चैत्रेण दण्डसम्बन्धिना स्वामिना दण्डेन स्वेन च विना दण्डिक इति शब्दो नार्थवान् भवत्येवं क्षणिकशब्दोऽपि क्षणेन स्वेन तद्वता चार्थेन स्वामिना विना नार्थवान्, मा भूत्सोऽनर्थक इति तस्य क्षणस्य स्वस्य दण्डस्येव चैत्रः, ठन्प्रत्ययान्तः स्वामी, तेन सह समयत्वात्तु सीत यस्य स शब्दार्थक्षणोऽर्थो वैनेमन्यमुत्पादितोत्पादविनाशपर्यायार्थसहचारिस्थितशब्दार्थपदवितुमर्हति, इतरथा क्षणोऽस्यास्तीति क्षणिक इति न शब्दार्थो घटते, असाधकत्वाच्छब्दाभिधानमिव घटते ।

अत्राह—

न, पर्यायविषय एव, तत्स्वामित्वोपपत्तेः द्विविधो हि क्षणः उत्पत्तिक्षणो विनाशक्षणश्च तदनन्तरम्, एवं निरन्तरयोः क्षणयोरुत्पत्तिक्षणानन्तरो विनाशक्षण एव तस्मात्त्रिपर्यायस्य पर्यायः तस्मात् क्षणिकशब्दः क्षणस्य क्षणान्तरापेक्षत्वादर्थवानिति न दोषः, एवमपि न युक्तोऽपदेशः, इतराभावे इतरस्यापि तथाभावात् यथा दण्डाभावे चैत्रो दण्डिक इति नोच्यते, एवं यदा दण्डो विद्यते चैत्रोऽपि तदाऽस्य तेन तद्वत्ताऽपदेशभाक् स्यात्, इह तु यदोत्पत्तिक्षणः न तदा विनाशक्षणः यदा विनाशक्षणो न तदोत्पत्तिक्षण इतीतरकाले इतरस्यात्यन्तमसत्त्वात् प्राप्यापदेशो न युक्तः ।

(नेति) न पर्यायविषय एव तत्स्वामित्वोपपत्तेः पर्यायान्तरस्य स्वपर्यायान्तरं स्वामीत्यस्यास्तिमत्सम्बन्ध उपपद्यते तदर्थवाची तद्धप्रत्ययः, तद्व्याचष्टे—द्विविधो हि क्षण इत्यादि, द्वैविध्य—उत्पत्तिक्षणो विनाशक्षणश्च तदनन्तरमिति तस्य स्फुटीकरणम् अनन्तरवचनमव्यवधानप्रदर्शनमनुवासार्थम्, नान्तराले किञ्चिदस्तीति, अस्यार्थस्य दर्शनाय तस्य ज्ञापक मागुक्त 'नाशोत्पादौ समं यद्[नामो]नामौ तुलान्तयो'रिति एव निरन्तरयोः क्षणयोर्योऽयमुत्पत्तिक्षणानन्तरो विनाशक्षणः, स चापकर्षकालपर्यन्तरूपद्भेदेन बुद्ध्या विभज्यमानो यो विभागं न प्रयच्छति स एव तस्य त्रिपर्यायस्य पर्यायः, तस्मात् क्षणिकशब्दः क्षणस्य

मा भूदिति। दण्डस्य यथा स्वामी चैत्रादि तेन सह चैत्रादे समवस्थानमभावस्तत्वमस्येव क्षणस्यापि ठन्प्रत्ययान्तार्थं स्वामीति तेन सह समवस्थानमभावेन इत्येव तद्वता भवितव्यम्, तथाभिः च वैनाशिकमतप्रसिद्धोत्पत्तिविनाशपर्यायसहचारिस्थितशब्दमेव तथाऽनुपपन्न एव क्षणिकशब्दार्थो युज्यत भावयेति भावः । ननु क्षणस्य पर्यायस्य पर्यायान्तरमेव स्वामी, न तु द्रव्यम्, यत इत्यावाभ्युपगम भाव, तदर्थतास्तवहिमतत्वमन्वयस्योपपत्तिविषयपर्यव—नेति। क्षण उत्पादपर्यायोऽस्य विनाशपर्यायान्तरस्यास्तीति क्षणिक इत्यस्त्यर्थमन्वयत्वे ठन्प्रत्ययस्योपपत्तेः पर्यायविषयमेव क्षणिकशब्दमित्याह—न पर्यायविषय एवेति। इममेव भावार्थं दर्शयति—द्विविधो हीति उत्पत्तिक्षणो विनाशक्षण इति पौर्वापर्येण क्षणस्य द्वैविध्यम् उदयि पौर्वापर्यमव्यवहितम् तत्र न तयोरन्तराले कश्चित्पदार्थस्य सम्भव तदनन्तरमात्र किञ्चिदस्तीति भाव । तमेव ज्ञापकं प्रागुक्तं दर्शयति—नाशोत्पादाविति तुलान्तयोर्नामोन्नामवत् समकालत्वात् नाशोत्पादयोर्विशेषाभिधानम् । व्याचिख्यासमाह—एवं निरन्तरयोरिति। अन्तर्हितयोः क्षणयोर्मध्ये योऽयमुत्पत्तिक्षणानन्तरो विनाशक्षणः स चापकर्षपर्यन्तस्य बुद्ध्या विभज्यमानस्य पर्यन्तभूत यस्य विभागो न भविष्यति तथाभूत एव पर्यायिमान् पर्यायः तथाभूतस्य तथा च क्षणिकशब्दस्य क्षणाक्षणमनयोः स्वस्वरूपान्तर्भावात् इत्थं तथा च क्षणस्य क्षणान्तरापेक्षत्वात् क्षणिकशब्दोऽर्थवानिति प्रतिपादितमिति । एतावन्मात्रेणैव क्षणिक इति व्यपदेशो नावसरप्राप्त इत्युक्त-

क्षणान्तरापेक्षत्वाद्धर्मवान्, अतो न दोषो न द्रव्यार्थपरिग्रहोऽवस्थितार्थोऽन्वेष्य इति, अत्रोच्यते—एवमपि न युक्तोऽपदेशः क्षणोऽस्थासीदिति क्षणिक इति पर्यायान्तरापेक्षयापि, कस्मात्? इतराभावे इतरस्यापि तदभावात्, यथा दण्डाभावे दण्डिकत्वेन चैत्रस्याप्यभावात् चैत्रो दण्डिक इति नोच्यते, एवमुत्पत्तिक्षणस्य विनाशक्षणस्य वा परस्परमितरकाले इतरस्यात्यन्तमसत्त्वात् विनाशक्षण उत्पत्तिक्षणाभावो भवति, उत्पत्तिक्षणेऽपि विनाशक्षणाभावो भवति तदविनाभावत्वेन चैत्राभाववत्, यथा दण्डो भिद्यते चैत्रोऽपि भिद्यते तदाऽस्य चैत्रस्य तेन दण्डेन तद्वत्त्व-दण्डवत्ता दण्डिकत्वापदेशस्ता स्यादिति वैधर्म्येण निदर्शनम्, इह तु उत्पत्तिक्षण इत्यादिनोत्पत्तिविनाशक्षणयोरसाधर्म्यं दर्शयति यावत् प्राग्व्यपदेशो न युक्त इति गमार्थम्।

यदपि च नाशोत्पादावित्यादिभिर्दर्शनमुक्तं तदप्यर्थान्तरयोर्युगपत् सतोस्तुलान्तयोर्युज्यते न तु विद्यमानाविद्यमानयोः क्षणयोः यौगपद्यम्, घटखपुष्पयोरिव, अथ स्यातां कथि द्वयोरपि क्षणयोः उत्तरः पूर्वो वा, तिष्ठतु नाम तथापि यद्येकस्मिन् क्षणे स्यात इत्यपि तयोरुक्तो दोष एव, एवं तावद् द्वयोः क्षणयोः सम्बन्धाभावात् क्षणिकत्वाद्यर्थोऽसन् यथान्तराभावस्थानमुपासार्थत्वेऽनन्तरक्षणस्य।

(यदपि चेति) यदपि च 'नाशोत्पादौ सम याम्यामोनामौ तुलान्तयो'रिति हेतुहेतुमत्त्वनिदर्शनमुक्तं तदप्यर्थान्तरभूतयोर्युगपत्सतोस्तुलान्तयोर्युज्यते, न तु विद्यमानाविद्यमानयोः क्षणयोर्यौगपद्यं घटखपुष्पयोरिव यथा नष्टघटखपुष्पयोः सत्तायौगपद्यं स्यात्, अतोऽसमकालसत्ता उत्पत्त्यर्थान्तिकयोः साम्प्रतं नाशोत्पादयोर्यौगपद्ये सति साम्यकल्पनावरोप इत्येवमयुक्तम्, नष्टता सत्त्वे स्थानकालानुत्पद्यमानेऽस सत्त्वे तदवकाशसमकालत्वम् तस्मादयुक्त उपरेण प्राग्व्यपदेशः क्षणोऽस्थासीदिति क्षणिक इति,

पदविद्यमानत्वाविशेषत्वेन समाधत्ते—एवमपीति पर्यायान्तरापेक्षयापि क्षणिक इत्यपदेशो न युक्त इत्यर्थः। कारणमाह—इतरा भाव इति एकस्याभावेऽपरस्य तादृशेन भावेनाभावादित्यर्थः। दृष्टान्तमाह—यथेति न हि दण्डाभावे चैत्रो दण्डिकत्वेन भावीभवत्वे अविद्यमानस्य सम्बन्धाभावादिति भावः। दार्ष्टान्तिकमाह एवमुत्पत्तिक्षणस्येति उत्पत्तिकाले विनाशो नास्ति अतो विनाशक्षणोत्पत्तिक्षण इति न भावीभवत्वे विनाशक्षणेऽनुत्पत्तिर्भवति तस्मात् विनाशक्षण उत्पत्तिस्नाभिति भावीभवत्वे द्वयोरेकत परस्परमत्यन्ताभावात्, न हि चैत्रः पशुत्वेन भावीभवत इति भाव। तर्हि कथं भावेन भावीभवत्यत्राह—यथा दण्ड इति विद्यमानत्वेन तदभिन्नेत्यादेन भावेन दण्डवत्त्वे एतयोरेव चैत्रो दण्डिकत्वेन भावीभवत्वे अत्र वैधर्म्यदृष्टान्तो भवत्यभावस्याप्यभावादिति भावः। तथाऽत्र भावीभवत्—इह त्विति उत्पत्तिविनाशक्षणयोरेकत्र कालेऽत्यन्ताभावात् विनाशक्षण उत्पत्तिक्षणत्वेन भावीभवत इति भावः। तुलान्तदृष्टान्तमपि निदर्शनमपि न युक्तमित्याह—यदपि चेति नाशोत्पादाविनाशयो परस्परापत्ती निदर्शनयोरन्यतो अभावेऽपि तुलान्तयोरुक्ते, ते अपि तुलान्तयोर्भावा भावीभवत्वे युज्यते यमाने च न तुलादिनाशो भावीभवत्वे युज्यमानो अपि कथं तन्निदर्शनमुत्पादविनाशयोर्युज्यत इत्यत्र—यदपि च नाशो त्पादाविति, तस्मात् तुलान्तस्य विद्यमानयोरुभयस्मृत्यापि तेन तदेकदेशेन स्यादिति भावः। अनुत्पादविनाशयोरपि घटपु-ष्पयोरिव यौगपद्याभावात् निदर्शनं भवत्येवमुच्यत इति तत्साम्प्रतमिति। अत्यन्ताभावत्वविनाशक्षणस्य यदि एवं स्यात्तर्हि उत्पाद विनाशक्षणस्यात्यन्तमभावे कथं यावत् भावीभवत्वतदभावे नष्टत्व इति निदर्शनस्येत्यर्थः। एवं प्राग्व्यपदेशेन विनाशक्षणस्य क्षणिकत्वेन भावेऽपि न क्षणिकत्वमपि तस्मादयुक्त इति समाधत्ते उत्पत्तिस्थानं

१ सि. क्ष प्र. ८. दण्डिकत्वाद्यपदेशाभावः ।

व्यतिरिक्ताशङ्का तयोः पूर्वोत्तरक्षणयोरन्यतरस्थितिस्तत्रो व्यपदेशसिद्धिरिति प्रत्युत्तरम्—अथ स्यात् कथमुभयो-रपि क्षणयोरिति, यद्युच्यते यदि पूर्वो यमेच्छसि तथास्तु, किन्तु नाम, तथाऽभ्युपगतेऽपि दोषस्तयोः 'यद्येकस्मिन् क्षणे भाव' इत्यादिश्लोकः समोक्तो विनाशकारणाभावादनन्तरकालावस्थानमिति दोष एव, एव तावत् द्वयोः क्षणयोः सम्बन्धाभावात् क्षणिकशब्दार्थोऽसन्, यद्यन्तरालावस्थानमभ्युपगतार्थत्वेऽनन्तरक्षणस्य व्यपदेश[ा]सिद्धिरिति वर्तते ।

अथाऽऽत्मलाभोऽनन्तरविनाशधर्मसम्बन्धी, अनन्तरश्चासौ विनाशश्चेति समासत्वात् तस्यैव विनाशधर्मसम्बन्धिनः सम्बन्ध्यस्तीति क्षणिकशब्दोऽर्थवान्, न हि रूपादिविनाशक्षणव्यतिरिक्तः उत्पादक्षणः, तेनैव स क्षणिकः, अव्यतिरेकेऽपि सम्बन्धव्यपदेशप्रत्ययदर्शनात् यथोत्पादवानङ्कुरः, स चोत्पादादनर्थान्तरमङ्कुरः, उत्पादातिरिक्ताङ्कुरासम्भवात् ।

अथाऽऽत्मलाभ इत्यादि, अथ मा भूदेष दोष इत्युक्तस्यानन्तरविनाशक्षण इत्यनन्तरक्षणव्यपदिश्यमानेनाह, स एवोत्पत्तिक्षणोऽनन्तरविनाशी समानाधिकरणसमासत्वात् तद्दर्शयति-अनन्तरश्चा[सौ] विनाशश्चेत्यादिना, तस्यैवात्मलाभस्य विनाशधर्मसम्बन्धिनः सम्बन्ध्यस्तीति क्षणिकशब्दोऽर्थवान्, तदुपपत्त्या—न हि रूपादिविनाशक्षणादि यावत् क्षणिकः कथम् सम्बन्धिव्यपदेशप्रत्ययता इत्येति चेत् उच्यते यथोत्पादवानङ्कुर इत्युच्यते नाङ्कुरव्यतिरिक्त उत्पादो न चोत्पादव्यतिरिक्तो भेदवर्त्योऽप्युत्पादवानङ्कुर इत्युच्यते, एवमत्र व्यपदेशस्तेनैव तस्य, [तदेव] दर्शयन्नाह—स चोत्पादादनर्थान्तरमङ्कुरः कस्मात्? उत्पादातिरिक्ताङ्कुरासम्भवादिति ।

तयोरुत्पत्तिक्षणेन प्राक्तनस्योत्पादस्य प्राक्तनेन चोत्तरस्य क्षणिकत्वेन व्यपदेशो न युक्त इति भावः । अनन्तरविनाशे विनाशस्य विनाशक्षणे चोत्पादसमासिद्धिरिति तत्र व्यपदेशो भवतीति मत्वा—व्यातिरिक्तमाशङ्केति । तर्हि उभयत्रापि विनाशकारणा-भावादिति यद्येकस्मिन् क्षणे भावो न विनश्येत्तदारम्भात् । अवस्थाने तथा तस्य स्थायित्वमपि तथा । एतेनानन्तरक्षणे व्यपदेशे दोषो दुस्तर इति समाधत्ते—तथाऽभ्युपगतेऽपीति द्वयोरन्तरालावस्थानाभ्युपगमेऽपीत्यर्थः । एवमुत्पत्तिक्षणो विनाशक्षणश्च तदनन्तरविनाशानन्तरक्षणयोरन्तरालेऽवस्थितेरभ्युपगमे द्वयोरपि क्षणयोः सम्बन्धाभावात् क्षणोऽस्यास्तीति क्षणिक इति शब्दार्थोऽसन्नेव स्यात्, तथा च न तेन क्षणेन व्यपदेशः स्यादित्युपसंहरति—एवं तावदिति । अनन्तरक्षणो व्यपदेश-भावाभावात्तथा व्यपदेशाभावाभावेऽप्युत्पादक्षणस्यैवोत्तरक्षणसम्बन्धिविनाश उत्पादक्षणभाविनि विनाशेऽस्यास्तीति विनाशानुत्पादे क्षणिकत्वमस्तीति क्षणिकव्यपदेशोऽनर्थान्तरत्वे—अथाऽऽत्मलाभ इति । अनन्तरविनाशक्षण इत्यत्रानन्तरक्षण उत्पत्ति-क्षणमेवाह, अनन्तरसमासस्योत्पत्तिक्षणेऽपि सत्त्वात्, तत्र उत्पत्तिक्षणोऽनन्तरविनाशक्षणपदार्थ भवति, एवमेवोत्पत्तिक्षणोऽनन्तर एव विनाश इति कृत्वा अनन्तरश्चासौ विनाशश्चेति समानाधिकरणकर्मधारयसमास उपपन्न इत्याशयेन व्याचष्टे—अथ मा भूदिति । आत्मलाभो विनाशधर्मसम्बन्धी यत एव उत्पादस्य विनाशः सर्वथाभूतः क्षणः सोऽस्यास्तीति क्षणिक स्यात् कस्मात् इत्याह—तस्यैवेति । उत्पादक्षणस्य विनाशधर्मसम्बन्धित्वात् रूपादिविनाशक्षणव्यतिरिक्तो नोत्पादक्षण इति तयोरैक्यात् तथापि क्षणोऽस्यास्तीति क्षणिक इति तेनैव तस्य व्यपदेशो भवतीत्यर्थः अव्यतिरेकेऽपि सम्बन्धिनोः सम्बन्धव्यपदेशप्रत्ययानुपपत्तिमाशङ्क्य दृष्टान्तेन प्रेक्षणं निरस्यति—तद्यथात्र्येति । अव्यतिरेके सम्बन्धव्यपदेशप्रत्ययानामनुपपत्त्या न दृष्टान्तमिति समाधत्ते यथेति । उत्पादवानङ्कुर इति अङ्कुर उत्पादात् अनर्थान्तर एव अङ्कुरः न हि तयोर्भेदोऽस्ति तथापि सम्बन्धव्यपदेशप्रत्ययस्यादृष्टेः उत्पादवानङ्कुर इति व्यपदेशो दृश्यते तथैवात्रापीति भावः । तमेवार्थं तस्यैव क्षणिकशब्दार्थे विनाशित्व इत्याशयेनोपपत्ति-

1 सि. क. पा. डे. °मनुसर्येण

अत्र ब्रूमः—

एकस्ते च उत्पादः स एवार्थः, तेनैव स एव क्षणिकः उत्पादातिरिक्तार्थासम्भवादिति अनिर्दिष्टं क्षणिकसम्बन्धार्थसमीकरणव्याख्यामप्रवृत्तेन त्वया तस्यैव विनाशित्वात्, न च स यस्य क्षणः न च योऽसौ क्षणः येन सम्बन्धात् क्षणोऽस्यास्तीति क्षणिक उच्यते ततोऽन्यः अतः साधनधर्मविकलः दृष्टान्तश्च न तुल्यपरिग्रहार्थत्वात्, कारणेन कार्यमात्मसात्कृतं कार्येण कारणमिति कतरस्य वचसा विशेषनिर्णयोऽस्त्वावयोः ?

एष ते च उत्पाद इत्यादि, तन्मतमनुवादरूपं, यावदुत्पादातिरिक्त[र्था]सम्भवादिति, तथापि तवैव क्षणिकसम्बन्धार्थसमीकरणव्याख्यामप्रवृत्तेन त्वया तस्यैव विनाशित्वात् कथमिति तद्दर्शयति—न च स यस्य क्षण इति न च सोऽर्थो यस्तेन क्षणेन तद्वान् क्षणिक उच्यते, यस्मात् [illegible], तथैवोत्पादव्यतिरिक्तार्थासम्भवाभ्युपगमात् न च योऽसौ क्षण इति, सोऽपि क्षणो नास्ति, [illegible] येन सम्बन्धात् क्षणोऽस्यास्तीति क्षणिक उच्यते ततोऽन्यः अतः साधनधर्मविकलः दृष्टान्तश्च न, तुल्यपरिग्रहार्थत्वात्, वयं ब्रूमः कारणेन कार्यमात्मसात्कृतं तस्माद्विना [illegible] इति, त्वं ब्रूषे कार्येण घटाद्विनाऽऽत्मसात्कृत[illegible] इति कतरस्य वचसा विशेषनिर्णयोऽस्त्वावयोः।

विशेषमपि चात्र ब्रूमः—

ननूक्तवस्तुवादवत् अथवा कारणं द्रव्यमेव कार्यमात्मसात्करोति, तस्मादथवा द्रव्येण

एवं त इति एवं [illegible]। पर्यायास्तित्वे हि [illegible] पर्याया एव तत्त्वं न कश्चित् [illegible] [illegible] नार्थः [illegible] क्षणोऽस्यास्तीति क्षणिक इति [illegible] तेनैव क्षणिकसम्बन्धार्थसमीकरणव्याख्येन [illegible] विनाशित्व [illegible]—तथापि [illegible] तवैवेति। कथं तव विनाशित्व [illegible]—न च स इति न च सोऽपि [illegible]। उत्पादव्यतिरिक्तार्थाभावेन [illegible] न [illegible] सोऽर्थोऽस्तीति [illegible] न च सोऽर्थ इति [illegible] [illegible] तेन [illegible] क्षणिक उच्यते तथा क्षणिक इति स [illegible] उत्पादव्यतिरिक्तत्वात् नास्ति कश्चित्, न क्षणिको भवेत् तथैव उत्पादातिरिक्तार्थाभावादित्युक्तत्वादिति भाव [illegible] क्षणिकत्वं नार्थमस्तीति भाव। क्षणोऽपि नास्ति [illegible] सम्बन्धात् स क्षणिक [illegible]—न च योऽसौ क्षण इतीति उत्पादातिरिक्तस्याभावेन, [illegible] भाव। [illegible] [illegible] क्षणोऽस्तीति न [illegible] एव [illegible]—अत इति। एवं त्वया क्षणिकसम्बन्धार्थ एव [illegible] परिग्रहार्थत्व [illegible] तथा पर्यायास्तित्वे च एकोत्पादे च एकार्थे [illegible] [illegible] उच्यते [illegible] च एकार्थं च एकोत्पादे [illegible] [illegible] उच्यते तथा च [illegible] [illegible] दृष्टान्तश्च नेति। न एकोत्पादे च एकार्थे [illegible] न युक्तमिति भाव। [illegible]—वयं ब्रूम इति [illegible] कारणेन कार्यमात्मसात्कृत [illegible] ब्रूम इत्यर्थः। त्वं ब्रूषा इति पर्यायवादी त्वं कार्येण विनाशात्मना कारणमुत्पत्ति [illegible] कार्येण कारणमनुप्रविष्टं [illegible] कार्यं पर्यायः [illegible] ब्रूषा तत्र कस्य वचसा विशेषनिर्णयः कार्ये [illegible] [illegible] भवत्येति भावः। यथा [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]—ननूक्तवस्तुवादवदिति। [illegible]—[illegible], [illegible]—[illegible]

कारणेनासाद्येते उत्पादविनाशाविति, यद्येव नेष्यते खपुष्पकल्पमप्यासादयेत, तस्योत्पादादर्थान्तरत्वेनाभूतत्वात् यद्यदुत्पादादर्थान्तरत्वेनाभूतः तत्तेनासाद्यमानं दृष्टम्, यथाङ्कुर उत्पादेन, अङ्कुरं वोत्पादो नासादयेत्, अर्थान्तरत्वेनाभूतत्वात् खपुष्पवन्ध्यासुतादिवत् ।

नभूतकवस्तुभाववदित्यादि । भावदासाद्येते इति नन्वु पूर्वमुत्पत्त्यैव यथोक्तमार्हतपादपद्युसार विनाशवता वस्तुना किञ्चिदपि भवितव्यं भूतत्वादित्यादि, तत्र भवदेव भवति, नाभवत्, भवच्च कारणद्रव्यमेवोत्पाद विनाशं कार्यस्यात्मसात्करोति आसादयति, तस्मात्तेनैव भवता द्रव्येण कारणेनासाद्येते कार्योत्पादविनाशाविति नाभवत्कार्यमासादयितुमर्हति कस्यचिदर्थस्याभावात् खपुष्पवत्, यद्येव नेष्यते— भवत्त्वन्यथा खपुष्पकल्पमप्यासादयेदेव— निर्बीजमपि उत्पादवदेव भवेत्, उत्पादो हि भवता निर्बीजोऽभ्युपगतः, स चोत्पादो निर्बीजः कारणान्यात्मसात्करोतीतीष्टः, तस्मात्तेनैवोत्पादेनात्मसात्क्रियेत खपुष्पवन्ध्यासुतापि किं कारणं ? तस्य खपुष्पादेरुत्पादादर्थान्तरत्वेनाभूतत्वात्, यद्यदुत्पादादर्थान्तरत्वेनाभूतं तत्तदा साध्यमान-आत्मसात्क्रियमाणं दृष्टम्, यथाऽङ्कुर उत्पादेनेत्याचक्षमनिष्टमेवेत्, अङ्कुरं वोत्पादो नासादयेत्, अर्थान्तरत्वेनाभूतत्वात् खपुष्पवन्ध्यासुतादिवत् ।

यदुत्तरेण विनाशेन प्राप्यस्यासतः तत्काले तेन वा सम्प्रति असता न युक्तो व्यपदेश इत्यस्योत्तरं यदुच्यते त्वया न भाविधर्मव्यपदेशादिति भाविनं क्षणं स प्रापोऽप्यते क्षणोऽस्यास्तीति क्षणिक इति मरणधर्मिवत्, तस्यैव चासौ भावस्य व्ययः प्राप्यस्येति व्याप्य व्यपदेशः यदि भावक्षणान्तरभाविना मरणधर्मेणापि व्ययात्मकेन तस्यैव धर्म इति व्यपदिश्यते भावः क्षणिक इति पुनरात्मलाभानन्तरभाविना विनाशेनात्मीयेन प्रथमक्षण एव क्षणिक इति नोच्यते भाविक्षणस्य धानक्षणानन्तरमध्यलोपं कृत्वा उत्पाद्यते क्षणिक इति ।

क्षणिकशब्दस्यात्मलाभानन्तरभाविविनाशस्य असम्बन्धात् सिद्धार्थमाश्रित्य क्षणिकेष्वामास्य इति च विकल्पेऽर्थो जैनमनुपातिश्लेषात्-विनाशस्यार्थान्तरत्वाभावात्सिद्धत्वाभ्युपगम्य स्थितुमर्हतीति प्रतिपादितत्वात्सिद्धम् । इदमेवाह—नन्वु पूर्वमिति । तत्र स्थितिमतस्तु भवतेव तेन तेन रूपेण भवति नाभवत्, भवतश्च कारणं कार्यमनुत्पन्नं विनाशमात्मसात्करोतीत्याह—तत्र भवदेवाति । भवतैव कारणेन कार्यस्यात्मसात्करणात् नाभवत्कार्यं कश्चिदर्थं कारणमाधारयितुमर्हति तत्समवायात् खपुष्पवदित्याह—तस्मात्तेनैवेति भवत एव भवत्प्रसिद्धेः । अन्यथापि भवनमात्मसात् तदाऽऽह—भवतस्त्वन्यथेति खपुष्पमपि भवनमात्मसात्कुर्यादिति भावः । तत्समर्थयति—उत्पादो हीति, भवन्मते उत्पादो निर्बीजः कारणमुपलक्षणत्वात्, स च कारणान्यात्मसात्करोतीति मन्यते एवमेवोत्पादस्य कारणात्मत्वं खपुष्पमपि आत्मसात्क्रियेतेति भावः । तत्र कारणमाह—तस्येति । खपुष्पादपि भवनमात्मसात्कृत्य उत्पादादर्थान्तरत्वेनाभूतत्वात्, यथाऽङ्कुरस्योत्पादादर्थान्तरत्वेनाभूतत्वादङ्कुरमेवाङ्कुर आसादयत इत्यनुमानं दर्शयति—यदयदिति । खपुष्पादेरुत्पादादर्थान्तरत्वेनाभूतत्वेऽपि तेनासाद्यमानत्वमात्मसात्करणं भवत्येवाङ्कुरमनुत्पादो नासादयेत्, अर्थान्तरत्वेनाभूतत्वात् खपुष्पवन्ध्यासुतादिवदिति विपक्षेऽभिमतम्—अङ्कुरं वेति अङ्कुर उत्पद्यते खपुष्पादि नोत्पद्यते इति विशेषो न स्यादिति भावः । नन्वु यदेव विनाशेन विनाशकाले उत्पत्तिकाले वा क्षणिकव्यपदेशोऽसत्त्वात् सम्भवतीति इत्यस्य परिहारान्तरमाशङ्कते—

१ सि. क्ष भा. द पूर्वमुत्पत्त्यैवमयोक्त । २ भि य क्ष डे. कार्योत्पादमिति । ३ सि. क्ष. भा. द. उत्पादादेव ।

यदुत्तरेणेत्यादि, यदस्माभिर्भूयः उत्तरेण विनाशेन प्राक्प्रध्वंसकालक्षणे तेन वा विनाशे[न] सम्बध्यमानता न युक्तो व्यपदेश इत्यस्योत्तरं परिहारान्तरं वक्ष्यते त्वया—न, भाविधर्मव्यपदेशादिति तद्भाव्याभाविन एव सम्बन्धोऽभ्युपगम्यते यद्योऽस्त्यासीदिति क्षणिक इति, असद्भाविनाऽपि भाविना तद्वत्ता भवति किमिव? मरणधर्मिवत्—यथा भाविना मरणधर्मेण तद्वान् मनुष्यादिः प्राणी व्यपदिश्यते, तथा प्रथमक्षणे द्वितीयक्षणेनासद्भाविनाऽपि भाविना क्षणिक इत्यपदेशो व्यपदेशः तस्यैव चासौ भावस्य व्ययः प्राक्क्षयेति व्याख्य एव व्यपदेशः यदि भावक्षणान्तरभाविना मरणधर्मेणापि व्यवहारमन्येन तस्यैव धर्म इति व्यपदिश्यते भावः किमिति पुनरात्मलाभानन्तरभाविनाशेनात्मीयेन प्रथमक्षण एव क्षणिक इति नोच्यते, भाविक्षण सम्बन्धेनापि नैवं संज्ञा प्रतिबध्यमानेनेदानीं देवदत्तमुपाचमिति किं तर्हि? भाविक्षणसम्बन्धात् प्रथमक्षणमेवोपादाय यथाऽऽत्मलाभोऽनन्तरेति विवेच्योक्तत्वात्, अतोऽनन्तरक्षणयोगं कृत्वा—अनन्तरक्षणेऽस्मा सीति विगृह्यानन्तरक्षणयोगं कृत्वा ठञ्प्रत्यय उत्पद्यते क्षणिक इति यथा दैवदत्तो दैविक इति, 'ठञायावपूर्वं द्वितीयारम्भः' (पा ५-१-८१) इति।

किमर्थं पुनरेवमुच्यते भूयः—

तस्योत्पन्नस्य व्यापारस्थितिरिक्तताज्ञापनार्थमेवमुच्यते यद्युत् क्षणिक आस्ते, क्षणिकं निष्ठितमिति, एतदपि परिकल्पितमेव यन्मरणधर्मिणो द्रव्यार्थस्याक्षणिकस्यासमास्यस्याभाव-

यदुत्तरेणेति । व्याचष्टे—उत्तरेणेति उत्तरेण विनाशरूपेण क्षणेन प्राक्प्रध्वंसस्य तत्कालेऽसत् —विनाशक्षणेऽविद्यमानस्य क्षणिकत्वेन व्यपदेशो न युक्त एव तेन—विनाशक्षणेनोत्पन्नस्य सम्बध्यमानता—असम्बद्धत्वेऽविद्यमानेन क्षणिकत्वेन व्यपदेशो न युक्त इति भवद्वचनमित्यर्थः तत्परिहारान्तरं वक्ष्यमाणं विनाशक्षणासम्बद्धेऽपि तदनन्तरक्षणे विनाशे भविष्यतीति कृत्वा भाविना विनाशेनोत्पन्नः क्षणिकत्वेन व्यपदिश्यत इति अतो परिहारान्तरं भूय इति भावः । तदेव परिहारान्तरं दर्शयति—न भाविधर्मेति । भाविनं विनाशं बुद्ध्वा विनष्टत्वेनोत्पन्नस्य तदसम्बद्धस्य क्षणिकत्वेन व्यपदिश्यत इति व्याचष्टे—भाविनमिति । तत्र व्यपदेशे किं दृष्टान्तमपि तत्र आह—मरणधर्मिवदिति । दृष्टान्तं दर्शयितुं च व्याख्योति—यथा भाविनेति । भाविमरणधर्मीति व्यपदेशस्य भाविधर्मेण मरणेन मरणो यदि प्रमाणमिष्टं तर्हि प्रथमक्षणेऽपि भाविना तत्क्षणेन विनाशेन क्षणिक इतो न स्यादित्याह—यदि भावक्षणान्तरभाविनेति भावस्य प्राणिनः क्षणान्तरे भाविना मरणेन धर्मेणेत्यर्थः । यथा मरणधर्मे प्राणिन एव भावी धर्मी इति कृत्वा प्राणी मरणधर्मा व्यपदिश्यते तथा भावोऽपि क्षणान्तरभाविनाऽऽत्मीयेन भाविना प्रथमक्षण एव कुतो न क्षणिक इति व्यपदिश्यतेऽवसरे किमितीति । यथा प्रतिबध्यमानत्वं प्राक्तनं हेतुं विहाय सम्प्रति देवदत्तं नीरूपयामीति न संज्ञा भाविधर्मसम्बन्धरूपो हेतुरेव प्रयोक्तव्यः अनन्तरक्षणभावित्वमिति प्रयोगाद् नैवं संज्ञा इति । तथा च क्षणिकत्वमनुत्पत्तिरनन्तरक्षणोऽस्यास्तीति क्षणिक इत्यनन्तरक्षणयोगं कृत्वा विवेच्य तथा च न देवदत्तमनुपतितस्वभावेऽस्याप्येवमाह भाविक्षणसम्बन्धादेवेति भाविन क्षणस्य योगमित्यर्थः । किमर्थं दर्शयति—अनन्तरक्षणस्य इति । दृष्टान्तमाह—यथेति अनुदत्तो दैवतः दैविके दैविक इत्यादिवैदिकवत्, प्रत्ययाने देवदत्ते च महर्षिदैवतदत्तेत्यादस्य दत्तशब्दस्य 'ठगायस्थानेभ्यो द्वितीयादयः' इति सूत्रेण लोपे देविके दैविक इत्यादि रूपसिद्धिः, तथैव पूर्वसम्बन्धस्य अनन्तरक्षणस्य लोपः 'पूर्वपदस्य चेति' भाविनि क्षणे क्षणिक इति भवति तथा च न देवदत्तो-पादानमिति भावः । किमर्थमनन्तरक्षणयोगं विवक्ष्य एवं पाक्षिक इत्यत्र तत्स्थिरमाह—तस्योत्पन्नस्येति । क्षणार्थं क्षणिक आस्ते इत्येव निष्ठितोऽस्य इति क्षणिकं निष्ठापरिसमाप्तेन च पारमिति क्षणिकं न स्थेयस्त्वं यस्य इति विनाशान्तरं स्थिति-

१ सि. ष क्ष. डे. भावक्षणान्तरमिति । २ सि क्ष. क्ष. डे. देवदत्तो दैविक इति पारावारादपूर्वं द्वितीयादय इति ।

विलक्षणस्य भावान्तरविलक्षणस्य विपर्ययसाधनाद्विरुद्धो हेतुः, स्थितमेव जायते जातश्च म्रियत इत्येवं लोके दृष्टत्वात्, यथा कृतकत्वानित्यत्वधर्मा स्थित एव घटादिः शब्दानित्यत्व प्रतिज्ञायां दृष्टान्त उच्यते नास्थितो नात्यन्ताभावो नापि ततोऽर्थान्तरभूतो वा कृतकत्वा नित्यत्वधर्मासम्बन्ध्याकाशादिः तथाऽवस्थितपुरुषमरणव्यपदेशो जन्मना तदविनाभावात् घटाद्यनित्यधर्मिव्यपदेशवज्जन्ममरणधर्मिव्यपदेशः ।

(तस्येति) तस्योत्पन्नस्य व्यापारस्थितिरिक्तताज्ञापनार्थं—उत्पन्न क्रियाविरहित स्थितिविरहितश्चेति ज्ञापयितुं, तदुदाहरणे यथासंख्यं—यद्वत् क्षणिक आस्ते—निःकर्मेत्यर्थः क्षणिक निश्चेष्टन—स्थितपुरुषाविरहित गृहमित्यर्थः, अत्रोच्यते—एतदपि परीक्ष्यस्थितमेव-अयुक्तम्, जन्मरणधर्मिणीत्यादि, द्व्यार्थस्य[ग] क्षणिकस्यास्यायुष्यसाभावविलक्षणस्य भावान्तरविलक्षणस्येति दृष्टान्तस्य वैधर्म्यं दर्शयति, विपर्ययसाधनाद्विरुद्धो हेतुरिति एष स्थितमेव जायते, जातश्च म्रियते स्थित्यविनाभाविनी जन्ममरणे, मरणाविनाभावि च जन्मेत्येव लोके दृष्टत्वात्, उपदृष्टान्तश्च कृतकत्वानित्यत्वेत्यादि,—कृतकत्वधर्मोऽनित्यत्वधर्मा चा[च]स्थित एव घटादिः शब्दानित्यत्वप्रतिज्ञायां दृष्टान्त उच्यते यत्कृतकं तदनित्यं दृष्टं यथा घटादिरिति नास्थितो नात्यन्ताभावो नापि ततोऽर्थान्तरभूतो वा धर्मासम्बन्ध्याकाशादिरिति, तद्वदवस्थितघटाद्यनित्यत्वस्य कृतकत्वेन व्यपदेशवत् अवस्थितपुरुषमरणव्यपदेशो जन्मना तदविनाभावादिति दृष्टान्तस्य साधर्म्यसाध्य व्याप्तेः दार्ष्टान्तिकस्योपसंहारं करोति—घटाद्यनित्यधर्मिव्यपदेशवज्जन्ममरणधर्मिव्यपदेशः ।

आयुष्कजननमरणयोर्द्वयोरपि आयुष्कर्मणि स्थिते आत्मा जायते स एव म्रियते मुक्तायुष्कर्मत्वात्, असति च क्रियानुपपत्तेः ।

उत्पन्नस्य प्रतीयते तदैवोत्पन्नस्य वस्तुनः क्रियाव्यापारस्थितिविरहितत्वयोः प्रदर्शनार्थं तथा क्रियाः क्षण एवास्येन व्याकरोति—उत्पन्नमिति । उत्पन्नस्य क्रियारहितत्वस्थितिरहितत्वप्रसाधनं तथा गम्यते तद्विपर्ययसाधनमेवेति निराकरोति—एतदपि परीक्ष्यस्थितमेवेति । मरणधर्मिणीव तथा क्षणिकत्वं यत् साध्यते तादृश्यार्थस्य विपर्ययसाधनं क्रियते इत्याह—द्व्यार्थस्येति । [illegible] न क्षणिकेऽप्यात्मविलक्षणः तत्र तु क्षणिकेऽपि [illegible] इति मरणधर्मिणो दृष्टान्ता-द्वैधर्म्यं क्षणिकः [illegible] हेतुर्विपर्ययसाधनं यदि तेन द्व्यार्थस्याविलक्षणस्य [illegible] विरुद्धो हेतुरिति दर्शयति—विपर्ययसाधनादिति । [illegible]मपि प्रमाणयति—एवं स्थितमेवेति, स्थितमेव जायते म्रियते [illegible] जन्ममरणे स्थित्यविनाभाविनी जन्मापि मरणाविनाभावि लोके दृष्टमिति भावः । अत एव च [illegible] कृतकत्वानित्यत्वधर्मोऽवस्थितस्यैव सम्भवात्, न [illegible] भूतो वा घटादिः [illegible]—उपदृष्टान्तश्चेति । [illegible]—तद्वदिति अवस्थिते घटे [illegible] कृतकत्वेन यथा व्यपदिश्यते तथैवावस्थितपुरुषस्यैव मरणव्यपदेशः जन्मना तदविनाभावादिति भावः । [illegible] स्थितस्यैव जन्मिनो मरणमित्यर्थे दृष्टान्तं [illegible] घटाद्यनित्यधर्मिव्यपदेशवत्, जन्मिनोऽवस्थित-पुरुषस्यैव मरणधर्मित्वेन व्यपदेश इत्याह—इति दृष्टान्तयति । ननु भवतु मरणधर्मी प्राणी स्थितस्यैव च मरणम् तथापि [illegible] न तस्य मरणमित्यत आह—आयुष्केति [illegible] जन्ममरणे आयुषि भवे आयुष्क, ते च ते जननमरणे च [illegible] जननमरणे आयुर्निमित्ते च [illegible] यदा आयुः तदा जायते जीव आयुष्कर्म [illegible]

---

१ सि. क्ष. डे. परिक्ष्यमाणायुष्कम् ।

आयुष्कजननेत्यादि, आयुःकर्मणा व्यवस्थितेन जीवस्य जननमरणे नासता आयुष्माविना, नार्थान्तरेणासतापरिगृहीतपरमाण्वात्मकश्च्यविना वा यथोक्तं—'आयुष्कवशेन जीवो जायते जीवति च आत्मस्थे । अथ आयुषोदय वा मरति च सम्यायुष्क्षये वा ॥' (   ) तस्मात्तयोः जन्ममरणयोर्द्वयोरपि, तत्रायुःकर्मणि स्थिते-विद्यमाने विद्यमान एवात्मा स्वयमुदीर्णायुष्कर्मपरिपक्वो जायते स एव म्रियते, गुणभूतकर्मत्वात् अस्ति च क्रियानुपपत्तेः, भावान्यासति पपुष्ये जन्ममरणप्रतिनियम उपपद्यते, नाप्यर्थान्तरे तत्परिणमत्स्वे गमनाद्यौ ।

तथा चाभियुक्ताः पठन्ति भूष प्राणत्यागे इति (धातुपा १४९८) व्यवस्थितो जीवो प्राणानुपादाय त्यजति, उपादत्ते च तानेव तत्र तत्कृतत्वात् किं सन्धानेन ।

तथा चाभियुक्ताः पठन्तीति, ज्ञापकमाह, के पुनरभियुक्ताः ? अर्थप्रवृत्तितत्त्वनिबन्धनस्य स्वरूपपरिज्ञानस्य व्याकरणेऽभियुक्ताः वैयाकरणाः, यथाह—'अर्थप्रवृत्तितत्त्वानां शब्दा एव निबन्धनम् । तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते ॥' (वाक्यप का १ श्लो १३) तस्मादर्थतत्त्वस्य व्यवस्थापनार्थप्रवृत्तेः अर्थतत्त्व व्यवस्थापयितुं महत्तराद्वैयाकरणाः पठन्ति— मृङ् प्राणत्यागे इति व्यवस्थितो जीवो म्रियते प्राणानुपादाय—इन्द्रियायुर्बलोच्छ्वासलक्षणान् त्यजति, उपादत्ते च तानेव जायत इति, तत्र तत्कृतत्वात्—जीवैकप्रकारेऽवस्थितप्राणोपादानत्यागात्मकजन्ममरणात्मकायुःकर्मसाकृतत्वात्मकत्वात् किं सन्धानेन ? किं प्रयोजनं कल्पितेन सन्धानेन ? नास्तीत्यर्थः ।

वा म्रियत इति न दृष्टान्तादिरूपे मरणेऽपरमिति भाव । व्यवस्थितेनायु कर्मणा जन्ममरणे इत्याह आयुः कर्मणेति । तत्र व्यवस्थितस्य स्थितत्वेन सावयवैरानर्थान्तरभूतत्वेन च अनर्थान्तरभूतत्वं चासत्वाऽऽयु कर्मपुद्गलपरिणामेनासत्त्वं प्रत्याह ॥ इति भावः । व्यवस्थितत्वमेव व्यावर्तयितुमाह दर्शयति—नासतेति । आयुषो वशेन जन्ममरणे इत्यत्राग्मं प्रमाणयति 'आयुष वशेन' इति आयुष्कवशेन जीवो जायते जीवति चाऽऽयुष्कक्षये । अन्यायुष्कोदये वा म्रियते तु सर्वायुर्नाशे वा ॥ इति । तथा व्याख्यातार्थं । स्थित एव आयु कर्मणि स्थित एवात्मा स्वोपार्जितायुष्कर्मणा स्वात्मार्थान्तरभूते जायते स एव पूर्वे आयु कर्मोपक्षये म्रियते न तदविद्यमानेऽस्यन्ताभावरूपेऽनर्थान्तरत्वात्प्रत्यये आत्मनि तं च इत्याह—तस्मात्तयोरिति । व्यवस्थिते जन्ममरणादिक्रियानुपपत्तिमाह—असतीति चेति । अनभिव्यक्तस्य जीवस्य जन्ममरणे स्वतः स्वमाभियुक्ताः व्याकरणेऽपि ज्ञापकत्वं दर्शयति—तथा चेति । अभियुक्ताना स्वरूपमाह—के पुनरिति । अर्थेति । अर्थनिबन्धनेति [illegible] तत्त्वार्थप्रकाशनेऽभिप्राय [illegible] अभियुक्ता वैयाकरणा इत्यर्थः । तदर्थं श्लोका वाक्यपदीयेऽप्याह अर्थप्रवृत्तीति । अर्थप्रवृत्तीनां प्रवृत्तो—व्यवहारे व्यवहारस्य [illegible] च तत्त्वानि निमित्तानि—वाक्तियुक्तिविमर्शनया शब्दानुसरणाभावे इदं तद्विषयं शब्दानां व्यवहारोऽप्रसङ्गात्, तेषां शब्दा एव निबन्धनं—बोधकं तदर्थप्रकाशनस्य शब्दमूलत्वात्, शब्दोच्चारणमन्तरेण व्यवहारप्रवर्तनासम्भवात्, तत्र शब्दानां तत्त्वे—साधुत्वं तदर्थयोग्यत्वं वा तत्त्वाववबोधो—निश्चयो व्याकरणमन्तरेण न सम्भवतीति तदर्थं । तस्मादर्थतत्त्वस्यापेति, अर्थतत्त्वस्य तत्त्वार्थमहता वैयाकरणा अभियुक्ता त पठन्ति मृङ् प्राणत्यागे इति म्रियत इत्यत्र मृधातोः प्राणानां त्यागे वर्तेत इत्यर्थः । प्राणत्यागमाह व्यवस्थित इति । जीवो स्वाभिमान् प्राणान् यदा त्यजति तदा म्रियत इति उच्यते तदेवोपादत्ते तदा जायत इति व्यवह्रियत इति भाव । सारभूतमाह तत्र तत्कृतत्वादिति एव प्रकारे आयु कर्मणि आत्मनः आयुष्कजन्ममरणस्वस्वरूपत्वेन । कीदृश आयुः कर्मणि ? व्यवस्थित प्राणोपादानत्यागात्मके जन्ममरणात्मक आयु कर्मणा कृतत्वात् जायते म्रियत इति व्यवहारे नानवस्थितधर्मिकल्पनया प्रतिषेधमाह—किं सन्धानेनेति । अनुक्तं प्राह तदेव नाशो भावस्य व्यया प्रध्वंसेति व्यास्य

१ प्र. वे प्र. टि. अयम् ।

किञ्चान्यत्—

यदप्युक्तं तस्यैव भावस्य व्ययत्वात् विनाशेनोत्पादस्य क्षणोऽस्यास्तीति क्षणिक इति व्यपदेशो न्यायादनपेत इति तदपि न किञ्चित्, उत्पद्यमानविनश्यतोरपि तावत् भावयोस्त्वन्मतेऽभूतत्वात् सम्बन्धाभावः, किमङ्ग पुनस्तदुभयभावशून्ययोरुत्पादविनाशयोः सम्बन्धकथा ? तयोरसत्त्वभूतत्वादवस्तुत्वाच्च, असम्भाव्यप्रवृत्त्योः, अपि चात्रापि तस्यैव भावस्य व्यय इति षष्ठ्यर्थानुपपत्तिरपि, असम्बन्धात्, सम्बन्धाभावश्चासहभावात्।

यदप्युक्तमित्यादि, तस्यैव भावस्य व्ययत्वात् विनाशेनोत्पादस्य क्षणोऽस्यास्तीति क्षणिक इति व्यपदेशो न्यायादनपेत इति त्वया यदुक्तं तदपि न किञ्चित् नार्थो न न्याय्यत्वात् तद्दर्शयति— उत्पद्यमानविनश्यतोरपि तावदित्यादि, यावेवाङ्कुरपूर्वविनंष्टारौ भावौ तावेवापि त्वन्मते न स्तः, उत्पाद एवाङ्कुर इति वचनात्, तयोरभावभूतत्वादभावत्व खपुष्पयोरिव सम्बन्धाभावः, तस्मादुत्पत्त्यैव विनष्टेत्युक्त वचनम्, किमङ्ग ! पुनरित्यादि, दूरत एवोत्पद्यमानविनश्यदर्थाभावे तदुभयभावशून्ययोरुत्पादविनाशयोः सम्बन्धकथा कुतः ? तयोरसत्त्वभूतत्वात्, असत्त्वभूतस्य अवस्तुत्वाच्च,—न वस्तुनी स्तः यतोऽनयोरुत्पादविनाशौ भवतः तदाधारवस्तुत्वात्, तौ चासम्भाव्यप्रवृत्ती खपुष्पवत् असम्भाव्यप्रवृत्त्योरेव सम्बन्धाभाव इति दर्शयति, किञ्चान्यत्—अपि चात्रापीत्यादि, यथैवात्यन्तभिन्नसम्बन्धाभावात् सहभाविनोरुत्पादविनाशयोः क्षणिक इति व्यपदेशाभावः तथा तस्यैव भावस्य व्यय इति षष्ठ्यर्थानुपपत्तिरपि, असम्बन्धात्, सम्बन्धलक्षणा हि कारकविभक्तयः, कारकाविवक्षायां शेषसम्बन्धे प्रातिपदिकार्थव्यतिरेके षष्ठीविधानात्, सम्बन्धाभावश्चासहभावादिति।

व्यपदेश इति तद्विपर्ययमाह—यदप्युक्तमिति। विनाशस्यैव भावस्योत्पादस्य धर्म इति उत्पादस्य क्षणिकत्वेन व्यपदेशो न्यायसङ्गत एवेति पूर्वपक्षिणोक्तमिति दर्शयति—तस्यैव भावस्येति। अनुपपत्तिमेवाह—उत्पद्यमानेति, उत्पद्यमानस्य विनाश्यमानस्य च भावस्य तव मतेनासत्त्वमेव [illegible], उत्पाद एवाङ्कुर इति त्वयैवोक्तत्वात्, तदुभयाभावि[illegible] खपुष्पवदसत्त्वात् [illegible] अभावरूपयोः परस्परं सम्बन्धाभावादिति भावः। अथ [illegible] किमु वक्तव्यं तदुभयभावशून्ययोरुत्पादविनाशयोः सम्बन्धे इत्याह किमङ्गेति। हेतुमाह—तयोरिति उत्पादविनाशयोरित्यर्थः। [illegible]—असत्त्वभूतत्वमिति। एवञ्च तयो[illegible] सम्बन्धाभावं समर्थयति—तौ चेति। [illegible]। यथा चोत्पादविनाशयोः सहभावाभावा[illegible] तथैव तस्यैव भावस्य व्यय इत्यत्रापि भावस्येत्यत्र षष्ठी न सम्भव[illegible]—अपि चेति। भावस्येत्यत्र षष्ठी शेषे भवति कारकविभक्तित्वात्, [illegible] [illegible], क्रियानिर्वर्तकत्वं [illegible] [illegible] एव, [illegible] [illegible], अत एव कारकषष्ठीनिषेधः [illegible] क्रिया[illegible]—सम्बन्धलक्षणा हीति, यथा राज्ञः पुरुषः [illegible] राज्ञः पुरुष इति [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] षष्ठी [illegible]। [illegible]—कारकाविवक्षायामिति। [illegible]—सम्बन्धाभावश्चेति।

आह—

नन्वसद्भावनेऽपि षष्ठी विकारविषया, प्रकृत्युपमर्देन विकारः, तद्यथा—धानानां सक्तवः, तण्डुलानामोदन इति, न चात्र प्रकृतिर्निर्वृत्यवस्थायामस्ति, अथ च प्रकृतौ षष्ठी श्रूयते धानानां तण्डुलानामिति एतदपि न, द्रव्यपर्यायसद्भावात्, धानातण्डुलादिप्रकृतेरेव सक्त्वोदनत्वादिविकारपरिणामाभ्युपगमात्तथाऽवस्थानात्, विनाशो घटस्य इव, तस्मात् स्वभावस्यापरित्यागवृत्तेराविर्भावतिरोभावौ सर्वभावानामतः सहभाविनोरेव सम्बन्धादुपपद्यतेऽत्रापि षष्ठी भावस्य व्यय इति भावो विपरिणमते भवन्नेव वर्तते वोदति यस्त्वुक्तं भवति, अतोऽन्यथा द्रव्ययोरुत्पादविनाशयोर्वस्तुत्वमयुक्तमिति भाव एव स नेति कुतोऽस्योत्पादो विनाशो वा ।

(नन्विति,) नन्वसद्भावनेऽपि विकारविषया—विकारलक्षणा, प्रकृत्युपमर्देन विकारः, तद्यथा—धानानां सक्तवः तण्डुलानामोदन इति, न चात्र प्रकृतिर्निर्वृत्यवस्थायामस्ति, अथ च प्रकृतौ षष्ठी श्रूयते धानानां तण्डुलानामिति, अत्र ब्रूमः एतदपि न, कस्मात्? द्रव्यपर्यायसद्भावात्-द्रव्यं प्रकृतिर्धानातण्डुलादिः पर्यायेण विशेषेण विकारेण सह वर्तते धानातण्डुलादिप्रकृतेरेव सक्त्वोदनादिविकारपरिणामात् तथा तथा व्यवस्थानात्, किमिव? घटस्य विनाश इति, यथा मृद्द्रव्यस्यैव पिण्डशिवकादिक्रमभाविपर्यायस्यापि सहभाविपर्यायस्य घटस्यैव कपालत्वेन मृदात्मनः परमाण्वादिविशेषावपरिणामव्ययवर्तमानान्तरेण वर्तनं विनाशो घटस्येत्युच्यते तस्मात्स्वभावापरित्यागवृत्तेराविर्भावतिरोभावौ सर्वभावानामतः सहभाविनोरेव सम्बन्धादुपपद्यतेऽत्रापि षष्ठी भावस्य व्यय इति भावो व्ययते भवन्नेव वर्तते यो वर्तते येनोक्तं भवति द्रव्याद्यपरित्यागेनोत्पादव्ययवृत्तेः अतोऽन्यथा द्रव्ययोरुत्पादविनाशयोर्निर्बीजयोर्वस्तु अयुक्तमिति

असद्भावविवक्षायामपि सम्बन्धो दृश्यते यथा धानानां सक्तवः तण्डुलानामोदन इत्यादि विकारं प्रकृत्युपमर्देन समुत्पन्नम्, निरन्वय-विनाशात् प्रकृतेस्तदा [illegible] विकारावस्थायां प्रकृतेरभावस्तथापि षष्ठी दृश्यत इति न दोष इति शङ्कते—नन्वसद्भावनेऽपीति । भाष्ये—विकारलक्षणेति, धानातण्डुलादि [illegible] षष्ठी श्रूयत एव न हि [illegible] इति भाव । [illegible] द्रव्यस्य [illegible] समाधत्ते—द्रव्यपर्यायेति, एवं धानातण्डुलादि, [illegible] न हि [illegible] सहभावाभावे विकारविकारिभावोऽसम्भवः विकारोऽन्य विकारीति [illegible] सम्भवति [illegible] इति सहभावोऽभिप्रेतो भाव । निदर्शनमाह—घटस्य विनाश इति पिण्डशिवकादि [illegible] कपालत्वेन परमाणुपर्यन्तपरिणामव्ययवर्तमानान्तरेण वर्तनं घटस्य विनाश उच्यते [illegible] भाव । तस्मात् सहभाविनोरेव सम्बन्धे षष्ठ्युपपत्तेः [illegible] भावस्य व्यय इत्यत्रापि [illegible] भावो भवन्नेव व्ययते वर्तते येति च द्रव्यापरित्यागेनोत्पादविना-शयोर्वृत्तिः—अतः सहभाविनोरेवेति । द्रव्यापरित्यागे तु उत्पादव्यययोर्निर्बीजत्वेनासत्त्वेऽपि [illegible] हि वस्तुव्यतिरेकी [illegible] इत्याह—अतोऽन्यथा हीति । द्रव्यापरित्यागेन तयोरिति [illegible] ।

१ सि. भ. डे. भा. [illegible] । २ सि. भ. भा. डे. [illegible] । ३ सि. क्ष. भा. डे. [illegible] ।

मनुमेयाश्रयमेवत्, भाव एवासौ भवत्स्वामिमतो नास्ति, कुतोऽस्योत्पादो विनाशो वा धर्मो द्रव्यार्थसाधने ? खपुष्पस्येव ।

तद्वैधर्म्येण द्रव्यार्थवादिन एवोत्पादविनाशोपपत्तिप्रदर्शनार्थमाह—

भवन्ती हि मृत् भवति उत्पद्यते तद्यथा शिवकस्य स्तूपकीभावः सैव च मृत् भवन्ती भवेति, स्तूपकत्वेनोत्पद्यमाना शिवकत्वाद्भवेति, भवनाद्धि भावः, भावस्य व्यय इत्यत्र भावशब्दोऽप्येव घटते नान्यथा, यस्तु त्वयोक्तो भावः स भाव एव न, पूर्वमभावात् पश्चाद् भावात् पूर्वं पश्चाच्चाभावात् वन्ध्यापुत्रवत् ।

(भवन्तीति) भवन्ती हि मृत्—द्रव्यार्थेन भवन्त्येव भवन्ती-स्वरूपमजहती भवत्युत्पद्यते तद्यथा—शिवकस्य स्तूपकीभावः उत्पादे स्तूपक इति निदर्शनम्, सैव च मृत् भवन्ती भवेति, तन्निदर्शने—स्तूपकत्वेनोत्पद्यमाना शिवकत्वात् भवतीति, भवनाद्धि भावः भावस्य व्यय इत्यत्र योऽयं भावशब्दः सोऽप्येवमस्मदुक्तद्रव्यार्थविषय एव घटते यदर्थस्य व्यय उच्यते, नान्यथा—यत्त्वमयत् खपुष्पायद्रव्यमनोत्पद्यते न भवेति वा, एवमित्यपि, इत्यमुक्तन्यायेन त्वयोक्तो भावः स भाव एव न भवति, कस्मात् ? पूर्वमभावात्—भवनाभावादित्यर्थः, भाव एव स नहि वर्त्तते एवमेषो प्रत्येकं हेतुः, समुदितावपि—तद्यथा—पूर्वं पश्चाच्चाभावादिति, त्रयाणामपि हेतूनां वन्ध्यापुत्रवदित्येक एव दृष्टान्तः, त्वन्मतेनैव वा एते हेतवः सिद्धाः, उत्पादप्रागभावस्यैव सत्त्वाभ्युपगमात्, अतो भाव एव न स इति साधूक्तम् ।

स्यात् प्रत्याशा वर्त्तमानक्षणे भावो भवितुमर्हतीति सापि न कार्या, त्वदुक्ताद् एव, प्राक् पश्चात् मध्ये चाभावात्, त्वदुक्तनादेव भावस्येति षष्ठी यदि कर्तृलक्षणा, स एव भावः—उत्पादः भवेति—विनश्यति न भवति इत्युक्तं भवति, यदि कर्मलक्षणा, विनाशोऽकर्तृकः केनोत्पादो निवर्त्त्येतेत्ययुक्त एव भावः, तस्मात्स एव न भवतीति मध्येऽप्यभावः ।

(स्यादिति) स्यात् प्रत्याशा वर्त्तमानक्षणे भावो भवितुमर्हतीति, साऽपि न कार्या-प्रत्याशा, त्वन्मतेऽप्यवस्थापावसत्त्वात्, तत आह—यथा-त्वदुक्ताद् एव प्राक् पश्चान्मध्ये चाभावात्, भाव एव न स

द्रव्यार्थविषयत्वैकस्मिन्नेवोत्पादविनाशावुपपद्येते इति प्रदर्शन इति—भवन्ती हीति । मृत् स्वस्वरूपमजहती शिवकाकारेण स्तूपकत्वेनोत्पद्यते सैव स्तूपकत्वेनोत्पद्यमाना सत् शिवकत्वेन भवति तत्र तत्र भवनेन भवनात् हि परामर्शेन उच्यत इत्याशयेन भावपदि—द्रव्यार्थेन भवन्त्येवेति । भावस्य व्यय इत्यत्रापि तथा तथा भवनेन भावो द्रव्यार्थविषय एव नान्यथा भवति पर्यायत इत्याह—भावस्य व्यय इत्ययमेवेति । अस्मदुक्ते भवतस्त्वन्मते वा वस्तुन्येवैवाह—नान्यथेति । त्वन्मते तु भावो भवनाभावप्रत्यय एव न सम्भवति न हि स भाव उत्पादाभिमतः पूर्वमपि भवतीति पूर्वं पश्चादस्ति वा वन्ध्यापुत्रवदित्याह—इत्यमुक्तन्यायेनेति । हेतुमाह—पूर्वमभावादिति उत्पादक्षणात्पूर्वमभावादित्यर्थः न केवलं पूर्वं न भवति पश्चाद् भवति पूर्वं पश्चाच्च न भवति स भाव एव न भवति वन्ध्यापुत्रवदित्यर्थः । हेतुत्रयमपि सिद्धमित्याह—त्वन्मतेनैवेति । पूर्वं पश्चाच्चाभावेऽपि उत्पादक्षणे स भविष्यतीत्याशङ्कते—स्यात् प्रत्याशेति । वर्त्तमानक्षणे भावो भवतीत्याशयापि मा कुरु तदानीमपि तस्याभावादित्याह—साऽपि न कार्येति प्रत्याशा प्रत्याशायां पश्चादभावस्य हेतुमाह—यथा त्वदुक्ताद

आह—

नन्वसहभवनेऽपि षष्ठी विकारविषया, प्रकृत्युपमर्देन विकारः, तद्यथा—धानानां सक्तवः, तण्डुलानामोदन इति, न ह्यत्र प्रकृतिर्विकृत्यवस्थायामस्ति, अथ च प्रकृतौ षष्ठी श्रूयते धानानां तण्डुलानामिति एतदपि न, द्रव्यपर्यायसहवृत्तेः, धानातण्डुलादिप्रकृतेरेव सक्त्वोदनत्वादिविकारपरिणामात्तथातथाऽवस्थानात्, विनाशो घटस्य इव, तस्मात् स्वात्मपरित्यागवृत्तेराविर्भावतिरोभावी सर्वभावानामतः सहभाविनोरेव सम्बन्धादुपपद्यतेऽत्रापि षष्ठी भावस्य व्यय इति भावो विधीयते भवत्येव वर्तते वोदेति चेत्युक्तं भवति, अतोऽन्यथा ह्यद्रव्ययोरुत्पादविनाशयोर्वस्तुत्वकल्पनमिति भाव एव स नेति कुतोऽस्योत्पादो विनाशो वा?

(नन्विति,) नन्वसहभवनेऽपि विकारविषया—विकारलक्षणा प्रकृत्युपमर्देन विकारः, तद्यथा—धानानां सक्तवः तण्डुलानामोदन इति, न ह्यत्र प्रकृतिर्विकृत्यवस्थायामस्ति, अथ च प्रकृतौ षष्ठी श्रूयते धानानां तण्डुलानामिति, अत्र ब्रूमः, एतदपि न, कस्मात्? द्रव्यपर्यायसहवृत्तेः—द्रव्यं प्रकृतिर्धानातण्डुलादिः पर्यायेण विशेषेण विकारेण सह वर्तते धानातण्डुलादिप्रकृतेरेव सक्त्वोदनादिविकारपरिणामात् तथातथा व्यवस्थानात्, किमिव? घटस्य विनाश इति, यथा मृद्द्रव्यस्यैव पिण्डशिवकादिक्रमभाविपर्यायः कपालि-सहभाविपर्यायश्च घटस्यैव कपालत्वेन घटात्मनः परमाण्वादिसंघातपरिणामव्यवस्थानान्तरेण वर्तनं विनाशो घटस्येत्युच्यते, तस्मात्स्वात्मपरित्यागवृत्तेराविर्भावतिरोभावी सर्वभावानामतः सहभाविनोरेव सम्बन्धादुपपद्यतेऽत्रापि षष्ठी भावस्य व्यय इति भावो व्ययते भवत्येव वर्तते वोदेतीति चेत्युक्तं भवति द्रव्यस्यापरित्यागेनोत्पादव्ययवृत्तेः, अतोऽन्यथा ह्यद्रव्ययोरुत्पादविनाशयोर्निर्बीजयोर्वस्तुत्वकल्पनमिति

असहभावित्वेऽपि सम्बन्धो दृश्यते यथा धानानां सक्तवः तण्डुलानामोदन इत्यादि विकारे प्रकृत्युपमर्देन सम्भूतम्, निरन्वयविनाशम्, [illegible] यथा [illegible], [illegible] सर्वे [illegible] प्रतीतेर्विरुद्धम्, एवम् [illegible] एतयो [illegible] षष्ठी दृश्यते इति न दोष इति चेत्—सम्बन्धासहभावित्वेऽपीति । व्याख्येयविकारलक्षणापेति धानासक्तूनां [illegible] तण्डुलौदनयोः [illegible] षष्ठी दृश्यत एव न हि [illegible] इति भावः । [illegible], द्रव्यस्य धानातण्डुलादेः [illegible] समाधत्ते—द्रव्यपर्यायेति, द्रव्यं धानातण्डुलादि, [illegible] न हि [illegible] भवति, [illegible] इति [illegible] भावः । निदर्शनमाह—घटस्य विनाश इति, [illegible] परमाणुसंघात [illegible] विनाशः [illegible] द्रव्यपर्यायस्य [illegible] भावः । [illegible] सहभाविनोरेव सम्बन्धे षष्ठ्युत्पत्तेः [illegible] भावो [illegible] इति [illegible]—अतः सहभाविनोरेवेति । [illegible] भावो [illegible], [illegible] इत्याह—अतोऽन्यथा हीति । द्रव्यापरित्यागेन [illegible] ।

1 सि. क्ष. ड. डा. भावविषय । २ सि. क्ष. भा. डे. [illegible] । ३ सि. क्ष. भा. ड. [illegible] ।

मनुभवेदाऽत्यन्तमेतत्, भाव एवासौ वस्तुत्वाभिमतो नास्ति, कुतोऽस्योत्पादो विनाशो वा धर्मो द्रव्यार्थस्याभावे ? खपुष्पस्येव ।

वैधर्म्येण द्रव्यार्थवादिन एवोत्पादविनाशोपपत्तिप्रदर्शनार्थमाह—

भवन्ती हि मृत् भवति उत्पद्यते तद्यथा शिवकस्य स्तूपकीभावः सैव च मृत् भवन्ती व्येति, स्तूपकत्वेनोत्पद्यमाना शिवकत्वाद्व्येति, भवनाद्धि भावः, भावस्य व्यय इत्यत्र भाव शब्दोऽप्येवं घटते नान्यथा, एवन्तु त्वयोक्तो भावः स भाव एव न, पूर्वमभावात् पश्चादभावात् पूर्वं पश्चाच्चाभावात् वन्ध्यापुत्रवत् ।

(भवन्तीति) भवन्ती हि मृत्—द्रव्यार्थेन भवन्त्येव भवन्ती-स्वरूपमजहती भवत्युत्पद्यते, यथा—शिवकस्य स्तूपकीभावः उत्पादे स्तूपक इति निदर्शनम्, सैव च मृत् भवन्ती व्येति, तन्निदर्शनं—स्तूपकत्वेनोत्पद्यमाना शिवकत्वात् व्येतीति, भवनाद्धि भावः, भावस्य व्यय इत्यत्र योऽयं भावशब्दः सोऽप्येवमस्मदुक्तद्रव्यार्थविषय एव घटते, भावस्य व्यय उच्यते, नान्यथा—त्वन्मतवत् खपुष्पादद्रव्यं यन्नोत्पद्यते न व्येति वा, एवन्त्विन्यथा, इत्यमुक्तन्यायेन त्वयोक्तो भावः स भाव एव न भवति, कस्मात् ? पूर्वमभावात्—भवनाभावादित्यर्थः, भाव एव स नहि घर्षते, एवमेतौ प्रत्येक हेतू, समुदितावपि—तथथा—पूर्वं पश्चाच्चाभावादिति, प्रमाणमपि हेतूनां वन्ध्यापुत्रवदितेक एव दृष्टान्तः, त्वन्मतेनैव वा एते हेतवः सिद्धाः, उत्पादक्षणस्यैव सत्त्वाभ्युपगमात्, अतो भाव एव न स इति साधूक्तम् ।

स्यात् प्रत्याशा वर्त्तमानक्षणे भावो भवितुमर्हतीति सापि न कार्या, खपुष्पवदेव, प्राक् पश्चात् मध्ये चाभावात्, स्वरूपनादेव भावस्येति षष्ठी यदि कर्तृलक्षणा, स एव भावा-त्मलाभः व्येति—विनश्यति न भवति इत्युक्तं भवति, यदि कर्मलक्षणा, विनाशोऽकर्तृकः केनोत्पादो निवर्त्येतेत्ययुक्त एव भावः, तस्मात्स एव न भवतीति मध्येऽप्यभावः ।

(स्यादिति) स्यात् प्रत्याशा वर्त्तमानक्षणे भावो भवितुमर्हतीति, साऽपि न कार्या-प्रत्याशा, कस्मात्प्रत्ययत्रयाभावसत्त्वात्, तद् आह—यथा-खपुष्पवदेव, प्राक् पश्चान्मध्ये चाभावात्, भाव एव न स

इत्यादेश्चेतस्यात्मलाभस्यैवोत्पादविनाशावुपपद्येते इति प्रदर्शन इति—भवन्ती हीति । यत् स्वरूपमजहती शिवकादिस्य स्तूपकत्वेनोत्पद्यते सैव स्तूपकत्वेनोत्पद्यमाना सा शिवकत्वेन व्येति तेन तेन प्रकारेण भवनादेव हि पराभिमत उत्पत्त इत्यादयेव व्येतीति-द्रव्यार्थेन भवन्त्येवेति । भावस्य व्यय इत्यत्रापि तथा तथा भवनेन भावो द्रव्यार्थविषय एव नान्यथा व्यय उपपद्यत इत्याह—भावस्य व्यय इत्यत्रेति । क्वचिदुत्पादव्ययौ वा खपुष्पस्येत्याह—नान्यथेति । त्वदभिमतस्तु भावे क्षणमात्रत्वात् एव न उत्पद्यते न हि च भाव उत्पादाभिमतः पूर्वमस्ति पश्चादस्ति पूर्वं पश्चाच्चास्ति वा वन्ध्यापुत्रवदित्याह—इत्यमुक्तन्यायेनेति । हेतुमाह—पूर्वमभावादिति, उत्पादक्षणात्पूर्वमभावादित्यर्थः न केवलं पूर्वं न भवति पश्चाच्च भवति पूर्वं पश्चाच्च न भवति च भाव एव न भवति वन्ध्यापुत्रादिवदित्यर्थः । हेतूनामसिद्धिं प्रत्याह—त्वन्मतेनैवेति । पूर्वं पश्चादभावेऽपि उत्पादक्षणे स भवत्येवेत्याशङ्कते—स्यात् प्रत्याशेति । वर्त्तमानक्षणे भावो भवत्वभावोऽपि वा कुतः, तदाभावमपि तत्प्रत्ययादिति समाधत्ते—खपुष्पमपीति, प्रत्ययत्रये पश्चात्प्रत्ययानां वर्त्तमानक्षणाभावप्रत्ययत्वाभिप्रायः । तदेव दर्शयति—यथा खपुष्पवद

इति वर्तते, प्राक् पश्चाच्चाभावत्वमद्रव्यत्वादसम्भवेनोक्तम्, अधुना त्वन्मते वर्तमानक्षणेऽप्यसत्त्वं साध्यते प्राक् पश्चाच्चाभावत्व सिद्धस्येव भवतीति तत्प्रदर्शयितुमाह तद्व्यवहारेण—यथा-यथा श्रूयते तथैव भावो भावस्य भव इति, व्यपदेशप्रसिद्धिसाधनार्थेन वचनेन, तस्य भावमर्थो भावस्येति कर्तृलक्षणा षष्ठी स्यात् कर्मलक्षणा वा यदि कर्तृलक्षणा स एव भाव उत्पादो भवेति विनश्यति न भवति तेनैव विधीयते न भूयते विनश्यतीत्युक्त भवति, कोऽसौ न भवति, ? उत्पाद एव, यदि कर्मलक्षणा ततो विनेश[ऽ]कर्तृक उत्पादो निवर्त्स्येतीत्युक्त एव भावः, तस्मात् स एव न भवति-उत्पाद इति मन्येऽप्यभावः, तस्मात् प्राक् पश्चाच्चाभावात् भावस्य भव इति वचनात् प्रसिद्धो भावार्थो स्यात् ।

अपि च तन्तुकानामोचन इत्यत्रोचनस्य स्वकालसमवस्थायिद्रव्यकृतविकारान्तरगतेः सम्भवेदियं गतिः, त्वन्मते तु तद्वैधर्म्यात्तदासावसन्निहित एव भावः कथं भवेतीत्युच्यते ? यदि यदा सन्निहितस्तदैव भवेति नैव तर्ह्युत्पद्यते, अथोत्पद्यते न तर्हि भवेति, तस्मादन्ययो-र्विप्रतिषेधात् क्रूर एव तत् ?

(अपि चेति) अपि च तन्तुकानामोचन इत्योचनस्य विकारत्वाऽऽगमनकाले द्रव्यार्थता तन्तुकानां समवस्थायित्वादोचनेन सह स्वकृतत्वाद्विकारान्तरोचनत्वं तत्र द्रव्ये पूर्वं गन्धेनुपपत्तेः तन्तुकाः, सम्भवेदियं गतिरीदृशी त्वन्मते तु तस्य अपि स्वकालसमवस्थायिद्रव्यकृतविकारान्तरगतेर सम्भवात् तद्वैधर्म्यात् तदासावसन्निहित एव भावः-उत्पादः स्वविडोऽसन्नेव कथं भवेतीत्युच्यते,—अप्युत्पन्न परसन्निहितः केन न्यायेन भवेतीति शक्यते वक्तुम्, साम्प्रतं यदा सन्निहितस्तदा भवेतीत्युच्यत इति,

यदेति तदभिमत च भावो भाव एव न भवति प्राक् पश्चान्मध्ये चाभावात् प्राक् पश्चाच्चभावे द्रव्यास्वमनुत्पन्नत्वात्, नास्ति द्रव्यस्याक्रमस्य तस्य भावत्वाद्द्रव्यत्वादिति भवाऽऽप्राक्सिद्धम्, मध्येऽपि च न भाव इति भावस्य भव इति तदेवक्षणे तत्त्वैव विनाशीति भावः । प्राक् पश्चाच्चाभावस्तस्युक्तस्तेन सिद्धस्यैषो मध्येऽप्यसत्त्वेन साधयितुं प्रथम इत्यत्र—प्राक् पश्चाच्चेति । तथैव भावो भावस्य भव इति तथा व्यपदेशसिद्ध्यर्थं वचनमुक्तम्, तत्र च भावस्येति षष्ठी भूयते वा न इत्यर्थस्वात्मप्रयोगेन कर्तुः कर्मणो वा भवति तत्र कर्तृत्वे कर्मणीति इत्यादि-तस्य भावमर्थ इति । कर्तृलक्षणपक्षे भावः कर्ता स्यात् तथा च भावो भवेति-विनश्यति-न भवतीति भावकर्तृके विनाशे भवत्यभावे भावैव तेन विधीयते भावेन न भूयते भावो विनश्यतीत्युक्तं भवति तस्मात्मभावस्याप्यपि उत्पादस्वभावत्वेन न्यायेनोक्त इति भावः । यदि भावस्य भव इति कर्मलक्षणा षष्ठीत्युच्यते तर्हि भावो न विनाशं प्रति कर्ता स्यात्, तस्य कर्मत्वाभ्युपगमात्, अन्यस्य तु कर्तृत्वं चाभ्युपगमते 'यादीरेव हि भवानां विनाशो हेतुरिष्यते' इति तदेवोपगमात्, तथा च विनाशोऽकर्तृक इति विनाशा-भ्युपगमात्, तत्र भावस्य निवृत्तिरेव न स्यात्, निवर्त्स्यतयापादितस्येत्यत्र—यदि कर्मलक्षणेति । तदन्तरमपि—तस्मात् प्राक्पश्चिति, भावस्य भव इति वचनेन प्रसिद्धत्वसाधनवासार्थ्यं न सम्भवतीति भावः । द्रव्यार्थस्य एव तन्तुकस्याधोरण इत्यादि निर्देश तन्मते, ओचनादिविकारकाले द्रव्यस्य तदेवविकारान्तरसमवस्थायित्वाद् अपि चेति । व्याचष्टे-अपि च तन्तुकस्यापीति ओचनादिविकारकाले द्रव्यार्थतया तन्तुकत्वे वर्तमानत्वात् तत्र विकारस्य उत्पन्नेन तन्तुस्य ओचनत्वमुपपन्न इति भावः । तव मते द्रव्यस्य तथाविधविकारान्तरत्वं न सम्भवति विकारकाले विनाशोत्पादात् एवं कथं भावस्य भव इत्याद—त्वन्मते रिक्तः । यदा भाव सन्निहितस्तदैव भवेतीत्युच्यते इत्यत्रापि व्याप्यव्यतिरिति । व्यत्ययेन तथा किन्तु च

1 सि. क्ष. प्र. डे. °न्यसत्वे स्वात्मेन । 2 सि. क्ष. प्र. डे विनाशकर्तृकः ।

ननूत्पन्नोऽभ्यते सम्प्रधार्यः स एव वर्तते तथैवानुत्पन्नमिति, यदि यदा सन्निहितस्तदैव व्येति नैव तर्ह्युत्पद्यते न सन्निहितः न भवति–नासीदित्यर्थः, अथोत्पद्यते भवति सन्निहितो न तर्हि व्येति, कस्मात्? उत्पादव्ययोर्विप्रतिषेधाद्विरुद्धः प्रतिषेधो विप्रतिषेधः, उत्पादो व्ययेन विरुध्यते व्ययश्चोत्पादेन, अतो विरुद्धत्वात् परस्परनिवारित्वाद्विप्रतिषेधात् कुत एव तत्?–तद्वचन तस्यैव भावस्य व्यय इति, दूरत एव न घटतेऽभावादिति, एवं तावदुत्पादक्षण एव विनाशक्षण इति यदुक्तमयुक्तम्, विप्रतिषेधात्।

न केवलमस्यैव न घटते किं तर्हि?—

एवञ्चोत्तरोऽप्यस्य विनाशक्षणो नैव भवति, यतः तदपेक्षः क्षणोऽस्यासीदिति क्षणिक उच्यते, अनुत्पन्नत्वात् खपुष्पवत्, आकाशवद्वा, द्रव्याभावे तु यदि सदैव चेदस्तीत्युच्यते तत आर्हतमताभिमतस्थितद्रव्यार्थसद्भावे क्षणे क्षणे पर्यायनयसद्भावे चोत्पादविनाशाभ्युपगमात् क्षणिकद्रव्यार्थपक्षोपपद्यते नान्यथेति, एतस्मैव च 'आतिरेव हीति' श्लोक इत्थं पठितव्यः, तद्यथा–'आतिरेव हि भावानामनाशे हेतुरिष्यते' इति, यस्मात् स्थित एवार्थ उत्पद्यते नास्थितः तस्मादुत्पत्तिरेवावस्थाने कारणं आतमवस्थितश्चेत्यतो न ध्वस्तमिति।

(एवञ्चेति) एवञ्चोत्तरोऽप्यस्य विनाशक्षणो नैव भवति, यतस्तदपेक्षः क्षणोऽस्यासीदिति क्षणिक उच्यते–तस्याभावादेव न घटत इत्यर्थः कस्मात्? अनुत्पन्नत्वात् खपुष्पवदिति गतार्थम्, सौत्रान्तिक म[ता]भ्युपगमवदिति वा एवं तावदुत्पादविनाशौ न युज्येते क्षणे क्षणान्तरे वा क्षणिकद्रव्याभिधेयो यतः स्यात्, यथा च द्रव्याभावे तु–उत्पादविनाशक्षणाभावेऽपि यदि सदैव चेदस्तीत्युच्यते तत इदमापन्नमार्हतमताभिमतस्थितद्रव्यार्थसद्भावे क्षणे क्षणे पर्यायनयसद्भावे चोत्पादविनाशाभ्युपगमात् क्षणिकाः सर्वभावा

विनाशेऽपि स एव वर्तते तथैव विनाशकालेऽप्याह–ननूत्पन्नमिति। स एव वर्तत इति यदुच्यते तथैवानुत्पन्नमित्यर्थः। अयमनुपपत्तेराह–यदि यदेति उत्पादव्ययोरेककाले उत्पाद एव न भवति [illegible] भावः। यदि चोत्पादो भवति न तर्हि विनाशः [illegible]–अथोत्पद्यत इति। प्रतिषेधः कथमित्यत्राह–उत्पादव्यययोरिति तयोः परस्परं विरोधादेकत्राप्यपरः प्रतिबध्यत इति भावः। विरोधं दर्शयति–उत्पाद इति। उत्पादे भवनरूपे विनाशस्य अभवनरूपत्व इति [illegible] इति भावः। अतो भावस्य व्यय इति [illegible] न संभवतीति दर्शयति–कुत एव तदिति। उपसंहरति–एवं तावदिति। प्रकारान्तरमप्याह–एवञ्चेति [illegible]। उत्पादस्योत्तरक्षणो विनाशोऽपि न सम्भवति, [illegible] क्षणिक स्यादित्याह एवञ्चोत्तरोऽपीति। अनुत्पन्नत्वादिति न हि उत्पादक्षणे विनाशक्षण [illegible] उत्पादस्योत्तरक्षणे विनाशो न भवति अनुत्पन्नत्वात्, [illegible] सौत्रान्तिक [illegible] तन्मते [illegible] लात्, [illegible] अपि च [illegible] 'बुद्धिबोधं [illegible]' इति तदपि च [illegible] मन्यन्ते" इति। [illegible]–एवं तावदिति। [illegible] स्थितद्रव्यार्थसद्भाव [illegible]–तथा चेति [illegible] एव सर्व-

इति भवति, प्राङ् पश्चाच्चाभावस्यानारम्भत्वादसम्भवेनोक्तम्, अधुना त्वन्मते वर्तमानस्येऽप्यसत्त्व साम्ये प्राङ् पश्चाच्चाभावस्य सिद्धमेव भवतीति तत्स्थापयितुमाह त्वद्वचनादेव—यथा—त्वया सूच्यते तस्यैव चासौ भावस्य व्यय इति, व्यपदेशप्रसिद्धिसाधनार्थेन वचनेन, तस्य चायमर्थो भावस्येति कर्तृलक्षणा षष्ठी स्यात् कर्मलक्षणा वा, यदि कर्तृलक्षणा स एव भाव व्ययतो व्येति विनश्यति न भवति तेनैव विनीयते न भूयते विनश्यतीत्युक्त भवति, कोऽसौ न भवति, ? व्ययात् एव, यदि कर्मलक्षणा ततो विनाश[IS]कर्तृक केनोत्पन्नो विनश्येतेत्युक्त एव भावः, तस्मात् स एव न भवति—व्ययात् इति मध्येऽव्ययभावः, तस्मात् प्राङ् पश्चाच्चाभावात् भावस्य व्यय इति वचनात् प्रसिद्धसम्भवो भावैकत्वात् स्यात् ।

अपि च तण्डुलनामोदन इत्यत्रौदनस्य तत्कालसमवस्थायिद्रव्यवृत्तिविकारान्तरगतेः सम्भवेत्यि गतिः, त्वन्मते तु तद्वैधर्म्यात् तदासाधसन्निहित एव भावः कथ व्येतीत्युच्यते यदि यदा सन्निहितस्तदैव व्येति नैव तर्ह्युत्पद्यते, अथोत्पद्यते न तर्हि व्येति, व्ययात्व्यय विप्रतिषेधात् कुत एव तत् ?

(अपि चेति) अपि च तण्डुलनामोदन इत्यत्रौदनस्य विकारस्याऽऽरम्भसमकाले तण्डुलानां समवस्थायित्वादोदनेन सह आश्रुत्यादिविकारान्तरयोगमत्वं तत्र द्रव्ये पूर्व — तण्डुलाः, सम्भवेदिदं गतिरीदृशी, त्वन्मते तु तदा अपि तत्कालसमवस्थायिद्रव्य— सम्भवात् तद्वैधर्म्यात् तदासाधसन्निहित एव भावः—व्ययादः त्वविहितोऽस्त्येव कर्म व्य यदसन्निहितः केन न्यायेन व्येतीति सूच्यते वक्तुम्, आन्यत्वं यदा सन्निहितस्य

यत्वेति, तदनिमित्तः स भावो भाव एव न भवति प्राङ् पश्चाच्च चाभावात् प्राङ् प यदि द्रव्यमात्रस्य यस्य तस्य भावस्यारम्भत्वादिति भवाऽऽपादितम्, मध्येऽपि स तदैकत्वेन विनश्यतीति भाव । प्राङ् पश्चाच्चाभावस्यानुपपत्तेः विनश्यतो मध्येऽव्य यत्वादेवेति । तस्यैव चासौ भावस्य व्यय इति त्वया प्रसिद्धसम्भवेऽप्यविनाशार्थं वचनम् वा च इत्यत्र पञ्चम्यन्तप्रयोगेन कर्तृः कर्मणो वा भवति, तत्र कर्तृत्वे षष्ठीयमिति कर्तृत्वलक्षणे भावः कर्ता स्यात्, तथा च भावो व्येति—विनश्यति—न भवतीति भ विनीयते तेनैव न भूयते भावो विनश्यतीत्युक्तं भवति, तस्मात्प्राग्भावस्य तदापि यदि भावस्य व्यय इति कर्मलक्षणा षष्ठीत्युच्यते तर्हि भवते न विनश्य इति त कर्तृत्वं प्राप्नुयात् यदीस हि भावानां विनाशे हेतुरिष्यते इति त सम्भवात्, तस्य भावस्य निवृत्तिरेव न स्यात्, विनाशस्य भावाविनाशप्रसङ्गेन प्राप्तेरिति भावस्य व्यय इति वचनं प्रसिद्धसम्भवसार्थकताभावार्थ न त इत्यादि निरेक सम्भवति, ओदनादिविकारकाले द्रव्यस्य पूर्वविकारान्तरा तण्डुलत्वमिति, ओदनार्थविकारकाले द्रव्यार्थतया तण्डुलाः सन्ति इति भाव । तत्र गत द्रव्यस्य तत्कालविविकारान्तरगमनं च सम्भ स्वमत—त्वन्मतं दिशति । यदा भावः सन्निहितस्तदैव व्येति

1 सि. ५. ष. ष. °व्ययात् व्ययम । २ सि. ध.

तथाविधत्वमेव, असंस्कृतत्रयवत् यथा प्रतिसंख्यानिरोधः, अप्रतिसंख्यानिरोधः, आकाशमित्येतत्त्रय बोध्य-लाद्यपाश्रितत् सम्यक्त्वेनाव्यवस्थितत्वादसंस्कृत त्रयमिति संख्यात्रयस्याभ्युपगमात् सच नास्तित्वञ्च तथा घटोऽस्तीति स्वन्मतेन चोत्पादविनाशमात्रारम्भकत्वायान्तु निर्व्यापाराणां—स्थित्यर्थशून्यानां तयोः उत्पादविनाशयोरभावः मास , यदप्युक्तं तस्यैव नाशो भाव इति, एतदपि न किञ्चित् इत्युपक्रम्य शब्दतोऽर्थतश्च पाठप्रतिषेधादिति भावितेन तुल्य भावित्वमित्यतिदिशति स्थितमेवोत्पद्यते विनश्यति चेत्यादि, योऽपि श्लोकः—'क्षणिकाः सर्वसंस्काराः' इत्यादिः सोऽप्येष पठितव्यः एतस्मात् कारणात्, इतिशब्दस्य हेत्वर्थत्वात्, तथथा—'सर्वेऽप्यक्षणिका भावाः क्षणिकानां कुतः क्रिया' पश्चाच्च स्वपाठवत् उत्पादस्थितिविनाशप्रतिपादनार्थः श्लोकः, वस्त्वाख्या—भावाः वस्तूनीति पर्यायाः ते सर्वेऽप्यक्षणिकाः, स्थिता क्रियया चोत्पत्तिविनाशास्थितया स्ववतभवनक्रियात्मकस्य इत्युक्त एव, अतः स्थितिक्रियाभ्यामक्षणिका इत्युपसंहारार्थम्यास्यैव ।

त्वन्मतमथयदि क्षणिकाः स्युस्तत एषामुत्पादविनाशौ नैव स्याताम्, व्यापारस्थितिरिक्तत्वात् खपुष्पवत्, यथाक्षणिकाः तत उत्पादविनाशासम्भवात्तद्वतिरिक्तत्व, उत्पादविनाशातिरिक्तत्वात्ते न स्थिता एव, खपुष्पवदस्थितानां कुतः क्रियेत्युक्तम्, सा हि युज्यते संवृत्त्यैवेति येषां भूतिर्येषां क्रिया सैव भवतीत्यभ्युपगतैव प्राक् व्यापाररिक्तता द्रव्यार्थवस्तुनः, भूतेरेव ।

(त्वन्मतमथयदिति) त्वन्मतमथयदि क्षणिकाः स्युस्तत एषामुत्पादविनाशौ नैव स्याताम्, व्यापारस्थितिरिक्तत्वात् खपुष्पवदिति प्रतिपादनसाधनमिदं गतार्थम्, तस्मात् स्थितस्यैवोत्पादविनाश-सिद्धेरक्षणिका भावाः, अत्राह—यथाक्षणिका इत्यादि यदि स्थितोऽक्षणिकश्च भावः तस्योत्पादविनाशौ न

वैयर्थ्याद्युपाश्रितत् सम्यक् नास्तिताः एवं घटोऽपीतिभावः । बोध्यत्वं प्रकटयति—त्रयमितीति । त्वन्मते न स्थितेर भावात् उत्पादविनाशयोरभाव एव स्यात् निर्व्यापारत्वादित्याह—त्वन्मतेन चेति तयोरत्यन्ताभावासत्त्वमुक्तमिति भावः । भावितैवैतत् प्राह स्थितमेवोत्पद्यते उत्पन्नं विनश्यतीति विरूपणावसरे तस्यैव नाशो भावस्य भव इत्यादि पाठप्रतिषेधादिति मन्येनेत्याह—यदप्युक्तमिति । क्षणिकाः सर्वसंस्काराः अस्थिराणां कुतः क्रिया भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते ॥' इति तदपि 'सर्वेऽप्यक्षणिका भावाः क्षणिकानां कुतः क्रिया । भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते ॥' इति पठनीय इत्याह—योऽपि श्लोक इति उत्पादस्य विनाशे न भवतीत्येतदर्थकोऽयं श्लोक इत्याह—उत्पादस्थेति । श्लोकं व्याचष्टे—वस्त्वाख्येति । भावस्थानमक्षणिकं स्थितिमत्त्वात् स्थितस्यैव क्रियाविशिष्टत्वात्... तत्र पूर्व-पूर्वभवनयोरुत्पादस्य... विनाशासम्भवात्, तस्मात् स्थितिमत्त्वान्मानमक्षणिका स्थितं यावत् न च भवत इति भावः । तव मते तु भावाः क्षणिकाः स्थितिव्यापाररहिताः कथं तेषामुत्पादविनाशौ स्यातामित्याह—त्वन्मतमथयदिति तदा-भिप्रायमाविष्करोति । खपुष्पं हि व्यापारेण स्थितं न हि नोत्पद्यते न विनश्यति च एवं यदि भावाः क्षणिकाः स्युः तदा नोत्पद्येरन् न च विनश्येयुर्व्यापारस्थितिरिक्तत्वात्, तस्मात् स्थितस्यैव व्यापारसम्भवादक्षणिका भावा इत्याह—यदि क्षणिकाः स्युरिति एवम क्षणिकानां कुतः क्रियेत्यस्याशयम् । ननु यदि भावः स्थितोऽक्षणिकश्च ततः स्थितत्वस्य तस्योत्पादविनाशौ न भवतः भावस्य व्यतिरिक्ता न कश्चित् क्रियाऽस्ति अतो व्यापाररिक्तः स्थितो भावो वाच्यः, एवमुत्पादविनाशातिरिक्तत्वादक्षणिकत्वादविनाशित्वात् भावो स्थित एव सदुत्पादात्मकं क्रियात्मकत्व न भवति तव स्थितमेव किन्तु क्षणिक एव भावः भावस्य क्षणिकत्वे च खपुष्प-वदिना खपुष्पवदस्थितानां कुतः क्रिया स्यादत एतदाशयमिदस्थितानां कुतः क्रियेत्युक्तत्वं इति गद्यते—यदि स्थित इति, एवम

इति क्षणिकत्वस्यार्थस्य नोपपद्यते भावस्येति, एवमेव च—यथा व्याख्यातं तथा जातिरेव हीति श्लोक एवं पठितव्यः तद्यथा—'जातिरेव हि भावानामनाशे हेतुरिष्यते,' पश्चार्धं तथैव, तथा तु भावानामनाश इत्यत्र संहितापाठतो नकारो विसर्गसहितपाठाद्विनाशितः, केनचिद्यान्ता दुर्लिखितत्वाद्वा अन्येन तु परेणाथ, यथायुक्तमिति स्थित एवार्थ उपपद्यते नाशित इति प्रतिपादितं यथानुत्पत्तिरेवावसाने भावस्य अवस्थितस्यैवोत्पत्तेः आत्मनश्चावस्थानतो न ध्वंसम्, यथोत्पत्तिकाल एवासतः सतोऽवसानात्मकस्य यस्मात् को विनाशहेतुरिति न कदाचिदपि विनाशः ।

या शंकाः सा त्वस्मिन् स्थितं जायते जातश्च न ध्वंसत इति, तदेवं प्रतिज्ञायते—

स्थितश्च जायते च न च ध्वंसते यतः द्रव्यार्थस्य, न तावदस्थितः, अनुत्पादविनाशात्मकत्वात्, यदुत्पादात्मकं विनाशात्मकञ्च न भवति तदास्थितमेव, असंस्कृतमस्थवत्, तच्चिह् बोध्यत्वाद्रूपादिवत् सत्, सच्च नास्थितश्च, उत्पादविनाशमात्रात्मकतायान्तु निर्वीर्ययोः तयोरभावः तस्यैव चासौ भाव इत्येतदपि न किञ्चित्, स्थितमेवोत्पद्यते विनश्यति चेत्यादि भावितवदिति, योऽपि श्लोकः 'क्षणिकाः सर्वसंस्काराः' इत्यादिः सोऽप्येवं पठितव्यः तद्यथा—'सर्वेऽप्यक्षणिका भावाः क्षणिकानां कुतः क्रिया ?'। तद्व्याख्या—भावाः वस्तूनि इति पर्यायाः ते सर्वेऽप्यक्षणिकाः स्थितया क्रियया चोत्पत्तिविनाशात्मिकया सततभवनक्रियात्मका एव, अतस्त्वस्त्यामक्षणिका इति ।

(स्थितश्चेति) स्थितश्च जायते च न च ध्वंसते यतः द्रव्यार्थस्येति, तत्र युगपत् प्रतिपाद-यितुमशक्यत्वात् क्रमेण प्रतिपाद्यते स्थितत्वं तावत्—न तावदस्थित इति प्रतिज्ञायते—अस्थितत्वप्रतिषेधे स्थितत्वं सिद्ध्यतीति, कस्मात् ? अनुत्पादविनाशात्मकत्वात्, यदुत्पादात्मकं विनाशात्मकञ्च न भवति

भावानां क्षणिकत्वमिति [illegible] उपपद्यते अन्यथा तु नैव उपपद्यत इति भाव । एवमेवार्थे 'जातिरेव हि भावानां विनाशे हेतुरिष्यते । [illegible] इति कारिका तत्स्थाने 'जातिरेव हि भावानामनाशे हेतुरिष्यते । [illegible] एवं [illegible]—एवमेव चेति । एवमेव कारिकापाठे योज्य तत्र तथा 'भावा-नामनाशे' इत्यत्राकारं विहाय नकारस्थाने [illegible] पाठे [illegible] पाठं [illegible], [illegible] केनापि तं [illegible]—तथा स्थितिरिति । कारिकां व्याचष्टे—यथायुक्तमिति । स्थित-स्यैवोत्पत्तेः नाशितत्वेति [illegible] एव जातिरेव—उत्पत्तिरेव [illegible]—अवसाने भवस्य, [illegible] द्रव्यरूपेण वस्तु, न तु [illegible] [illegible] स्थिते सततं [illegible] भावात्, [illegible] विना-[illegible] न कदाचिदपि [illegible] इति भावः । स्थितं जायते जातश्च न ध्वंसत इति व्याख्याति—स्थितश्चेति । द्रव्यार्थतया स्थित एव च [illegible] जायते तस्मात् द्रव्यरूपात्मकं वस्तु, न च ध्वंसते—न च निरन्वयविनाशी न नाशितः न क्षणिक एव जायते न प्राक्सत् उत्पद्यते न वा निरन्वयो विनाश इति भाव । तथा स्थित एव जायते नास्थितो [illegible] युगपत् प्रतिपादयितुमशक्यत्वात् क्रमेण प्रतिपाद्यते तत्रास्थितो न [illegible] स्थित एव जायत इति [illegible] तथैव प्रतिज्ञायते—न तावदस्थित इति द्रव्यार्थतया [illegible] एवेति । हेतुमाह—अनुत्पादेति [illegible] निरन्वयविनाशस्य यतो न भवतीति भावः । व्याप्तिं [illegible]—यदुत्पादेति । असंस्कृतेति [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] इति

दुःख, एवं स्थितार्थविमर्दविरोधमात्रोत्पादविनाशत्वे यत् पठ्यते—'नष्टा चेत्' इत्यादिश्लोकः सोऽप्यकस्मात् लेपः ।

स्थितस्यैवोन्मर्दनमुत्पादो विशेषेणादर्शनं विनाशः, को नष्टोऽस्त्यन्यादृश्यात्मना ? को नाशः प्रध्वंसाभावात्मको यस्य विघ्नश्चिन्त्यते ? को विनश्यति ? विनाश एव नास्ति कुतोऽस्य हेतुर्यत उच्यते 'साध्यं विनाशहेतुत्वमि'ति ? अपि च यथास्थितं पठामः, तद्यथा— 'भवितुर्भावविघ्नः को न चेत्तैव तथा भवेत्' इति प्रतिपक्षसंस्पर्शविनिर्मुक्तो भाव एव भाव इति निर्धार्यः, यथा हि भाव उत्पन्नः स भविता, भूतोऽस्ति चेत् पुनरस्य तथाभवने को विघ्नः ? यदि हि भावो भूतः कोऽस्योत्तरकालमपि भवने विघ्नः ? सदा हि तेन भवता भावेन भवितव्यम् न न भवितव्यं कदाचित्, 'न चेत्तैव तथा भवेत्' अथ पुनरेवं नेष्यते अतोऽभावभवनधर्मा ततश्चाधुनापि नैव भवेत् ।

(स्थितस्यैवेति) स्थितस्यैवार्थस्योन्मर्दनमुत्पादो विशेषेणादर्शनं विनाशोऽन्यथादर्शनं प्राग्वद् दर्शनम् को नष्टोऽस्त्यन्यादृश्यात्मना लभ्यते ? को नाशः प्रध्वंसाभावात्मको यस्यैव भावस्य विघ्नश्चिन्त्यते ? को विनश्यति ? न कश्चिदपि भावो विनश्यतीत्यर्थः, कस्मात्, विनाशाभावादेव एतत्सर्वमुन्मत्तकप्रलपित-स्थानीयमविचारक्षमम् अत आह—विनाश एव नास्ति कुतोऽस्य हेतुः ? यत उच्यते—'साध्यं विनाशहेतुत्वमिति', अपि च यथास्थितं पठामो भवद्ग्रन्थस्तु स्वकीयः पाठः मदीयस्त्वभग्नः श्रूयताम्—तद्यथा 'भवितुः' इत्यादि श्लोकः अस्य व्याख्या—प्रतिपक्षसंस्पर्शविनिर्मुक्त इत्यादि ग्रन्थार्थनिस्सरणात् भाव एव भाव इति निर्धार्यः, न प्रतिपक्षः क्षणिकः तं प्रागभावप्रध्वंसाभावात्मकं असंस्पृश्य प्रतिपक्षं भवत्येव भवतीति निर्धार्यः कथं निर्धार्यते ? यथा हि भाव उत्पन्नः स भविता भूतोऽस्ति चेत् पुनरस्य तथा भवने को विघ्नः ? नास्त्येवेत्यभि-प्रायः तदित्युक्तोऽपि—यदि हि भावो भूतः कोऽस्योत्तरकालमपि भवने विघ्नः ? सदा हि—पूर्वं पश्चादिदानीञ्च त्रिष्वपि कालेषु तेन भवता भावेन भवितव्यं न न भवितव्यं कदाचित् 'न चेत्तैव तथा भवेत्' तद्व्याख्या—

नोत्पत्तिस्थितिभङ्गमपीक्षते । उत्पादविनाशौ दर्शनादर्शने वर्तमानत्वादिविशेषेण द्रव्यस्य दर्शनमपेक्ष्य आविर्भाव पूर्वोत्तर विशेषादर्शनमेव विनाशविरोधात्मकम्, यत्तु प्रथमतया तदेवकल्पेन न एव हि वर्तमानरूपेण दर्शनमित्य । स एव पूर्वोत्तर स्थायाभावदर्शनमित्य न हि निरन्वयमस्ति यथानुसार सम्भवति विरोधाभावात् स्यादुत्पत्तिः तस्माच्च प्रध्वंसाभावात्मको विनाशोऽस्ति न चाऽन्यस्मादन्यात्मना नष्टोऽस्ति यथा विघ्नचिन्ता भवेदित्यभिप्रायेणाह—स्थितस्यैवेति । भाष्य—स्थितस्यै-वार्थस्येति उत्पादो वर्तमानविशेषेण दर्शनम् विशेषेणादर्शनमन्यथा दर्शनं प्राग्वद्दर्शनं वा विनाश न तदन्यात्मकं तथा नष्टोऽन्यादृश्यात्मना भवति न कोऽपि न वा प्रध्वंसाभावात्मको विनाशस्तस्मात्तोऽस्ति येन विनाशे विघ्नचिन्तनं स्यात् विनाशाभावादेव विनष्टोऽपि न कश्चिदस्ति तस्मात् नष्टा चेत्तथापि च इत्यादिश्लोको वृथैवेति भाव । विनाशाभावेन एवेत्यभिप्रायेण तदाऽनुच्यते 'साध्यं विनाशहेतुत्वमित्यत्राह'—विनाश एवेति । एवञ्च नष्टा चेत्यादिश्लोकस्थाने भवदीयः पाठोऽयं पठनीय इत्याह—अपि चेति । भवितुर्भावविघ्नः को न चैव तथा भवेत् इति स्यात् पठितव्यः । तां व्याचष्टे—प्रतिपक्षेति ग्रन्थार्थपक्षे वस्तुनो नित्यत्वे भाव एव भावो भवति, न भावस्य कश्चित् प्रतिपक्षः क्षणिकः प्रागभाव-प्रध्वंसाभावरूपो नित्यत्व तस्मात् स तत्प्रतिपक्षकणिकसंस्पर्शेन विनिर्मुक्तः सदा भवदेव भवति कदाचिदपि न न भवति, न चेत्था भवितुर्भावस्य पुनर्भवने कश्चिद्विघ्नोऽस्तीति भावः । एतमेव व्याचष्टे—यदि हि भाव इति एवं त्रिष्वपि कालेषु भवतैव भावस्वभावत्वात्, एवंभवनमेवेति भावः । विपक्षे दोषमाह—न चेत्तैव तथा भवेदिति । तस्य भाष्यमाह—अथ पुनरित्या

रूपा, उत्पादविनाशव्यतिरिक्तश्च नान्यः कश्चिद्व्यापारः सम्भवति, तदसम्भवाच्चातिरिक्तत्व-उत्पादविनाशाति-रिक्तत्वम्, उत्पादविनाशातिरिक्तत्वात् अनुत्पन्नविनष्टत्वादपि ते न स्थिता एव, पुष्पपुष्कलविधिना तत्पुष्पस्य स्थितानां कुतः क्रियेत्युक्त पुनर्व्यापाररिक्त निर्व्यापारत्वमित्येव, [सा हि युज्यते] संयुक्तैवेत्यत्रोच्यते एतदपि नैव युक्त मूर्तिर्येषां क्रिया सैव भवतीत्यभ्युपगतमस्माभिः प्रागेव-स्थितश्च वाच्यते च न व्यंस्य-वेति व्यापाररिक्ता-व्यापारयुक्त्यैव हि द्रव्यार्थवस्तुनः कस्मात् ? मूर्तेरेव एव हि भवद्वस्तु भवेत् यदि भवत्येव भवति ।

वस्तुनर्मवन त्वमिह निर्विभागमपरिस्थितं न भवति कस्मेति तदर्शयति—

अभ्युपगतमपि चैतत् मूर्तिर्येषां भावानां स एव व्यापार इति, उत्पादविनाशाविर्भावतिरोभावव्यवस्थितस्यैवेति, अत एव कारकं सैव मूर्तिः, भव्यभवनद्रव्यार्थत्वात्, एवञ्च तदप्यकस्मात् युक्तं यत् पठ्यते 'नेष्ठा चेष्टाद्यपेक्षा का । ॥( ) इति ।

अभ्युपगतमपि चैतदित्यादि, यथाऽभ्युपगतमेव प्रागुक्तं मूर्तिर्येषां भावानां स एव व्यापार इति, नामूर्तिरस्थिरः प्रागसदुत्पादो नाप्युत्पन्नस्याकस्मिनाशः प्रध्वसाभावः के तर्हि तौ उत्पादविनाशौ ? आविर्भावतिरोभावव्यवस्थितस्यैवेति स्थितस्य चरितार्थम् तस्मादेवंविधक्रियायुक्तस्याभिर्व्यापार[1]-संस्थित न भवन्ति भावाः नाप्यस्थितस्थिताः अत एव कारकं सैव च-मूर्तिः कारकं आविर्भावतिरोभावात्मकस्थितस्यैव, कस्मात् ? भव्यभवनद्रव्यार्थत्वात्-भवतीति भव्यं कर्तरि, भूयते भवनं भावे, कर्तृभवसाधनव्यापारनोऽनुक्रियाकर्तृत्वपरात्मनैवात्मना साध्यसाधनत्वात्, एवञ्च तदप्यकस्मात्

निर्व्यापारस्थितस्याऽत्रमभ्युपगतमिति भावः । तर्हि क्रिया कः स्थिते कर्म करोति इत्याद्युक्तं इति क भवति कथ्यते व्यापार-इत्याह इत्याशङ्क्याह-एतदपि नैव युक्तमिति स्थितस्य क्रियाकृतत्वं प्रतिपादितं तत्र युक्तं येषां मूर्ति-भवनं सैव क्रिया भवतीति स्थितस्य भासते तेन तेन प्रयत्नेन न च व्यंसत इति प्रत्येक क्रियात्मकस्यैव प्रतिस्थितत्वात्, तस्मात् द्रव्यार्थस्य वस्तु व्यापारयुक्त्यैव भवत एव वस्तुनो तथा तथा भवनादिति भावः । कस्मात्-मूर्तेरेवेति द्रव्यार्थस्य भवनारेखैवा-यदि भवति भवतीति-यदि स्थितस्येव भासते तदैव हि भवद्वस्तु भवेदित्यर्थः । तत्सम्भवे भवनं तु स्थितस्येव्यवस्थितिर्थं अभ्युपगतत्वं भवेदित्याह-अभ्युपगतमपीति । व्याख्याने भवेति मूर्तिर्येषां क्रिया तैषैति भावस्य स्थितस्यैव भावस्य-भावानां अनुपातिनां न वा प्रागसदुत्पादस्यानुत्पन्नस्य व्यापाररिक्त स्थिति व्यंसेन स्वरूपविनाश इति अत इति भावः । उत्पादविनाशौ प्रागसदभावप्रध्वंसाभावात्मकौ कीदृशौ तौ भवत इत्याह-आविर्भावतिरोभावाविति, स्थितस्यैव वस्तुनः प्रतिपादनम् स्थितस्यैवाऽऽविर्भावतिरोभावानुपातिक्रियात्वमित्युच्यते प्रतिपादितमेतत्प्रत्यक्षेषु प्रतीति स्थितस्य. निर्व्यापारस्थितस्याऽस्थितस्थितिता च न युक्ता पारवश्य भवनात्मकत्वादिति भावः । कारकं सैव चोच्यते इति यदा व्याख्ये-अत एवेति भवतो भावस्य भवनात्मकत्वं करोतीति कारकं द्रव्यं सैव मूर्तिर्भवनमाविर्भावतिरोभावौ, तथा चाविर्भावतिरोभावात्मकस्थितस्यैव परस्परव्यवस्थितत्वं । हेतुमाह भव्येति भव्यं द्रव्यं भवनं भाव कर्तृभवनसाधने द्रव्यत्वं तेन भवति भवन यथाऽनुक्रियैव कर्ता कर्त्री भवतीति तेनैव भवन साध्यत्वं साधकत्वमेवेति भावः । एवञ्च नेष्ठा चेष्टाद्यपेक्षा च इत्यादिभेद यद् पठ्यते भवान् तदप्यकस्मात् कथेन तेन युक्तेनाह एवञ्च तदपीति क्रियाभावाभावेन

1 क्व क्रियायुक्तस्य । 2 सि व का. ट. °तदाभिव्यक्तिः । 3 सि. ए. ग. ह °कस्याऽस्ति ।

तुक, एव स्थितार्थाविर्भावतिरोभावमात्रोत्पादविनाशत्वे यत् पठ्यते—'नश्य चेत्' इत्यादिश्लोकः सोऽप्यकस्मात् खेदः ।

<u>स्थितस्यैवोन्मर्दनमुत्पादो</u> विक्षेपेणादर्शनं विनाशः, को नष्टोऽभूदन्यादृश्यात्मना? को नाशः प्रध्वंसाभावात्मको यस्य विघ्नश्चिन्त्यते? को विनश्यति? विनाश एव नास्ति कुतोऽस्य हेतुर्यत उच्यते 'साध्य विनाशहेतुत्वमि'ति? अपि च वयमित्थं पठामः, तद्यथा—'भवितुर्भावविघ्न को न चेन्नैव तथा भवेत्' इति प्रतिपक्षसंस्पर्शविनिर्मुक्तो भाव एव भाव इति निर्धार्यः यथा हि भाव उत्पन्नः स भविता, भूतोऽस्ति चेत् पुनरस्य तथाभवने को विघ्नः? यदि हि भावो भूतः कोऽस्योत्तरकालमपि भवन विघ्नः? सदा हि तेन भवता भावेन भवितव्यम्, न न भवितव्य कदाचित्, 'न चेन्नैव तथा भवेत्' भव पुनरेवं नेष्यते भतोऽभावभवनधर्मा ततश्चाधुनापि नैव भवेत् ।

(<u>स्थितस्यैवेति</u>) <u>स्थितस्यैवार्थ</u>स्योन्मर्दनमुत्पादो विक्षेपेणादर्शनं विनाशोऽन्यथादर्शनं प्राग्वद् दर्शनम् को नष्टोऽभूदन्यादृश्यात्मना सम्भवः? को नाशः प्रध्वंसाभावात्मको यस्यैव [illegible] विघ्नश्चिन्त्यते? को विनश्यति? न कश्चिदपि भावो विनश्यतीत्यर्थः कस्मात्, विनाशाभावादेव, एतत्सर्वमुन्मज्जनकल्पित-सामीप्यमविचारसहम् अत आह—<u>विनाश एव</u> नास्ति कुतोऽस्य हेतुः? यत उच्यते—'साध्य विनाशहेतुत्वमिति', <u>अपि च</u> वयमित्थं पठामो भाष्यभागस्तु द्वितीयः पाठः, मदीयस्तत्रापि श्रूयताम्—तद्यथा 'भवितुः' इत्यादि श्लोकः, अस्य व्याख्या—<u>प्रतिपक्ष</u>संस्पर्शविनिर्मुक्त इत्यादि, इत्यार्थेनित्यत्वात् भाव एव भाव इति निर्धार्यः, न प्रतिपक्षः कश्चित्, स प्रागभावप्रध्वंसाभावात्मकः संस्पृश्य प्रतिपक्ष भवत्येव भवतीति निधार्यः कथं निर्धार्यते? यथा हि भाव उत्पन्नः स भविता भूतोऽस्ति चेत् पुनरस्य तथा भवने को विघ्नः? नास्त्येवेत्यभि-प्रायः तद्विवृणोति—<u>यदि हि भावो</u> भूतः कोऽस्योत्तरकालमपि भवने विघ्नः? सदा हि—पूर्वं पश्चाद्वर्तमाने च त्रिष्वपि कालेषु तेन भवता भावेन भवितव्यं न न भवितव्यं कदाचित्, <u>न चेन्नैव तथा भवेत्</u>' तद्व्याख्या—

नेत्यादिश्लोकपठनमपीत्यर्थः । उत्पादविनाशौ स्वरूपादर्शने वर्तमानत्वादिविशेषेण इत्यस्य स्वरूपमेवोत्पाद आविर्भावः पूर्वोत्तर [illegible] विनाशतिरोभावम् यस्तु [illegible] न एव हि वर्तमानत्वेन दर्शनमित्र न एव पूर्वोत्तर [illegible] न हि नित्यत्वकल्पित यथाप्युत्पादं [illegible] तिरोभावात् [illegible] तस्मात् प्रध्वंसाभावात्मको [illegible] न [illegible] अतो [illegible] भवितव्यमेवाह—स्थितस्यैवेति । भाष्य—स्थितस्यै-वार्थस्येति उत्पादो वर्तमानविशेषेण स्वरूपम् विक्षेपेणादर्शनमन्यथा [illegible] वा विनाश न [illegible] तथा [illegible] न कोऽपि न वा प्रध्वंसाभावात्मके [illegible] कस्य विनाशे विघ्नचिन्ता स्यात् विनाशाभावादेव विनाशोऽपि न कश्चिदस्ति तस्मात् नष्टो [illegible] इत्यादिश्लोको [illegible] । विनाशाभावेन [illegible] यत उच्यते 'साध्य विनाशहेतुत्वमि'त्यादौ [illegible] । [illegible] पाठे [illegible] भाष्य—अपि चेति । भवितुर्भावविघ्न को न चेन्नैव तथा भवेत्' इति [illegible] । तां व्याचष्टे—प्रतिपक्षेति, इत्यादिना वस्तुनो [illegible] भाव एव भावो भवति न भावस्य कश्चित् प्रतिपक्षः कश्चित् प्रागभाव प्रध्वंसाभावस्वरूपे [illegible] न [illegible] विनिर्मुक्तः सदा भाव एव भवति [illegible] न न [illegible] न [illegible] भवितुर्भावस्य पुनर्भवने [illegible] । एतमेव व्याचष्टे—यदि हि भाव इति [illegible] त्रिष्वपि [illegible], [illegible], पूर्वमुक्तमिति भावः । [illegible] न चेन्नैव तथा भवेदिति । तस्य भाष्यमाह भव पुनरित्या-

अथ पुनरित्यादि यथैव नेष्यते—अधुना भविष्यत्त्वात् त्रिष्वपि कालेषु भवत्येवेत्यतोऽभावभवनधर्मा, तथा मरणधर्मत्वादधुनाऽपि नैव भवेत्—इदानीं भविष्यत्त्वेन इष्टः स नैव कदाचिदपि भवेत् यथाऽधुनात्वेन खपुष्पवदित्यापन्नमनिष्टमेवेत् ।

इतरथाहुः—

अस्ति भवने विघ्नः स्वप विनाशो वा कः कस्य विनाशहेतुर्येति निदर्श्यौ वैशेषिको ब्रूयात् घटादीनामश्माद्यभिघातो विनाशहेतुः अग्निसंयोगः पार्थिवानां रूपादीनामपाक तस्यासिध्ये विनाशोऽसिध्येऽव्यवस्थानमिति, बौद्धोऽपि 'जुगुप्सितं सिद्धेऽस्मि' इति तत्र साध्ये विनाशसत्त्वे सा' अन्यतरासिद्धे कथं निर्धार्यमयं हेतुरेवेति, अस्ति विशेषहेतुस्तस्मिन् सति पश्चाद्भवत्यादिति ।

(अस्तीति) अस्ति भवने विघ्नः, बौद्धवैशेषिकौ यथासंख्यं स्वप विनाशो निनाशहेतुसाधिष्यमिति च वाक्यशात्, यस्मैव पृच्छामो यथा कः कस्य विनाशहेतुर्येति निदर्श्यौविति अस्मत्पमित्राभिप्रायः, वैशेषिको ब्रूयात् यथा घटादीनामश्माद्यभिघात इत्यादि पूर्ववत् निदर्शनो गतार्थः, बौद्धोऽपि 'जुगुप्सितं सिद्धेऽस्मि' इत्यादि अन्येन च विनाश इति ब्रूयात् तयोरुभयरुत्तरं 'साध्ये विनाशसत्त्वे वा' इत्यादि क्षणिकवादी ब्रूयात्तु जातस्य स्वत विनाशः प्रागभावप्रध्वंसाभावरूपत्व इति, वयं तु ब्रूमः भविष्यन्त इत्युक्तन्यायेन, वैशेषिकस्तु ब्रूयात् येनाश्माभिघाताग्निसंयोगादिभिः घटपार्थिवरूपादीनां विनाश इति वयं ब्रूमः स्वत एव भविष्यन्ति इति तदा कथमिदमन्यतरासिद्धाभिर्धायते अन्यतरासिद्धिमुद्भावयन्नाहुः—तस्मिन् सति पश्चाद्भवत्यादिति पूर्ववद्व्याख्यायानुगन्तव्यम् ।

तीति अधुना भविष्यत्त्वात् त्रिष्वपि कालेषु भवत्येवेति यदि नेष्यते तर्हि स भावोऽभावभवनधर्मा स्यात्, तत्र्यामरणधर्मत्वादधुनाऽपि नैव भवत् खपुष्पवदिति भावः आपादं व्याचष्टे—इदानीमिति, इदानीं भविष्यत्त्वेन य इष्टोऽपि न कदाचिदपि तथा भवेत्, तथा—अधुनात्वेन खपुष्पवदेवेत्येवेति भावः । अथ [illegible] वैशेषिक [illegible] बौद्धश्च भवन विघ्न इति । अस्ति भवने विघ्न इति । बौद्धवैशेषिकौ [illegible] विनाशहेतुसाधिष्यं वा कि भवने [illegible] बौद्धेति [illegible] इति भावः । पृच्छामो च कस्य विनाशहेतुरिति विनाशहेतुः निदर्शयेति इत्यादिवादी [illegible] पदमपमिति [illegible] । [illegible] हेतु [illegible] इति वैशेषिकोक्ति [illegible] इति । [illegible] पीति अन्येन भावानां विनाशहेतुरिति च । ननु विनाशो विनाशहेतुत्वेन न सिद्धे अपि तु स साध्ये इत्याह—तयोरुभय पयुत्तरमिति [illegible] इति भावः अत्र 'साध्ये विनाशसत्त्वे स' [illegible] । [illegible] इति [illegible] । [illegible] विनाशस्य [illegible] क्षणिकवादीति [illegible] इति बौद्धा [illegible] न विनाशो निरन्वय किन्तु [illegible] एव विनाश इति ब्रूम [illegible] इति भावः । वैशेषिकं प्रति विनाशहेतुत्वस्य साध्यत्व [illegible] इति । [illegible] किन्तु [illegible] भवतीत्यस्माभिरिष्यम्, [illegible] वयं ब्रूम इति । विनाशे विनाशहेतौ वा [illegible] अन्यतरासिद्धेरिति, [illegible]

१ नि [illegible] ।

तत्रोत्तरं श्लोकोऽपि—

इदमसंज्ञापकं स्वप विनाशेऽपि हि भावेऽकृतके क्रमनियमप्राप्तवृत्तौ प्रागदृष्टो घटभावः कपालत्वेनाविर्भवत्तिरोभवंश्च घटत्वेन न गृह्यते कपालत्वेन गृह्यते, अतः सिकतत्वेयासम्भवेन घटपार्थिवरूपाद्युदकानां तिरोभूतौ तेन रूपेणानुपलब्धिः, कथं कृत्वा ? यथासंख्यनिर्देशा हि मृत्पादयः, उभयेऽपि शिवकाख्या लभन्ते, स्वेन रूपेणाविनष्टाः तत्तत्स्वभावभूतेरेव पिण्डत्वेन क्षीणाः, कर्तृप्रत्ययवशाच्चोत्पन्नाः स्तूपकत्वेन स्तूपक इत्युच्यन्ते, अभिघातादिप्रत्ययवशाद्वा कपालानीति, सर्वज्ञो हि तथा तथा पश्यति, अतस्तस्य शिवकादेरग्रहणं न स्वयमभावाद्विनाशाद्वा।

इदमिति। इदमसंज्ञापकं यस्मात् स्वप विनाशेऽपि भावे—स्वप विनाशो हि भावस्याविर्भावतिरोभावात्मकः प्रसिद्धो भाव उक्तः, स चोक्तन्यायप्रत्ययादेवाकृतकः तस्मिन्नाकृतके भावे क्रमनियमप्राप्तवृत्तौ क्रमेण नियमः क्रमनियमः, क्रमनियमेन प्राप्ता वृत्तिर्यस्य सः क्रमनियमप्राप्तवृत्तिर्भावोऽकृतको मृत्पिण्डशिवकस्था सत्प्रविभागेन नियता च वृत्तिः प्राप्यते पिण्डादिभिरकृतः, शिवकात् स्तूपक इत्यादि स्वयमेव, कर्त्रादि कारकान्तराण्यपि नियतमृत्पिण्डचक्रसूत्रोदकदण्डाकारादिरूपाणि क्रमेण भवन्त्येव भवन्ति, तस्मिंश्च क्रमनियम-प्राप्तवृत्तौ भावे प्राग् दृष्टो घटभावः कपालत्वेनाविर्भवत्तिरोभवंश्च घटत्वेनाऽस्माभिघातादिनिमित्तभवनप्रकारेण न गृह्यते घटत्वेन कपालत्वेन गृह्यते अतस्तेषां सिकतत्वेयासम्भवेन तिरोभूतत्वमप्राप्य घटपार्थिवरूपाद्युद-कानाम् तेन रूपेण्यनुपलब्धिर्विनाशो विद्येरेप्यदर्शनमन्यथोपलब्धिरेवानुपलब्धिरिति तत्र व्याख्यानाग्रमः कथं कृत्वेति, व्याकरणं—यथासंख्यनिर्देशा हीत्यादि मृदिति द्रव्यार्थभवनैक्यादेकसंख्ययोच्यते रूपादय इत्या-विर्भावतिरोभावपर्यायभवनभेदात् बहुत्वसंख्ययोच्यन्ते, उभयेऽपि शिवकाख्या लभन्ते स्वेन रूपेणाविनष्टाः, कस्मादविनष्टा आत्मनेति इति चेत्, तत्तत्स्वभावभूतेरेव—तेन मि[त्रा]दस्माभिघातादिस्वपरापेक्षेण स्वभावेन

———

[illegible] एवेति भावः। इत्येतदपुष्टं स्वं प्रसिद्धेऽप्याभावस्य [illegible] —इदमसंज्ञापकमिति। आविर्भावतिरोभावात्मकः प्रसिद्ध एव विनाशो भावानाम्, आविर्भावतिरोभावस्वभावत्वादेवाकृतकः, अकृतकत्वादेव [illegible] क्रमेण नियमेन वर्तत इत्याशयेन व्याचष्टे—यस्मात् स्वपं विनाशेऽपीति। अकृतके भावः क्रमेण पिण्डशिवक[illegible] नियतां वृत्तिं प्राप्नोति स्वयमेव पिण्डादिभिरकृतः, ततः स्तूपकः ततः [illegible] इतीति दर्शयति—क्रमनियमेति। कारकान्तराण्यपि [illegible] भवन्त्येव तेन सह भवन्ति क्रमनियमेन स्वपरापेक्षभवनस्वभावत्वात् पिण्डशिवकादिस्वभावस्य कारकान्तरापेक्षस्वभावत्वम्, एवं क्रमेण पिण्डशिवकादिरूपेण स्वपरापेक्षभवनस्वेन नियतानां प्राप्तवृत्तौ भावे पूर्वोक्तघटपर्यायस्य कपालत्वेनाविर्भावे अस्माभिघातादिनिमित्तभवनरूपेण घटभावस्य तिरोभावात् तदानीं न तस्य ग्रहणं भवतीत्याह—कपालेति। [illegible] तिरोभावस्य [illegible] घटपार्थिवरूपादीनामित्याह—अतस्तेषामिति भावस्याविर्भावतिरोभावस्यैव स्वपरापेक्षभवनस्वभावत्वादेव घटपार्थिवरूपादीनां घटत्वादिनाऽनुपलब्धिः सैव विनाशो विद्येरेप्यदर्शनमन्यथोपलब्धिरेव [illegible] न तु प्रसज्यप्रतिषेधेनोपलब्ध्यभावः तस्य [illegible] इति भावः। उक्तमेव व्याख्याति—कथं कृत्वेति यत् कथं कृत्वा शिवकादयो लभन्त इत्यर्थः। व्याख्याति—यथासंख्येति [illegible] शिवकादयो [illegible] न [illegible] इत्यादि [illegible] रूपादय इत्याविर्भावतिरोभावपर्यायाः [illegible] बहुत्वसंख्यया निर्दिष्टाः तत्र शिवकादिसंज्ञा न स्व एव न च [illegible] भिन्नाभिन्ने शिवकादिसंज्ञा लभन्ते यद्यपि ते न सर्वे विनष्टाः सन्तः किन्तु तत्तत्स्वभावभूतेः इत्थं हेतोः [illegible] ! तेन तेन [illegible] स्वपरापेक्षेण भव

अथ पुनरित्यादि अथैव नेष्यते—अधुना भवितृत्वात् त्रिष्वपि कालेषु भवत्येवैष्यतोऽसावभवनधर्मा, तस्मात् अभवनधर्मत्वादधुनाऽपि नैव भवेत्—इदानीं भवितृत्वेन इष्टः स नैव कदाचिदपि भवेत् तथाऽधुनात्वेन अधुनातनीत्वाद्यापत्तिप्रसङ्गनिराकृतमेवेत् ।

इत्यत्राहुः—

अस्ति भवने विघ्नः स्वयं विनाशो वा कः कस्य विनाशहेतुर्वेति निदर्श्यो, वैशेषिको ब्रूयात् घटादीनामसमवायिप्रतिघाता विनाशहेतुः, अग्निसंयोगः पार्थिवानां रूपादीनामपाक सत्सान्निध्ये विनाशोऽसान्निध्यध्वस्यानमिति, बौद्धोऽपि 'क्षुणिकत्वं विशेषस्मि' इति तत्र 'साध्यं विनाशवत्त्वे सः' अन्यतरासिद्धे कथं निर्धार्यमय हेतुरेवेति, अस्ति विशेषहेतुस्तस्मिन् सति पश्चादग्रहणादिति ।

(अस्तीति) अस्ति भवने विघ्नः बौद्धवैशेषिकौ पर्यासंस्य स्वयं विनाशो विनाशहेतुसान्निध्यमिति च वाऽभ्यधात्, वयमेवं पृच्छामो यथा कः कस्य विनाशहेतुर्वेति निदर्श्यमिति अज्ञत्वमित्यभिप्रायः वैशेषिको ब्रूयात् यथा घटादीनामसमवायिप्रति इत्यादि पूर्ववत् निदर्शनो गतार्थः बौद्धोऽपि 'क्षुणिकत्वं विशेषस्मि' इत्यादि अन्येन च विनाश इति ब्रूयात् तथाऽयुगपदुत्तरं 'साध्ये विनाशवत्त्वे सः' इत्यादि, क्षणिकवादी ब्रूयात्त्वं जातस्य स्वयं विनाशः प्रागभावप्रध्वंसाभावलक्षण इति, वयं तु ब्रूमः भवितव्य इत्युक्तन्यायेन, वैशेषिकस्त्वं ब्रूयाः येनासमवायिप्रतिघातादिसंयोगप्रतिनिध घटपार्थिवरूपादिकमस्य विनाश इति वयं ब्रूमः स्वयमेव भवितव्य इति ततः कथमिदमन्यतरासिद्धमभिधीयते अन्यतरासिद्धिमुद्भावयितुमाहुः—तस्मिन् सति पश्चादग्रहणादिति पूर्ववद्व्याख्यातव्यम् ।

[illegible]

१ सि. छ. पा. ह. लर् नैव ।

मा कार्षीः । किं तर्हि ? मिथ्याभिमानाभ्यासिनः सर्वेऽन्येऽपि वस्तुयाथात्म्यग्राहेण तुल्या आर्हता एवानुप्रवन्ति, वस्तुग्राहस्यानेकान्तत्वापत्तेः तेन तेषां पूर्वाभ्युपगमे विरोधा[द्]भ्यसन प्रेक्ष्यात्मन आश्वासकमिति तद्व्यसनदर्शनाद्वास्माभ्यासकमिति तद्व्यसनदर्शनाद्वास्माश्वासन कुरु धृतिं भावय ।

अनन्तरातीतनयदर्शनं तावदाश्रयामः यथा—

येऽप्याहुः राशिवदिति, एष श्लोकः स्याद्वाद एव नैकान्तार्थत्वात् 'शक्त्यन्तरत्वतादात्म्यान्यानन्यत्वप्रकल्पना । ॥' इति शक्त्यन्तरं नरादिषु प्रत्येकमसत् सेनायां समुदितनरादिचतुरङ्गायां दृष्टं तदात्मना सेना तु प्रत्येकमिति तयोः समुदायिसमुदाययो रेकत्वनानात्वे वादिनाऽङ्गीकृते द्रव्यार्थपर्यायार्थानुपातः कृतो भवति, नरादिसामान्यतादात्म्येऽपि च सेनाऽन्यापि, तत्समुदायमात्रत्वात् तदारब्धत्वात् भवनसामान्यस्य शक्त्यर्थान्तरत्ववत्, तस्मादेव प्रागेव न्यायस्तथया 'नूरथाश्व । ॥' इति ।

येऽप्याहुः राशिवदित्यादि एष श्लोकः स्याद्वाद एव, नैकान्तार्थत्वात्, तद्व्याख्यानश्लोकमाह— 'शक्त्यन्तरत्वतादात्म्ये'त्यादि सेनायां भाविते सर्वदृष्टान्तेषु राशिसार्थादिष्वपि भावितमेव भविष्यतीति भावार्थः, शक्त्यन्तरं नरादिषु प्रत्येकमसत् सेनायां समुदितनरादिचतुरङ्गायां दृष्टं प्रचण्डरिपुनिर्जयनम्, तदात्मना सेना तु प्रत्येकं, तान्येव हि नरादीनि सेनेति तेनैव तयोर्नरादिसेनाख्यवस्तुनोः समुदायिसमुदाययो-राश्रयिणोरेकत्वनानात्वे वादिनोऽभ्युपगम्याऽङ्गीकृते, तदङ्गीकरणात् द्रव्यार्थपर्यायार्थानुपातः—द्रव्यनयात्मक-

---

सर्वेषां मिथ्याभिमानाभ्यासितानामपि वस्तुयाथात्म्यमार्हतत्वमापादयन्नेवाह—मिथ्येत्यादीति । हेतुमाह—वस्तुग्राहस्येति । यदि वस्त्वभ्युपगम्यते केनापि तदा तद्ग्राहस्यानेकान्तत्वमापद्यत एवेति भावः । एवमनेकान्तत्वमापादयन् आश्वासयति, अन्यथा [illegible] इति विचार्य शोकं मा कुर्वित्याह—तथेति मार्हतत्वेनैकः । ननु मिथ्याभिमानाभ्यासिनां वस्तुयाथात्म्य मार्हतत्वमापद्यत इत्यमुमिति प्रतिपादनीयम्, [illegible] तदर्शनमेव तावत्प्रथममार्हतत्वेन भावयाम इत्याशयेनाह—येऽप्याहुरिति । एवंरूपमेवार्थं श्लोकमाह—राशिवदित्यादीति नाम श्लोकोऽस्माभिर्व्याख्यातः [illegible] भावितत्वे [illegible] समुदाय एव च [illegible] सामान्य [illegible] समुदायमात्रप्रतिपादनार्थं [illegible] प्रतिपादितमिति बोध्यम् । एतच्छ्लोकप्रतिपादितोऽर्थो स्याद्वाद एव अनेकान्तार्थत्वादिति प्रतिपादयति—एष श्लोक इति । अयं स्याद्वाद इत्यत्र श्लोकेन [illegible] तद्व्याख्यानश्लोकमिति । शक्त्यन्तरेति अयमपि श्लोको न पूर्वं उपलब्धः । [illegible] । अनेकान्तार्थत्वात् स्याद्वाद इति कारिका सम्भाव्यते । श्लोके दृष्टान्ताः पूर्वपक्षिणोक्ताः तत्र सेनादृष्टान्ते स्याद्वादे भाविते सर्वदृष्टान्तेषु राशिसार्थादिषु च भाविते भवतीत्याह सेनायां भाविते इति सेनायां स्याद्वादे भाविते सर्वे । '[illegible]' तत्र श्लोके हस्त्यादी भिन्न [illegible] समुदितायां सेनायान्तु शक्त्यन्तरमस्ति तच्च प्रचण्डरिपुनिर्जयनरूपम्, ननु श्लोके नरादौ शक्ति सेना तु तदात्मत्वमुक्तम् श्लोके नरादयो हि सेनेत्युच्यत इत्याह—तादात्म्यमस्तीति [illegible] । तत [illegible]—तेनैवेति, [illegible] तयोः नरादिसेनयोः [illegible] तदात्मतादात्म्यमिति भावः । भवतु तथापि [illegible]—तदङ्गीकरणादिति [illegible] द्रव्यार्थपर्यायार्थानुपातः कृतो भवति [illegible] पर्यायार्थानुपातः [illegible]

---

१ सि. प्र. [illegible] । २ सि. प्र. डे. [illegible] । ३ सि. प्र. [illegible] माविनु ।

भवन्तो लीनास्तिरोभूताः पिण्डत्वेन कर्दमत्वप्रभावोत्सन्नाः स्वरूपत्वेन सूप्त इत्युच्यन्ते मृत्पारवशा, अभिघाता[भि]मतघटभावा रूपादीनीति, सर्वज्ञो हि 'उ उ जे जे भावे परिणमति, पयोगवीससा दव्वं । त तह जाणति जिणो अपज्जवे जाणणा नत्थि ॥' (आव नि २१६७) इति वचनात् तथा तथा पश्यति तदुपदर्शयति—भवतस्त्व क्षिप्यमाणेरत्यन्तम्, न खल्वभावाद्विनाशादेस्तुभयोरप्युत्पत्तेः ।

पार्थिवा अपि रूपादयः स्वपरापेक्षस्वभावेन भवन्तोऽभिसम्बन्धसामर्थ्येन पूर्वरूपतिरो भावे पुनरन्ययोत्पन्नाः, तथाऽप्यामप्यर्थान्तरापेक्षानपेक्षस्थितार्थभवनव्यापारस्वतत्त्वाविर्भूतिरभि- सम्बन्धसामर्थ्यात् अल्पानामपामतिसूक्ष्मत्वाच्च स्फुटं महीसु शक्यतेऽनुमीयते तु तिरोभूता इत्यार्हततत्त्वार्थवाद पर्यायार्थांशाङ्गं क्षणिकवादः समर्थयति ।

पार्थिवा अपीत्यादि, तत्स्वभावेनाप्यपि भवन्तः विशेषस्तु पूर्वरूपतिरोभावे पुनरन्ययोत्पन्ना इति व्याख्यानानुसारेण, विशेषणाभिसम्बन्धसामर्थ्यम् पयसपामिसाभि विशेषलक्षणेन, अपामस्वतत्त्वाविर्भूते रर्थान्तरापेक्षानपेक्षस्थितार्थभवनव्यापारेणापामस्वतत्त्वाविर्भूतिरभिसम्बन्धसामर्थ्यात्तोऽल्पानामपामतिसूक्ष्म- त्वादभिसम्बन्धसामर्थ्ये न स्फुटं महीषु शक्यते भवन्तोऽनुमीयते तु तिरोभूता इति, अनेन प्रकारेण [अ]भवन न तेनाभिसंयोगेन विनाभवनादिति, तस्मात् साम्प्रतमार्हततत्त्वार्थवादमेव पर्यायार्थांशं क्षणि[क]वादाः समर्थयतीति ।

मा चाधृतिं कार्षीः ममैवार्हतत्वमापतितमभिप्रेतोऽपीति, किं तर्हि ? विन्ध्यादिमहाप्रमाण- पातिनः सर्वेऽन्येऽपि वस्तुवादग्राहाः स्वयुक्त्याहत्युत्या, तत्र तत्त्वसनदर्शनादारमाश्वासकरमिति धृतिं भजस्व ।

मा चाधृतिं कार्षीरित्यादि, ममैव क्षणिकवस्तुवादिन आर्हतत्वमापतितमभिप्रेतोऽपीत्यनुवादं

---

२० नाल्पत्वादिप्रतिबन्धादपि पूर्वरूपाणि तिरोभूतानि पुनरावर्तमानाविर्भूतानि कर्दमादिप्रभावत्वेन मृदादयः विभागस्वस्वरूपान्वयं अभिघाताभिमतभावादेव रूपाद्यभिव्यक्ताः सन्ति इति भाव । तिरोभावितया अभिव्यक्तम्—सर्वज्ञो हीति । 'उ उ' इति 'यद्यद् यस्मिन् यस्मिन् भावे परिणमति प्रयोगविस्रसाभ्यां द्रव्यम् । तत्तथा जानाति जिनोऽपर्यये ज्ञानता नास्ति च' इति छाया भाव- त्वानाद्यन्तमेतुत्वं सर्वज्ञस्योत्पन्नानां भावानाम् अभिघाताभिमतभावाद् अस्यैव तस्याऽपि विनाशादिना विनाशादितिरोभावेन विनाशदेरत्यन्तम् न तु विनाशस्याभावादिनाशादेरत्यन्त—भवतस्त्वमिति । पार्थिवरूपादीनां तिरोभावेनाविर्भावतिरोभावक- २५ त्वेन भवनमिति दर्शयति—पार्थिवा अपीति पृथिवीसम्बन्धिनोऽपीत्यर्थः । पूर्वरूपस्वभावान्तरादीनित्यादि—तत्स्वभावेनेति । केन स्वेनाभिमता अप्यभिसंयोगादिपरापेक्षत्वभावेन तिरोभूता स्वरूपमप्यवस्थानादिना तिरोभूतत्वेन न दृश्यते आविर्भूतत्वेन च दृश्यन्त इत्याह्वेन स्थितं दर्शयति—विशेषस्त्विति अपामित्यल्पानामसामर्थ्यं स्वरूपं च विशेष पूर्ववत्, तत्र अल्पानामित्यादि अतिसूक्ष्म- त्वात् क्षणिकादि भवन्त्वमिति भाव । अन्यस्यापि स्वपरापेक्षस्वभावेन भवतोऽभिसम्बन्धसामर्थ्यात् स्वरूपतिरोभावाविर्भावस्वतत्त्वाविर्भूतिरि- त्याह पयसपामिसाभिरिति । अर्थान्तरेति विशेषणेनाप्यर्थान्तरं समभिसंयोगादि तदपेक्षमनपेक्ष सतो भवनादिति भाव । ३० अन्यत्र क्षणिकवादिनयमतेन तत्तयाभिव्यक्ती सामर्थ्यं नास्ति अत एव स्फुटत्वे न दृश्यते किन्त्वनुमीयत तिरोभूतं क्षणिकभवितव्य- मल्पानामपामिति । न चाभवनतत्त्वादिना क्षणिकत्वमप्यस्मेव विनाशो न तदभिसंयोगादिना विनाशप्रसङ्गात् अनेनेति । एवम् पर्यायार्थांशं प्रत्यर्थनयमर्हत्प्रणयनेन क्षणिकवादाः समर्थयति अन्यथाऽनभ्युपगमप्रसङ्ग—तस्मादिति । ननु क्षणिकवादिन- स्तथा कथमिवार्हतत्वमापतितमभिप्रेतोऽपि मा इष्ट इत्याह—मा चाधृतिमिति । ममेति—ममैवेति । क्षणिकवस्तुवादिनमेव

मा भूत् । किं तर्हि ? मिथ्याभिमानान्धःपातिनः सर्वेऽन्येऽपि वस्तुवादुप्रावास्त्वद्ग्राहेण तुल्या भार्हतत्व-मेवानुपतन्ति, वस्तुग्राहस्यानेकान्तत्वापत्तेः, तेन तेषां पूर्वाभ्युपगमे विरोधा[द]भ्यसन प्रेक्ष्यात्मन आत्मा सम्यगिति तत्प्रसनदर्शनाधात्मात्मासम्यगिति तत्प्रसनदर्शनावात्माश्वासन कुरु धृतिं भावय ।

अनन्तरातीतनयदर्शनं तावदुच्यताम: तद्यथा—

येऽप्याहुः राशिवदिति, एष श्लोकः स्याद्वाद एव नैकान्तार्थत्वात् 'भक्त्यन्तरत्वतादात्म्या-त्मानन्यत्वप्रकल्पना।   ॥' इति भक्त्यन्तरं नरादिषु प्रत्येकमसत् सेनायां समुदितनरादिचतुरङ्गायां दृष्टं तदात्मना सेना तु प्रत्येकमिति तयोः समुदायिसमुदाययो-रेकत्वनानात्वे चाविनाऽङ्गीकृते द्रव्यार्थपर्यायार्थानुपातः कुतो भवति, नरादिसामान्यतादा-त्म्येऽपि च सेनाऽन्यापि, तत्समुदायमात्रत्वात् तदात्मत्वात् भवनसामान्यस्य रूपरसार्थान्तर-त्ववत्, तस्मादेष प्रागेव न्यायस्तद्यथा 'नृरथाश्व   ।   ॥' इति ।

येऽप्याहुः राशिवदित्यादि, एष श्लोकः स्याद्वाद एव, नैकान्तार्थत्वात् तद्व्याख्यानश्लोकमाह—'भक्त्यन्तरत्वतादात्म्ये'त्यादि सेनायां भावितं सर्वद्रव्यान्तेषु राशिसार्थादिष्वपि नीतिरेव भविष्यतीति व्याख्यानार्थं, भक्त्यन्तरं नरादिषु प्रत्येकमसत् सेनायां समुदितनरादिचतुरङ्गायां दृष्टं भवत्परिपुष्टिकथनम्, तदात्मना सेना तु प्रत्येकं, तान्येव हि नरादीनि सेनेति, तेनैव तयोर्नरादिसेनाख्यवस्तुनोः समुदायिसमुदाययो-रङ्गाङ्गिनोरेकत्वनानात्वे चाविनोऽङ्गाङ्गत्वाऽङ्गीकृते, तदङ्गीकरणात् द्रव्यार्थपर्यायार्थानुपातः—उभयनयात्मक-

सर्वेऽपि मिथ्याभिमानान्धःपतितानामपि वस्तुवादिनामार्हतत्वमायातमेवेत्याह—मिथ्येतीति । हेतुमाह—वस्तुग्राहस्येति, यदि वस्त्वभ्युपगम्यते कथमपि तदा तद्ग्राहस्यानेकान्तत्वमापद्यत एवेति भावः । एवमनेकान्तत्वमात्मन आपन्नत्वात्, अन्यथा चाव-[illegible] इति विचार्य लोके मा दुर्विदग्ध—तथेति चार्हतत्वमेव । ननु मिथ्याभिमानान्धःपातिनस्तु वादिना-मार्हतत्वमापद्यते तत्कथमिति प्रतिपादनीयम् वचनमात्रात्समापत्त्यनुपपत्तेः तत्राभ्यनुज्ञितपूर्वमेव सर्वार्हतत्वापादनस्य [illegible] उपक्रमस्तावत् तदनन्तरदर्शनमेव तावत्तथैवमार्हतत्वेन भावयाम इत्याशयेनाह—येऽप्याहुरिति । पूर्वस्मान्नयादनन्तरं श्लोकमाह—राशिवदित्यादीति भावं श्लोकोऽस्माभिर्व्याख्यातो [illegible] भावितत्वे सत्यतस्य समुदाय एव च [illegible] [illegible] स्यान्वीत्वानस्याद्वादार्थ श्लोक इति । [illegible] अनेकान्तार्थत्वात् स्याद्वाद एव [illegible] समुदाय इति भाविषु सन्यायमन्ये । [illegible] पूर्वप्रतिपादित तत्र सेनादृष्टान्ते स्याद्वादं भावित सर्वद्रव्यान्तेषु राशिसार्थादिषु च भाविता भवतीत्याह—सेनायां भावित इति, सेनायां स्याद्वादे भावित इत्यर्थः । 'नृरथाश्वपदातयः सेनाङ्ग-मात्रमुच्यते' तत्र प्रत्येकं नरादौ सेना नास्ति समुदितानां सेनात्वात् भक्त्यन्तरमस्ति तत्र नरादिषु प्रत्येकमसत् तथा प्रत्येकं नरादौ नास्ति सेना तु तदात्मभूता प्रत्येकं नरादेव हि सेनेत्युच्यत इत्याह—तदात्मनेति अथवा [illegible] भक्त्यन्तरम् । तत किमित्याह—तेनैवेति अस्य चाविनाभावेन सम्बन्धः तयो नरादिसेनयोः समुदायसमुदाययोः तदात्म-तामेकत्वं चाविनाऽङ्गीकृतमिति भावः । भवतु तथापि किमित्याह—तदङ्गीकरणादिति उभयोरङ्गाङ्गिनोरेकत्वनाना-त्वाभ्युपगमाद्द्रव्यार्थपर्यायार्थानुपातः कुतो भवति एकत्वाङ्गीकाराद्द्रव्यार्थानुपातः नानात्वाङ्गीकाराच्च पर्यायार्थानुपातः उभयो-

१ सि. क्ष. डे. छ. पत्र । २ सि क्ष. डे. छा भेनस्य समाधान । ३ सि. क्ष. छा. डे. नरादिषु ।

तेषामेव भेदवाद इत्यादीति, यथाऽवीतनये रूपादिसमुदायमात्रं वस्त्विति समुदायो रूपादीनां विशेषाणां सामान्यमभ्युपगतम्, ततो न विशेषवादपक्षावितिः निराकृतः, तथेहापि पक्षान्तं तत्पक्षान्तं समुदायसामान्यमेवेति निराकर्तुं वाच्ये वैराग्यार्थिनः वस्तुसमयमिच्छन्निरासमाद्योऽप्रतिलभति ।

किञ्चान्यत्—

औदासीन्याच्च सत्त्वेषु मिथ्याभिनिवेशात्मसुखाद्यभावाभिदे ज्ञानसुखाद्यन्यात्मकमात्मानं पश्यसि तस्मात् तादात्म्यद्याक्रमन्तरोद्भावपुरस्कृतसामान्यविशेषात्मकत्वानतिक्रमात् वैराग्यार्थिस्यापत्तिः वस्तुत्वादित्वात्, एवं शेषपादेष्वपि स्याद्वाद एवापद्यते बलात् तत्र तत्र तथैव योजितमित्यलं प्रसक्तिन्याः संकथायाः ।

औदासीन्याच्चेत्यादि तत्त्वपरीक्षानायकत्त् मिथ्याभिनिवेशात्—अहमस्मि तत्त्वदर्शीत्यादिमिथ्यानाच्च सत्त्वः स्वसुखाद्यभावाभिदे ज्ञानसुखाद्यन्यात्मकं स्वात्मनिरूपितमहं सुखी दुःखी रक्तो द्विष्टो वाऽस्मीत्यात्मानं पश्यसि, तस्मात्तादात्म्यक्रमन्तरोद्भावपुरस्कृतसामान्यविशेषात्मकत्वानतिक्रमात् रूपादिसमुदायमात्रवादिनोऽपि वैराग्यार्थित्वापत्तिः वस्तुत्वादित्यादिति साधूक्तम्, एवं शेषपादेष्वपीत्यतिदेशः, एवं शेषेषु पुरुषवादेष्वपि स्याद्वाद एवापद्यते बलात् तत्र तत्र तथैव योजितमित्यलं प्रसक्तिन्याः संकथायाः, किन्तु एते विरमोऽस्तु वादात् एकान्तनिश्चयपुरस्कृताया वस्तुवादाभ्युपगमायाः, सम्यक्त्वाभावात् ।

किं तर्हि ?—

एवन्तु गृह्यतां निःस्वभावमिदं सर्वम् सुप्तोन्मत्तादिवत्, सुप्तमत्तस्थानीया एव हि रक्तद्विष्टमूढाः पापयित्वनः तत्तदाकारप्रकल्पनानुपपत्तिविज्ञानत्वात् तदाकारसामान्येन विज्ञानकल्पिताकारसुप्तमत्तादिविज्ञानविषयवत्, किमपि किमपीत्याभासात् परमार्थतो नास्ति कश्चिदाकारः शून्यं तैः स्वैराकारैरिव गृह्यमाणमपि मुक्त्वा ग्राहकाकारपरिहृताग्राह्याकारभ्रान्तेः शून्यगृहवत् प्रवेष्टुं स्थातुं निर्गन्तुं कल्पोत्पत्त्यादिविरहितं कल्पयितुं न्याय्यम् ।

(एवमिति) एवन्तु गृह्यतां निःस्वभावमिदं सर्वं सुप्तोन्मत्तादिवत्, यथा सुप्तस्य स्वप्नमपि

किमत इति पर्यन्ते—यथाऽवीतनय इति, एकस्मान्न इत्यर्थः । स्वसुखाद्यभावाभिदे पश्यतामसमुदाय एव स्वात्मतत्त्वात्मकं सुखी दुःखी वाऽस्मीति स्वात्मानं पश्यति तादृक्तत्त्वादर्शनाभावमनात्मत्वं, मिथ्याभिनिवेशात्मकतत्त्वदर्शित्वाभिमानाभिमानाद् औदासीन्याच्चेति । स्याच्चेति—तत्त्वपरीक्षेति । एकस्मिन् तं स्वप्नाद्वयी कल्पित एव वैराग्यार्थिनोऽपि स्वात्मकत्वतत्त्वात्मतादात्म्यक्रमन्तरसामान्यविशेषात्मकत्वानतिक्रमात्, रूपादिसमुदायमात्रं वस्त्विति वादिन एव रूपादिसमुदायात्मकं वस्त्विति वादिन वैराग्यार्थित्वापत्त्या वस्तुत्वादित्यादि—तथाप्यन्यत्तदात्मत्वेनेति । इत्येवेत्यादिरेवाप्यतिदेश एवमिति । शेषेष्वपि तत्र तत्र स्वयमेव वैराग्यार्थित्वापत्ति इत्येवं प्रसक्तानुवाचा एकान्तनिश्चयपुरस्कृतवस्त्वनुरागस्वभावा वस्तु, अत किञ्चान्यत् विरमोऽस्तु वादात्, सम्यक्त्वाभावादिति—एवं शेषेष्विति । एवमत्र एवेषु स्वात्मस्वभावनिश्चयेन स्वीयमिदं तत्त्वमाह अथ हि कल्पनाश्रितं ग्राह्यादिषु एव मत प्राह एवमित्यादि । न्यायो यथा सुप्तस्येति । सुप्तो हि स्वप्नावस्थायां नानाकारे प्रवर्त्तते बाह्याकारमनपेक्षितबाह्योऽप्याकारे नर पश्यति तत्सर्वं हि स्वप्न-

१ सि. क्ष. डे. मिथ्याभिनिवेशात्मकमोहेनेत्यपि ।

भयप्रद[मे] हस्तिमूर्त्यादिदर्शनं निःस्वभावविषयं तद्वदस्वभावशून्यं तथा ज्ञानतोऽपि, यथा वा मयस्य महामायाकृतस्य, कुसुमसमानीया यत्र हि रक्तशिखामूला: पादपश्रितः तद्वदाकारप्रकल्पनानुपातिविज्ञानत्वात्, तद्वदस्वाभाव्येन विज्ञानकल्पिताकारकुसुमत्वादिविज्ञानविषयवत् किमपि किमपीत्याभासात् परमार्थतो नास्ति कश्चिदाकारः, शून्य तैमिरिकाकारैरिव ग्राह्यमानमपि बुद्धा, ग्राहकाकारपरिग्रहाद्ग्राह्याकारभ्रान्तेः, तस्मात् ग्राहकं शून्यमेवेति कल्पयितुं न्याय्यम्, किमिव? शून्यगृहवत् प्रवेष्टृगमननिर्गमनकल्पनोत्पादादिरहितम्— यथा शून्यगृहे न प्रवेष्टा न स्थाता [न] निर्गन्ता [नैवम्]त्रापि उत्पत्तिस्थितिविनाशसम्बन्धाः तथैवो-त्पादस्थितिभङ्गरहितमिदं ज्ञानमित्येवाभिमतमिति सुरेशः।

स च स्वभावश्चिन्त्यमानो न स्वतः नापि परतो न द्वाभ्याम्, नाप्यहेतुतः, अथ कथं स्वपरोभयाभावः? ब्रूमः, असिद्धस्वयुक्त्यनुत्पादसामग्रीदर्शनादर्शनेभ्यः, असिद्धेस्तावत् दीर्घ-ह्रस्वयोर्मध्यमानामिकाङ्गुल्योः दीर्घापेक्षया दीर्घस्वभावो न तावद्दीर्घे स्वात्मन्यस्ति परापेक्षत्वात्तस्यास्तस्य तद्धि अनामिकाह्रस्वत्वापेक्षं यत् स्वात्मन्यसिद्धं तत् कथं परतः सिद्ध्येत्?।

(स चेति) स च स्वभावश्चिन्त्यमानो हेतुतो[ऽहेतुतो] वा स्यात्, यदि हेतुतः स्वतः परतः उभयतो वा स्यात्, स च स्वभावो 'न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां, नाप्यहेतुतः' अत्रोपपत्तिप्रश्नः अथ

स्वरूपशून्येन न हि यथा तत् पश्यति तदस्वभावमन्यत्सम्बन्धं वा एवं ज्ञानस्वभावो प्रकाशमाना ज्ञातृतयोऽपि तथाविधा इति भाव। एवं मनुष्यमन्यथाभावविषयपर्यायाणां निःस्वभावत्वमपि प्रदर्श्य स्वभावमित्याह—यथा वेति। अत्यन्तसन्निहितमपि पदार्थोऽपि एवंविधमूला कुसुमतोऽपि तस्यागमीया एषैव तद्विज्ञानं वस्तुतो निःस्वभावोऽपि तदाकारमवस्वभावाय प्रकल्पनाम-नुपतिज्ञानविज्ञानमित्याह—कुसुमसचेति। यथा कुसुमपादिपुरुषीयविज्ञानविषयाणां तत्स्वभावत्वासत्स्वभावतया च विज्ञानः परिकल्पितत्वाकारत्वं तथैव ग्राह्यवस्तुत्वमपि किमपीदं किमपीदमिति प्रतिभासते परन्तु परमार्थतस्तु नास्ति कश्चिदाकारो वस्तुतो किन्तु तत्स्वभाव तत्त्वतो ग्राह्याकाराद्याकारमपि न निश्चितमिति तस्मात्तच्छून्यमेव सर्वमिति कल्पयितुं युक्तमित्याह—तद्वदस्वाभा-व्येनेति। एतावता विज्ञानमेव तत्त्वं, परमार्थभूतः बाह्यः पदार्थो नास्ति बुद्धिमात्रेणैव प्रमाणप्रमेयादिविभागः न हि बाह्योऽर्थो प्रत्यक्षो भावस्वभावत्वात् तदाकारस्यासम्भवात् अन्यथा ज्ञानानुपपत्तेः न हि विज्ञानेनार्थस्योत्पत्तिः न बाह्योऽर्थ विज्ञानस्य विज्ञानं हि बाह्यार्थविषयीभूतविज्ञानहेतुकम्, नान्य एवार्थ सम्बन्धोऽस्ति न च नीलपीतादिविज्ञानवैचित्र्यानवबोधस्य बाह्योऽर्थो निमित्तहेतुर्भवति विज्ञाने नीलादि साकारत्वप्रमाणत्वात्, अन्याकारतान्तरार्थाभासस्यासम्भवात्, अन्यथा तस्य निराकारत्वापत्तेः तस्मात्तादि बाह्यं प्रमाणम्, ज्ञानाकारवैचित्र्यं तु पूर्वविज्ञानवासनाप्रबोधप्रभवत्वात् पूर्वपूर्वविज्ञानविशेषादेव तदाकारत्वमित्याह तस्मात् विज्ञानमेव वासनापरिपाकवशान्नीलपीताद्याकारमवभासते न बाह्यो कोऽपि परमार्थः तस्मादर्थं भीत इत्यादिज्ञानमविद्यमान-बाह्यार्थं स्वाकारमवभासते तदिदं वस्तुमात्रस्य वासनाविपर्ययतो भ्रम एवेति निश्चयम्, अत एव युक्ता तैमिरिकाकारैर्विकल्पितमिथ्या-त्मकमपीदं तत्स्वभाव वासनापरिपाकवशेन ग्राहके विज्ञाने ग्राह्याकारस्य प्रतिभासात् प्रतीतौ भ्रमत्वात् ग्राह्याकारो बाह्यो भ्रम एव तस्मात् ग्राहकस्वरूपवत् विज्ञानमिति विज्ञानव्यतिरिक्तत्वेनाभिमतं सर्वं शून्यमेवेत्याह—तैमिरिकाकारैरिति। प्रवेष्टृगमननिर्गमनरहितशून्य-गृहवत् उत्पत्तिस्थितिविनाशसम्बन्धरहितं ज्ञानाद्वैतत्वेनाभिमतमिदं सर्वं कल्पितं निराकारविज्ञानवादिमतवस्तुतत्त्वमित्याह—शून्यगृहवदिति। वस्तुतो निःस्वभावत्वविचारार्थं वस्तु स्वभावत्वेनाभिमतं स्वभावं निराकरोति—स च स्वभाव इति। स्वभावसिद्धिविषया एव वस्तुनो स्वभावः तत्र विद्यमानस्य उत्पत्तौ अविद्यमानस्य वस्तुत्वासम्भवात्, उत्पत्तौ एवम् च न स्वभावो भवितुमर्हति एवं स्थितिरपि निरुद्धं निरुध्यमानस्य न निरुध्यते अनिरुद्धमपि न निरुध्यत इति निरोधो न स्वभाव स्तस्माद्—'यथा माया यथा स्वप्नो गन्धर्वनगरं यथा। तथोत्पादः तथा स्थानं तथा भङ्ग उदाहृतः॥' इति माध्यमिका कारिका। तत्र वस्तुनो स्वभावः किं हेतुतः उताहेतुतो भवति, यदि हेतुत उच्यते स हेतुः स्वं वा परो वेत्यत आह—स चेति। हेतुतः स न सम्भवतीत्याह—स च स्वभाव इति। 'न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः। उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः

शेषमेव भेदवाद इत्यादीति, यथाऽऽसीतनय रूपादिसमुदायमात्रं वस्त्विति समुदायो रूपादीनां विशेषाणां सामान्यमभ्युपगतम्, ततो न विकल्पनापत्तिरिति निराकृताः, तथापि पश्चात् तत्प्रधानं समुदाय- सामान्यमवति निरपेक्षो जायते वैदार्भीयैः तदुभयमिच्छन्निदमप्रमादोऽस्तीति ।

किञ्चान्यत्—

औदासीन्याच्च तत्त्वेषु मिथ्याभिनिवेशात्स्वबुद्ध्याभ्यामपि च ज्ञानसुखाद्यन्यात्मकमात्मानं पश्यसि तस्मात् तादात्म्यतत्त्वान्तरोद्भूतपुरस्कृतसामान्यविशेषात्मकत्वानतिक्रमात् वैदार्भीय त्वापत्तिः वस्तुत्वादित्वात्, एवं शेषयावत्स्वपि स्याद्वाद एवापद्यते बलात् तत्र तत्र तथैव योजितमित्युक्तं प्रसङ्गिन्याः संकथायाः ।

औदासीन्याच्चेत्यादि तत्त्वपरीक्षायामपि मिथ्याभिनिवेशात्—अहमस्मि तत्त्वदर्शीत्यस्यापि मिथ्या- नाथ भवतः स्वबुद्ध्याभ्यामपि ज्ञानसुखाद्यन्यात्मकं स्वात्मानमित्यभिमतं सुखी दुःखी रक्तो द्विष्टो वाऽस्मी- त्यात्मानं पश्यसि तस्मात्तादात्म्यतत्त्वान्तरोद्भूतपुरस्कृतसामान्यविशेषात्मकत्वानतिक्रमात् रूपादिसमुदाय- मात्रवादिनोऽपि वैदार्भीयत्वापत्तिः वस्तुत्वादित्वादिति साधूक्तम् । एवं शेषवादेष्वपीत्यविशेषः, एवं शेषेषु पुरुषवादेष्वपि स्याद्वाद एवापद्यते बलात्, तत्र तत्र तथैव योजितमित्युक्तं प्रसङ्गिन्याः संकथायाः, किमुच्यते विरमोऽस्तु वादात् एकान्तनिर्णयपुरस्कृतया वस्तुवादाभ्युपगमायाः सम्यक्त्वाभावात् ।

किं तर्हि ?—

एवन्तु गृह्यतां निःस्वभावमिव सर्वम्, सुप्तोन्मत्तादिवत्, सुप्तमत्तस्थानीया एव हि रक्त- द्विष्टमूढाः पापण्डिनः तत्तदाकारप्रकल्पनानुपातिविज्ञानत्वात् तत्तदाकारसामान्येन विज्ञानकल्पि- ताकारसुप्तमत्तादिविज्ञानविषयवत्, किमपि किमपीत्याभासमात् परमार्थतो नास्ति कश्चिदाकारः शून्यं तैः स्वैराकारैरिदं गृह्यमाणमपि बुद्ध्या ग्राह्यग्राहकाकारपरिशुद्धाद्ग्राह्याकारभ्रान्तेः शून्यग्रहणवत् प्रत्येतुं स्याद्वादनिर्गन्तुं कल्पनादोषादिरहितं कल्पयितुं न्याय्यम् ।

(एवमिति) एवन्तु गृह्यतां निःस्वभावमिव सर्वं सुप्तोन्मत्तादिवत्, यथा सुप्तस्य संवृत्यपि

[illegible] इति स्वमते—यथाऽऽसीतनय इति एवमस्मार्थ इत्यर्थः । तदुपदर्शयति एवमन्यमभ्युपगम एव साधारणम्य सुखी दुःखी वाऽस्मीति यदात्मानं पश्यसि तदुपदर्शनतत्त्वपरीक्षायामस्मादात्मा, मिथ्याभिनिवेशात्मकस्वतत्त्वदर्शित्वाभिमानान्धकारस्य भावदर्शित्वापत्तिः । न्याय—तत्त्वपरीक्षेति । एवमपि तं वस्तुत्वादि बलात् एव वैदार्भीयत्वेऽपि तादात्म्यतत्त्वान्तर- त्वमभ्युपगम्य सामान्यविशेषात्मकत्वानतिक्रमात्, तदभ्युपगतसमुदायमात्र वस्तुत्वेऽपि वादिन इव रूपादिसमुदाय- समुदायमात्र आत्मेति वदतः वैदार्भीयत्वापत्तेः वार्षगण्य यत्—तत्समुदायात्मकत्वमिति । इत्येवं शेषवादेष्वप्यविशेषो- पन्यासमिति । तत्रान्यत्रापि तत्र तत्र यत्नेन वैदार्भीयत्वापत्त्यैव योजितं प्रसङ्गात्मकता एकान्तनिर्णयपुरस्कृततत्त्वाभ्यु- पगमत्वाभावात् सम्यक् भव विरमन्तम् विरमोऽस्तु वादात् सम्यक्त्वाभावादिति यत्—एवं शापयिष्यति । एवन्तु गृह्यतां न्यायात्पत्त्यनुमानतः सर्वं सर्वथा निःस्वभावमिव एव भवतः प्राह एवमित्यादि । यथा यथा सुप्तस्येति । तत्र हि आकाशकल्पवत् आकाश नभस्तलनिर्मितनगरादिकल्पनाभासादि वर पश्यति तत्सर्वं निराका-

१ सि. क्ष. डे. [illegible] विरमोऽस्त्विति ।

अवस्थ[स्थे] हस्तियूथादिदर्शनं निःस्वभावविषयं तद्वत्स्वभावशून्यं तथा ज्ञानमपि यथा वा मत्तस्य मदात्याकुलस्य, सुसमचन्द्रानीचा एव हि रक्तशिक्ष्मूढाः पापण्डिनः तत्तदाकारप्रकल्पनात्तुपाधिविज्ञानत्वात्, तद्वत्स्वाभाव्येन विज्ञानकल्पिताकारसुसमचन्द्रादिविज्ञानविषयवत् किमपि किमपीत्याभासात् परमार्थतो नास्ति कश्चिदाकारः, शून्यं तैस्तैराकारैरिव गृह्यमाणमपि बुद्ध्या, मातृकाकारपरिग्रहाद्ग्राह्याकारभ्रान्तेः, तस्मान्न माहक शून्यमेवेति कल्पयितुं न्याय्यम्, किमिव ? शून्यगृहवत् प्रवेशस्थाननिर्गमस्थकल्पोत्पादादिरहितम्– यथा शून्यगृहे न प्रवेशो न स्थाता [न] निर्गन्ता [नैवम्]अपि स्वपरिकल्पितविविनाशसम्भवाः तथैवोत्पादस्थितिविनाशरहितमिदं ज्ञानविशेषाभिमतमित्युपदेशः ।

स च स्वभावश्चिन्त्यमानो न स्वतः नापि परतो न द्वाभ्याम्, नाप्यहेतुतः, अथ कथं स्वपरोभयाभावः ? ब्रूमः, असिद्धत्वयुक्त्यनुत्पादस्वसामग्रीदर्शनादर्शनेभ्यः, असिद्धेस्तावत् दीर्घह्रस्वयोर्मध्यमानामिकाङ्गुल्योः दीर्घाया दीर्घस्वभावो न तावद्दीर्घे स्वात्मन्यस्ति परायत्तत्वा तस्यास्तस्य तर्हि अनामिकाह्रस्वत्वायत्तं यत् स्वात्मन्यसिद्धं तत् कथं परतः सिद्ध्येत् ? ।

(स चेति) स च स्वभावश्चिन्त्यमानो हेतुतो[ऽहेतुतो] वा स्यात् यदि हेतुतः स्वतः परत उभयतो वा स्यात् स च स्वभावो 'न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां, नाप्यहेतुतः अत्रोपपत्तिप्रश्नः अथ

कथमशून्यमेव न हि यथा तत् पश्यति तत्स्वभावमस्त्यभावं वा एवं ज्ञानमपि तस्मान्न भ्रान्तोऽपि तथाविधा इति भावः । एवं मत्तस्य मदात्याकुलस्यापि निःस्वभावत्वमपि अभवत्निःस्वभावत्वमाह–यथा वेति । कामकुसुमसम्भवाः पाषण्डिनोऽपि रक्तशिक्षामूढाः कुसुमसमचन्द्रानीचा एवेति तद्विज्ञानं वस्तुना निःस्वभावत्वेऽपि तत्तदाकारतया प्रकल्पनामनुसरति ग्राह्यविविधाकारमित्याह–सुसमचन्द्रेति । यथा कुसुमचन्द्रादिसुसीमविज्ञानविषयाणां तत्स्वभावत्वात्तत्स्वभावतया च विज्ञानैः परिकल्पिताकारत्वं तथैव ज्ञानस्वभावानामपि किमपीत्थं किमपीत्थमिति प्रतिभासते वस्तु, परमार्थतस्तु नास्ति कश्चिदाकारो वस्तुना किन्तु शून्यमेव तत्स्वरूपतो ग्राह्यग्राहकाकारमपि न किञ्चिदस्ति तस्माच्छून्यमेव सर्वमिति कल्पयितुं युक्तमित्याह–तद्वत्स्वाभाव्येनेति । एतावता विज्ञानमेव तत्त्वं परमार्थभूतं बाह्यः पदार्थो नास्ति बुद्धिमात्रमेव प्रमाणप्रमेयादिविभ्रमः न हि बाह्योऽर्थो ... विज्ञानेनापेक्षोत्पत्तिः न बाह्येन विज्ञानस्य, विज्ञानं हि ... न च नीलपीतादिविज्ञानवैचित्र्यान्यथानुपपत्त्या बाह्योऽर्थो ... विज्ञाने नीलादेः ... अन्याकारस्यान्यत्रार्पणासम्भवात् ... तथा तत्त्व निराकारत्वापत्तेः ... पूर्वविज्ञानेभ्यः ... तस्मात् विज्ञानमेव ... न बाह्यो नीलादिः परमार्थः तस्मात्तत्त्वं नीलं ... अत एव बुद्ध्या तैस्तैराकारैर्नीलादिभिर्गृह्यमाणमपीदं शून्यमेव ... मातृके विज्ञाने ... परितो भ्रमणात् ... ग्राह्यग्राहकाकारो ... विज्ञानमिति विज्ञानव्यतिरिक्तत्वेनाभिमतं सर्वं शून्यमेवेत्याह–तैस्तैराकारैरिति । प्रवेशस्थाननिर्गमनरहितशून्यगृहवत् उत्पत्तिस्थितिविनाशकल्पनारहितं ज्ञानविशेषत्वेनाभिमतमिदं सर्वं ... निराकारविज्ञानमभिमतमस्तु ... –शून्यगृहवदिति । वस्तूनां निःस्वभावत्वसिद्ध्यर्थं वस्तु स्वभावत्वेनाभिमतं स्वभावं निराकर्तुमाह–स च स्वभाव इति । ... तत्र विद्यमानस्य उत्पत्तिः अविद्यमानस्य ... उत्पत्तिः ... न ... एवं स्थितिरपि ... न विद्यते ... इति विरोधो न स्वभाव... –'स्वप्न माया यथा ... ' इति माध्यमिकाः ... । तत्र वस्तूनां स्वभावः किं हेतुतः उताहेतुतः भवति, यदि हेतुत उच्यते स हेतुः स्वो वा परो वोभयं वेत्याह–स चेति । हेतुत स न ... –स च स्वभाव इति । 'न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः । ... भावाः

कथं स्वपरोभयाभावः ? शृणु—एभ्यो हेतुभ्यः—असिद्धापुरुषस्वानुत्पादसामग्रीदर्शनादर्शनेभ्यः—असिद्धापुरुषे च कः स्वभावः ? उत्पादे सति स्वो परो वा भावः स्यात्, अनुत्पादे कुतः सः ? सामग्र्या दर्शनेऽपि न स्वोभावः, अदर्शने पुनर्भेदस्वभावः इत्युपसंहारो भविष्यति, क्रमेणैते हेतवः प्रतिपाद्या इत्यत आह—असिद्धेस्तावदित्यादि अङ्गुलिर्मध्यमा दीर्घा अनामिका ह्रस्वा, तयोर्दीर्घाया-मध्यमाया दीर्घेति यः स्वभावः—दीर्घत्वं तत्र तावत् दीर्घे स्वात्मन्यस्ति कस्मात् ? परायत्तत्वात् तस्या मध्यमायास्तस्य दीर्घत्वस्य यदि तस्या दीर्घत्वमनामिकाह्रस्वत्वायत्तम्, तां ह्यनामिकां ह्रस्वामपेक्ष्य मध्यमा दीर्घेत्युच्यते, तस्मादात्मन्यसिद्ध खरविषाणवदसत् कथं परतः सिध्येत् ? ।

स्वात्मस्थं स्वायत्तमेवेति तत्र अनामिकाह्रस्वत्वाभावप्रसङ्गात्—

यदि हि स्वविषयमेवैतत् स्यात्, अनामिकाह्रस्वत्वं न स्यात्, अपरापेक्षत्वात् साऽपि दीर्घैव स्यात् मध्यमावत् न तु भवति तस्या ह्रस्वत्वेष्टेः, अथाह्रस्वैवेष्यते तत्र मध्यमा दीर्घत्वाभावः सामेक्षापेक्ष्य दीर्घेति व्यपदेशात्, तस्माच्च दीर्घत्वप्रतिपक्षस्यानामिकाह्रस्वत्वस्याभावः, तयोः परस्पराश्रयत्वात्, कदा मध्यमा दीर्घा सेत्स्यति ? यदाऽनामिका ह्रस्वा भवेत्, अनामिका ह्रस्वा च मध्यमादीर्घत्वसिद्धौ सेत्स्यति इति इतरेतराश्रयत्वादसिद्धिः ।

(यदि हीति) यदि हि स्वविषयमेवैतत् स्यात्—यथाऽऽत्मस्थत्वेन मध्यमाया दीर्घत्वं तथा अनामिकाह्रस्वत्वं न स्यात् अपरापेक्षत्वात् साऽपि दीर्घैव स्यात्—यथा हि मध्यमाऽनामिकानिरपेक्षा दीर्घेष्यते तथाऽनामिकापि मध्यमानिरपेक्षा स्वत एव दीर्घेष्यताम्, मध्यमावत् न तु भवति तस्या ह्रस्वत्वेष्टेः, अथाह्रस्वैवेष्यते तत्रय-आह्रस्वत्वे मध्यमादीर्घत्वाभावः—तस्या अनामिकायाः स्वात्मनि ह्रस्वत्वाभावे मध्यमाया

कथम् केवल ८' इति भावविज्ञानिका तयोरत्वाभिमताः स्वपरोभयेभ्यो न भवन्ति, असिद्धेरनुपलम्भ उत्पादे सिद्धे हि न स्वतो वा परतो वोभयतो वा भवेत्, न चासिद्धोऽनुपलम्भ न कुतश्चित् इत्युपसंहारोऽपि वा युक्ति साधनं [illegible], एतच्च भावाभिव्यक्तेर्न स्वभाव [illegible] असिद्धापुरुषो चेति । [illegible] तदुक्तं स्वभाव इत्याद अनुत्पाद इति । [illegible] सामग्र्या भावा उपलभ्यन्ते न प्रत्येकं [illegible] वा [illegible] न भवन्ति तत्र सामग्र्यां [illegible] सामग्र्या इति । [illegible] इति । अत [illegible] हेतूनां विचारं [illegible] इति । [illegible] अङ्गुलिरिति मध्यमाऽङ्गुलिर्दीर्घेत्युच्यते अनामिका च ह्रस्वेत्युच्यते तत्राङ्गुलिद्वये मध्यमाया यद्दीर्घत्वं [illegible] दीर्घे [illegible], [illegible] यदि दीर्घत्वमनामिका ह्रस्वत्वमपेक्ष्य भवति, [illegible] भावः । यदि तु दीर्घत्वं परायत्तं न स्यात् [illegible] आह—यदि हीति । यदि मध्यमाया दीर्घत्वं [illegible] न तु परायत्तं तदाऽनामिकाया ह्रस्वत्वमपि परायत्तं न स्यात्, [illegible] दीर्घा स्यात् [illegible]—यथेति । अनामिकाया दीर्घत्वं [illegible]—यथा हीति । [illegible]—न तु भवतीति । [illegible] भाव । [illegible] यदि [illegible] नास्ति [illegible] दीर्घत्वं कथं स्यात् [illegible] न ह्रस्वा तर्हि [illegible] मध्यमा दीर्घा भवेत् [illegible] न स्यादित्याह अथाह्रस्वैवेष्यत इति । [illegible] मध्यमादीर्घत्वाभावः मध्यमादीर्घत्वा-

दीर्घत्वं न स्यात्, मध्यमापेक्ष्य-ह्रस्वानामिकां दीर्घेति व्यपदेशात् सा चेदनामिका ह्रस्वा न भवति कथमन्यामपेक्ष्य दीर्घा स्यान्मध्यमा ? इति तस्या दीर्घत्वाभावः, तस्माच्च—मध्यमादीर्घत्वाभावात् दीर्घत्वप्रतिपक्षस्यानामिकाह्रस्वत्वस्याभावः, तयोः परस्पराश्रयत्वात्, तद्भावयति—कथं मध्यमैवास्ति यावत् सेत्स्यतीति गत्वार्थमितरेतराश्रयत्वभावनम्। इतीतरेतराश्रयत्वादसिद्धिः—इत्युक्तेतरेतराश्रयत्वाच्च सिद्धिः परस्परप्रतिबद्धत्वाद्वानयोरुभयत्रापि दीर्घत्वे ह्रस्वदीर्घत्वकल्पना, एवं तावत् दीर्घे दीर्घत्वप्रवृत्तिमिच्छतः प्रसङ्गादुभयोरभाव आपादितः।

साम्प्रतं ह्रस्वे यदि दीर्घता भविष्यति त्वदुक्तविधिना, ह्रस्वापेक्षत्वाद्दीर्घत्वस्य, अनामिकाह्रस्वतापेक्षत्वाभिमतमध्यमादीर्घता भवितुमर्हत्यतः सिध्यति दीर्घत्वं तथा ह्रस्वत्वमितरापेक्षत्वादित्यत्रोच्यते—

न ह्रस्वेऽपि दीर्घत्वं तत्प्रतिद्वन्द्वित्वात्तयोस्तमःप्रकाशवत् जीवितमरणवच्चैकत्र कुतो भावः ? तस्य चाऽदीर्घत्वेऽभावात्मकत्वात् कुतो दीर्घत्वमागतमन्यत् ? ह्रस्वत्वाभावाच्च नास्ति दीर्घत्वम्, दीर्घत्वस्य ह्रस्वे वृत्ते तदवष्टम्भे ह्रस्वत्वस्यानवकाशात्, तथापि पुनः ह्रस्वप्रतियोगिनो दीर्घत्वस्याभावान्न सिध्यति दीर्घत्वम्, स्वात्मनि परत्र वा वृत्त्यसम्भवात्।

(नेति) न ह्रस्वेऽपि दीर्घत्वं तत्प्रतिद्वन्द्वित्वात्, दीर्घत्वेन ह्रस्वत्वेन विरोधात् ह्रस्वत्वदीर्घत्वयोः परस्परविरोधात् तमःप्रकाशवज्जीवितमरणवच्चैकत्र कुतो भावः ? तस्य चाऽदीर्घत्वेऽभावात्मकत्वात्—तस्य ह्रस्वत्वस्य दीर्घत्वाभावात्मकत्वात् यदि लोके दीर्घं न भवति तदुच्यते ह्रस्वमिति तस्मात्, तस्य दीर्घत्वाभावात्मकत्वात् कुतो दीर्घत्वमागतमन्यत् ? ह्रस्वत्वाभावाच्च नास्ति दीर्घत्वं—दीर्घत्वस्य ह्रस्वे वृत्ते दीर्घत्वोपष्टम्भेऽनवकाशात्

मध्ये चानामिकाह्रस्वत्वाभावः ह्रस्वत्वदीर्घत्वयोः परस्पराश्रयत्वादित्याह—तस्माच्चेति। एवमितरेतराश्रयत्वाद् ह्रस्वत्वदीर्घत्वयोरसिद्धिः न हि परस्पराश्रयाणि कार्याणि क्रमेण, परस्परप्रतिबद्धत्वात्तयोरुभयमप्यसिद्धं भवतीति भावयति—कथं मध्यमैवास्तीति। इतरेतराश्रयत्वे च दृष्टान्तमाह—इतीतरेतराश्रयत्वादिति। एवं दीर्घादीर्घत्वयोरभावमापादितमित्याह—एवं तावदिति। भवतु तदुक्तरीत्या स्वत एव मध्यमामपेक्ष्य दीर्घत्वमनामिकाया अपरापेक्षत्वात्, मध्यमायामपि अनामिकाह्रस्वत्वापेक्षं दीर्घत्वं स्यात्, एवञ्च दीर्घत्वह्रस्वत्वयोः सिद्धिरितरापेक्षत्वादित्याशङ्कते न ह्रस्वेऽपीति। ह्रस्वत्वदीर्घत्वयोः परस्परं प्रतिद्वन्द्वित्वादेकत्र—तत्राह्रस्वे दीर्घत्वं न सम्भवतीति व्याचष्टे—नेति। तमःप्रकाशवज्जीवितमरणवच्चैकत्र यथा प्रकाशस्य मरणस्य वा सद्भावो नास्ति तथा ह्रस्वत्वदीर्घत्वयोरेकत्र न सम्भव इत्याह—तमःप्रकाशवदिति। यदि च दीर्घत्वविरोधिनो ह्रस्वत्वस्य दीर्घत्व—दीर्घत्वाभावात्मकत्वं तर्हि मध्यमाया दीर्घत्वं कुत आगतं ह्रस्वत्वापेक्षं हि तत्, ह्रस्वत्वस्यैवाभावे कुतो दीर्घत्वम् ? यद्वा ह्रस्वत्वस्य दीर्घत्वाभावात्मकत्वे दीर्घत्वाभाववति ह्रस्वे कुतोऽन्यदीर्घत्वमागतम् ? इत्याशयेनाह—तस्य चेति। प्रतिद्वन्द्वित्वे ह्रस्वत्वमेवार्थं। अथ ह्रस्वत्वं दीर्घत्वाभावात्मकमित्यत्र लोकव्यवहारं दर्शयति—यदि लोक इति लोके हि यद्दीर्घं न भवति तद्ह्रस्वमित्युच्यतेऽतो दीर्घत्वाभावात्मकं ह्रस्वत्वमिति भावः। प्रकारान्तरेण ह्रस्वे दीर्घत्वं केनाह ह्रस्वत्वाभावापत्ति ह्रस्वे दीर्घत्वस्य वृत्तौ तस्य च दीर्घत्वेनाक्रान्तत्वात् तस्मिन् ह्रस्व एव नास्ति न हि तत्स्वप्रवृत्तिनिमित्तस्याभावे तच्छब्दवाच्यो भवितुमर्हति घटो घटत्वप्रवृत्तिनिमित्तस्य घटत्वस्य घटे च वर्त्त घटशब्दवाच्यो न हि भवति, तथा ह्रस्वाभिमत दीर्घत्वस्य वृत्तौ स दीर्घ एव भवेत् न तु ह्रस्व इति ह्रस्वत्वस्यानवकाशात् ह्रस्वाभावात् कुत्र दीर्घत्वं वर्त्ततामिति भावः। एवमपि स्वात्मनो दीर्घत्वे ह्रस्वदीर्घयोरुभयोरपि

---

१ भि. क्ष. प. डे. °दात्मकत्वात् ।

ह्रस्वत्वस्य ह्रस्वाभावे च दीर्घत्वं वर्तेत ? अतोऽपि दीर्घत्वाभावः तथापि पुनरित्यादि—पुनरपि च दीर्घत्व-ह्रस्वत्वयोर्भावाभ्युपगमेऽपि ह्रस्वत्वप्रतियोगिनो दीर्घत्वस्याभावात् सिध्यति दीर्घत्वं स्वात्मनि परत्र च तुल्यत्वसम्भवात् ।

स्वात्मवृत्तभवन वर्ततेऽन्यापेक्षत्वादुभयोः ह्रस्वमपेक्ष्य [दीर्घं दीर्घमपेक्ष्य] ह्रस्व सिध्यतीत्येतत्—

न ह्रस्वे तदभावात्, प्रतिद्वन्द्वित्वाद्वा, उभयत्र दीर्घत्ववृत्तिरेषा च किं ह्रस्वे वर्तमाने दीर्घत्वे दीर्घं भवति ? उत दीर्घे एव वर्तमाने, यदि ह्रस्वे वर्तमानं दीर्घत्वमुभयत्र भावं लभते ततो ह्रस्वे वर्तमानं दीर्घत्वं दीर्घस्य दीर्घतां दीर्घे इति बुद्धिं कथं कुर्यात् ? ततोऽन्यत्र वृत्तत्वात्, ह्रस्वादीर्घत्वप्रत्ययवत् ।

(नेति) [न]ह्रस्वे कस्मात् ? तदभावात् यथा दीर्घे दीर्घत्वं न परापेक्षत्वादित्युपगम्य यावदि तरेतराभावत्वादसिद्धिरित्युक्त्वाभावात् सिध्यति दीर्घता तथा ह्रस्वेऽपि न वर्तेत ह्रस्वगुणोऽभावाभाव सिध्यति द्वयोरन्यतरस्यापि असिद्धत्वम् कुत उभयत्र सिद्धिः स्वपरयोः प्रतिद्वन्द्वित्वाद्वा—यथा दीर्घत्वं दीर्घे ह्रस्वे न वर्तते तथा ह्रस्वत्वमपि दीर्घे ह्रस्वे च वर्तते, अत उभयोरुभयत्र भावो विरोधी तयोः सहावस्थि युक्त विरोधित्वादेव परस्पर[व] स्थुतम्, तस्मात् स्वतो न परतो नोभयतश्च दीर्घत्वं सिध्यति ह्रस्वत्वं वा एव ह्रस्वत्वेऽपीत्यतिदेशस्यमानत्वात् किञ्चान्यत्—उभयत्र दीर्घत्ववृत्तिरेषा—सा तु इतरेतरयोरेव, एषोऽपि विकल्पः किं ह्रस्व स्वात्मवदीर्घापेक्षत्र वर्तमाने दीर्घत्वे दीर्घं भवति ? उत स्वात्मनि दीर्घे एव वर्तमाने दीर्घं भवति ? इति निर्धार्यम् किञ्चातः—यदि ह्रस्वे इत्यादि—यदि ह्रस्वे वर्तमानं दीर्घत्वमुभयत्र भावमितरेतरयोर्भावं लभते इतीष्यते प्रथमविकल्प इति ततः किं ? ततो ह्रस्वे वर्तमानं दीर्घत्वं दीर्घस्य दीर्घतां दीर्घे इति बुद्धिं न कथं कुर्यात् ?—न कुर्यात् नाप्यन्यापेक्षबुद्धिम् ततोऽन्यत्र वृत्तत्वात् यथा ततोऽन्यत्र वर्तते तथा तत्रो

ह्रस्वत्वापेक्षस्य दीर्घत्वस्य दीर्घेऽन्यत्र वा प्रवृत्तिरेषा तत्स्वात्मन्येव नास्ति सिद्धिरित्याह—पुनरपीति । न च केवले तस्मिन् परस्मिन् वा ह्रस्वत्वेऽपि परस्परापेक्षसिद्धिके ह्रस्वदीर्घत्वे उभयत्र स्वात्मसिद्धत्वाभावात्—न ह्रस्व इति । व्याचष्टे—तथेति । दीर्घत्वस्य ह्रस्वापेक्षस्य स्वात्मन्यसिद्धत्वं पराभावात् स्वात्मन्यसिद्धत्वं परतः सिद्धत्वाभावात् स्वतः सिद्धौ स्वपरस्वभावानुपलब्धत्वान्यपरभावत्वेन च सिद्धिः स्यात् तथापि दीर्घे भवेत् तथा ह्रस्वत्वे च सम्भवाद्दीर्घत्वं न सिध्येत्, तथैव ह्रस्वत्वमपि न स्यात्, तयो परस्परापेक्षयोरेवोभयत्वासिद्धिः ह्रस्वेऽपि च दीर्घत्वस्वाभाविकेन तस्मात् तस्मिन् परस्मिन् वाऽसिद्धस्य दीर्घत्वस्य ह्रस्वत्वस्य वा तत्स्वमुभयत्र तत्स्वतः स्थुत्वमप्यनेनाऽपि स्वात्मसिद्धिं भाव्यं । परस्परप्रति-भिन्नत्वात् ह्रस्वदीर्घत्वयोर्नोभयत्र प्रतिद्वन्द्वित्वाद्—स्वपरयोरिति । तस्मिन् दीर्घे परस्मिन् ह्रस्वे चोभयत्र ह्रस्वदीर्घत्वे न वर्तेते परस्परप्रतिद्वन्द्वित्वात् परस्परेतरस्वभावत्वादिति भावः । उभयत्रेति—तथाभावेति । ह्रस्वत्वस्यापि स्वतोऽपि परतश्चाभाव-प्रसक्तिरिति । विशेषमुभयत्र प्रतिद्वन्द्वित्वाभावस्य योगात्मक तत्र मम गत्वेत्याह—उभयथेति । ह्रस्वदीर्घयोरिति । एषोऽपीति इतरेतरयोरपीत्यर्थः । किं ह्रस्वे इति, दीर्घत्वं स्वात्मनोऽदीर्घापेक्षत्र ह्रस्वे वर्तमानं तत् दीर्घस्य दीर्घतां दीर्घे इति बुद्धिं किं विदधे किं वा स्वात्मनि एव वर्तमानं करोतीति प्रश्नार्थः । प्रथमपक्षं विचारयति—यदि ह्रस्व इति ह्रस्वे वर्तमानं दीर्घत्वमितरत्र, तस्मिन् दीर्घे दीर्घत्वं दीर्घत्वस्वभाव करोतीति यदि मन्यते तत्र । तत्र दोषमाह—तत इति, मत्वन्यस्मात्स्वे वेतरे ह्रस्वे वर्तमानं दीर्घत्वमन्यत्र दीर्घतां दीर्घत्वस्य विषय इति, तयैव विषयो, ततोऽन्यत्र तत्सम्भूतत्वादिति भावः । तमेव हेतुमाह—ततोऽन्यत्रवृत्तत्वादिति । यदि ततोऽन्यस्य तत्त्वं तत्त्वत्र तत्त्वं तद्बुद्धिं न करोति यथा दीर्घत्वं ह्रस्वान्यस्य

१ सि. प्र. क्ष. डे. दीर्घत्वं । २ क्ष. ततोऽन्यत्रवृत्तत्वात् । सि. च. डे. ततोऽन्यत्रत्वात् ।

न करोति न च तद्बुद्धिमादधाति ह्रस्वादीर्घत्वप्रत्ययवत्- यथा ह्रस्वं दीर्घत्वं न करोति नादधाति तत्प्रत्ययं तथा दीर्घत्वं दीर्घे प्रत्ययञ्च न कुर्यादादध्यादिति ।

अथ दीर्घ एव दीर्घत्ववृत्तिरिष्यते ततो दीर्घे एव वर्त्तमानं दीर्घत्वं करोति तत्प्रत्ययञ्चादधाति इति ह्रस्वेन दीर्घेतरेणेतरेतरयोगार्थं कल्पितेन नार्थः न च तत्प्रत्ययेन, स्वाधारत्वादेव तत्सिद्धेः, अथ तथापि तत्र दीर्घे दीर्घतां न करोति न तत्प्रत्ययञ्चादधातीति मन्यसे ततो ह्रस्वे कथं दीर्घत्वं तद्बुद्धिञ्च कुर्यात्, ततोऽन्यत्र वृत्तत्वात्, ह्रस्वादीर्घत्वप्रत्ययवत्, अथोच्यते ह्रस्वे दीर्घतां नैव करोति दीर्घप्रत्ययमपि नादधातीति, एतदपि नोपपद्यते ह्रस्वदीर्घयोः परस्परापेक्षसिद्धेर्लोके दृष्टत्वात्, तद्यथा—सिद्धार्थकेत्यादि मेरुपर्यन्तानामितरेतरापेक्षह्रस्वदीर्घाणां दृष्टानां ह्रस्वे वृत्तस्य दीर्घत्वस्य दीर्घाकरणदीर्घप्रत्ययानाधानाभ्युपगमेऽत्यन्तदीर्घाभाव एव प्रसक्तः, नैव दीर्घं भवेत् दीर्घाकरणात्, ह्रस्वत्ववत्, तत्प्रत्ययोऽपि न भवेत्, दीर्घ- 1
प्रत्ययानाधानात्, ह्रस्वप्रत्ययवदिति, एवं ह्रस्वत्वेऽपि ।

(अथेति) अथ मा भूदेष दोष इति दीर्घ एव दीर्घत्ववृत्तिरिष्यते, अत्र भूमा—दीर्घ एव वर्त्तमानमित्यादि, तत इष्टमापन्नं दीर्घ एव वर्त्तमानं दीर्घत्वं दीर्घतां करोति तत्प्रत्ययञ्चादधाति तत्रेति इष्यत एवात्, किन्तु ह्रस्वेन दीर्घेतरेणेतरेतरयोगार्थं कल्पितेन नार्थः, न च तत्प्रत्ययेन, स्वाधारत्वादेव तत्सिद्धेः, इतरेतरयोगप्रसूते-
मापन्नमपि दोषः अथ तथेत्यादि—ह्रस्वह्रस्वप्रत्ययवैयर्थ्यदोषपरिहारार्थमितरेतरयोगे सत्यपि तत्र दीर्घे दीर्घतां 1
न करोति न दीर्घप्रत्ययं चादधातीति मन्यसे तत इदमन्यदोषजातं प्राप्त—ह्रस्वेऽपि दीर्घत्वं न करोति न च
दीर्घप्रत्ययमादधातीति प्राप्तम्, एतदर्थप्रदर्शनं—ह्रस्वे कथमित्यादि गतार्थं पूर्वसाधनं यावत् ह्रस्वादीर्घत्वप्रत्यय-
वदिति, अथोच्यतैतद्दोषपरिहारार्थं त्वया ह्रस्वे दीर्घतां नैव करोतीति दीर्घप्रत्ययमपि नादधातीति, एतदपि
नोपपद्यते—ह्रस्वदीर्घयोः परस्परापेक्षसिद्धेर्लोके दृष्टत्वात्, तत्प्रत्ययस्य च तन्नैव चैकस्य वस्तुनोऽपान्तरापेक्षस्य
ह्रस्वत्वदीर्घत्वदर्शनात्, तद्यथा—सिद्धार्थमित्यादि दृष्टानामेकानां सिद्धार्थकादारभ्य मेरुपर्यन्तानामितरेतरापेक्ष 2

दीर्घस्य तत्त्वं तद्दीर्घे ह्रस्वस्य दीर्घत्वं दीर्घ इति प्रत्ययं न करोति तथा ह्रस्वस्य तत्त्वभूतं दीर्घत्वं ह्रस्वात्मन्यस्थितम् दीर्घे दीर्घत्वं दीर्घ इति प्रत्ययं न कुर्यादिति निगमयति—यथा इति अथ द्वितीयं भावयति दीर्घ एव वर्तमानं दीर्घत्वं दीर्घत्वदीर्घबुद्धी विधास्यतीति पक्षे दोषमाह—अथ दीर्घ एवेति । दीप्यति अथ मा भूदिति । एवं तर्हि ह्रस्वस्य तत्प्रत्ययस्य च वैयर्थ्यं प्रसज्यते इतरेतरयोगार्थं दीर्घे च ह्रस्वापेक्षदीर्घत्वतत्प्रत्ययसद्भावे ह्रस्वत्वं तौ प्रकल्प्यौ यदा तु दीर्घत्वं स्वाधारे एव वर्तेत न परापेक्षं तदा स्वाधारत्वादेव तत्सिद्धेरित्याह—तत इष्टमापन्नमिति । इतरेतरयोगप्रसूतान्यमपि दोषमाह स्वयमेवेति इतरे 2 तदस्ति । अथ ह्रस्वत्वतत्प्रत्ययवैयर्थ्यं मा भूदिति तदभ्युपगम्यापि दीर्घत्वं दीर्घे दीर्घत्वतत्प्रत्ययाधायकं न भवतीति मन्यत इत्याह ह्रस्वेति । अथैवं तर्हि ह्रस्वेऽपि दीर्घत्वतत्प्रत्ययाधायकं न स्यात् इष्यते च तत्र तौ अनाश्रितया अपेक्षयापेक्षाप्रत्ययोर्भावात् अन्यत्रैव तदाश्रितत्वस्य दोष एव एवं प्राप्तिमाह—ह्रस्वेऽपीति । ह्रस्वेऽपि दीर्घता दीर्घे इति बुद्धिश्च कथं स्यात् ह्रस्वात्मनि दीर्घस्य तत्त्वभूतत्वात् ह्रस्वात्मनि दृष्टा ह्रस्वादीर्घत्वप्रत्ययवदिति प्रयुक्तमिति स्मारयति—ह्रस्वे कथमित्यादीति । ननु अन्यत्र एव ह्रस्वे दीर्घत्वं दीर्घत्वप्रत्ययं करोतीति चेदत आह अथोच्यतेति । तदा हि ह्रस्वत्वम् 3 दीर्घत्वापेक्षया दीर्घत्वं च ह्रस्वत्वापेक्षया सिद्धेः एवमेकत्रापि दीर्घत्वस्याप्यपेक्षत्वात् अपेक्षापेक्षदीर्घत्वादिधर्मे समाधत्ते—ह्रस्वदीर्घयोरिति । तत्र दृष्टान्तमाह—तद्यथेति । सर्वापेक्षया सर्पपे दीर्घ आमलकापेक्षया ह्रस्वः सर्षपापेक्षया आमलकं दीर्घमित्याद-

ह्रस्वादीनां दीर्घापेक्षा तथानां ह्रस्व ह्रस्वस्य दीर्घत्वस्य दीर्घापेक्षत्वदीपमत्स्यमानप्रधानाभ्युपगमेऽप्यन्यथाभाव एव प्रसक्तः, अभावनिमित्तप्रतिपादनसाधन—नन दीर्घमित्यादि गत्वार्थं यावद्रूस्वत्वमिति तथा ह्रस्वत्वोऽपि नेति गत्वार्थं यावद्दीर्घत्वमिति, एवं ह्रस्वत्वेऽपि, अयविशेषः—यदि ह्रस्व ह्रस्वत्वमित्युपक्रम्य दीर्घत्वस्थाने ह्रस्वत्वं कृत्वा स एव ग्रन्थो यावद्दीर्घमिति ।

उभयोरपरपक्षोऽपि प्रत्येकमभिहितैर्दोषैर्न विमुच्यते, प्रत्येकमसिद्धयोरपेक्षायामप्यसिद्धेः, विप्रतिषेधाच्च, एवं तावच्च स्वतो न परतो नोभयतश्च ह्रस्वदीर्घे सिध्यतः, यद्यहेतुतः, खपुष्पमपि स्यादिति ।

(उभयेति) उभयोरपरपक्षश्च ह्रस्वमपि दीर्घं ह्रस्वश्च दीर्घमपि दीर्घं ह्रस्वत्वमपि उभयोरपरपक्षः प्रत्येकमभिहितैर्दोषैर्न विमुच्यते प्रत्येकमसिद्धयोरपेक्षायामप्यसिद्धेः पृथक् सिद्धिमूलत्वादपेक्षायाः, सिकतान्यवत्—विप्रतिषेधाच्च ह्रस्वदीर्घत्वयोर्विरोधादप्राप्तिरित्युक्तत्वात्, एवं तावच्च स्वतो नापि परतो नोभयतश्च ह्रस्वदीर्घे सिध्यत इति, आत्मत्वमहेतुतः सिध्यत इति अत्रोच्यते—यद्यहेतुतः खपुष्पमपि स्यात्, अहेतुत्वम न सिध्यति दीर्घत्वमहेतुकत्वात्, खपुष्पवत् यदि सिध्येत् खपुष्पमपि सिध्येत्, अहेतुकत्वाद्दीर्घत्ववत् ।

आत्मत्वमापेक्षिकेषु ह्रस्वदीर्घादिषु स्यादयं न्यायो न तु घटादिष्वपि नैव मन्तव्य यस्मात्—

एवं घटादीनामपि स्वरूपसिद्धिरेव नास्ति, न घटे घटत्वम्, परायत्तत्वात् घटत्वस्यापि दीर्घत्वप्रतिषेधन्याय एवात्रापि यदि हि स्वविषयमेवैतत् स्यात् घटो न घटोऽपि स्यात् अव्यतिरेकतः तस्य चाघटत्वे एवमन्येऽपि घटा इति तस्याभावः, तस्याभावेऽघटाभावः घटापेक्षत्वाच

पेक्षया ह्रस्व- त्वपेक्षया च अन्यदपि दीर्घम्, एवं चान्ययोः एकस्यैवत्रैकापेक्षया ह्रस्वदीर्घत्वे स्तो तथा ह्रस्वदीर्घत्वयोर्न च यदि अन्ये वर्तमानं दीर्घत्वं दीर्घं न करोति तदन्यस्य भवत्वादि तत्र दीर्घत्वदीर्घत्वयोरभावात् नितरां दीर्घत्वोपपत्ता स्यादिति भावः । यथा ह्रस्वस्य दीर्घकरणाय दीर्घं भवति एवं तथैव दीर्घत्वमपि दीर्घकरणाय किमपि दीर्घं भवेदिति दीर्घत्वान्यायत्व, ह्रस्वत्वे यथा वा न काऽपि दीर्घत्वाभावात्वस्य दीर्घत्वस्योऽपीति न काऽपि दीर्घत्वम् स्यादिति तदनुपपत्तेः इति मन्येत एवमपि—दीर्घमित्यादीति तत्र दीर्घत्वापत्तिरपि । एवमेव ह्रस्वत्वविधिरपि न तावद्ध्रस्वत्वं ह्रस्वे स्वात्मन्यपि परायत्तत्वात्, अन्यनिरपेक्ष ह्रस्वत्वस्य, यदि मध्यमादीर्घत्वमपि मत, नात्मन्यपि तत्त्वस्य परत्व सिध्येत्, यदि हि स्वनिष्ठमेवैतत् स्यात् मध्यमादीर्घत्वं न स्यात् अपरापेक्षत्वात्, यदपि ह्रस्व स्वत्व अन्यनिरपेक्षत्, न तु मध्यो तथा दीर्घत्वे अपरापेक्षित्वे तदपि अभिव्यक्तत्वाभाव तस्येतरेण ह्रस्वेति अपेक्षत्व, तस्यान्य ह्रस्वत्वनिरपेक्षत्व मध्यमादीर्घत्वसामान्य तयोः परत्वाभावात्, स्यादन्यथापि इत्या वेत्यादि । यत्र मध्यमा दीर्घ न भवेत्, मध्यमा दीर्घं अपेक्षिका ह्रस्वत्वनियो [illegible] इति इत्येवं दीर्घत्वे दीर्घत्वाभाव ह्रस्वत्व स्वोच्य सर्वो ग्रन्थ इत्याह—एवं ह्रस्वेऽपीति । उभयोरन्योऽन्यं वर्तत इति पक्षे निराकरोति—उभयोरपरेति । इत्थे ह्रस्वत्वं दीर्घत्वस्य दीर्घे दीर्घत्वं ह्रस्वस्य च अपनुपपद्यते तदपि प्रत्येकमभिहितदोषा अपरो- क्षादाह—उभयोरपरपक्षस्येति । प्रत्येकमसिद्धयोरपेक्षायामप्यसिद्धेः पृथक् तत्र सिद्धयोरेवापेक्षासम्भवादित्याह प्रत्येकमिति । ह्रस्वदीर्घत्वयोः परस्परं विरोधात् एकस्यैकत्वव्यापन इत्याह विप्रतिषेधाच्चेति । एवं न हेतुतो ह्रस्वदीर्घत्वयोरभिसिद्धिरित्याह—एवं तावदिति । यदहेतुतः ह्रस्वदीर्घत्वे भवत इत्युच्यते तर्हि खपुष्पादिकमपि भवेदित्याह—आत्मत्वमिति । आत्मेति—अहेतुकत्वेति । अपरापेक्षेषु घटादिष्वपि दीर्घत्वप्रतिषेधन्यायमवतारयति—एवं घटादीनामपीति । एवं घटादीनामपि [illegible]

घटत्वस्य, सोऽप्येवमघटो न भवति, एतद्घटापघटत्वादघटत्वस्य, तयोः परस्परायत्तवृत्तित्वात् कदा घटः सेत्स्यति प्रत्येकमन्यस्यात्मा ? यदाऽसावघटो भवेत्, अघटश्च घटसिद्धौ सेत्स्यतीतीतरेतराश्रयत्वादसिद्धिः ।

(एवमिति) एवं घटादीनामपि स्वरूपसिद्धिरेव नास्ति, तद्यथाह—न घटे घटत्वम्, पटवच्च स्यात् घटस्येत्यादि यो दीर्घस्यप्रतिषेधे न्यायः स एवात्रापि दीर्घस्थाने घटं कृत्वा ह्रस्वस्थाने पटादघटं पटान्तरं च कृत्वा, घट एवाघटो दृष्टः, इतरस्य घटस्येतरघटत्वाभावात् देशकालाकारादिभेदाच्च परस्परतः, तस्मात् पटवत्त्वस्य—पटान्तरे पटादौ वाऽऽघत्व यदि हि स्वविषयमेवैतत् स्यात् घटो न घटोऽपि स्यात्, कथं पुनरघटोऽपि भवतीत्यत आह—भवतितरेतरः तस्य चाघटत्वं एवम्—तस्य घटस्यैवाघटत्वे यथाऽसावघटः तथाऽन्येऽपि घटा अघटा एवेति घटाभावः पटादयस्त्वघटा एव सिद्धाः, तस्य—घटस्याभावेऽघटाभावः, कस्मात् ? घटापेक्षत्वादघटत्वस्य, सोऽप्येवमघटो न भवतीत्यघटः, तस्मादन्यो घटः पटो वा, एवमुक्तत्वादघटत्वादघटत्वस्य परस्परायत्तवृत्तित्वात् घटत्वाघटत्वयोः तद्दर्शयति—कदा घटः सेत्स्यति प्रत्येकमन्यस्यात्मा घटान्तरस्याप्युक्तविविक्तस्वरूपः ? यदाऽसावघट इत्यादि पूर्ववद्ग्रन्थो नेयो दीर्घह्रस्वयोरिव घटाघटयोरपीतरेतराश्रयत्वादसिद्धिः, एवं तावत् घटे नास्ति घटत्वम् ।

स्यान्मतमेव तर्हि येऽस्मिन्देशेऽघट इत्याद्युना स्यात्तत्रावदेशेऽघट एव घटत्वं वर्तते तथा दृष्टत्वादिति मन्यसे चेत्—अत्रापि ब्रूमः—

ताह–न घट इति । न एव दीर्घत्वप्रतिषेधन्यायः न तावद्घटे स्वात्मनि घटत्वं वर्तते घटान्तरवत् घटत्वं घटस्याप्यतिप्रसङ्गा[illegible]पेक्षत्वे घटत्वम् [illegible] स्वात्मन्यपि विरोधात् कथं घटः ? इति दीर्घस्थाने घटं प्रक्षिप्य ह्रस्वस्थाने चाघटं पटादि पटान्तरं वा प्रक्षेप्य गमनीयमिति भावः । ननु कथमघटो घटान्तरमित्यत आह–घट एवाघटो दृष्ट इति । न ह्यपरघटोऽन्योऽस्ति एव एतद्घटनिर्वर्तनक्षमघटत्वस्य तत्राभावात्, घटाकारान्तरेण भिन्नदेशत्वात्, भिन्नकालत्वात्, भिन्नाकारत्वाच्च परस्परं भेदादिति भावः । तस्माद् पटवत्त्वमित्याह–तस्मादिति । अन्यानपेक्षमेव घटे घटत्वं न पटवत्त्वम्, नैवम्, अघट स्वापेक्षं न स्यादपरावत्त्वात् क्वापि घट एव स्यात् यथा हि घटोऽघटनिरपेक्षो घटस्तथाऽघटोऽपि घटनिरपेक्षः स्यात् एव घटः स्यात् [illegible] न तु भवति, तस्माद्घटत्वे अघटापि घट एवेत्यत्र घटस्य घटत्वं न स्यात् एवञ्च घटोऽघट स्यादित्यत आह–यदि हीति । कथं [illegible] इत्यत आह भवतस्त्विति [illegible] भावः । ततः किमित्यत आह–तस्य चेति एवं सति सर्वेषां घटानामघटत्वं स्यात् एतद्घटस्याघटत्वमितरेषामपि घटानामघटत्वादिति भावः । अघटा हि घटान्तरापि घटोऽपि, घटादौ घटाभावस्तु सिद्ध एव किन्तु घटस्याभाव स्यात् घटो ह्यघटमपेक्ष्य घट उच्यते स घटस्य न भवति [illegible] घट स्यादिति घटाभावः एवञ्च [illegible] घटत्वाभावात् घटापेक्षावघटस्याप्यभाव इत्याह–तस्येति । घटस्यैकोऽघटो घटो घटो नेत्याह–तस्मादन्य इति । [illegible] परस्पराश्रयत्वमित्याह–एवमुक्तत्वादिति । कदा घटः [illegible] ? यदाऽसावघटो भवेत् [illegible] इत्याह–कदा घट इति । इत्थं नास्ति घटे घटत्वमित्युपसंहरति–एवं तावदिति । [illegible] घटनिरपेक्षा घटाः [illegible] एव घटत्वं वर्तत [illegible]

---

१ सि. क्ष. प्र. छ. [illegible] । २ सि. क्ष. प्र. छ. भागाश्रय । ३ सि. क्ष. प्र. छे दर्शित[illegible] ।

अथापटेऽपि न पटत्वम्, प्रत्यक्षत एवापटे पटत्वस्याभावात् प्रतिद्वन्द्वित्वाच्चापटे कथं पटत्वं स्यात्, ह्रस्वदीर्घत्ववत्, अपटस्य च पटत्वे पट एव सः प्राप्तः तस्मात् को पटो नामापटश्चान्य इति पटाभावः, पटत्वाभावात्मकत्वादपटत्वस्य, अपटाभावाच्च नास्ति पटत्वम्, पटत्वस्यापटे वृत्ते पटत्वामपटत्वेऽप्यपटत्वानवकाशात्, अपटाभावे क्व पटत्वं वर्तेत? तथापि पुनर्न सिध्यति पटत्वं स्वात्मनि परत्र वा वृत्त्यसम्भवात् ।

(अथेति) अथापटेऽपि न पटत्वम् प्रत्यक्षत एवापटे घटादौ पटत्वस्याभावात् प्रतिद्वन्द्वित्वाच्च विरोधिन्यपटे पटत्वं विरोधि कथं स्यात्? विरोधिनोः सहाभावे दृष्टान्तः—ह्रस्वदीर्घत्ववत् अपटस्य च पटत्वे—अपटे वर्तमाने पटत्वं पट एव सोऽपटः संवृत्तः, तस्मात् को पटो नामापटश्चान्य इति पटाभावः, कस्मात्? पटत्वाभावात्मकत्वादपटत्वस्येत्यादि पूर्वोक्तव्याख्यानवदिहापि नेयम् ।

स्यान्मतमुभयत्रेति तत्—

न द्वये एकान्यायात् द्वयोरन्यतरत्राप्यसिद्धस्य कुत उभयत्र सिद्धिः स्वपरयोः, प्रतिद्वन्द्वित्वाच्च तयोः सहवृत्तिरयुक्ता अयमपि च न्यायश्चिन्त्यः किमपटे पटत्वं वर्तमानमुभयत्र भावं लभते? उत पट एव वर्तमानमिति, यद्यपटे विद्यमानमुभयत्र भावं लभते ततोऽपटे वर्तमानं पटत्वं पटस्य पटत्वं कथं कुर्यात् तद्वृत्तिस्वाभाव्यात्? ततोऽन्यत्र वृत्तत्वात् ह्रस्वदीर्घप्रत्ययवत्, अथ पट एव पटत्ववृत्तिरिष्यते ततो पट एव वर्तमानं पटस्य पटतां करोति तत्प्रत्ययाभावे तत्रेतीष्यते किन्तु अपटेन पटेतरेणेतरेतरयोगार्थं कश्चित्तेन नार्थः न च तत्प्रत्ययेन, स्वाधारकार्यैव तत्सिद्धः अथ तथापि तत्र पटतां न करोति न तत्प्रत्ययमवतारयतीति मन्यसे ततः कथं स्यपोऽस्यते मन्यते च पट इति ततोऽन्यत्र वृत्तत्वात् ह्रस्वदीर्घत्वप्रत्ययवत् अथा ह्यपेतापटे पटतां नैव करोति तत्प्रत्ययमपि नावतारयतीति तदपि न पटापटयोः परस्परापेक्षसिद्धेर्लोके दृष्टत्वात् तद्यथा—दीर्घार्थकत्वादिभेदार्थेष्वानामितरेतरापेक्षपटापटानां दृष्टानामपटे वृत्तस्य पटत्वस्य पटाकरणप्रत्ययस्यानाधानाभ्युपगमेऽप्यन्तपटाभाव एव प्रसक्तः, नैव पटो भवेत् पटाकरणात्, ह्रस्वत्ववत् तत्प्रत्ययोऽपि न भवेत्, पटप्रत्ययानाधानात्, ह्रस्वप्रत्ययवदिति एवं न पटत्वेऽपि, नापटेऽपटत्वमित्यादि यावद्घटत्ववदनुसर्तव्यम् ।

(न द्वय इति) न द्वये यथा तथा इत्यादि ह्रस्वदीर्घयोरिव पटापटयोः प्रत्येकमसिद्धेर्मास्तियेव

गम्यम्—स्वात्मन्यमिति । अपटे पटत्वं निरस्यति—अथापटेऽपीति । अपटे पटत्वस्य प्रत्यक्षतो विरोधात् [illegible] प्रत्यक्षत एवेति । [illegible] विरोधित्वेन परस्परपरिहारस्थितिलक्षणत्वात् अपटे पटत्वं कथं स्यात्, यथा ह्रस्वे दीर्घत्वस्य [illegible] प्रतिद्वन्द्वित्वाच्चेति । तथापि [illegible] पटत्वानुपपत्तेः [illegible] एव स्यात्, [illegible] । [illegible] —न द्वय इति । [illegible] यथा पट [illegible] । यथा न [illegible] न [illegible] प्रत्येकमसिद्धिमाश्रित्य एवं [illegible] प्रत्येकमसिद्धस्य उभयत्र [illegible] । [illegible]

भिन्नापि स एव न्यायो यावत् पटयोरपीति, अयमपि चेत्यादि, एषोऽपि स एव न्यायः 'छिन्नघटे' घटत्वमिति पूर्वोपक्रमः, अघटे घटाकारप्रत्ययानाधानप्रदर्शनस्य युक्तत्वात् शेषं पूर्ववत्, सामान्यविशेषोत्थापनक्रमस्त्वयोच्यते अन्यत्र च घट इति, शेषं तथैव नेयं घटाघटार्थविशेषणं यावत् घटप्रत्ययमिति स एव गमः, एवमघटत्वेऽपीत्यतिदेशोऽपि पूर्ववदेव, तस्य दिशं दर्शयति—नाघटेऽघटत्वमित्यादिना स्वयमेव ग्रन्थकारो यावत्कारेण चाघटत्ववदनुसर्तव्यमिति, गतत्वान्नाख्यातम् ।

उभयोभयपक्षस्तु प्रत्येकमभिहितैर्दोषैर्न विमुच्यते, प्रत्येकमसिद्धयोरपेक्षायामप्यसिद्धेः, विप्रतिषेधाच्च, एवं तावत्र स्वतो न परतो नोभयतश्च घटापटौ सिध्यतः, सिद्धस्याहेतुत्वात् खपुष्पाद्यपि स्यात्, एवं सर्वार्थेष्वपीत्यसिद्धिरेवेति ।

(उभयेति) उभयोभयपक्षस्तूभयदोषापन्न इति समानपूर्वोत्तरपक्षाभ्यामभ्यूह्यातीतमन्थन गतार्थो, विप्रतिषेधाच्चेत्यपि तथैव, स्वाभ्यत स्वतरोभयवृत्तिहेतुमार्गेष्वसिद्धावप्यहेतुतः सिद्धिरिति तत्र नाहे[त]ुः, खपुष्पवदसिद्धे तत्रापि सिद्धस्याहेतुत्वमेव, खपुष्पाद्यपि स्यादिति पूर्वपक्षनिदर्शनेन नेयम्, एवं सर्वार्थेष्वपीति, घटासिद्धवत् पटादयोऽपि निरपेक्षसिद्धाभिमतपदार्थासिद्धिरित्यतिदेशः, इत्यसिद्धिरेवेति यथाप्रसिद्धमसिद्धिहेतुः सिद्ध इत्युपसंहारः ।

अनन्तरोक्तायुक्तिहेतुसिद्धिरधुनोच्यते तत्सम्बन्धप्रदर्शनार्थं तावदाह—

अथान्तरेणापीतरेतरयोगं स्वत एव सिध्यति घट इति चेदत्र ब्रूमः, यदस्ति घटस्तत्तस्य सत्त्वैकत्वघटत्वानामेकत्वानन्यत्वयोः का युक्तिरिति विचारे तेषामेकत्वञ्चेदिष्यते ततो यत्रैकस्य तत्रास्तित्वमपि निष्फलं स्वेनैव सत्त्वेन भवितुमर्हतीति, अनर्थान्तरत्वात्, यत्र यस्यान

घटत्वे भिन्नघटे घटो भवति ? उत नाभवन् घट एव वर्तमान उभये घटो भवत्यघटत्वेऽपि विचार इत्यतिदिशति—एषोऽपीति । अघटे विद्यमाने घटत्वे कस्य घटता घट इति बुद्धिः कथं स्यात्, [illegible] इत्यभिप्रायेणाह प्रथमविकल्पे [illegible] घट एव विद्यमानस्य घटत्वस्य तत्रापि [illegible] न [illegible] च [illegible] घटोऽपि [illegible] घटो न तत्र [illegible] विशेषोत्थापनक्रमः [illegible] भाष्यमित्याह छिन्नघट इति । [illegible] कथं स्यात् [illegible] घट इति [illegible] इत्याह—सामान्यमिति । पूर्वमुक्तस्य न्यायस्य [illegible] दर्शयति—यावदिति । एवमेव [illegible] घटत्वस्य [illegible] इत्याह एवमघटत्वेऽपीति । [illegible] इत्याह—उभयोभयपक्षस्त्विति । [illegible] दर्शयति—उभयेति । [illegible] विशेषादपि तथैव [illegible] विप्रतिषेधाच्चेति । [illegible] स्वाभ्यतमिति । [illegible] खपुष्पमपि [illegible] तथापीति । [illegible] इत्याह—एवमिति । [illegible] दर्शयति—अथान्तरेणापीति । [illegible]

१ सि. क्ष. डा. डे. भिन्नघटे ।

र्थान्तरत्वं तत्र तस्य निष्कलमेव स्वतत्त्वं भवति, घट इव घटस्वतत्त्वस्य, तत्रास्तित्वस्वतत्त्वं च सर्वभावा इति सर्वभावानां घटत्वप्रसङ्गः ।

(अथेति) भावान्तरेणापीश्वरेश्वरयोग—विनापि वस्तूनामन्योन्यापेक्षया घटसिद्धिर्वाऽस्ति, कुतः ? अत एव सिद्धमिति—स्वयमेव घट इति चेन्मन्यसे अत्र ब्रूमः—यद्यपि घट इत्यादि, भवतीत्युक्तत्वात् एवम् घटः स एको इत्थम्, एकवचनोक्तत्वात्, ततस्तस्य घटस्य सर्वैकत्वघटत्वानां चैव युक्तिरिति विचारे तदविनाभावो युक्तिः, सा तु तेषां प्रत्यात्मैकत्वेऽन्यत्वे वा न सम्भवति, तत्कथमिति—यद्यप्येको घट इति प्रत्याय्यमर्थोन्नमस्येकघटस्य व्याख्यानामेकत्वाद्येषिष्यते ततो यत्रैकत्वमित्यादि तदोपप्रदर्शनम् यत्रैकत्वमस्ति तत्रास्तित्वमपि निष्कल—निरवशेषं तेनैव तस्येन भवितुमर्हतीति प्रतिजानीमहे तावत्, कुतः ? अनर्थान्तरत्वात्, यत्र यत्रैकत्वमनन्यप्रदर्शनं हेतोः साम्येन, तत्र तत्रैकत्वापुनयो निष्कलमेव स्वतत्त्वं भवतीति साध्यार्थः उदाहरणं—घट इव घटस्वतत्त्वस्येति, घटस्वतत्त्वं यथा घटे निरवशेषमस्ति तदनर्थान्तरत्वात् तथैकत्वेऽस्तित्वस्वतत्त्वं निरवशेषमिति, तत्रास्तित्वस्वतत्त्वं च सर्वभावा इति कृत्वा सर्वभावानां घटत्वप्रसङ्गः, यद्वा तद्व्यतिरेकात् सर्वमेव घट इत्युपसंहारो वक्ष्यते ।

यथा—

यत्रास्तित्वमिति पूर्ववत्साधनं कृत्वा पक्षत्वस्वतत्त्वस्य सर्वभावैकस्मिन्, सर्वस्य प्रत्येकमस्त्येकत्वादिति साधनद्वयेऽप्यस्तित्वैकत्वाभ्यामनन्ये सर्वभावाः घटाद्य इत्यनन्यत्वापादनं तुल्यम्, पूर्वत्र घटः सर्वं तदेकत्वं सतः घटाद्यव्यतिरिक्तम्, परस्मिंस्तु घट एव सर्वं तदेकत्वं सर्वभाव इति विशेषोऽस्मात्तस्य ।

पेक्षया विनापि स्वत एव सिद्धताभावाद् आह—विनापीति अन्योऽन्यापेक्षया व्यक्तिभेदेनैव नाशोत्पादौ अन्योन्यापेक्षां विनापि व्यक्तिभेदेनैव स्व सामान्येनापेक्षां विनापि स्वत एव व्यवस्थितिमेवेति भावः । स्वत एव व्यवस्थितिमाह—यद्यपीति । व्यक्तिविशेषमस्ति च स्वरूपम् एव स्वकृत्यं तथा सति सर्वभावानां घटत्वप्रसङ्ग इत्यसापि घटस्य बहुत्वमत्राधेति सम्भवाह—भवतीत्युक्तत्वादिति । भवतीत्युक्तत्वात् यो घटः भवति स एकवचनान्तत्वेनोक्तत्वात् एकत्वं प्रतीयते च हेतुप्रदर्शनत्वमपि, एवं घटाद्यस्तित्वैकत्वानि सन्मत्ता इति प्रसज्य, तेषां प्रत्यात्मा अन्यत्वानामेकत्वान्यत्वविचारे वा युक्तिरिति चेदविनाभाव एव युक्तिरिति भावः । सा युक्तिरविनाभावलक्षणा चैकत्वेऽन्यत्वे वा तेषां सम्भवति, तदेवम्—यद्यप्येक इति । प्रतिज्ञामाह—यत्रैकत्वमस्तीति एकत्वाधिकरणे तेनैव तत्रैवास्तित्वमपि परिपूर्णमधिकरणे भवति नान्यत्र तत्रास्तित्वमेकत्वे सम्पूर्णं तत्त्वं विशेषम्, अविनाभावलक्षणयुक्तताऽव्यभिचारित्वं भवेद इति भावः । अस्त्यविनाभावः किमुक्त इत्यत्राह—अनर्थान्तरत्वादिति एकत्वाधिकरणेऽनर्थान्तरत्वात् अस्त्येकत्वे सम्बद्ध इति भावः । एकत्वेऽस्तित्वस्वतत्त्वस्य हेतोरन्वयं दर्शयति—यत्र यत्रैकत्वमिति यथा यत्र यो यस्य अनर्थान्तरत्वमस्ति तत्र तत्स्वतत्त्वमपि परिपूर्णमेवास्ति एकत्वे चास्तित्वानर्थान्तरत्वमस्ति तस्मादस्तित्वस्वतत्त्वमपि निरवशेषमस्तीति भावः । सर्वभावेषु चास्तित्वस्वतत्त्वमस्ति तस्मात्सर्वभावानां घटत्वप्रसङ्ग इत्याह—तत्रास्तीति । अस्तित्वस्वतत्त्वता सर्वभावे तथा सर्वभावेषु घटादिष्वप्यस्ति सर्वभावानामस्तित्वात् एकत्वाधिकरणे चास्तित्वस्य निरवशेषतया सत्त्वेन तत्त्वेन सर्वभावानां घटत्वप्रसङ्गात् सर्वं घट एवेति भावः । अत एव घट एव सर्वं, अस्तित्वानन्यत्वेऽपि घटत्वस्य तस्य यद्यपि न निरूपितं तथाप्येवं तदेकत्वमिदमनन्यत्वाभिप्राय—यद्वेति । तदेवमेकत्वास्तित्वस्वतत्त्वतां प्रतिपादयितुमस्तित्वैकत्वस्वतत्त्वतामाह—यत्रास्तित्वमिति । यत्रास्तित्वाधिकरणे परत्वमपि सर्वसत्त्वपुरस्सरेण भवेत इति दर्शयति—पूर्ववदिति ।

१ सि. क्ष. पा. डे. भावान्तरेणापीश्वरे० । २ क्ष. विशुद्धिविशुद्धिरिति ।

यत्रास्तित्वमित्यादि, पूर्ववत् साधन प्रत्येकविशेषात्—यत्रास्तित्वं तत्रैकत्वस्यापि निष्कलेनैव स्वतत्त्वेन भवितव्यम्, अनर्थान्तर[त्वात्] यत्र यस्यानर्थान्तरत्वं तत्र तस्य निष्कलमेव स्वतत्त्वं भवति घट इव घटस्वतत्त्वस्येति तदेकत्वेनोपनय इति विशेषः—तद्यथा—एकत्वस्वतत्त्वमत्र सर्वत्रैकैकस्मिन्—सर्वस्य प्रत्येकमेकैकमस्त्येकत्वादिति, साधनद्वयेऽप्यस्तित्वैकत्वाभ्यामनन्ये सर्वभावाः घटादय इत्यनन्यत्वापादन तुल्यम्, पूर्वत्रैकत्र घटः तदनन्यदस्तित्वमिति, द्वितीये सर्वं घटवदनन्यदेकत्वमिति, पूर्वस्मिन् साधने घटः सर्वं तदेकत्व एव कृत्स्नमिति प्रश्ने व्याकरणं—सर्वस्य घटाद्यव्यतिरिक्तमिति, घट एव सर्व सिद्धिरिति[1] परस्मिंस्तु तत्र कृत्स्नमिति प्रश्ने सर्वभावा इति व्याकरणमिति विशेषोऽस्याधस्य, घटे सर्वभावा एकत्वाव्यतिरिक्ताः सिद्ध्यन्तीत्यर्थः, एवं साधनद्वयेऽस्तित्वैकत्वाभ्यामनन्यत्वापादनेन घटस्य सर्वस्य घटे सर्व भावसिद्धिरिति दोषाः।

किञ्चान्यत्—

तथा यत्र घटत्वं तत्रास्तित्वैकत्वयोरपि निष्कलेनैव स्वतत्त्वेन भवितव्यम्, अनर्थान्तरत्वात् यत्र यस्यानर्थान्तरत्वं तत्र तस्य निष्कलमेव स्वतत्त्वं भवति, यथा घट इव घटस्वतत्त्वस्येत्यत एकैको घटादिरवादिः सर्वो भेदेन सर्वात्मकः, तथा च प्रत्यक्षादिविरोधाः व्यक्ताव्यक्तात्मकभावानां द्रव्यगुणकर्मणामुत्पादस्थितिभङ्गानां साधनरूपणतद्भेदानामभावाश्च।

तथा यत्र घटत्वमित्यादि, इदानीं घटत्वेऽस्तित्वैकत्वयोः स्वतत्त्वापादन तदेव साधन समानम्, उपसंहारः—अतो घटादनन्यत्वेऽस्तित्वैकत्वयोरेकैको घटादिः—घटो रसः पट इत्यादिः, अवादिरिति—

अनन्यत्वाभिधानाद्योऽस्तित्वैकत्वयोरनर्थान्तरत्वप्रयुक्त इति हेतुमाह अनर्थान्तरत्वादिति। अस्तित्वे एकत्वानर्थान्तरत्वादेकत्वस्वतत्त्वाऽस्तीति दर्शयति—यत्र यस्येति अस्तित्वे एकत्वस्येत्यर्थः। पूर्वेणास्तित्वस्वतत्त्वं च सर्वभावा इत्युक्तम् तु विशेषोऽस्तीत्याह—एकत्वस्वतत्त्वस्येति, प्रत्येक भावेषु एकत्वस्वतत्त्वमस्ति एकत्वमत्र सर्वे भावा प्रत्येकमेकत्वमिति भावः। प्रत्येकापन्नत्वादेकत्वेन सर्वेषामस्तित्वेन सर्वेषु सर्वभावाभावमनन्यत्वाऽऽपादक इति दर्शयन्नाह—साधनद्वय इति। तदभ्यमिदमाह—पूर्वत्रेति प्रथमे एकत्वाभिधाने हि घटत्वेकत्वानन्यत्वास्तित्वमनन्यत्वमस्ति द्वितीये चास्तित्वाभिधाने घटत्वाऽस्तित्वानन्यत्वमनन्यत्वमस्तीति भावः। घट एव सर्वं तत्र सर्वत्वमेकत्वम् तस्यैकत्वमभेदास्तित्वादिप्रपञ्चविस्तितव्यतिरिक्तं प्रथमे साधने, द्वितीये साधने त्वस्तित्वाभिधाने घटे एकत्वानन्यत्वाव्यतिरेकात्सर्वभावतत्त्वं पूर्वैकत्वाभिधानास्तित्वाभिधानत्वात्, परत्वास्तित्वाभिधानमनन्यत्वेनैकत्वैकत्वानन्यत्वाभावार्थेति निरूपयति—पूर्वस्मिन् साधन इति। एकत्वाभिधानाभिधानास्तित्वसामान्येन सर्वघटपदार्थेषु सत्ताविशेषस्यैकत्वानर्थान्तरत्वात् घटस्यापि सर्वत्र सर्वत्र सिद्धत्वमिति भावः। परस्यापि भावार्थमाह—घटे सर्वभावा इति अत्र चास्तित्वाभिधानाभिधेयत्वमनन्य घटादौ सर्वत्र तत्र च निरपेक्षमस्तित्वस्वतत्त्वसत्त्वात् घटे सर्वभावा इति पूर्वेण घटः सर्वं द्वितीयेन सर्वभावाः घटे सिद्ध्यन्तीति यथोक्तार्थयोः व्यक्तत्वादिः। उपसंहरति—एवं तावदिति। अथ घटत्वेऽस्तित्वैकत्वयोश्च स्वतत्त्वमेकत्वेन आपादयति—तथा यत्रेति। तदभिप्राय इदानीमिति आत्मत्वानिरुक्तानन्यत्वमनिरुक्तानन्यत्वपरके। साधनमात्रं समानमेव घटत्वधर्मविशेषं प्रत्यभ्युपगमो घटादिरिति, अस्मादेवापादितस्वार्थमस्तित्वैकत्वमनिरूपितानन्यत्वात्मके घटादिरेव वस्तु व्यवस्थानेऽन्ये-

[1] सि. भ. प्र. ड. ज्ञानयस्मात्। [2] सि. भ. प्र. दे °पूर्वस्मिन्तु।

अ[व]निवायुभूम्यादि सर्वं सर्वात्मकमेकैकम्, अत आह—सर्वो भेदेन घटः प्रत्येकमित्यर्थः, भवतु सर्वं सर्वात्मकम्, को दोष इति चेदुच्यन्ते दोषाः—तथा च प्रत्यक्षादिविरोधाः—घटादीनां प्रत्यक्षमसर्वात्मकत्वात् प्रत्यक्षविरोधः, प्रत्यक्षपूर्वकत्वादनुमानादीनामनुमानादिविरोधा योज्याः, [व्यक्त]व्यक्तमव्यक्तमपि, ते च प्रत्यक्षादिविरोधा व्यक्ताव्यक्तभेदेषु व्यक्त अप्तृणादिभूम्यादि गवादि घटादि वा, पदैकस्यैकदेशस्यात्मत्वं प्रत्यक्ष-मेकत्वमव्यक्तं वा साविद्यादिप्रकृत्यव्यवायेनापि तत्त्वान्तरमेकत्व [तत्त्वं] तत्त्वान्तरत्वं चेत्याद्य भावस्वर्गस्वात्मकत्वम्, पृथिव्यादीनामपि प्रत्यक्षं गवादीनां नेकम्, सर्वमनुपत्रे प्रत्यक्षादिविरोधाः, अव्यक्ते सत्त्वरजस्तमसाम् प्रत्येकमप्येकमव्यक्तत्वं प्रधानमित्यपि सत्त्वैकस्याद्यानामित्यपि । [सत्त्वैक-रजस्तमसामित्यपि] सत्त्वैक[र]जस्तमसामित्यपि, तथा द्रव्यगुणकर्मणामिति तयोरप्यविशिष्टमज्ञानम्, तथा साधनस्य पक्षधर्मत्वादीनां रूपस्य पक्षैकदेशस्य साधनविरोधादसिद्धत्वादिसाम्यधर्मवैधर्म्यादीनामपि प्रोक्तन्यायेन प्रत्यक्षादिविरोधा आपाद्याः, व्याविख्यासस्य न्यायस्येति ।

एते चेभ्यन्ते घटो नास्तीति प्रतिपत्तव्यम्, तथा च सर्वे भावाः, अत्र घटस्याप्यवृत्तिरेव सर्वभावानामवृत्तिरेव, अस्तित्वैकत्वयोः पर्यायान्तरत्वात्, अथाप्यर्थान्तरं ततो घटस्य सामान्यविशेषौ न स्त इति निःसामान्यत्वान्निर्विशेषत्वाच्चासत्त्वमेव स्यात् ।

(एते चेदिति) एते चेभ्यन्ते घटो नास्तीति प्रतिपत्तव्यम्—अवेत्य प्रत्यक्षविरोधादिदोषान् नेत्युच्यसि तदा घटो नास्तीत्येतत् प्रतिपद्यस्वेति समवस्तूनामापादनम्, तथा च सर्वे भावा इत्यविशेषे

अनयोभेदेन सर्वात्मकं भवेदिति भावः । आपाद्यमेवाह—सर्वो भवमेति । प्रत्येकापत्तेन सर्वसर्वात्मकत्वमभिप्रायाभ्यवद-तथा चेति, प्रतिनियतधर्मपुरस्कारेणैव घटादीनां प्रत्यक्षादिप्रतीतेस्तस्य सर्वात्मकत्वानुपपत्त्या प्रत्यक्षतो विरुद्ध इति भावः । सर्व-[illegible] प्रतिनियतधर्मोपलब्धिप्रयोजनेन विरोधस्य सर्वात्मकत्वानुपपत्त्योऽनुमानेन विरुद्ध इत्याह प्रत्यक्षपूर्वकत्वादिति [illegible] त्वार्थं । घटादेः सर्वात्मकत्वे यथा प्रत्यक्षादिविरोधा आपादितास्तथा [illegible] अपि प्रत्येकापत्तेन [illegible] सर्वात्मकत्वाभावाय प्रत्यक्षादिविरोधा वाच्याः इत्याह [illegible] इति । [illegible] न क्वापि [illegible], [illegible] प्रत्यक्षादिविरोधात्, [illegible]—ते चेति । [illegible] इति [illegible] । [illegible] तथा द्रव्येति । [illegible] इति [illegible] । [illegible] अपेतानिति । [illegible] एवं घटादि [illegible]—तदा घट इति । [illegible]

यथा घटस्यानुत्पत्त्या नास्तित्व प्रतिपादितमस्त्येकत्वयोरनन्यत्वे तथा पटादीनां सर्वभावानां प्रतिपादयन्नतोऽतीतन्यायेन योजयितुमुपायं प्रदर्शयन्नाह—यत्र घटस्यानुपपत्तिः तत्र सर्वभावानामनुपपत्तिरेव, कस्मात् ? घटाद्यनान्तरत्वात्, घटाद्यनर्थान्तरत्वं सर्वभावानां भावित्वमेव, क ? अस्तित्वैकत्वयोरनर्थान्तरत्वे घटस्य पटादीनामप्यस्तित्वैकत्वानन्यान्तरत्वात् घटानर्थान्तरत्वमतश्च घटानर्थान्तरत्वात् सर्वभावानां घटाद्यनुपपत्तिरेवेत्यस्त्येकघटानामनर्थान्तरत्वे दोषः, अथाप्यर्थान्तरमिति—अस्त्येकत्वाभ्यां घटस्यार्थान्तरत्वायां वा सामान्यमस्तित्व विशेष एकत्वं घटस्य, ततस्तौ सामान्यविशेषौ न स्तः, निःसामान्यत्वान्निर्विशेषत्वाच्चासत्त्वमेव घटस्य खपुष्पवत् स्यादिति ।

अत्राह—

अथ भावाः परस्परविपरीतस्वभावा एव सत्यप्यस्तित्वैकत्वाभेदे, भेदार्थं प्रधानादिप्रवृत्तेः, तस्मान्न सर्वात्मदोषः, अत्र ब्रूमः घटः पटादस्त्यात्मकादेकात्मकादनन्यात्मकाच्च विपरीतः सवृत्तः ततश्च घटो घटात्मस्वरूपादपि विपरीतः प्राप्नोति, अस्तित्वैकत्वाभ्यां विपरीतत्वात्, घटविपरीतपटात्मकत्वादिति पुनरपि नास्ति घटः, एवं सर्वभावा अपि, सर्वगतत्वात्प्रसाधेः ।

अथेत्यादि, घटपटादयो भावाः परस्परविपरीतस्वभावा एव सत्यप्यस्तित्वैकत्वाभेदे, किमर्थं किं कारणं वा ? उच्यते भेदार्थं प्रधानादिप्रवृत्तेः, प्रधानं हि प्रकृतिबहुधानकादिपर्यायं पुरुषोपभोगं शब्दाद्युपलब्धिरूपमाप गुणपुरुषान्तरोपलब्धिरूपमान्त्यमुद्दिश्य पुरुष प्रवर्त[य]मान मृत्पिण्डादिभिर्गवादिघटादिभेदान्तरेण न शक्नोति पुरुषार्थं कर्तुम्, अतो भेदार्थं प्रधानादिप्रवृत्तेः घटपटादयः परस्परविभिन्नस्वभावा

न्यायागमा०—तथा च सर्वे भावा इति यदैवमस्मात्तत्रास्तित्वमपि नियतं तेनैव तत्त्वेन भवितुमर्हति अनर्थान्तरत्वादिति हि युक्ति तत्र सर्वसर्वात्मकत्वप्रसङ्गात्मनास्तित्वं नियतं तेनैव तत्त्वेन भवितुमर्हतीत्यनन्यत्वमनुसरणे घटस्य नास्तित्वं भवितव्यं भवति अस्तित्वाविनाभावात् एवं घटानन्यैकत्वास्तित्वानन्यत्वात् सर्वभावानां घटवदभावित्वं स्यादिति भावः । तत्र योजनार्थं तत्प्रयोजनमुपायमाह—यत्र घटस्येति । अस्तित्वैकत्वयोर्घटस्याविशेषात् सर्वभावानामप्यविशेषम्, सर्वभावानां घटानर्थान्तरत्वं भावित्वमेवेत्यर्थः । पुन भावित्वमित्यत्राह—अस्तित्वैकत्वयोरिति घटानर्थान्तरे ह्येकत्वास्तित्वे तथा पटादीनामनर्थान्तरत्वात् सर्वभावा इति घटानर्थान्तरत्वं सर्वभावानां घटादीनाम् तदभिन्नाभिन्नत्वस्य तदभिन्नत्वस्यावश्यंभावित्वादिति भावः । ततो भिन्नत्वमाह—सर्वभावानामिति । अस्तित्वैकत्वाभ्यां घटस्यार्थान्तरत्वे तु सामान्यविशेषाभावात्तदसत्त्वस्य खपुष्पवदभाव एव स्यादित्याह—अस्त्येकत्वाभ्यामिति सम्बन्धाभावादिति भावः । अथ सन्तोऽप्यनन्ता अपि भावाः परस्परविरुद्धा इति सामान्यविशेषाभावेऽपि भावानां स्वरूपावस्थाने परस्परतो भाभेद इत्याशङ्कते—अथ भावा इति । घटपटादीनामस्तित्वैकत्वेनाभेद सत्यपि तु परस्परं भेदादिप्रतिनियतस्वभावा एव न तदभिन्नस्वभावा अत एव च न सर्वसर्वात्मकत्व इति व्याचष्टे—घटपटादय इति । भावादीनां यथा सत्त्वे प्रतिनियतार्थक्रियाप्रवृत्तिर्न स्यात्, तदर्थक्रियाप्रवृत्तिनियमार्थं प्रवृत्तस्य प्रधानस्य तथा तत्र भिन्न तं यदि सर्वात्मता न तदर्थं प्रधानप्रवृत्तिः स्यात् प्रधानस्य तत्रापि सर्वात्मकत्वात्, प्रवर्तते च प्रधानम् तस्मात्ते तद्विपरीतस्वभावा अनन्तत्वेऽपि प्रतिनियतस्वभावा इति भावसिद्धान्तेन प्रश्नं—किमर्थं किं कारणं वेति प्रश्ने प्रयोजनाय केन हेतुना च परस्परविपरीतस्वभावत्वमिति । उत्तरमाह—भेदार्थमिति । व्याचष्टे—प्रधानं हीति, प्रकृतिरिति प्रकृतेन पौरुष्ययोग्यविधि प्रधानं प्रकृतेन प्रकृतं बहुप्रधानं बहुधानकम्, तथा पर्यायः इह प्रधानं पुरुषार्थं प्रवर्तितुं प्रवृत्तं न चान्यथा सिध्यति शब्दादिविषयोपलब्धिरूप गुणपुरुषान्तरोपलब्धिरूपप्रयोजनमुद्दिश्य तं च पुरुषार्थं साधयितुं प्रवृत्तं मृत्पिण्डादिभिर्गवादिपिण्डादिभेदैः

एव तस्मात्र सर्वात्मदोषोऽस्त्येकघटानामित्यत्र[ब्रूमः] ततो घटः पटादस्यात्मकाविपरीतोऽभ्युनाऽभ्युपगतः एवमभ्युपगते पुनर[पि] दोष आपद्यते यथा घटः पटादस्यात्मकत्वेनात्मकत्वेनानन्यात्मकश्च विपरीतः संवृत्तः, एवं हि वैपरीत्यम्, नान्यथा, तस्मात् तथा घटो घटात्मकत्वादपि विपरीतः पटास्तित्वैकत्व[तो]ऽनन्यत्वकल्पनात् नाप्नोति, अस्तित्वैकत्वाभ्यां विपरीतत्वात्, घटविपरीतपटात्मवदिति घटात्मनैवाभावात् पुनरपि नास्ति घटः, एवं सर्वभावा अपीत्यविशेषादेकैको भावः खरविषाणोपमः स्यात्, कस्मात् घटादनन्यत्वैकत्वास्तित्वविपरीतता सिध्यति? सर्वगतत्वाद्व्याप्तेः।

नन्वस्तित्वैकत्वयोर्विपरीतता कस्मात् सर्वगतत्वाद्व्याप्तेः, ततो व्यावृत्तिः कल्प्यते घटादस्या परस्परविपरीता इति, अत्र ब्रूमः, एवं तावदेकत्वे कुत इदं? यत्ते सर्वगते न घटत्वम्, घटत्वमेवासर्वगतं न ते इति, नन्वेवं सर्वेषामप्येकरूपेण भवितव्यम्, अनन्यत्वात्, अविवस्तुतत्त्ववदिति नास्ति सर्वगतस्यासर्वगतस्य विशेषः अथैतदप्यत घटवत्तुल्य तर्हि प्राप्तम्, यस्मादस्त्यपि घटो नैवेन, एकोऽपि, घटोऽपीति त्रयो घटाः स्युः, अथ घट एवैको घट इष्यते न त्वस्तित्वैकत्वे सिद्धस्तर्हि नास्ति घट इति अस्तित्वार्थान्तरत्वात् खपुष्पवत्, नैक इति च, एकत्वास्तित्वत्यागाच्च रूपादिषु घटैकदेशेष्वपि न घट इति प्राप्तम्, एकत्वत्यागात्, एकैकत्वाच्च रूपादीनां रूपादिष्वभावे घटस्य रूपादयो घटः संवृतिसत्त्विति निवर्त्यते, क्षणिक इति च न क्षणिकमात्रम्, अस्तित्वत्यागात् ततश्चानस्तित्वो घट इति प्राप्तम्, तच्च विज्ञानमात्रमिदं सर्वम् इति वक्ष्यमाणपक्षोऽभ्युपगतो भवति।

(नन्विति) नन्वस्तित्वैकत्वयोर्विपरीतता, कस्मात् सर्वगतत्वाद्व्याप्तेः? इति, अस्तित्वैकत्वाभ्यां हि

प्रमेयत्वेन भवति तस्मात् भेदाभेदौ परस्परं विपर्ययस्वभावौ इति भावः। तस्माच्च सर्वात्मकत्वदोषो [illegible]-तत्साधेति। तदेतन्मतं यत्साधनं प्रतिविधत्ते-ततो घटः पटादिति यतो घटात्मकत्वादपि विपरीत [illegible]-त्वात्, [illegible], योऽस्त्यात्मकत्वविपरीतः स [illegible] विपरीतो यथा घटोऽस्त्यात्मकत्वेनात्मकत्वात् घटाद्विपरीत-स्तथा [illegible] तथा [illegible] घटाद्विपरीत इति [illegible] विपरीत भवेत् [illegible] विपरीतत्वात्मकत्वानुपपत्तिरिति भावः। हेत्वे विपक्षे वस्तुमात्रमात्र-एवमभ्युपगत इति। [illegible] तथापि यच्च [illegible] [illegible]-एवं ब्रीति। [illegible]-तथा घट इति। यथा घटस्यास्तित्वैकत्वाभ्यां घटस्य विपरीतता तथा [illegible] [illegible] विपरीतो घट [illegible]-घटास्तित्वेति, घटास्तित्वैकत्वयोर्भवत विपरीतत्वमिति भाव। ननु [illegible] किं न [illegible]-घटात्मनैवेति [illegible] प्रति घटो नैव स्यादिति भाव। एवं सर्वभावा [illegible] एवमिति। [illegible] सोऽप्यपि [illegible] इदं [illegible]-कस्मादिति। ननु [illegible] न [illegible] [illegible] सर्वगतत्वात् [illegible] विपरीतत्व [illegible]-नन्विति अस्तित्वैकत्वाभ्यां [illegible] न

---

१ सि० क्ष० डे० [illegible]।

स्यात्ता घटादय यस्मात्, उक्तवद्घटादिभिर्विपरीतम्? ततो व्याप्नुयुः कस्मात्, घटादयस्तु परस्परविपरीताः स्युः व्याप्तृव्याप्यत्वात्ततो न निःसामान्यापत्तिरस्तित्वैकत्वस्याभ्युपगमादिति, अत्र ब्रूमः प[द] तावदेकत्व [illegible] इदं यद्वे इत्यादि, ताभ्यामस्तित्वैकत्वाभ्यां घटत्वैकत्वेऽभ्युपगम्यमाने कुतोऽस्य विशेष आपाद्यः तयोरेवास्तित्वैकत्वयोः सर्वगतस्य न घट[त्व]स्य, घट[त्व]स्यैवासर्वगतत्वा नास्तित्वैकत्वयोरिति? अत्र साधनं नन्वेवमित्यादि—सर्वेषामस्तित्वैकत्वघट[त्व]रूपाणामप्येकरूपेण भवितव्यमिति पक्षः, अनन्यत्वादिति हेतुः, प्रतिवस्तुवत्त्रयमिति दृष्टान्तः—यथा वस्तु वस्तु प्रति यथात्मस्वरूपं घटादौ तत्तदनन्यत्वादेकरूपमेव दृष्टम्, रूपरूपत्वसमसाधारण न तत्साधाम्यमपीन्यविशिष्ट तथाऽस्त्येकघटानामपीति नास्ति सर्वगतत्वासर्वगतत्वविशेष इति तदवस्था निःसामान्यता, अथैतदप्यस्ते निःसामान्यत्वमनन्यत्वप्रसङ्गाभावात्त्वमेवास्त्येकघटानामिष्यते चेत् ततः घटत्वतुल्यं तर्हि प्राप्तमिति ब्रूमः, यस्मादस्त्यपि घटो भेदेन, एकोऽपि, घटो भेदेनेति यद्यते, तथा घटोऽपि घट इति त्रयो घटाः स्युरनिष्टमेतत् अथ मा भूदेष दोष इति घट एवैको घट इष्यते न त्वस्तित्वैकत्वे घट इति ततः सिद्धस्तर्हि नास्ति घट इति, कस्मात्? अस्तित्वादन्यत्वात् खपुष्पवत्, नैक इति च सिद्धस्तर्हीति वर्तते, किञ्चान्यत्—एकत्वास्तित्वत्यागश्च रूपादिषु घटैकदेशेष्वपि न घट इति प्राप्तमेकत्वत्यागवत्, एकैकत्वाच्च रूपादीनां रूपादिष्वभावे घटस्य रूपादि-

---

विरोधिता [illegible] परस्परेण तु विरोधिता [illegible], अस्तित्व[illegible] न निःसामान्यता इति यद्यर्थः । एवं तर्हि अस्तित्वैकत्वाभ्यां [illegible] सर्वगत [illegible] न सर्वगतमिति भेदो न स्यादिति [illegible] । [illegible] तर्हि [illegible] घट एव [illegible] । [illegible] साधनमिति [illegible] अनन्यत्वात्, प्रतिवस्तुवत्त्रय [illegible] । [illegible] निरस्यति—रूपरूपत्वमिति, [illegible] । [illegible] —तथाऽस्त्य इति । [illegible] इति । [illegible] ततः घटत्वतुल्यमिति [illegible] । नन्वेवं दोष [illegible] अथ मा भूदिति । [illegible] सिद्धस्तर्हीति । [illegible]

1 [illegible] । 2 [illegible] । 3 [illegible] ।

समुदायो घट[ः]संवृतिसत्त्वमित्येवमभिवर्तते, यथा कृमिक इत्येवमप्यनभ्युपगमोऽस्तित्व कृमिकादेऽभ्युपगम मूर्तिर्येषां क्रिया सैवेति, मूर्तेरस्तित्वत्यागात् न मूर्तमात्रमिति च ग्राह्यम्, अनिष्टमेवैतदुक्तमस्तीति, ततः किं ? तत्प्रमाणनास्तित्वो घट इति ग्राह्यम्—नास्ति अस्तित्व यस्य सोऽनस्तित्वो यो घट इत्युच्यते सोऽनस्तित्वः, तत्र विज्ञानमात्रमिदं सर्वं बाह्यार्थशून्यमिति वक्ष्यमाणः पक्षोऽभ्युपगतो भवतीति ।

अथोच्येत घटेऽस्ति प्रत्येकवृत्तेरस्तित्वस्य, घटेन नास्ति परस्परव्यावृत्तरूपत्वात्, तत्र कश्चिदर्थो न सर्वम्, घटाद्विशेषणार्थमस्ति घट इत्युच्यते, एकमपि घटादिविशेषणार्थमुच्यते तमास्येको घट इति, सर्वैकत्वप्रसङ्गो घटबहुत्वप्रसङ्गश्च कुत आयातौ ? इति, एतच्च सर्वसमयानामस्तित्वेः, अस्तित्वं न कस्मिंश्चित् समयस्थितं वर्त्तत इति, अस्तित्वस्य रूपान्तराभावात् ।

अथोच्यतेत्यादि, अत्र यदि परिहारः परेणोच्यते, तद्यथा—घटेऽस्ति घटपटादिः प्रत्येकवृत्ते रस्तित्वस्य, तथा घटेन नास्ति घटपटादेन परस्परव्यावृत्तरूपत्वात्, तत्र कश्चिदेकैकमित्यर्थे, न सर्वमस्तित्वमेव नास्तित्वमेव वा तस्मात् घटस्य घटाद्विशेषणार्थमस्ति घट इति घटस्यैवास्तित्वमुच्यते, तथैकमपि घटेन घटपटादि, तदेव हि त्रिविधत्वादिसर्वमपि, तस्मादेकमिति घटादेर्विशेषणार्थमुच्यते तत्रैव विधिवस्तुनि अप्रत्येको घट इति, अप्रत्येकघटानां प्रपाणामनन्यत्वात् सर्वैक[त्व]प्रसङ्गः, अन्यत्वे वाऽप्रत्येकोऽपि घटोऽपि घट इति घटबहुत्वप्रसङ्गश्च कुत आयातावेतौ प्रसङ्गाविति परिहारः, अत्र सूरिः, एतच्च

अप्रत्येकत्वाभावात् तथा च व्याख्येयमुच्यते यतः स च सर्वत्रसिद्धेति सिद्धान्तो निर्णेय इति भावः । एवं समयानामस्तित्वं अप्रत्येकत्वं तदपि निगमय स्वाह—तथा कृमिक इति । कृमिकास्तित्वं कुतोऽभ्युपगम्यमित्यत आह—मूर्तिर्येषामिति भवत्येव अभिधानां क्रियैवेत्यर्थं एवं भवत्येवास्तित्वं तत्परमार्थतत्त्वे न मूर्तमात्रमिति भावः । एवं घटादीनां घटास्तित्वं मात्रं स्वाह—तत्प्रमेति । अनस्तित्वमनुपलब्धिमाह—नास्तीति अस्तीति निर्विकल्पकस्वरूपम्, न तु निरपेक्षं तत्स्वरूपमात्रमुक्तं भवति मात्रोऽस्तित्वम्, ततो नास्ति अस्तित्वं यस्य घटादेः सोऽनस्तित्वः अस्तित्वं न सर्वत्र प्रत्युक्त अभ्युपगताप्रमिति भावः । घटस्य नास्तित्वे किं स्यादित्याह—तत्रेति एवं बाह्यार्थशून्यत्वादिज्ञानमात्रमेवं सर्वमिति विज्ञानमात्रस्य प्राप्त इति भावः । ननु सर्वभावानामस्तित्वं न तस्य घटादीनामिवैकस्य प्रत्येकमस्तित्वम्, तस्याप्रत्येकत्वादिकस्य सर्वं वा घटोऽर्थान्तरत्वाभावात्तत्त्वाभ्यामस्तित्वमित्यस्तित्वविरोधः स्यु किन्तु प्रत्येकमपि अस्तित्वं विशिष्य तत्प्रत्येकत्वादि घटबहुत्वप्रसङ्गश्च—अथोच्येतेति । व्याचष्टे—घटेऽस्तीति घटस्यास्तित्वप्रत्येकवृत्तित्वेऽपीति, घटपटादिस्तित्व विशिष्टं, तस्मात् सर्वैकविशिष्टमित्यर्थ एवं नास्तित्वमपि भावेन परस्परं व्यावृत्तरूपत्वादिति भावः । तदस्तित्वं नास्तित्वं प्रत्येकवृत्तित्वम्, न तु सर्वसम्बन्धास्तित्वं नापि सर्वसम्बन्धनास्तित्वं विवक्षितमित्याह—तत्रेति । एवमपीत्युक्ते किं घटोऽस्ति घटो नेति प्रश्नः स्यात् घटास्तित्वार्थेनात्र न घटोऽस्तीत्युच्यते, इत्यस्तित्वं घटः, न तु घटस्यैव घटास्तित्वात्मना घटत्वमेव स्वाह—तस्मादिति । एवमेव घटपटादौ नैकत्वम्, किन्तु प्रतिपत्तिविभक्तमेकत्वम्, तथा सर्वैकत्वमेव अनेकत्वमेव वेति न नियमः घटपटादिति त्रितत्व घटपटयोः इति त्रितत्व घटपटत्वेन स्वेन घटादेः प्रसङ्गं घटादौ तत्त्वात्, प्रत्येकात्. समुदायादिसमिवात्, एवम् घटे एकत्वमनुपगमे घटादिविशिष्टत्व तात्पर्या भूतिरिति एषे घट इत्युक्त स्वाह—सर्वैकमपीति । एकमप्रत्येके प्रथमके घटादौ अस्तित्वस्वरूपो भेदाभेदाभ्यां सर्वैकत्वबहुत्वप्रसङ्गो न सम्भवति इत्याह—तथैवेति । सर्वत्वं प्रत्यक्षाविरोधि [illegible]—एतमेवेति । नास्तित्वानुपगमेन अस्तीति

1 सि. क्ष. डे. घटरागो ।

परिहारवचनम्, कस्मात्? सर्वसमयाप्रसिद्धेः, अतीतस्य ह्यभावोऽस्तित्वं तच्च कस्यचित्–सांख्यादीनां समयसिद्धं नास्तीति, कस्मात्? अस्तित्वस्य रूपान्तराभावात्।

यदि स्याद्रूपान्तरं ततो नानारूपमेव स्यात् किञ्चिदस्ति किञ्चिन्नास्ति किञ्चिदस्ति नास्ति चेति, अनिष्टं चैतत्, तस्मादभेद एवास्तित्वस्य, तस्मिंश्च तदभेदे तु सर्वेषामैक्यम्, भेदे वा घटवत्तुल्यमिति तदवस्थौ प्रसङ्गौ, तथापि च नास्तित्वमेव, अस्तित्वैकत्वशून्यत्वात् खपुष्पवत्। इतरेतराश्रयत्वाभ्युपगमाच्च कुतोऽस्तित्वं तेषामिति।

(यदि स्यादिति) यदि स्याद्रूपान्तरं–घटोऽन्यत् पटोऽन्यदस्तित्वं रूपादिषु च क्षेपणान्यदन्यत् स्यात् ततो नानारूपमेव स्यात् किञ्चिदस्ति किञ्चिन्नास्ति किञ्चिदस्ति नास्ति चेति, अनिष्टं चैतत्, तस्मादमुष्य कस्यचित् घटान्तरपटान्तरादावस्तित्वस्यो विशेषणार्थमस्ति घट इति सर्वेषां घट इत्यपि प्रथमम्, तस्मादभेद एवास्तित्वस्य, तस्मिंश्च तदभेदे तु–घटादीनामस्तित्वादनन्यत्वपक्षे सर्वेषामैक्यम्, अन्यत्वपक्षे वा घटवत्तुल्यमिति तदवस्थौ प्रसङ्गौ, किञ्चान्यत्–तथापि च नास्तित्वमेव–एवमस्तित्वसामान्यशून्यत्वादेकत्वविशेषशून्यत्वाच्च नास्तित्वमर्थान्तरतायां खपुष्पवत्, इतरेतराश्रयत्वाभ्युपगमाच्चैतयो हेत्वोः कुतोऽस्ति[त्वं] तेषां घटादीनामिति, अनन्यत्वेऽपि प्रसङ्गाभिनिरोधस्यैक्यदोषापादनद्वारेणास्याभ्युपगतमिति।

अथोच्येत भिन्नास्तित्व एव घटः, आत्मलाभे भिन्नप्रकारत्वात्, पटकटादिवत्, कटो हि नास्ति पटः पटश्च नास्ति कट इति कटपटधियौ भिन्नास्तित्वे दृष्टे तथा घटोऽपि भिन्नप्रकारात्मलाभत्वात् पटादिभ्यो भिन्नास्तित्वः एतदपि न, उक्तसत्त्वतुल्यत्वात्, अस्य वा हेतोरभिन्नप्रकारत्वादिति प्रयोगेऽपि, येन प्रकारेणैकस्यात्मलाभस्तेन प्रकारेण सर्वभावानामप्यात्मलाभः, अस्तित्वेन भवनाविक्षेपात्, नानारूप्येऽस्तित्वं नास्तित्वमस्तिनास्तित्वं वा स्यादित्युक्तम्, तस्मादभिन्नास्तित्वोऽसौ नन्वसिद्ध एव हेतुः, घटवदिति दृष्टान्तः, तथैकत्वमपि।

अथोच्येत भिन्नास्तित्व एवास्तु, भिन्नमेवास्तित्वं घटस्य पटाद्यस्तित्वात्, प्रत्यक्षसाधा

खपुष्पवदिति तत्र पुष्पम्, अस्तित्वमपि सर्वत्र नानास्तित्वाभ्युपगमात् [illegible] न रूपान्तरमस्तीति भावः। अतीतस्येति। [illegible] तत्र [illegible] नास्तित्वं [illegible] सिद्धमिति भावः। हेतुमाह–अस्तित्वस्येति [illegible] यदि नाना स्यात् तर्हि [illegible], [illegible] स्यादिति भावः। यदि स्याद्रूपान्तरं [illegible] यदि स्यादिति। [illegible] किञ्चिदस्ति [illegible] किञ्चिन्नास्ति [illegible] अस्तित्वं [illegible] इति। [illegible] घट इति [illegible], अस्तित्वे च [illegible] तस्मादमुष्य [illegible] इति। एवास्तित्वस्य नास्ति भेदः [illegible] तदभेदे तु इति, अस्तित्वमेव [illegible] नास्तित्वमेवेति भावः। [illegible] तथापि चेति। एवं [illegible] नास्तित्वं न [illegible] इतरेतराश्रयत्वाभ्युपगमादिति। [illegible] अनन्यत्वेऽपीति। पुनरपि [illegible] भिन्नमेवेति [illegible] अथोच्येतेति। [illegible] भिन्नमिति [illegible]

ण्यात्मलाभादिहेतुकारकनिमित्तादिभेदेन तदिद प्रतिज्ञायते भिन्नभवनाः—भिन्नात्मक एव घट इति, कुतः ? आत्मलाभे भिन्नप्रकारत्वात्—आत्मलाभे जन्मनि उत्पत्तौ घटस्य घटान्तरात् पटादिभ्यश्च देशकालाकारनिमित्तादिप्रकारो भिन्न एव व्यावृत्त्यात्मरूपत्वात्, किमिव ? पटकटदीपवत्, तद्व्याख्या—घटो हि नास्ति पट इत्यादि, यथा कट इति बुद्धिः पटबुद्धेर्भिन्नेन प्रकारेणात्मानं लभते, पटबुद्धिश्च कटबुद्धेः ते च कटपटधियौ परस्परतो भिन्नात्मिके दृष्टे तथा घटोऽपि भिन्नप्रकारात्मलाभत्वात् पटादिभ्यो भिन्नात्मक इति एतदपि न, उक्तसत्त्वतुल्यत्वात्—इदमप्यनन्तरोक्तपटादिभ्यस्तिरिक्तभिन्नवदात्मकत्वेन तुल्यं घटभिन्नात्मकत्वम्, यस्मादुक्तसत्त्वतुल्यत्वात्सत्त्वमेवैकार्थः भिन्नप्रकारत्वादित्यस्य वा हेतोरभिन्नप्रकारत्वादिति प्रयोगेऽप्यनैकान्तिकत्वाभिसाधनत्वे तुल्यत्वाद्वेति द्विधाप्युक्तसत्त्वतुल्यत्वात्, न त्वदभिमतभिन्नात्मकत्वो घट इति सम्बन्धः, तस्य व्याख्यानं समानमर्थद्वयेऽप्यत आह—येन प्रकारेणैकस्यात्मलाभस्तेन प्रकारेण सर्वभावानामप्यात्मलाभोऽविशिष्टत्वेन भवनाविशेषात् नानारूपे[ऽविशिष्टे] नास्तित्वमस्तित्वनास्तित्वं वा स्यादित्युक्तम्, तस्मादात्मलाभस्याभिन्नरूपत्वादभिन्नात्मको घटः, विरुद्धो व्यभिचारी वाऽयम् अभिन्नात्मकोऽसौ नभस्तल इव एव हेतुरिति—अभिन्नप्रकारात्मलाभत्वादिति प्रयोक्तव्य इत्यभिप्रायः, एवं पटवदिति दृष्टान्तः यथैव हि घट आत्मलाभसमयेऽनन्यमभिन्नात्मकः तथा घटान्तराणि पटादयश्चेति, तथैकत्वमपि नैवम् एकमेकस्मादितराभ्यामभिन्नो घटः ।

आत्मलाभकारणात् सोऽपि भिन्न एतावन्मात्र एवमात्माऽऽकारनिमित्तादिभेदाद्व घटस्य हि देशो यः, पटस्य अन्य इति देशभेद एवमेव कालस्यान्यत्वेन पटस्येऽभिन्नमात्, एवमेव मृद्गुणीघटादिसंस्कारो घटः आतानवितानाकारः पट इत्याकारभेदः [illegible] घटस्य निमित्तं [illegible] पटस्येति निमित्तभेदस्तस्मात् [illegible] आत्मलाभे भिन्नप्रकारत्वात्स्वपरयोर्भिन्नभिन्नात्मकत्वमिति भावः । एवमेवानुमानेन भावयति—तदिदमिति [illegible] इति प्रतिज्ञार्थः । हेत्वर्थ—आत्मलाभ इति [illegible] मात्मलाभात्, एतदर्थस्याऽऽत्मलाभे जन्मनि [illegible] भिन्न एवार्थः । आत्मलाभे भिन्नप्रकारत्वादित्यस्यैव [illegible]—व्यावृत्त्यात्मरूपत्वादिति [illegible] । निदर्शनमाह पटकटदीपवदिति । [illegible] परस्परव्यावृत्त्यात्मत्वात्, [illegible] भिन्नप्रकारत्वात् [illegible] भावयति—घटो हीति [illegible] भिन्नात्मकत्वौ द्वे [illegible] तथा घटोऽपि भिन्नात्मक पटादिभ्यो भिन्नप्रकारात्मलाभत्वादिति भावः । व्याख्यानमेव व्याचष्टे—यथा कट इतीति । [illegible] तुल्य इति [illegible]—उक्तसत्त्वेति । भाष्यं—इदमपीति । [illegible] आत्मलाभेऽभिन्नप्रकारत्वादिति प्रयोगेण [illegible] तुल्यत्वात् [illegible]—भिन्नप्रकारत्वादित्यस्येति [illegible] हेतुत्वसत्त्वे [illegible] तुल्य इति [illegible]—येन प्रकारेणेति [illegible] भाव । आत्मलाभे भिन्नप्रकारत्वादिति हेतोरुक्तरूपतुल्यता [illegible] नानारूप्य इति [illegible] भाव । एवमात्मलाभेऽभिन्नप्रकारत्वादभिन्नात्मक एव घट [illegible] हेतुर्न [illegible] भिन्नाभिन्नत्व [illegible] हेतुः स्यात्—तस्मादिति । [illegible]—अभिन्नेति । दृष्टान्तं घटयति—यथैव हीति । एवमभिन्नेऽप्येकत्वमपि भावयितुम्

यदि तु ताभ्यामप्यन्यस्ततो घटस्य शून्यत्वम्, अस्तित्वैकत्वशून्यत्वात् खपुष्पवदिति प्रागुक्तो दोषः, अनन्यत्वे तु सर्वमेव घटः, अस्तित्वैकत्वानर्थान्तरत्वात् घटस्वतत्त्वानर्थान्तर घटवदिति, अपि च नेष्यतेऽनर्थान्तरत्वं न लभ्यते ततो घटोऽपि घटो मा भूद्वचनविशेष- हेत्वभावात्, एवमनभ्युपगमे वा तुल्ययोरस्तित्वैकत्वयोः सतोर्घटो घट एव नियतरूपो न तु पटो घट इष्टः, अस्तित्वैकत्वाविशेषात्, एवमघट एव घटः स्यात्, तस्मादेव हेतोः, नन्वयमेव विपर्ययः—रूपं लोके रूपमेव न रस इति सिद्धमपि रूपं न स्याद्रसोऽपि रसो मा भूद्रूपं स्यात्, बहुत्वप्रसङ्गो घोषवत्, तस्मान्न सन्ति घटादयः ।

यदि त्वित्यादि, यदि तु ताभ्यामपि घटोऽस्तित्वैकत्वाभ्यामन्यस्ततो घटस्य शून्यत्वम्, अस्तित्वैकत्वशून्यत्वात्—सामान्यविशेषवस्त्वासत्त्वात् असत्त्वमेव खपुष्पवदिति प्रागुक्त इत्यर्थान्तरत्वदोषोपसंहारः, अनन्यत्वे त्वित्याद्यनर्थान्तरपक्षदोषोपसंहारो गतार्थो यावद्घटवदिति, तस्मात् सिद्धमेतद्यदुक्तं घटवत् पटाद्यपि घट इति अथैवमित्यादि अथैवं न्यायापादितमपि घटादिसर्वभावघटत्वं नेष्यते प्रसिद्धबाधितत्वेन केनचित् अ[न]र्थान्तरत्वं च न लभ्यते ततो घटोऽपि घटो मा भूद्वचनविशेषहेत्वभावात् अस्तित्वैकत्वा- नर्थान्तरत्वे घटवचनात् पटादिवचनानां न कश्चिद्विशेषोऽस्ति, न च तत्कारणम् तस्माद्वचनविशेषहेत्व- भावात् पटवद्घटोऽपि घटो मा भूदिति घटस्याप्यभावः एवमनभ्युपगमे वा तुल्ययोरस्तित्वैकत्वयोः सतोः सर्वत्रवर्तिनोः घटो घट एव नियतरूपो न तु पटो घट इष्टः कस्मात्? अस्तित्वैकत्वाविशेषात्, एव- [म]घट एव घटः स्यात् तस्मादेव हेतोर्घटवदघट एव सर्वमपि नन्वयमेवेत्यादि तदेवानुज्ञापयन्

एवमस्तित्वैकत्वाभ्यां घटोऽभिन्न इत्युक्त्वाह—तथैकत्वमपीति । अस्तित्वैकत्वाभ्यां घटस्य भेदे दोषमाह—यदि तु ताभ्या- मिति अस्तित्वैकत्वाभ्यां भिन्नेऽङ्गीकृते घटे । घटस्यास्तित्वैकत्वाभ्यां सामान्यविशेषाभ्यामत्यन्तभिन्नत्वे सामान्यशून्य- त्वाद्विशेषशून्यत्वाच्च खपुष्पवदसत्त्वमेव घटस्येत्याह यदि त्विति । अथार्थान्तरं ततो घटस्य सामान्यविशेषाभ्यां न [illegible] प्रागुक्तमेव दोषमुपसंहरन्नाह—प्रागुक्त इति । एवमस्तित्वैकत्वाभ्यामनर्थान्तरत्वपक्षेऽपि घटस्वतत्त्वानर्थान्तरत्वाद्घटो घट एव तथा सर्वभावास्तित्वैकत्वानर्थान्तरत्वात् सर्वभावानां पटादीनामपि घटत्वप्रसङ्ग इत्याह—अनन्यत्वे त्विति ताभ्यां घटस्यानन्यत्वे [illegible] । एवं प्रथमे [illegible] तथाऽस्तित्वमपीत्यादि [illegible] सर्वभावानां घटत्वापादनं [illegible]– तस्मात् सिद्धमेतदिति । तदेवं न्यायसिद्धं सर्वभावानां घटत्वं नेष्यते तदा दोषमाह—अपि चेत्यादीति । अनिष्टमात्रस्य निमित्तमुद्भावयति—प्रसिद्धबाधितत्वेनेति [illegible] न तु पटादेः [illegible] [illegible] सर्वभावानां पटादीनां घटत्वं नेष्यत इति भावः । तथा सर्वभावानामस्तित्वैकत्वाभ्यामभेद इष्यत इत्याह—अनर्थान्तरत्वं चेति । एवं सति सर्वभावानां पटादीनां यथा घटत्वाभावः तथा घटस्यापि घटत्वाभावः स्यादित्याह– तत इति । हेतुमाह वचनविशेषेति वचनविशेषाभावात् हेत्वभावादित्यर्थः । वचनविशेषाभावसमर्थने—अस्तित्वैकत्वेति अस्तित्वस्य सर्वेष्वनेकत्वस्यापीति भावः । हेत्वभावमाह—न च तत्कारणमिति अस्तित्वैकत्वानर्थान्तरत्वे न सर्वेषां घटत्वस्य हेतुः [illegible] तदनर्थान्तरत्वात् [illegible] एवं सर्वभाव[illegible] घटस्यापि घटत्वं न [illegible] भावः । अथास्तित्वै- कत्वानर्थान्तरत्वे सर्वभावघटत्वानभ्युपगमे घटस्य घटत्वाभावप्रसङ्गे [illegible] यदि [illegible] तर्हि घटवत्पट एव घटः स्यात् [illegible] सर्वमपि अस्तित्वैकत्वाविशेषादित्याह—एवमनभ्युपगमे वेति । अमुमेव न्यायं रूपरसादि- [illegible] नन्वयमेवेत्यादीति [illegible] सर्वभाव[illegible] प्रतिभासितो घट एव सर्वमपि [illegible]

---

१ सि. क्ष. डे. [illegible] । २ सि क्ष. डे. [illegible] ।

रूपादिष्वनिश्चयापादयति—यथाऽस्तित्वैकत्वे सत्येव घटादीनां विपर्ययः घटादित्वेन प्राप्तिवत्, तथा रूपं लोके रूपमेव न रस इति सिद्धमपि रूपं न स्यात् रसोऽपि रसो मा भूत् रूपं स्यादिति, तद्विषयविज्ञानाभिधानविपर्ययो योज्य इति, बहुत्वप्रसङ्गो वा अस्तित्वैकत्वघटत्वैकत्वपक्षदोषा एते मा भूवन्निति [नञ्]त्वपक्षाभ्युपगमे घटबहुत्वप्रसङ्ग एकस्मात् स्यात्, तस्मात् न सन्ति घटादय इति ।

आह—

नन्वेवमसत्त्वे प्रत्यक्षसिद्धं तृप्तिसुखादि विरुध्यते, ननु तत्सर्वसिद्धान्तसिद्धमित्युक्तेर्घटादीनां शून्यता ।

(नन्वेवमिति) नन्वेवमसत्त्वे प्रत्यक्षसिद्धं तृप्तिसुखादि विरुध्यते—भवताऽप्यङ्गनयादिभेदनादिंवा तदसिद्धिप्रपञ्चोपगमे सुखम्, क्षुत्पिपासादिंवानाशश्च तृप्तिः प्रत्यक्षतो दृश्यते, तस्मात् प्रत्यक्षविरोधात् शून्यं कल्पनेत्याशङ्क्यते—ननु तत्सर्वसिद्धान्तेष्वपि अभ्युपगमादिष्टुत्वमप्यत्रप्रत्यक्षादिभ्रान्तिविज्ञानाप्रमाणीकरणेनैव रूपादिविषयकज्ञप्तिसुखादिभ्रमनाभ्यासादिवत्त्वात् मृगतृष्णिकातोयाभ्यासवत् मोक्षार्थैव सर्वमिति प्रपञ्चमोक्षार्थत्वात्तु सिद्धत्वमिति—इत्यमयुक्तेर्घटादीनां शून्यता ।

तथाऽनुत्पादादपि आद्यन्तयोर्भावाभावतयोरनुत्पादादसत्, तत्र हि तौ विशेषार्थौ न वा ? यदि नाम न तयोऽसत्त्वे तयोः सर्वभावानामनाद्यन्तत्वाभिव्यक्तिरेव स्यात् स च प्रत्यक्षादिविरुद्धा उत्पत्तिविनाशदर्शनात् स्थितवस्तुविपरीतत्वादवस्तु प्राप्नोति, अनुत्पत्त्यैव सर्वे वस्तिवस्त्वभ्युपगमे सर्वसिद्धान्तव्याघातश्च ।

यथा एव यद्यपि [illegible] रसादिभिर्व्य [illegible] रूपं न स्यात् रसादि स्यात्, रसोऽपि रसो न स्यात्, रूपं स्यादिति [illegible] नाम च न स्यादिति भावः । अस्तित्वैक[illegible] दोषप्रसङ्ग[illegible] स्यात्, [illegible] बहुत्वप्रसङ्गो वेति । [illegible] अस्तित्वैक[illegible] तृप्तिसुखादि विरुध्यते [illegible]—नन्वेवमिति । [illegible] क्षुत्पिपासा [illegible] सुखम्, [illegible] स्यात्, [illegible] प्रमाणात्वेति । [illegible]—ननु तदिति [illegible] इति भाव । [illegible] अभ्युपगमेति [illegible] एव [illegible] तेषां परमार्थेनत्, [illegible] न हि [illegible] परमार्थ [illegible] निर्णयम्, [illegible] एव [illegible] भवितव्यमिति । [illegible]—इत्यमिति । [illegible]—तथाऽनुत्पादादपीति ।

तथाऽनुत्पादादित्यादि, अनुक्तेः शून्यत्ववदनुत्पादादपि वस्तुनः शून्यत्वं प्राप्नोति वस्तुवादिनः, उत्पत्तिविनाशयोरसत्त्वेऽनुत्पन्नाविनष्टत्वात् खपुष्पवदित्युपसंहरिष्यमाणशून्यत्वात्, आद्यन्तयोर्भावाभावयोरनुत्पादादसिद्धिरिति,—तत्रापि उत्पत्तिः अन्तः क्षयः, तावाद्यन्तौ विशेषाणाम्, न चेति द्वौ विकल्पौ च, तयोः कतरमिच्छसि? यदि नाम नेतीच्छसि ततोऽसत्त्वे तयोः सर्वभावानामनाद्यन्तत्वाद्घटादीनां नित्यता स्यात् खादिरेव, सा च प्रत्यक्षादिविरुद्धा स्थितिः, उत्पत्तिविनाशदर्शनात्, प्रत्यक्षपूर्वकत्वादनुमानादीनामनुमानादिभिरपि विरुध्येत किञ्चान्यत्—स्थितवस्तुविपरीतत्वादवस्तु,—उत्पन्नमवस्तु प्राप्नोति, स्थितवस्तुविपरीतत्वात्, खपुष्पवत्, किञ्चान्यत्—अनुत्पन्नमेव सर्वं वस्त्वित्यभ्युपगमे सर्वसिद्धान्तव्याघातश्च, वैशेषिकसिद्धान्ते तावदुत्पत्तिमभ्युपेत्योक्तं 'द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम्।' 'क्रियागुणव्यपदेशाभावात्प्रागसत्' (वै० अ १ आ १ सू १) इत्यादि प्रागसत्कार्योत्पत्तिव्याख्यानात्।

अत्राह तेनोक्तः सर्वसिद्धान्तव्याघातोऽनुत्पादाभ्युपगमेनेति तदयुक्तम्—तिष्ठतु तावत् पुरुषादिवादाः, सांख्यानामेव तावत् सत्कार्यवादित्वाद्व्याघात इत्यत्र ब्रूमः यत्तत्रभवता तावत् प्रत्युच्चारयामः। तद्यथा—

अथोच्येत सांख्यानामेव तावत् सत्कार्यवादित्वाद्व्याघात इति, नाव्याघातः, कथम् सत्कार्यानभ्युपगमात्? प्रधानादीनां नित्यनिष्ठितत्वाभ्युपगमात्, अतस्तान्यारब्धान्येव, निष्ठितत्वात्, घटवत्, आरब्धत्वात् कृतकानि कृतकत्वात् पर्यवसानवन्त्यपि, यस्यैव न भवति तत् खपुष्पवदसत् स्यात्, अथ त्वेवमपि नैषाभ्युपगम्यत आरम्भादि तथाऽनिर्वृत्तमनिष्ठितमसत् स्यात्, आकाशवत्।

अथोच्येत सांख्यानामेवेत्यादि, तस्योत्तरं—नाव्याघात इत्यादि, नाव्याघातो व्याघात एव,

व्याख्ये—अनुक्तेरिति अनुक्त्या यथा अपदार्थतापादर्थानां शून्यता निरूपिता तथाऽनुत्पादादपि वस्तुवादिनः सांख्यादेः प्रधानादीनामाद्यन्ताभावे खपुष्पवदसत्त्वं सामीप्यमे उपसंहरिष्यते तथा शून्यत्वं प्राप्नोतीति भावः। उक्तविवरणार्थं मतिप्रणीत—आद्यन्तयोरिति। आद्यन्तशब्दार्थमुक्त्वा विचारार्थं विकल्पमुपस्थापयति—तत्रापीति उत्पत्तिविनाशयोः सत्त्वमसत्त्वं वेति विकल्पार्थः। उत्पत्तिविनाशयोः विचार्य प्रथमं तदसत्त्वपक्षं विचारयति—यदि नामेति। यदि सर्वभावानामुत्पादविनाशौ न स्यातां तदाऽनाद्यन्तत्वादिसत्ता सदावस्थानरूपा घटादीनां स्यात्, सा चोत्पत्तिविनाशदर्शनप्रत्यक्षविरोधात् विरुध्यत इत्याह—ततोऽसत्त्व इति। अनुमानादिविरोधमाह—प्रत्यक्षेति। उत्पत्तिविनाशवद्घटादीनां विनाशमानापेक्षायां भवत् स्थितवस्तुविपरीतं तदवस्तु स्यात्, यथा खपुष्पादि, स्थितवस्तुविपरीतयोरुत्पत्तिविनाशयोरपि भवादि, ततोऽवस्तु स्यादिति दोषान्तरमाह—स्थितवस्तुविपरीतत्वादिति निगमनम् एतदर्थे। उत्पादविनाशयोरनभ्युपगमे सर्वं वस्तु अनुत्पन्नमिति स्यात्, तथा च सर्वसिद्धान्तव्याघात इत्याह—अनुत्पन्नमेवेति। वैशेषिकसिद्धान्तेऽसत्कार्यवादव्याख्याने उत्पत्तिमभ्युपेत्य निरूपणं 'द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते' इत्यादिसूत्रे प्रदर्शितमसत्कार्यवादाश्रयं दर्शयति—वैशेषिकसिद्धान्त इति। अथ सिद्धान्तवादी प्राह—तेनोक्तः सर्वसिद्धान्तव्याघातो नास्माकं दोषः अनुत्पादानभ्युपगमवादिनां दर्शयति—अत्राहेति। तदसत्पूर्वपक्षं तस्य व्याघाते दर्शयन्—तिष्ठत्विति। अथ मूलाभिप्रायेण सांख्यपक्षमाह—अथोच्येतेति। तस्योत्तरं विवृणोति—नाव्याघात इति युष्माकं सर्वसिद्धान्तव्याघात इति न किन्तु व्याघात एवेत्यर्थः। कथमस्माकं व्याघातः न हि वयमसत्कार्य-

१ सि. क्ष छा. ड. °वस्तुव्याधिपरीत्य । २ सि. क्ष डे. ड लेखोक्तं।

हि प्रतिषेधस्य प्रसक्तापेक्षा, कथमसत्प्रधानाभ्युपगमादिति, उच्यते, प्रधानादीनां नित्यनिष्क्रियत्वाभ्युपगमात्—नित्यं निष्क्रियमेव प्रधानमदृष्टकारणमित्यभ्युपगमाद्वारम्भ सर्वमित्यभ्युपगमादारम्भोऽभ्युपगमो भवत्वारम्भमन्तरेण क्रियाभावात्, क्रियामन्तरेण च निष्पत्त्यभावात्, वस्तुसंक्षेपेण साधनमाह—अवस्तूनि मानि तानि प्रधानादीन्यारम्भाभावेन, निष्क्रियत्वात्, व्योमवत्, घटनिष्पत्तिक्रियारम्भाभावो लोकप्रसिद्धत्व-दुदाहरणसिद्धेः प्रधानादीनां वस्तुत्वसिद्धिः, एवमारम्भस्यात् तदभावसिद्धिः, तथा स्वरूपस्यात् स्वप्रधानमपि तथाप्रयत्नाः प्रधानादयः पक्षेऽत्र न भवतीति वैधर्म्यदृष्टान्तः, साधनान्तरं वा गगनमात्मवत्त्वाभावे खपुष्पवदसत्त्वापादनं प्रधानादीनाम् आदिमत्त्वात् पुरुषादिष्वपि प्रसङ्गः समानधर्मा, अनेनैव साधनेन गतार्थत्वेऽप्युपपत्त्यन्तरनिराकरणार्थमाकाशदृष्टान्तेनानिष्टापादनसाधन—अथ स्वेच्छयापि नैवाभ्युपगम्यत आरम्भादीन्यपि वास्तवानीति ।

आह—

नन्वाख्यार्थं शुक्तिरजतपदाभ्यामभिहितं निश्चितं सर्वत्र प्रमाणज्ञानविषयत्वेनोच्यते कुतोऽस्य शुक्तिरजतता? आङीषदर्थे उपसर्गः, काशृ दीप्ताविति धातुः, आकाशत इत्याकाशम् 'कुगतिप्रादयः' (पा २-२-१८) इति समासत्वात् मृगतृष्णिकावदाभासत इत्याकाशमिति विज्ञानस्यैव तथावभासः । यदि च ख्यातिशून्यपदार्थप्रतिपत्तिं कुर्मस्ततो विज्ञानमात्रमेवेदं सर्वमिति नाभ्युपगच्छेम अस्मत्पक्षे हि विषयभूतान्यस्मद्योमभावाच्छून्यघटपटादिविषयाण्यपि विज्ञानमात्राणीति अनेन सर्वे शब्दा विज्ञानाधाननिमित्तमात्रत्वात्तथ्या एव ।

तत्सम्मुखेन वैशेषिकस्यावश्य आकाशोऽभ्युपगतस्तदनुपपन्ने साधित्वमाह उच्यते—कथमिति । प्रधानादीनामारम्भस्य वास्तवी—प्रधानादीनामिति प्रधानादयः प्रकृतयः प्रकृतीनां तत्कर्तृत्वाद्यनुपपन्नावित्यनिष्क्रियत्वात्, प्रधानस्य प्रकृतिमात्रेण नित्यनिष्क्रियत्वम्, तत्र पुरुषस्य विभुत्वेनाविक्रियत्वादिनिष्क्रियत्वमिति भाव । एवम् आरम्भस्याप्यवस्तुत्वम् निष्क्रियत्वेऽनुपपन्नत्वाद् निष्क्रियस्य क्रियामन्तरेण क्रियाभावादारम्भस्याप्यभावात् तदारम्भोऽनुपपन्न एव भवतीत्याह—नित्यं निष्क्रियमेवेति । एतदेव प्रकटयति साधयति—अवस्तूनीत्यादीति यत्र यत्र निष्क्रियत्वं तत्र तदारम्भो न यथा व्योमे तदारम्भं तदभावम्, व्योम्नः कार्यं तत्कर्तृत्वमपि सर्वत्र च एव निर्वचनम्, निष्पन्नक्रियाऽऽरम्भाभावो व्योमवदिति विवक्षानुसरणम्, एवमारम्भाभावसिद्धौ हेतुना तेषां प्रधानादीनामुपगम सिद्ध इति भाव । तदवस्थापिनीमित्याह एवमारम्भस्यापीति । एवं प्रधानादीनामारम्भवत्त्वं निराकृतम्—तथापीति निष्पन्नक्रियारम्भात्कर्तृत्वनिराकरणम् । प्रधानारम्भावस्तुत्वमपि न भवति तत्स्वरूपेण, खपुष्पवदिति वैधर्म्यनिदर्शनमित्याह—पक्षेऽत्रेति । अन्यथा वस्तुत्वं हि तदन्यस्मारम्भाभावेन साध्यमानेन हेतुना भवति यत्र क्रियते तद्वैधर्म्यदृष्टान्त उपपत्त्याभावेन निष्क्रियत्वेन विशेषोपपत्तिः अत्र वैधर्म्यदृष्टान्तोऽभिमतस्तदाह—साधनान्तरं वेति अवस्तुत्वमपि तथात्वं यथा खपुष्पादि, आकाशवत्त्वाभावे प्रधानादीनामभिमतं तथैव विवक्षितं तेषामिति भाव । एवं पुरुषस्याप्यारम्भवत्त्वं सिद्धमिति सूचयति—आदिमत्त्वादिति, प्रधानादीनामिवारम्भाभावादिति । ननु सर्वोत्पत्तिमति बौद्धमते आरम्भादि भवति च तत्र ते न समारम्भाः अवस्तव तथापि तदारम्भाभावमात्रेऽपि तत्स्वेन एवं प्रधानादि साधितेऽप्युपपत्त्यन्तरं निराकर्तुमाह—अनेनैवेति आवस्तुत्वस्याप्युपपत्तेः प्रधानादीनां खपुष्पवदसत्त्वापादनेनैव सिद्धत्वादनुपपत्तिः । अभिप्रायमाह अथ स्वेच्छयापीति निष्क्रियत्वारम्भाभावाभावे क्रियापि यदि तदेव सर्वोत्पत्तिमत् अनिष्ट-मनिष्टमसत् तत्सिद्धम् आरम्भाभावेन तदवस्तुत्वं वस्तुत्वं वैलक्षण्याभावो दृष्टान्त इति भाव । नन्वाख्यार्थं शुक्तिरजतपदाभ्यामिति । नन्वाख्यार्थं निश्चितं सर्वत्र प्रमाणम्, ज्ञानविषयत्वम्, प्रमाणज्ञानम्

नन्वाकाशमित्यादि, आकाशस्यासिद्धिप्रदर्शनार्थमनुमानम्, युगपदवाच्यत्वादिति निश्चित मतेऽपि यत्, प्रमाणमात्रमनपेक्षितत्वेनोच्यते—कुतोऽस्य युगपदवेति हेत्वसिद्ध्यापादनम्, तस्य समासपदत्वा दसत्यपि—आक्षेपदर्थं उपमन्युः खपुष्पं शीतादिति मातुः, आकाशस्य इत्याकाशम्। 'कुगतिप्रादयः' (पा० २–२–१८) इति समासत्वात्, कोऽस्यार्थ इति तत्प्रदर्शनार्थमाह—मृगतृष्णिकावदाभासत्व इत्याकाशमिति—यथा मृगतृष्णिका अनर्थत्वेनासती तद्वदाभासते तथाऽऽकाशमप्यविद्यमानं विद्यमानवद्विज्ञानेन गृह्यते, विज्ञानस्यैव तथा तथोत्पादात्, स्वन्मत उपचिक्रमोमादिषु युगपद्वाच्यत्वासिद्धिरिति, एतदायुक्तम्, यदि च व्याप्तियुगपदर्थेत्यादि, यदि यत्र युगपदवाच्यमपि शब्दार्थं प्रतिपद्येमहि ततो विज्ञानमात्रमेवेदं सर्वमिति नाभ्युपगच्छेम—न ब्रूयाम, अस्माकं हि विपद्गगनपांसुव्योममायाशून्यपटपठादिशब्दानामपि विज्ञानव्यतिरिक्तो नैवार्थोऽस्तीति सिद्धम् तत्प्रतिपादनार्थं च यतिष्यामहे, अनन्त्यादि, एतेन व्याप्तियुगपदवाच्यत्वापेन सर्वे शब्दाः क्रियाकारकसम्बन्धार्थवाचिन एवेति नैरुक्तमभिमतानां व्युत्पत्तिपक्षे पाददिकशब्दानां वाऽव्युत्पत्तिपक्षे डित्थादीनां नमादिप्रतिषेधसहितानां पदसमानां वा न कश्चिद्विद्यतेऽर्थस्तस्मात् विज्ञानाधाननिमित्तमात्रत्वात्सर्वार्था एव सर्वशब्दा इति।

युगपदवाच्यत्वासमानत्वात् तस्य प्रमाणभूतं ज्ञानं युगपदवाच्यत्वादिति यत् प्रमाणमनपेक्षितत्वे—युगपदवाच्यत्वादिति। अथाऽऽकाशस्य युगपदवाच्यत्वमसिद्धमसमासत्वादपि समासवाक्यत्वात् कुतोऽस्येति। आक्षेपदर्थ इत्यादि शीतादिरत्र मृगतृष्णिकावदाभासमानमिति व्युत्पत्तिमात्रपदस्य दर्शयति—आक्षेपदर्थ इति। कुगतिप्रादय इति सूत्रेण समासप्राप्तत्वेन प्रतिपादकत्वार्थसमासे वैयाकरणैः कुगतीति युगपदो नविशेषस्य उपमन्युरूपेण समासेन समस्तत्वम् इति तदर्थे। अत्र दृष्टान्तमाह—मृगतृष्णिकेति। तदेव प्रदर्शयति—यथेति। मृगतृष्णिका अनर्थत्वेनासती जलत्वेनाभासते तथाऽऽकाशमपि [illegible] तथा तथोत्पादात्, नीलपीतादितत्तदाकारत्वेन प्रति-भासमानं [illegible] नीलपीतादयः [illegible] न तु [illegible] विज्ञानव्यतिरिक्ता [illegible] विज्ञानस्य तथोत्पादादिति भावः। स्वन्मतम-तस्य [illegible] युगपदवाच्यत्वासिद्धिः [illegible] स्वन्मतमिति। यद्यपि—यदि चेति [illegible] येन [illegible] स्यात्, [illegible] विज्ञानमात्रमिदं सर्वमिति [illegible] न तु [illegible] 'विज्ञानमेव सर्वम्'। विज्ञानमेव हि [illegible] विज्ञानमेव' इति [illegible] भावः। शब्दानामपि विज्ञानमात्रं इत्याह अस्माकं हीति। [illegible] सर्वे शब्दा व्युत्पन्ना एवेति [illegible], व्युत्पन्नत्व क्रियाकारकसम्बन्धाभिधायित्वसमुदायम्, यथा [illegible] इत्यादि, [illegible] न [illegible] युगपदवाच्यत्वं न [illegible] इत्यादि [illegible] विज्ञानमात्रत्वात् [illegible] इति भावः। [illegible]

1 सि. क्ष. डे. व. [illegible]।

अथ मा भूद्विज्ञानमात्रताप्रसङ्ग इत्यन्यथाऽऽविः प्रधानादिरिष्यते पूर्वप्रत्युपसंहारसमाहितत्वादिति स सोपसंहारः किं नित्यः ? उतानित्यः ? यथादिनित्यस्तथा दोषाभिव्यक्तिरिष्यते ततः पूर्वोक्त एव दोषो भावविज्ञानमात्रार्थता, अथानित्यस्तथाप्यसत्त्वमेव ।

अथ मा भूदित्यादि, सामर्थ्यं विविक्तरसादेर्विज्ञानमात्रताप्रसङ्गः, स मा भूदित्यन्यथाऽऽविरिष्यते, कः ? प्रधानादिः प्रधानपुरुषब्रह्मस्वभावादि तदेव च कारणं तन्मात्रमेव घटपटादिकार्यम्, कस्मात् ? पूर्वप्रत्युपसंहारसमाहितत्वात्—कार्यात् प्रागपि तस्मिन्नेव प्रधानाद्यव्यक्तकारणमात्रे समाहिता एव विकारपर्यन्तमपि प्रवृत्तिर्वाऽऽविर्भाविनः ततो भूतानां विद्यमानानामेव घटादीनां निःसरणमाविः, नारम्भादिरत्र इत्यभिप्रेते—स सोपसंहार इत्यादि, स आविः प्रधानादिकारणस्थः सहोपसंहारेण किं नित्यः ? उत—आहोस्वित् अनित्यः ? इति निर्धार्यः तत्र यदि नित्यस्तस्य आविरेव न भवति, अकृतकत्वात्—अनारम्भकत्वात्, ततः किं ? तदभावाभिव्यक्तिः अनभिव्यक्तत्वादसत् खपुष्पवत् अथाभिनित्यतायामिष्टापि, एतद्दोषभयादभिव्यक्तिश्च पूर्वोत्तरतुल्यकालवृत्तीष्यतेऽतः पूर्वोक्त एव दोषो—नित्यत्वादनारम्भत्वादकृतकत्वादनभिव्यक्तिः खपुष्पवदाभावः तथापीति तदेवास्तित्वेऽपि भावविज्ञानमात्रार्थता पूर्ववदेव सत्त्वानुपपत्तिरिति एवमुत्पत्तिनित्यत्वे विशेषित्वे भासत्वमुक्तम् अथानित्यत्वं विनाशनिश्चयतः तस्मात्यन्तनियमतायामसत्त्वमेव एवमादावेऽनित्यत्वे दोषः ।

अथानित्यत्वे स किं जातः ? किमजातो वा ? यदि जातोऽनुत्पन्नस्तर्हि, जातत्वाद् निर्वृत्तघटवदनुत्पन्नत्वादसन्, अथाजातस्ततोऽप्यनुत्पादः, अजातत्वात्, अनिर्वृत्तघटवत् जाताजातत्वेऽविरोधादुभयपक्षदोषसम्बन्धः भाव, नित्यायामपि किं निश्चितोऽनिश्चितो वा ? यदि निश्चितः अनुत्पादस्तर्हि निश्चितत्वात्, निश्चितघटवत् यद्यनिश्चितस्तथाप्यनुत्पाद एवानिश्चितत्वात्,

तदारम्भार्थं यदन्यत्परं आविरिष्यते तथापि दोषापत्तमेव सहते—अथ मा भूदिति। न्यायो—सामर्थ्यमिति। न चापि तारम्भस्य प्रधानं पुरुष ब्रह्म स्वभावादि वा भवतु तस्मात्मन्तु कार्यमाविरवं प्रधानादिमात्रमेवेत्याह—प्रधानादिरिति। प्रधानादिमात्रमेव सर्वं कार्यजातमित्र हेतुमाह—पूर्वप्रत्युपसंहारेति। पूर्वं प्रागर्थप्रादुर्भावात् प्रत्युपसंहारे—उपसंहारलक्षणे परिणामात्मके प्रवृत्ताके च सर्वेषां विकाराणां महदहङ्कारादीनां तत्र कारणमात्रे समाहितत्वात्—अन्तर्लीनत्वादित्यन्तलीनानामेव महदादीनामभिर्भावात् प्रधानादि नित्यं वस्तु आविर्भवति न तस्य आरम्भणादिति भाव । हेतुं व्याचष्टे—कार्यादिति। उपसंहृत प्रधानादि किं नित्य उतानित्य इति प्रश्न महदहङ्कारादिविशिष्टप्रधानादेर्नित्यत्वे कारणत्वमेव न स्यात्, महदादयः स्वभावे हि तत्र कारणत्व स्यात् महदादी च प्रकृत्यन्तर्लीनत्वेन तद्विशिष्टप्रधानादेर्नित्यत्वाभ्युपगमाद नारम्भकत्वम् अन्तर्लीन महदादेरभिव्यक्तमपि न भवते अन्तर्लीनमहदादित्वस्याभावात्, आविर्भूतमहदादिविशिष्टप्रधानादेर्नित्यत्वे तद्विशिष्ट एव सर्वदाऽऽरम्भ स्यात् यथाकारणं तथैवेत्यपि, अनिश्चितं वस्तुत्वपक्षेऽप्याह—तत्र यदीति। नन्वारम्भकत्वाभावे किं तत्र मा भूत् विशिष्टविशेषत्वं पूर्वोत्तरकालभावित्वं—अभावावस्थत्वं प्रधानादीनामनुपपन्नम् तस्मादप्रसमावर्तनेन—एतद्दोषभयादिति नित्यविशेषाभिव्यक्तिमात्रेऽभिव्यक्तिवस्तुपगमे कारणमात्रनित्यत्वाभ्युपगमे नित्यत्वाभिव्यक्त्यात्मकत्वेन वस्तुत्वासम्भवोऽपि प्रत्युक्तोऽपि भाव । तदभिव्यक्तप्रधानादेर्विशिष्टत्व नित्यत्वे तस्यभिव्यक्तः कारणमारनित्यत्वे निर्विशिष्टवस्तुत्वाभ्युपगमविरोधात् प्रधानादीनामसत्त्वमेवेति दर्शयति एवमिति। विनाशस्य नित्यत्वे तु प्रधानादीनामसत्त्वे तद्भावमाह—अत्यन्तविनाशमिति। दोषान्तरमाह अथानित्यत्वे दोषमाह अथानित्यस्य इति। न्यायोऽपि—

1 नि. छा. द. तदाद्योपविद्यमि ।

अनिर्वृत्तघटवत्, अनिष्ठितश्चासन्, असत्त्वादकर्त्ता, अकर्तृत्वाच्च खपुष्पवन्न निर्वर्त्तयति, नोभय मुक्तवत्, अन्तेऽपि किं विनष्टो विनश्यति, किं वाऽविनष्टः ? यदि विनष्टो विनश्यतीतीष्यते ततोऽनुत्पाद एव विनष्टत्वात् विनष्टघटवत्, नाविनष्टोऽक्षतघटवदभूतविनश्यद्भावत्वादाकाश-वदिति वा, अस्यानुगमं कृत्वा प्रसङ्गः नोभयमुक्तवदिति नोत्पत्तिस्थितिभङ्गाः सिध्यन्ति ततश्च खपुष्पवदभाव एव स्याद्वस्तु ।

अथ[ा]नित्यस्य इत्यादि, भावेर्नित्यत्वे दोष उक्तः तत्प्रतिपक्षार्थमाविरनित्य इतीष्यते तत्र त्रयी गतिः—भावस्य अभावस्य, भावाभावस्य वा, किं भावः ? किमभावः ? इति विकल्पद्वयमभ्यस्य तदर्थयोगस्य तृतीयस्य विकल्पस्य सिद्धः, यदि भाव इत्यादिना द्वयोराद्यविकल्पयोरुत्पादाभावोऽनुत्पन्नत्वादसत्त्वमिति गदार्थम्, भावाभावमेवेति तृतीयविकल्पस्य विरोधादसम्भवः, किञ्चोभयदोष[ा]नन्याय—यो भावस्य दोषो यश्चाभावत्वे ताभ्यां युक्तो भावाभावपक्षोऽवश्यम्भावी, एवमुत्पादे दोषाः, स्थित्यामपीत्यादि, किं निष्ठितोऽनिष्ठितो निष्ठितानिष्ठितो वेति त एव विकल्पाः, तेष्वपि त्रिषु दोषा उत्पादपक्षोक्तन्यायेन नीता एव यावन्नोभयमुक्तमिति अनिष्ठितोऽसन्नसत्त्वादकर्त्ता, अकर्तृत्वाच्च खपुष्पवन्न निर्वर्तयतीति विशेषो गदार्थः, अन्तेऽपीत्यादि, विनाशेऽपि किं विनष्टो विनश्यति ? अविनष्टः ? विनष्टाविनष्टो वा ? यदि विनष्टो विनश्यतीतीष्यते इत्युपक्रम्य त्रिष्वपि विकल्पेषु यावन्नोभयमुक्तमिति, नाविनष्टोऽक्षतघटवदित्यस्य व्याख्यान—अभूतविनश्यद्भावत्वात्—अभूतोऽनुत्पन्नो विनश्यद्भावोऽस्येत्यभूतविनश्यद्भावः, तस्मादभूतविन-श्यद्भावत्वात्, अक्षतघटवदिति आकाशवदिति वा, अभूतविनश्यद्भावत्वादित्यस्यैव हेतोरुदाहरणान्तरम्, अस्यानुगमं कृत्वा प्रसङ्गः, कोऽर्थः ? उत्पत्त्यादिष्वप्येतदित्यादि यावदभिधानमात्रार्थत्वेऽपीति नोभयमुक्तवत्—न

भावेर्नित्यत्व इति भावि प्रधानादिकारणमित्य उत्पत्तिमदिति पक्षे त्रिधा वक्तुं शक्यं, विमुक्तलक्षणभावः किं भावस्य भावेन विमुक्तोऽभावस्य विमुक्तश्चाथ उभयत्र इत्यत्र—तत्र त्रयी गतिरिति। तदेव स्फुटयति—किं भाव इति। तृतीये विकल्पे भावेऽभावेऽपि भावा इत्याह—विकल्पद्वयेति। भावत्वमभावत्वमभावत्वमभावस्य दोषप्रसङ्गात् निर्विकल्पितत्वात्, भावाभावत्वमिति दर्शयति—यदि भाव इत्यादिनेति। तृतीयपक्षस्तु परस्परविरोधात् सम्भवति सम्भवे वा पक्षद्वयोक्तदोषं प्राप्नुयादित्याह—भावाभावमेवेतीति। उभयदोषप्रसङ्गं प्रकटयति—यो भावस्य इति। एवमुत्पादे दोषमभिधाय स्थितिपक्षे दोषमाह—स्थित्यामपीत्यादीति। अत्रापि भविष्यन्निष्ठित उत्पत्त्यनन्तरमेवास्तित्वादयमिति दर्शयति—किं निष्ठित इति। निष्ठितत्वे न स्थितिः न वास्तित्वात्मा नाप्युत्पत्तौ वा सर्वत्रोत्पादपक्षोक्तदोष एव इति भावः। अनिष्ठितत्वे दोष-विशेषमाह—अनिष्ठित इति। अथ विनाशपक्षेऽपि तथैव विकल्प्य दोषमाह—अन्तेऽपीत्यादीति। अविनष्टपक्षे विशेषमाह—नाविनष्ट इति। अभूतेति यस्य अभूतो भवन् च विनश्यद्भावः सोऽभूतविनश्यद्भावः तस्मादविनष्टो विनश्यतीति भावः। एवम-विनष्टत्वात्प्रसङ्गोद्भावनं प्रकृतत्वं तस्य साध्यत्वात् [illegible] निर्दिष्टं तदेव व्याख्यानमेवेत्यनुगमं विधाय प्रसङ्ग उद्भवतीत्याह नास्त्युत्पन्नत्वादि व्याख्यानतोऽपि अत एवाह—अस्यानुगममिति। निष्ठितानिष्ठितपक्षे दोषमाह—नोभयमिति। न्याये—नेति। माध्यमिककारिका अत्र भाव्या निष्पद्यमानमुत्पत्तौ भावस्य उपपद्यते। यद्यनिष्पन्नमानस्तु न भावो योऽस्ति न सिद्धिर्निष्पद्यमानस्य न भावस्योपपद्यते। तथानिष्पन्नमानस्तु न भावो भासते न निष्पन्नं नानिष्पन्नं न निष्पन्नं निष्पद्यते। तदा निष्पन्नमानं च [illegible] निष्पन्नमानं [illegible] युक्तिं उपपद्यते। उत्पन्नमुत्पद्यते न चानुत्पन्नम-

विनाशविनाशो विनश्यत्सम्भवात्, असम्भवो विरोधादुभयदोषापत्तेरिति पूर्वाचार्यानुसारेण, इत्थं नोत्पत्ति-स्थितिविनाशाः सिद्ध्यन्ति, तदसिद्धेरनुत्पन्नास्थितविनष्टत्वात् खपुष्पवदभाव एव स्यादिति ।

अथोच्येत किं न एताभ्यामसद्रूपाभ्यामाद्यन्ताभ्यां प्रयोजनम्, एतौ हि वस्तुन आत्मलाभात् पूर्वोत्तरकालौ, तयोरभावेऽपि तन्मध्ये वस्तु भवितुमर्हत्येव अत्र ब्रूमः, तन्मध्ये मध्य वा किं जातमजातं वा वस्तु स्यात्? यदि जातम्, अनुत्पादध्वंस जातस्याभिर्भाव घटवदित्यादि स एव प्रसङ्गः, यावपि च तौ कालौ तावपि न स्तः, विनष्टानुत्पन्नत्वात् तदभावे तदपेक्षत्वात्सम्बन्ध्यवस्त्वभावः, दग्धेन्धनज्वालावत्, यदि पूर्वोत्तरयोः कालयोर्नास्ति सम्बन्धे कथं सम्भाव्येत? असदप्यवस्तु, पूर्वोत्तरकालयोरसत्त्वात्, खपुष्पवदिति ।

अथोच्येत किं न इत्यादि, आरम्भ विमेताभ्यामाद्यन्ताभ्यां वस्तुनोऽसद्रूपाभ्यां विचारिताभ्यां प्रयोजनम् वस्तु विचार्यम्, एतौ आद्यन्तौ वस्तुन आत्मलाभात् पूर्वोत्तरौ कालौ—तदात्मलाभात् पूर्वः काल आविर्भावस्ते उत्तरोऽन्त्यः तयोरभावेऽपि वस्तु भवितुमर्हत्येव तन्मध्ये तस्मादत्रोत्तरमभिधत्ते अत्र ब्रूमः तन्मध्ये मध्य वेत्यादि तयोः पूर्वोत्तरकालयोर्मध्ये यद्वस्तु भवितुमर्हतीति मन्यसे, यो वा पूर्वोत्तरकालयोर्मध्यमुपभिन्नसे तदुभयमपि किं जातमजातं वा वस्तु स्यात्, यदि जातमनुत्पादध्वंस जातत्वात्, निर्वृत्तघटवदित्यादि स एव त्रिषु योग्यो दोषापादनप्रसङ्गः तुल्यदोषत्वात् किञ्चान्यत्—यावपि च तौ कालौ पूर्वोत्तरौ तावपि न स्तः तत्सम्भवादपि विनष्टानुत्पन्नत्वात्, तदभावे—तयोः कालयोरभावे तदपेक्षस्य सम्बन्धवस्त्वभावः, किमिव? दग्धेन्धनज्वालावत्, यथेन्धनापेक्षया ज्वाला इन्धनापेक्षा भवन्तीति सम्भाव्या अपि निर्दग्धे तस्मिन्निन्धने न सन्ति तदपेक्षत्वात्तदभावे तथा पूर्वोत्तरकालापेक्षं मध्यमिन्नमभिमतं वस्तु तदपेक्षत्वात्तदभावे नास्तीति भवत्येव, यदि पूर्वोत्तरयोः कालयोर्नास्ति तस्य मध्येऽस्तित्वं कथं पुनस्तत् सम्भाव्येत? न सम्भाव्यमित्यभिप्रायः असदप्य भवतीत्यादि, अत्र साधनमसत्त्वात् पूर्वोत्तरकालयोरसत्त्वात्, खपुष्पवदिति ।

पेक्षत्वम् इति । इत्थमुत्पत्तिस्थितिविनाशासिद्धावनुत्पन्नास्थितविनष्टत्वादभावत्वात् खपुष्पवदभाव एवेत्याह—इत्थमिति । आद्यन्तौ न वस्तुन आत्मलाभात् पूर्वोत्तरकालौ कथितौ वस्तुनः पूर्वोत्तरकालयोः मध्यकाले तयोरभावेऽपि वस्तु भवितुमर्हत्येवेत्याह—अथोच्येतेति । व्याख्या—आरम्भमिति आरम्भादि आद्यो विनाश अन्त्यः पूर्वमध्ये वा उत्तरे वस्तुन आत्मलाभात् पूर्वोत्तरकालयो तौ च न वस्तुन आत्मलाभे तयोरभावेऽपि मध्यकाले भवितुमर्हत्येव, तस्य वस्तुनोऽस्तित्व-मिति भावः । आद्यन्तयोर्मध्यकाले वस्तु यदाद्यन्तयोर्मध्यमास्ते यदि किं जाते अजाते उत्पन्ने वा स्थिते अस्थिते स्थित-स्थिते वा विनष्टे अविनष्टे विनश्यति वेति विकल्पनीयमर्थम् पूर्वोत्पन्नस्थानस्थितस्य तस्य सम्भव इत्यादिदोषः—तन्मध्ये मध्यं वेत्यादीति । तौ च पूर्वोत्तरकालौ तौ मध्यकाले न स्तः पूर्वकालस्य विनष्टत्वात्, उत्तरकालस्य अनुत्पन्नत्वात्, तयो-रभावे मध्यकालेऽपि न भवति तस्य पूर्वोत्तरकालापेक्षत्वेन तदभावे कथं मध्यकालो भवेत्, तदभावे च मध्यकालवर्तिनो वस्तु-नोऽभाव इत्याह—यावपि चेति । दृष्टान्तमाह—दग्धेन्धनज्वालावदिति यथाग्निज्वाला इन्धने तदपेक्षा यथा ज्वाला न भवति तद्विवक्षायां । तमेव व्याचष्टे—यथेन्धनापेक्षयेति । दार्ष्टान्तिकमाह—तथा पूर्वोत्तरेति । यदसत् पूर्वकाले उत्तरकाले च नास्ति तन्मध्यकालेऽप्यस्ति न सम्भाव्येतेत्याह—यदीति । इदमेव प्रमाणेन दर्शयति असदप्यवस्त्विति । मध्यकालवर्त्यभि-मतं वस्तु न सत् पूर्वोत्तरकालयोरसत्त्वात् यदि पूर्वोत्तरकालयोर्नास्ति तन्मध्येऽपि नास्ति यथा खपुष्पादि, तथा चेदमिति

अथोच्येत आदौ मध्ये, न चोत्पन्नमात्रे, कार्यं तस्योपनिष्ठपनात् प्रागसदेव, तदर्थं प्रवृत्तेः, न हि तदर्थित्वे सति तस्मिन्नुपपद्यते, तस्योपनिष्ठपनादुत्तरकालमस्ति, तदर्थमप्रवृत्तेः, न ह्यसति तस्मिंस्तदर्थी न प्रवर्तते, एतदसत्यम्, तदसत्त्वानिवृत्तेरसदेव स्यात् पुनरपि, तदादिमध्यान्तेष्वभूतत्वात् खपुष्पवदिति ।

अथोच्येतत्यादि, आदौ—आरम्भे, मध्ये—क्रियाकाले, न चोत्पन्नमात्रे—क्रियापरिसमाप्तौ, कार्यं—द्रव्यादि द्रव्यत्वादि-तस्योपनिष्ठपनात् प्रागसदेव, कस्मात्? आदौ मध्ये च तदर्थं प्रवृत्तेः, न हि तदर्थित्वे सति तस्मिन्नुपपद्यते, तस्योपनिष्ठपनादुत्तरकालमस्ति, कस्मात्? तदर्थमप्रवृत्तेः, उपरतक्रियत्वात्, न ह्यसति तस्मिंस्तदर्थी न प्रवर्तते, अत्र ब्रूमः—एतदसत्य तदसत्त्वानिवृत्तेरसदेव स्यात् पुनरपि, तदादिमध्यान्तेष्वभूतत्वात्, खपुष्पवदिति, एवं तावदनुत्पादादपि शून्याः सर्वभावाः ।

इतश्च नास्ति वस्तु सामग्रीदर्शनादपि, सामग्र्यां भावा दृश्यन्ते न प्रत्येकं स्वरूपेण, यच्च स्वरूपेण नास्ति तस्य सामग्र्यामपि कुतोऽस्तित्वम्? इह लोके यावती घट इति संज्ञा कपालसामग्र्यां पट इति संज्ञा तन्तुसामग्र्यां रूपमिति च संज्ञा तत्सन्तान तत्सामग्रीमात्रमेव, सामग्री च भावानां भावान्तरं प्रति व्यापारः, यथा तन्तूनां पटं प्रति व्यापारः, तत्र च सामग्र्यामेकैकोऽवयवो नावयवी सम्भवति, तच्छक्त्यभावात्, न तावद्धेतुप्रत्ययसामग्री, पृथग्भावेष्वदर्शनात्, नापि तत्स्वरूपपृथक्त्वम्, अप्रत्यक्षतः, अनुमीयतेऽपि च नास्तीति, तत्तासिध्य एव तदर्थप्रवृत्तेः, यच्च येषु नास्ति तेषु तदर्थी तदर्थं न प्रवर्तते घटपटवत्, न हि कुम्भः पटे नास्तीति मत्वा तदर्थिनां तदर्थं प्रवर्तनं पटे दृष्टम्, पटोऽपि वा कुम्भे नास्तीति मत्वा तदर्थिनां तदर्थं प्रवर्तनं कुम्भेऽपि दृष्टम् ।

(इतश्चेति) इतश्च नास्ति वस्तु सामग्रीदर्शनादपि, सामग्र्यां भावा दृश्यन्ते घटपटादयो न प्रत्येकं स्वरूपेण, यच्च स्वरूपेण नास्ति तस्य सामग्र्यामपि कुतोऽस्तित्वम्? सिकतावैकल्यतिस्थूपनयार्थो

भावः । ननु पूर्वोत्तरकालयोरुभयोरसत्त्वमभिप्रेतम्, तस्योपनिष्ठपनात् पूर्वकाले कार्यमसत्त्वात्तदुपनिष्ठपनादुत्तरकाले च तस्यासिद्ध्यपदर्शे—अथोच्येतेति । कस्मादित्यादौ भावदिति । आदिरिति क्रियारम्भकाले मध्ये—कार्यनिष्पत्तिक्रियाकाले च कार्योऽसत्, तस्योपनिष्ठपनप्रागसत् भावाभावेनैव तदानीं तदर्थिनां प्रवृत्तिसम्भवप्रतिदर्शनात् न हि तदानीं सत् विद्यमाने तदर्थिनां प्रवृत्तिसम्भवः स्यादिति कार्यमसदेव तदुपनिष्ठपनात् प्राक्काले [illegible] भावः । उत्पन्नमात्रे च कार्यक्रियापरिसमाप्तौ तु [illegible] तदानीं तदर्थिनां प्रवृत्तेरसम्भवात् न हि तदानीमसति घटे तदर्थी न प्रवर्तेत इति युज्यते [illegible], तस्मात् पूर्वोत्तरकालयोरसत्त्वम [illegible]—तस्योपनिष्ठपनादिति । अथादि वस्तुनः पूर्वे काले [illegible] मध्यकालेऽप्यन्ते [illegible] खपुष्पवत् तथापि न निवर्तते सर्वभावा अनुत्पादा- [illegible] एतदसत्यमिति । अथ [illegible] सामग्री कार्येऽपि न सर्वभावाः इत्याह—इतश्च नास्ति वस्त्विति । ननु [illegible] भावाः [illegible] दर्शनात्, किन्तु [illegible] प्रत्येकं नास्ति [illegible] इत्याह—सामग्र्यामिति । [illegible]—सिकतेति । सामग्र्यां भावा दृश्यन्ते [illegible]

भविष्यति, तद्यथा—घटोऽत्र नासीदित्यादि, घट इति संज्ञा कपालसामग्र्यां घट इति तदनुसारस्वरूपमिति तत्स्थाने—घटोत्पत्तिविनष्टरूपस्थाने, यथास्थानस्थत्वात् पतितभिन्नत्वादि मृदिति संस्थानं वा हेतुफलभिन्नावयवदर्शनमात्र सामग्रीमात्रमेवेति, का सामग्री ? उच्यते भावानां भावान्तरं प्रति व्यापार, तत्प्रदर्शनम्—यथा तन्तूनां पट प्रति व्यापारः, अवयविनोऽवयवत्वेन व्याप्तिनियमाभ्यां अवयवा एव तथावस्थिताः सामग्रीत्युच्यन्ते, अवयवसमैकत्वे तदभावात्, तत्र चैतदपि, इत्थम्भूतायाश्च सामग्र्या व्यपृथग्भावं तन्त्वाद्यवयवानामेकैकोऽवयवो नावयवी सम्भवति, तत्पृथक्त्वाभावात् प्रत्येकमसत्त्वे तत्समुदितावयवसत्त्वमिलितावयविनः सर्वथाऽप्यभाव एव स्यात्, तद्यथाऽऽह—न तावदित्यादि, हेतुफलसामग्री पृथगप्यनुपदर्शनात्—नास्ति हेतुषु—तन्तुषु पटो नास्ति, प्रत्यये—निमित्तकारणेषु तुरीवेमशलाकादिषु नास्ति तस्मादपि सामग्री तदन्तर्लीनत्वं, नापि तत्स्वरूपपृथक्त्वम् अप्रत्यक्षत्व इति, प्रत्यक्षेणैव हि प्रमाणेन तन्तुस्वरूपे तुर्यादिस्वरूपे वा पृथगनुपलभ्या सामग्री पटाख्या, अनुमीयतेऽपि च नासीति तत्साधिम्य च [त] तदर्थमनुपो-सन्निहितेष्वेव हेतुफलेषु तन्तुतुर्यादिषु पटार्थी पटो नासीति मत्वा तदर्थं प्रवर्तते, ततो नास्ति किञ्चित्।

घट घोऽत्र इति घट नास्ति येऽत्री घट इति वा घट इति वा स्थासिति वा कुशूलिति वा पृथुबुध्नेति वा प्रत्येका दृश्यन्ते ते लोके कपालसामग्र्यामेव भवन्ति न ततो व्यतिरिक्ता ... घट इति ... घट इति नामधेय तदनुसाराणां घट इति ... स्थासिति ... कुशूलिति ... पृथुबुध्नेति निमित्तभेदात् ... एव ... इति भावः। सामग्रीपदार्थमेव ... का सामग्रीति, भावान्तर पटादिक प्रति भावस्य तन्त्वादेर्विशिष्टावस्थारूपेण योऽयं व्यापारो—व्याप्तिनियमाभ्यां सैव सामग्रीत्वं। ... कथेति। एवं सामग्रीमात्रदर्शनप्राप्तावयवमात्रे प्रतिपादितेऽपि न ... सामग्रीस्वरूपं ... प्रतिपादयितुं सामग्रीस्वरूपं व्याचष्टे—अवयविन इति अवयविनोऽभिमतस्य पटादेरवयवा एव तन्त्वादयो विशिष्टरूपेण व्यवस्थिता सामग्रीत्युच्यन्त इति भावः। विशिष्टसंस्थानेन ... सामग्रीत्वात् ... नैव च प्रत्येकमवयवेषु अवयवसमुदायानां ... सामग्र्या ... स्यात्, न ततो व्यतिरिक्तोऽपि ... इत्थम्भूतायाश्चेति विशिष्टसंस्थानसमवस्थितानां ... तत्त्वमेवेति ... एकैकोऽवयवोऽवयवी ... हेतुफल—तत्पृथक्त्वाभावादिति ... प्रत्येकमिति। ... न तावदित्या-दीति हेतुफलेषु पृथगपि न तावत् सामग्रीति प्रदर्शनादित्यर्थः। व्याचष्टे—नास्ति हेतुष्विति ... कारणेषु सामग्री ... नास्ति प्रत्ययेषु—निमित्तकारणेषु तुरीवेमादिष्वपि नास्ति सामग्रीति भाव। हेतुफल-सामग्रीति ... सामग्र्या नासीत्यत्र नापीति हेतुफलसामग्र्या ... । ... हेतुफल-अप्रत्यक्षत्व इति ... । व्याचष्टे—प्रत्यक्षेणैव हीति। अनुमानादपि सामग्र्यभावमाह—अनुमीयतेऽपि चेति हेतुफलेषु नास्ति सामग्री तत्साधिम्य एव तदर्थमतो ... प्रयोगः। हेतुमाह—तत्साधिम्य इति, हेतुफलसन्निधान ... । हेतुं व्याचष्टे—सन्निहितेष्वेवेति। हेतुफलेषु यदि सामग्री स्यात् तर्हि तत्सन्निधाने सति पटार्थी तदर्थं न प्रवर्तेत, प्रवर्तते तु, तस्माद्धेतुषु पटो नासीति भावः। एव मेषु कारणसमवायिषु नास्ति तेषु तदर्थी तदर्थं न प्रवर्तते यथा घटे कारणसमवायिनि पटस्याभावात्, न हि पटार्थी पटाय घटे प्रवर्तेत इति प्रयम्, घटे वा कारणसमवायिनि ... पटार्थं घटे प्रवर्तेत इति ... वैधर्म्यं प्रदर्शयति—यथा

1 सि. क्ष. डे. व्याख्याता।

घटपटवत्—यथा घटे सन्निहितेऽपि पटार्थी पटो नास्तीति मत्वा तदर्थं [न हि] प्रवर्तते, पटे वा सन्निहिते पटार्थी घटार्थम्, एवं येषु नास्तीत्युपनयो गवार्थो यावत् कुम्भेऽपि दृष्टम्, नास्तीति वर्तते।

अत्राह—

ननु कुम्भस्य सिकताकणेषु प्रत्येकमदृष्टस्य दर्शनादिति, न सामग्रीतुल्यत्वात्, सामग्री हि साध्या तथैव तुल्यः कुम्भोऽपि, अस्माभिरपि दृष्टः स्यादित्येतत्साध्यते—अस्ति नास्ति वा सामग्रीति, तस्यैवोपन्यासात्तद्विपक्षाभिमत्याऽनैकान्तिकत्वचोदनं पाठमात्रमेतद् प्रत्येकमदृष्टस्य सिकतासु कुम्भस्य दर्शनमिति।

(नन्विति) ननु सिकताकणेषु प्रत्येकमदृष्टः कुम्भः सामग्र्यां दृष्ट इत्यनैकान्तिकदोषोद्भावन परः स्यात्—कुम्भस्य सिकताकणेषु प्रत्येकमदृष्टस्य दर्शनादिति [च] ब्रूमः—न, सामग्रीतुल्यत्वात्—नानैकान्तिकः प्रत्येकमसत्त्वात् समुदायेऽप्यसत्त्वमिति यस्मात् सामग्री साध्या तथैव तुल्यः कुम्भोऽपि विपक्षत्वाभिमतः साध्यत्वात् एव एव तस्यापि कुम्भपरिणामस्य समुदायत्वात्, तस्माद्विपक्षासिद्धेरनैकान्तिकत्वोद्भावनमसत् चास्मदुत्तरमिदम्, तद्व्याख्या—अस्माभिरपि दृष्टः सामग्र्युपलम्भेन सामग्र्या अभ्युपगम इति, तदेव स्यादपि प्रत्युत—न त्वेतत्साध्यते अस्ति नास्ति [वा] सामग्रीति, तस्यैवोपन्यासात्तद्विपक्षाभिमत्याऽनैकान्ति[क]त्वचोदन पाठमात्रमेतत् प्रत्येकमदृष्टस्य सिकतासु कुम्भस्य दर्शनमिति, एवं तावत् सामग्री नास्तीति प्रतिपादितम्।

अवयवास्तर्हि सन्तीति चेन्न, मा रूपादिभ्योऽवयविनश्चासत्त्वस्योक्तत्वात्, रूपादयोऽपि न स्वतो रूपादित्वं लभन्ते यस्मात् रूपादयस्तु रूपणादिनिरूपितविज्ञानसाराः तत्र रूपादीनां परस्परतः पृथक्त्वं हेतुत्वञ्च युक्तौ पृथगेव नापृथक्, तस्माच्च बहिरस्तित्वं जनयितुमर्हतस्ते हेत्वाद्यभावे सामग्र्यभावात्, सामग्र्यभावे च का द्रव्यता? इतरेतरदोषापत्तेरिति।

(अवयवा इति) अवयवास्तर्हि सन्तीति चेत्—साम्प्रत पटस्य सम्बन्धोऽवयवाः सन्तीति, तन्न,

यच्चेति। ननु नास्ति सामग्री प्रत्येकमसत्त्वात्, सिकतानेकान्तिकेति यदुक्तं तत्र हेतोरनैकान्तिकत्वमुद्भावयति–ननु कुम्भस्येति। भाष्यते–नन्विति। सिकताकणेषु हि कुम्भो दृष्टः प्रत्येकं सिकताकणेष्वसत्त्वपीति प्रत्येकमसत्त्वहेतोरनैकान्तिकत्वमिति भावः। कुम्भः सामग्र्यामसत्त्वेऽसिद्धेऽसिद्धं सामग्रीतुल्यत्वात् कुम्भस्य सामग्रीमात्रसाधनत्वं हि यदा निरूप्यते तदा सामग्रीविशेषस्य कुम्भस्य सत्त्वं मन्वानेनानैकान्तिकत्वमुद्भाव्यते तदानैकान्तिकत्वोद्भावनमाभास एव साध्यसमत्वात्तदुत्तरमिति समाधत्ते–सामग्रीतुल्यत्वादिति। नानैकान्तिक इति समुदायेऽप्यसत्, प्रत्येकमसत्त्वादिति साध्ये नानैकान्तिकमित्यर्थः। सामग्रीतुल्यतां स्फुटयति–यस्मादिति। समुदाये सत्त्वमिष्टम्, सामग्रीविशेषः कुम्भस्तत्र विपक्षत्वेन सामग्रीमात्रपक्षान्तर्गतत्वात्, एवं एवेति नास्ति विपक्षासिद्धिरिति अनैकान्तिकत्वचोदनाऽऽभासत्वादस्मदुत्तरमिदमिति भावः। विपक्षासिद्धिमेव स्फुटयति–अस्माभिरिति कुम्भोऽस्माभिरपि समुदायनिष्पन्नं सत्त्वं यदि दृष्टं भवेत् तर्हि समुदाये सामग्री सत्त्वं न वा वर्तत इति सत्त्वासत्त्वसाधनप्रयास एव किमर्थं तस्मात्पक्षान्तरं विपक्षमिति तदर्थं पक्षाभ्यां विपक्षतया तदोद्भाव्य प्रत्येकमसत्त्वेऽपि सिकतासमुदाये कुम्भस्य दर्शनमिति तद्‌चोदकं पाठमात्रमेव नानैकान्तिकत्वमत्र घटतीति भावः। निगमयति–एवं तावदिति। ननु मास्तु सामग्री तदवयवास्तु सन्तीति एव सर्वभावसत्ता कल्पनीयेत्याशङ्कते–अवयवास्तर्हीति। व्याख्याति–साम्प्रतमिति सामग्र्यामसत्त्व प्रत्याख्यातेऽपि तदवयवानामस्तित्वे विवाद एवेति न सामग्रीमात्रप्रत्याख्यानं भावः।

1 सि. क्ष. भा. ट. कुम्भवत्।

कस्मात् ? मा रूपादिभ्योऽवयविनश्चासत्त्वप्रसङ्गात्–यथा रूपादयोऽणुषु, अंशकबुद्धिषु बुद्धयः पश्यन्ति यस्मादि स्वावयवेषु न सन्तीत्यादि यावत् परमाणुशो विभागस्यावयवयभ्येव परमाणुविभागस्यातिरेकस्य सत्तिति चेत्, सोऽपि रूपरसगन्धस्पर्शभेदेनावयवस्येव, एवं तर्हि रूपादयोऽवयवा एव नावयविन इति चेत् तेऽपि न सन्तो रूपादिरर्थ्यन्ते, यस्मात्प्रत्यक्षस्तु रूपमिदमितिरूपविज्ञानस्याराः–रूपमेव इति रूप रसस्य इति रस इत्यादिविज्ञानेनैव निरूप्यन्ते रूपादयः तत्स्वरूपविज्ञानेन प्रकल्प्यन्ते, तत्र रूपादीनां परस्परतः पृथक्त्वं हेतुत्वञ्च बुद्धौ इतो संघटते, न तस्मात्तत्त्वतः स्वात्मनेव, तस्माद्बुद्धिरेवात्र [न]ञनतिद्धुरर्थेता वे हेतुरुपपद्यते, बुद्धिव्यतिरेकेण स्वरूपाभावात्, तदुपसंहरन्नाह–हेत्वाद्यभावे सामग्र्यभावात्–हेतुप्रत्ययस्वरूपपृथक्त्वानामभावे रूपादीनां क्व सामग्री ? सामग्र्यभावे क्व द्रव्यमेति ? द्रव्याभावे सर्वाभावप्रसिद्धिः, तस्माद्बुद्ध्युपकल्पितमवयवी सामग्री विद्यते अवयवा एव वा सन्तीति सिद्धान्तात्–इतरेतराश्रयदोषाच्च–अवयविसद्भावेऽवयवावयवत्वात् सिद्ध्यन्ति हेतुत्वाच्च तेषु चाऽवयवेषु सत्सु तदवयविसिद्धात् कार्यत्वादवयवी-सिद्धतीति तदिदमितरेतराश्रयत्वम् इतरेतराश्रयाणि च न प्रकल्पन्ते यथा–नौर्नौरिव बद्धा नेतरत्राणयति, एवं सामग्रीदर्शनादपि न सन्ति सर्वभावाः ।

इतश्च न सन्ति तथाऽदर्शनात्, सर्वथाऽप्ययुक्तयो दर्शनाद्यगृहीतस्वभावाः सन्तोऽर्थाः कल्पयितव्याः, तथापि न सन्ति तस्य दर्शनस्यासम्भवात्–तदपि च दर्शनं नास्त्येव यतो यावद् दृश्यं तावदारान्मध्यपरभागम् तत्र यथारम्भागो दृश्यते इति प्रत्यक्षमिष्यते परमध्यभागयोरदर्शनादप्रत्यक्षता तस्य किं नेष्यते ? तस्मादवदर्शनमेव वस्तुनः ।

(इतश्चेति) इतश्च न सन्ति तथाऽदर्शनात्–अदर्शनादपि तेनैव प्रकारेण न सन्ति, तत्र परमताऽऽशङ्का-

यन्तोऽपि तावत्तं यदि तदवयवोऽपि तावत्तं प्रतीतेऽर्थ भावपरमाणुत्वं सामग्रीतैव प्रोच्यतेऽस्य तथा तत्त्वादिसामग्र्यभावभविष्यतीति तत्प्रस्तावे–मा रूपादिभ्य इति अत्र मर्यादायां न तत्सिद्धौ रूपादेरवयवत्वमिति तदवयविरेकत्वात् तदैव प्रत्यक्षविशेषावयवः सिद्ध एवेति भावः । तदत्र तावत् भाष्ये–तथापेति । ननु रूपादीनां तावदवयवानां सिद्धेऽपि निरव-यवाः परमाणवः कल्पयन्त इत्याह्वेते–परमाणुरिति । परमाणोर्निरवयवत्वमिदम् रूपरसगन्धस्पर्शरूपपुरुषस्य स्वरूपापेक्षया-सोऽपीति परमाणुरपीत्यर्थः । एवं तर्हि रूपादीनामवयवत्वमिति साधितमाहुर्वे–एवं तर्हीति । रूपादिनामपि न सत्त्वेऽ-स्तित्वम् किन्तु विज्ञानेन रूपमात्रकल्पने रसनादिकतः प्रत्यक्षत्वात्प्रत्यक्षं तत्स्मात्तस्य सर्वं सिद्धं । रूपादयो विज्ञानेनैव निरूप्यन्तऽतो विज्ञानमात्राः रूपादिविज्ञानस्वरूपप्रत्यक्षत्वादिति व्याख्यातं–तेऽपीति रूपादयोऽपि न सन्तो रूपादिरर्थं कल्प्यन्ते किन्तु विज्ञानेनेति भावः । रूपमिति बुद्धौ रस इति बुद्धौ गन्ध इति बुद्धौ स्पर्शं इति बुद्धौ च प्रतिनियतस्वभावतया तदर्थैः यदि तेषां हेतुत्वम् भिन्नबुद्धिविभक्तत्वेन च तथा परस्परं भेदः तस्मादेव बुद्ध्यधीनस्वरूपत्वे बुद्धितत्त्व न तु बुद्ध्यन्तरस्य कार्यं तथा हेतुत्वं कार्यस्य सम्भवतीत्याह–यस्मात्तदुपपद्यत इति । तस्मादिति यस्माद्रूपादीनां हेतुत्वस्वरूपपृथक्त्वे विज्ञानात्मके तस्माद्वे रूपादीनां बुद्धिविषयत्वादिभिरस्यत्वम् बहिर्वर्तित्वं न सम्भवत इति भावः । रूपादीनां स्वरूपं बुद्धिरेव न ततो व्यतिरिक्तं तत्स्वरूपमित्याह–बुद्धिव्यतिरेकेणेति । एवं रूपादीनां हेतुत्वस्य स्वरूपस्य चाभावात् सामग्र्यपि नास्ति अतः द्रव्यतया सिद्धेऽपि नास्ति अवयवत्वमपि अवयव एव हेत्वाद्यभाव इति । भाष्ये–हेतुप्रत्ययेति । अवयविसिद्धौ तदवयवत्वस्यावयवत्वसिद्धिः स्यात्, अवयवसिद्धौ च तदवयविनस्तदवयविसिद्धिः अतोऽन्योन्याश्रयत्वमिति तदाह–इतरेतरेति । भाष्ये–भवत्यवीति । सामग्रीदर्शनमुपसंहरति–एवमिति । दर्शनमपि नास्ति तदाह–इतश्चेति । यत्र प्रत्यक्षमपि तं परमाणुं प्रत्यक्षत्वेन तदवयवभागद्वयमपि न दृश्यत इति भाव्यते । अदर्शना-

सर्वथाप्यनुपलम्भ इत्यादि—न सन्ति पुरुषो येषामर्थानामुपलम्भस्ते, यद्यपि पुरुषैर्नोपलभ्यन्ते प्रत्यक्षत उपलभ्यन्ते दृश्यन्ते दृश्यमानाश्च निराकर्तुं न शक्यन्ते, अतो दर्शनायोगृहीतसद्भावाः सन्तोऽर्थाः कल्पयितव्या इति, यदि कल्पयेरन् तथापि न सन्ति, तस्य दर्शनस्यासम्भवात्, तदाह—तदपि च दर्शनं नास्त्येव, कथं दर्शनं नास्ति? उच्यते—यतो यावदित्यादि—यावद् दृश्य तावत्, [आरम्भस्य] परभागम्, दृश्याभिमतस्य हि वस्तुन आराद्भाग एव दृश्यते न परमध्यभागौ दृश्येते, तेनावश्यमारान्मध्यपरभागैर्भवितव्यं वस्तुनः, तत्र यद्याराद्भागो दृश्यत इति मतमिष्यते परमध्यभागयोरदर्शनादप्रत्यक्षता तस्य किं नेष्यते? तस्माद् अदर्शनमेव वस्तुनः, न हि आराद्भागमेव वस्त्विति।

अथ मतमाराद्भागो नियमात् प्रत्यक्षतो गृह्यते परमध्यभागावप्यनुमानात् कालान्तरे च प्रत्यक्षतो गृह्येते इति, न तथापि त्रिभागत्वतुल्यत्वाददर्शनमेव सावयवत्वात् समस्तावयवस्यादर्शनवत् अथ मतं भागो दृश्यत इति परमाणवस्तर्हि गृह्यताम्, तेष्वदृश्यमानेषु निर्भागेषु भागवद् दृश्यत इति का कथा? भागान्तरादृश्यत्वात्, सिकतातैलवत् प्रत्येकं दर्शनाभावे तत्समुदायेऽपि दर्शनाभावात्, यदा च परमाणुर्न कस्यचिद् दृश्यस्तदा कुतः परमाणुसंघातो भागवान् दृश्यते? भागस्यति वा परमध्याग्रहणादगृह्यमाणे सर्वथा निर्विभागाः परमाणवो गृह्यन्ते? इति।

अथ मतमित्यादि, स्यादिदं ते मतिराराद्भागस्तावद्गृह्यते नियमात् प्रत्यक्षतः तथा मध्यपरभागावप्यनुमानात् कालान्तरे प्रत्यक्षतो गृह्येते, तस्मान्नादर्शनमेवेति, अत्र ब्रूमः—न तत्रापि त्रिभागत्वतुल्यत्वात्—आराद्भागेऽपि दृश्याभिमते त्रयो भागाः सम्भवन्त्येव आरान्मध्यपरभागरूपाः सावयवत्वात्, विभज्यमानं हि सावयवं त्रिधा व्यवतिष्ठते तदवस्थात्रापि परमध्यभागादर्शनम् त्रिभागतुल्यत्वात् समस्तावयवादर्शनवदिति, एवं तावत् सावयवस्य त्रिभागस्य दर्शनासम्भवः, अथ मतं भागो दृश्यत इति—यभिर्विभा-

दर्शीति। यद्यपि भावा पुरुषैर्न विज्ञायन्ते प्रत्यक्षतस्तथाप्युपलभ्यन्ते उपलभ्यमानाश्च प्रतिषेद्धुं न शक्याः तस्मात् सत्त्वेन निश्चेतव्याश्च भावा अनुपेक्ष्या एवेति कथं सत्त्वव्यवस्थापनमेव—तत्र परमताऽऽशङ्केति। एवं सत्यपि [illegible] परन्तु भावानां दर्शनमेव तावत् [illegible]—यदि कल्पयेदपीति। कथं दर्शनं न [illegible]—तदपि चेति। यद्दृश्यत्वेना-भिमतं तद् यावत्, आरान्मध्यपरभागम्, तत्र दृश्यत्वेनाभिमतं वस्तु [illegible] न पूर्वं गृह्यते [illegible] एव तस्य गृह्यते न तु मध्यपरभागौ [illegible], न आराद्भागमात्रमेव वस्तु [illegible] इति वस्तु न दृश्य-मित्य [illegible]—यावद् दृश्यमिति। [illegible] वस्तुन आह—तेनेति। तत्राराद्भागमात्रदर्शनेनैव यदि वस्तुनः प्रत्यक्षमिष्यते तर्हि [illegible] कुतो नेष्यते? [illegible] आराद्भागमात्रदर्शनस्य [illegible] पुरुषेत्याह—यत्र यदीति। [illegible] मध्यपरभागयोरनुमानात् कालान्तरे च प्रत्यक्ष इति वस्तुनो दृश्यं भावदर्शनमिति शङ्कते—अथ मतमिति। व्याचष्टे—स्यादिदमिति आराद्भागस्येत्य-[illegible] गृह्यमानं च [illegible] मध्यपरभागौ तु [illegible] कालान्तरे च प्रत्यक्षौ गृह्येते इति वस्तु-[illegible] भावः। [illegible] आराद्भागस्यापि [illegible] एव गृह्यते आराद्भागस्य [illegible]—न तथापीति [illegible]। व्याचष्टे आराद्भागेऽपीति [illegible] त्रिविभागाः तेषु [illegible] आराद्भाग एव दृश्यते न मध्यपरभागौ [illegible] भावः। एवं [illegible] निर्विभागत्वं [illegible] अथ मतमिति। व्याचष्टे—यदीति। न हि

गमात्रं भागः तन्मात्रं सूक्ष्म इति चेन्मन्यसे तदपि तेऽनिष्टमिव–परमाण्वर्वाङ् सूक्ष्मताम्, न हि परमाण्वोऽतीन्द्रियाः सन्तः कस्यचिद् दृश्या इतीष्टाः, तेष्वदृश्यमानेषु निर्भागेषु भागवद् दृश्यत इति का कथा ! भागस्यादृश्यत्वात्, सिकतातैलवत् प्रत्येक दर्शनाभावे तत्समुदायेऽपि दर्शनाभावात्, भागवति च परमाणुसंघाते परमप्यभागमदृश्यमसूक्ष्ममापे तदसौ निर्भागपरमाणुर्दृश्यत इति का कथा इत्यदर्शनमात्रत्वि दर्शनम् असामर्थ्यदर्शनस्य व्याख्या–यदा च परमाणुरित्यादि यदीष्यन्त इति गतार्थम्, कुत इत्यनुवर्तमानम् ।

रूपदर्शनव्यवहारस्तर्हि कथमसति रूपे सम्भवतीति चेदुच्यते, ननु व्यवहारो विज्ञानोत्थापित एव, विज्ञानमात्रत्वमपि बाह्येऽर्थे तथा तथा विपरिवर्तमानं बाह्यार्थवदवभासते, वस्तुत्वात् स्वप्नवत्, तथापि आप्रतीतोऽर्थः कारणमिति चेत्तत्र च तत्र च विज्ञानमेव कारणम् स्वप्नजागरणकारणेन विज्ञानेनैवोत्थापितोऽर्थोऽयं इति प्रतिपत्तुं शक्यो नान्यथा, यदि बाह्यविज्ञानोऽर्थः कश्चिदस्ति स दर्शयितव्यः त्वया मया पुनः शक्यतेऽर्थेन बाह्येन विज्ञानमेवार्थ इति दर्शयितुम्, तद्यथा–स्वप्ने स्वनर्थक विज्ञानमेवार्थ इति ।

(रूपेति) रूपदर्शनव्यवहारस्तर्हि कथमसति रूपे सम्भवतीति चेदुच्यते ननु व्यवहारो विज्ञानोत्थापित एव विज्ञानमा[त्र]त्वमपि बाह्येऽर्थे तेन तेनाकारेण विपरिवर्तमानम[र्था]न्तरे च बाह्यार्थवद[व]भासते वस्तुत्वात्–विज्ञानत्वात्, किमिव ? स्वप्नवत्–स्वप्न इव स्वप्नवत्, यथा सुप्तः 'संवृतेऽवकाशेऽप्यसम्प्रवितं हस्तियूथपर्वताद्याकारं पश्यत्यसन्तमेव हस्तियूथादिबाह्येऽर्थे तथाप्यन्तर्विज्ञानपरिणामादेवं ग्रामदेशनगरादिविज्ञानान्यन्तर्वर्तिबहिरर्थाभासानि, न कश्चिदपि ततिरिक्तोऽर्थ इति, यथोक्तं 'यो ह्यया

विभिन्नाभो यथा परमाणुरुच्यते यदि निर्विभागत्वस्य प्रकाशतेऽप्यते तदा परमाणोर्निरवयवत्वाः स च नेष्ट इत्यपरमाणव इति । एवं परमाणोरतीन्द्रियत्वेनाग्रहणत्वात् तत्समुदायस्य नाप्यर्थः प्रत्यक्षता न स्यादेव, एतस्यार्थस्य ततस्य त्वमुदायस्यादर्शनादिस्य–नहीति । भागस्य त्वेत्याह–भागस्यत्वेति तत्प्रतिभागपरमाणुरदृश्यत्वे च परमाणोरपि परमाणुत्वेनादृश्यत्वात् । निदर्शनमाह–सिकतेति प्रत्येकं सिकतासु तैलदर्शने सिकतासमुदायेऽपि तद्दर्शनं न भवति, भागवतो परमाणुसमुदायस्य दर्शनमस्ति भाव । भागवति चेति भागिनः परमाणुसमुदायस्य भागदर्शने तदा तदवयवा परमाणुसमुदाये किन्तु स्यात् भागिनो दर्शने भागपरमाणुसमुदायत्वादिति भाव । भागानामदृश्ये भागिनोऽदर्शनम्, भागिनोऽदर्शने कुतः भागस्यापि दर्शनमिष्यते भागत्वेनाह–असामर्थ्यदर्शनस्येति । एवं सर्वमाह दर्श वस्तु भावस्तुत्वम्, एवं रूपस्याभावे दर्शनस्यापि रूपदर्शनव्यवहाराभावात् रूपदर्शनव्यवहारे लोके परिदृश्यमाने कथं ताविच्चाशङ्कते–रूपदर्शनेति । भावते रूपेति । लोकव्यवहारे विज्ञानमात्रोत्थापिते न बाह्यवस्तुभिरन्यत्र एतदुत्तरमाह–भवत्विति, अन्तर्विज्ञानोत्थापितः सर्वो व्यवहारः अन्तर्विज्ञानमेवार्थ सर्वो बाह्यार्थनिरपेक्षो बाह्यवस्तुभाववत् प्रतिभासमानमन्तर्बहिरर्थेभ्योऽपि विज्ञानमेवेति इत्यत्रस्य प्रतिभासान्तरं स्वप्ने यथा विज्ञानमर्थाभासमपि स्वप्नविज्ञानमुत्पन्नं बहिरर्थाभावात् च विज्ञानमन्तरिव वस्तुत्वात्सैव वस्तुत्वमिति भाव । तत्र दृष्टान्तमाह–स्वप्नवदिति । दृष्टान्तं प्रकाशयति–यथा सुप्त इति अन्तर्विज्ञानपरिणामात्स्वप्न सुप्तस्य दृश्यमाने हस्त्यादिरूपाणि हस्तियूथपर्वतादीने बाह्यवस्तुसमानरूपोऽपि यद्यपि तथैव ग्रामनगरादयोऽपि दृश्यविज्ञानानि अन्तर्बहिरर्थाभासान्येव, न ततोऽतिरिक्तो बाह्योऽर्थः कश्चिदस्तीति भाव । सर्वेषामन्तर्विज्ञानस्य धर्मो बाह्यार्थनिरपेक्षत्वमवगम्यमानस्य बाह्यार्थवं वचनमाह यो ह्ययेति एते सर्वेऽन्तःकरणस्य भावा प्रतिबिम्बाः बहिरवभासिता अन्तरवभासितस्यैव बहिरवभास-

1 लि. इ. ब. द. तदुप । 2 लि. ब. डा रे. व्यवस्थापय ।

यावुद्रकाशं सागरः सरितो दिशः। अन्धाकारस्तस्यस्य मार्गं बहिरिव स्थिताः' ॥ (वाक्य० कां० १ श्लो० ४१) इति, तत्रापि बाह्यगृहीतोऽर्थः कारणमिति चेत् स्वप्ने हि दृष्टश्रुतानुभूतपरिकल्पितसुखदुःखादिरूपरसाद्याकारेणैव विज्ञानमुत्पद्यते नासत्त्वानुपलब्धरूपाद्याकारम्, तस्माद् बाह्यार्थमेव कारणमिति चेन्मन्यसे, अत्र वयं ब्रूमः, तत्र च तत्र च विज्ञानमेव कारणम्, स्वप्नजागरणकारणेन विज्ञानेनैवोत्थापितोऽर्थोऽर्थ इति शक्यते प्रतिपत्तुम्, नान्यथा, विज्ञानेनाविनाभावित्वस्यार्थस्य जागरणेऽपि स्वरूपाभावादनुपलम्भे कुतः पुनः सत्यकारणत्वम्? तत आह—यदि वाऽविज्ञानोऽर्थः कश्चिदस्ति स दर्श्यतां त्वया—ज्ञानेन[।] प्रकल्पितो न शक्यो दर्शयितुमर्थ इत्यभिप्रायः, मया पुनः शक्यतेऽर्थेन याथेन [विना] विज्ञानमेवार्थ इति, तद्यथा स्वप्ने त्वनर्थकं विज्ञानमेवार्थं इति दर्श्यते, तस्मात् स्वप्नजागरावस्थयोरप्यव्यभिचारिविज्ञानमेवार्थ इति न्याय्या कल्पना ।

अत्र नये कः शब्दार्थः ? ब्रूम –

अत्र च विज्ञानं शब्दार्थः, विज्ञानमेव हि शब्दो विज्ञानोत्थापितो रूपरसादिघटपटादिबाह्यो वाच्यो विज्ञानमेव, एवं तर्हि प्रमाणप्रमाणाभासाविशेष इति चेदिष्यत एतत्, तच्च विज्ञानं कल्पना, अनियतदेशकालाकारनिमित्तनैमित्तिकत्वात् सुप्तसंनिरुद्धादिविज्ञानवत्, पुरुषस्तु संहृतिर्वाक्यार्थः ।

(अत्र चेति) अत्र च विज्ञानं शब्दार्थः, विज्ञानमेव हि शब्दो वाचकाभिमतो विज्ञानोत्थापितः तदुपलभ्योऽपि रूपरसादिघटपटादिबाह्यो वाच्यो विज्ञानमेव यथोक्तं 'विज्ञप्तिमात्रमेवेदं भो जिन

याऽन्य इति भावः। ननु स्वप्ने रसादीनां तदाकारकाः ज्ञानस्य जाग्रदवस्थायां योऽर्थो गृहीतो भवेत्तदन्यथा तस्य बाह्यविज्ञानमात्रकोऽस्तु कारणम्, अन्यथाऽननुभूतानां कर्मकरादीनामनन्तानामुपलब्धतां च द्वितीयानन्तमानपात्रानामपि कुतो नावभासः स्यात् स्वप्नदशायामपीति, तदीयविज्ञानावभासोऽपीत्यर्थः। व्याचष्टे—स्वप्ने हीति, जाग्रदवस्थायां दृष्टाः श्रुता अनुभूता परिकल्पिता वा ये सुखदुःखादयस्तदाकारेणैव विज्ञानं स्वप्न उदयतीति भावः। अत्र जाग्रति वा स्वप्ने कारणेनैव विज्ञानेनोत्थापितोऽर्थ एव प्रतिभासते न तु स्वप्ने ज्ञाने जागरणविज्ञानमिव कारणमित्याह—तत्र च तत्र चेति, स्वप्ने च जागरणे चेत्यर्थः। ननु जागरणेऽपि विज्ञानेनार्थस्याविनाभावाभावेऽपि तद्व्यतिरिक्तत्वस्यार्थस्यार्थसाहश्यमस्तु कारणत्वं तस्य कुत इत्यत्र आह—विज्ञानेनेति। विज्ञानव्यतिरिक्तस्यार्थस्यानुपलब्धत्वा त्वया तस्यासत्त्वं प्रदर्शितं विज्ञानव्यतिरेकेण हेतुना। यदा तु त्वन्मते हेतुरेवेति किन्तु विज्ञानमेव निरूप्योऽर्थः, तदा सोऽर्थो विज्ञानव्यतिरिक्तः कथं भवेत्, यथा तु विपरीतभूतार्थव्यतिरेकस्यापि विज्ञानमेवार्थ इति निरूपयितुं शक्यते तस्माद्विज्ञानमेव सर्वत्रास्त्वर्थः, अर्थस्तु विज्ञानपरतन्त्रत्वाद्विज्ञानमेव नातिरिक्त इत्याशयेनाह—यदि वाऽस्ति नास्ति विज्ञानं यस्य एवंभूतोऽर्थः। अविज्ञानोऽर्थः। इत्थं निरूपयितुं शक्यत इत्येतदाह—स्वप्न इत्यादि। उपसंहरति—तस्मादिति विज्ञानमात्रवस्तुवादिमते विज्ञानमेव शब्दार्थो नान्य इत्यभिप्रायेण पृच्छति—अत्र चेति विज्ञानमात्रवस्तुवादिपक्षस्य इत्यर्थः। वाचकः शब्दो विज्ञानरूप एव वाच्योऽपि विज्ञानमेव रूपरसादीनां घटपटादीनां च बाह्यवस्तूनां विज्ञानस्यैव परिणामित्वात् विज्ञानव्यतिरिक्तस्याभावादित्याह—विज्ञानमेव हीति। विज्ञानमात्रमेवेदं सर्वमित्यत्र युक्तवचनं विंशतिकाया प्रमाणयति विज्ञप्तिमात्रमेवेदमिति। यदुक्तमेवेति विज्ञानं विज्ञानस्वरूपस्य नास्ति भावान्तरं विज्ञानमात्रे विषयाकारोऽर्थो नान्य तस्माद्विज्ञाने बाह्यविषयो विषयस्य स्थापितो भवत न एव बहिर्विषयान्तरं अर्थं विज्ञप्ति यथा बहिर्देव तथाऽवभासत अर्थ विज्ञानस्वरूपस्य तथात विज्ञानस्यैवाविद्यावशात्, इदं हि विज्ञानमर्थविषयत्वं भवति, अन्तर्भिन्नमेव बाह्यम् इति पर्यक-

---

१ शि भ प. दे. कथं अध्यवसायमेव वि ।

पुत्र ! यदिदं त्रैधातुकम्' (बुद्धवचनम्) इत्यादि, 'यदन्तर्ज्ञेयरूपं [तु] बहिर्वदवभासते । सोऽर्थो विज्ञानरूपत्वात् तत्प्रत्ययतयाऽपि च' (आलम्बन ६) इत्यादि, एव तर्हि प्रमाणप्रमाणाभासाविशेष इति चेदिष्यत एव, यस्मादुक्तं विज्ञान कल्पना—कल्पनामात्रमेव, अनियतदेशकालाकारमिमित्तनैमित्तिकत्वात्, प्रमाणाभिमतविज्ञानस्यापि मृगतृष्णिकादिविज्ञानवदप्रामाण्यात् एष पदार्थः, वाक्यार्थस्तर्हि कः ? इत्यत्र—पुरुषानुसंहृतिः वाक्यार्थः—विज्ञानस्यैव पौर्वापर्याभासविज्ञानानुसंहारेण सम्यग्विज्ञानं वाक्यार्थमिति ।

अथवा विकल्प एवम्भूतैकदेशः, तस्य च पर्यायास्तिकमेदत्वात्, परि समन्तादवगमः नैःस्वाभाव्यात् परिशेषोऽवगमः, सोऽस्यास्तीति मतिरस्य पर्यायास्तिकोऽयं नयः, स च भाव-भावोऽपि भाव एव साकारोऽनाकारो वा प्रमाणप्रमाणाभासाविविक्तसशून्यः, ग्रन्थग्रन्थैव पदेष्वपि मुर्गेति, तस्या विचारे यस्मत्यये ग्रन्थमिति, ग्रन्थमेवार्थो ग्रन्थार्थः, स पुनस्तथागता-गम्याख्यातो यथादर्शनं पर्यायार्थ एव स बहुविकल्पोऽपि, तथागतेः ।

(अथवेति) अथवा विकल्प एवम्भूतैकदेशः—अथवा विकल्पस्यैवम्भूतस्यैकदेशोऽयं नयः तस्य च—एवम्भूतस्य पर्यायास्तिकमेदत्वात्, अवयवार्थो गमयितव्यः पर्यायास्तिक इत्यत आह—परि समन्तादवगमः,—परिरुपसर्गः समन्तादर्थे अवतिर्धातुरवगमार्थः यथाह—'अव रक्षणगतिकान्तिप्रीतितृप्त्यवगमनप्रवेशश्रवण-स्वाम्यर्थयाचनक्रियेच्छादीप्त्यवाप्त्यालिङ्गनहिंसादहनभाववृद्धिषु' (धातुपाठ भ्वादिगण ६ १) अत्राव-गमस्य विवक्षितत्वात् नैःस्वाभाव्यात् परिशेषोऽवगमः—यदीदृशमाणस्य बाह्यार्थस्य विज्ञानव्यतिरिक्तस्य सर्वथा-ऽतिरिक्तस्याभावाद् अवगममात्रं विज्ञानमात्रमेवेत्यर्थः, सोऽस्यास्तीति मतिरस्येति—स पर्यायो अस्यास्तीति मतिः

पुरुष भवति विज्ञानं [illegible] विज्ञानमात्रमेवेति भावार्थः । बाह्यार्थस्तु [illegible] यदि न विज्ञानं तर्हि [illegible] विज्ञानसाधि[illegible]व्यतिरिक्त[illegible]—एवं तर्हीति । [illegible] विज्ञानमिदं कल्पनामात्रमेव विज्ञाने बाह्यनिरपेक्षे नियमेन स्थापिते हि एवं [illegible] [illegible] कल्पनामात्रमेव विज्ञाने हि [illegible] निरुपमा [illegible] [illegible], [illegible] भाव । एवं [illegible] [illegible] पुरुषानुसंहृतिरिति, [illegible] पौर्वापर्येण [illegible] [illegible] वाक्यार्थः [illegible] [illegible] इति भाव । [illegible] अथवेति । [illegible] [illegible] [illegible] परीति, परिशब्द समन्तादर्थे [illegible] इति भाव । [illegible] [illegible] नैःस्वाभाव्यादिति [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] इति [illegible] इति भाव । [illegible]

1 सि० प० क० डे० । [illegible] । 2 [illegible]

स नयः, पर्ययोऽयीतः पद्मकारोऽपि, 'अस्तिनास्तिदिष्टं मतिः' (पाणि० अ० ४ पा० ४ सू० ६०) इत्यिठञ्प्रत्ययान्तरूपसिद्धेः, पर्यय एवास्तीति मन्यमानः पर्यायास्तिकोऽयं नयः, स च भाव –अर्थः शब्दो वा, वाच्य[वाचक]मिमतं विज्ञानरूपमेव वस्तिक्ययत आह–भावोऽपि भाव एव–भवतीति भावो घटपटादि द्रव्यगुणकर्मादि वा इति भावनीयेति भाव एव उपयोगो भावो न द्रव्यादीति, स च भावः क्षायिकः क्षायोपशमिक औपशमिकः पारिणामिको वा, स चोपयोग एव साकारोऽनाकारो वा समाप्यसमाप्यमानस्य निर्विकल्पशून्या, तस्मात् पर्यायास्तिकनयभेद एवम्भूतैकदेशोऽयमविशुद्धविज्ञानपर्यायमात्रग्राही नयोऽयमिति, यथा निक्षेपविविक्तस्येष्वाद्येषु पदेषु द्रव्यास्तिकेषु पर्ययशब्दो द्रव्यप्राधान्यात् तदर्थत्वेन व्याख्यातः तथेहाप्यारब्धेष्वेषूभयोभयनिक्षेपेषु द्रव्यशब्दः पर्ययप्राधान्यात्तदर्थत्वेन गमयितव्यः अत आह– द्रव्यशब्दश्चैव पदेष्वपीत्यादि, दुर्गतिरिति, दु द्रु गतौ द्रुशब्दो गत्यर्थः तस्मात्–गतेर्विकारे यत्प्रत्यये कृते द्रव्यमिति रूपं भवति, द्रव्यमेवार्थो द्रव्यार्थः, स पुनस्तथा तथा–तेन तेन प्रकारेणातीतोभयोभयादिविकल्पेषु नयेषु प्राग् व्याख्याताः यथायद् दर्शन–यथादर्शनं तेषां पण्णां स्वेन स्वेन दर्शनेन पर्यायार्थ एव स षड्विकल्पोऽपि, तथागतेः–तथा तथा परितो गमनात् ।

किमेतत् स्वाभिप्रायविरचमात्रम् ? आहोस्विदस्य दर्शनस्योपनिबन्धनमार्षमप्यस्तीत्यतोऽभ्यधे भवतीयम्—

निबन्धनमस्य 'से किं तं भावक्खंधे ? २ दुविहे पण्णत्ते तं जहा–आगमतो अ, नो आगमतो अ, से किं तं आगमतो भावक्खंधे ? २ जाणये उवउत्ते सेत्तं आगमतो भावक्खंधे' (अनु० सू० ५४–५९) इति, आगमभावस्कन्धादेरुपयोगलक्षणस्य विज्ञानस्वरूपमात्रत्वात् सर्वमुपयोग एव, अयं नियमस्यापि क्षणिकवादस्य नियमः, यदपि क्षणिकं वस्तु विज्ञानमेवेति नियमानियमभङ्गे द्रष्टव्यः ।

पर्यया इत्याह–पर्यय इति । स पर्ययो भाव एव सर्वोऽपुनरत इत्याह–स चेति । एतदेवाभिमतं भावमाह–अर्थ इति शब्दो वा भवन्तौ वा सर्वं विज्ञानलक्षणमेव तदेव विज्ञानं वाचकमपि वाच्यमपीति भावः । भावोऽपीति पर्ययशब्दवाच्याभिमतोऽपि भावो भवतीति भाव इति व्युत्पत्त्या न घटपटादिर्द्रव्यादिर्वा विवक्षितः किन्तु भाव एव–उपयोग एव भाव इति भावः । तमेवभावमेवाह–स च भाव इति । स चोपयोग एवेति विज्ञानरूप उपयोग एव साकारो वा निराकारो वा सन् किन्तु समाप्यसमाप्यमानस्वरूपोऽयमभिमतस्तस्मो विकल्प एवेति भावः । अन्यानिक्षेपमत्स्यविशुद्धविज्ञानमात्रानुगमात्तदयं नयः पर्यायास्तिकनयभेदैकदेशीयत्वेन उच्यत इत्याह–तस्मादिति । यथा पाश्चात्यदर्शनेष्वाद्ये षष्ठी निक्षेपादिनयानामपि पर्ययार्थिकत्वत्वानुसृत्या पर्ययशब्दस्य द्रव्यपरत्वं व्याख्यातं तथैवोभयोभयादिनयानामपि द्रव्यार्थिकत्वेन द्रव्यशब्दस्य पर्यायपरत्वमुपपाद्य व्याख्यमित्याह–यथेति । द्रव्यशब्दस्य पर्यायार्थता दर्शयति–द्रव्यशब्दश्चैव इति, पर्यायार्थिकनयस्तु प्रयुक्तद्रव्यार्थिकनयसम्मतस्वरूपलक्षणमेवेच्छति द्रव्यशब्दार्थमाह पतिनिरुद्धः विकाराश्च पर्याया एव उभयोभयादिनयेषूक्ताः तत्तद्दर्शनानुसारेण व्याख्याताश्च तत्र तत्र व्याख्यातम्, तेन तेन प्रकारेण गमनादिति भावः । विज्ञानमात्रप्रतिपादकमेतन्मतं केवलं स्वाभिप्रायमात्रकल्पितं न भवति अत्र मूलसूत्रमाप्तवचनमप्यस्तीत्याह–निबन्धनमस्येति । अयमत्र भावस्कन्ध

(नियमनमिति) नियम्यतमस्य 'से किं तं भावज्झयणे इति प्रश्नोपक्रमो प्रश्नो यावत् 'सेत्तं आगमओ भावज्झयणे (अनु० सू० ५४-५५) इति व्याकरणोपसंहारः आगमभावाध्ययनसोपयोगाध्ययनस्य विज्ञानस्वरूपमात्रत्वा[दा]विर्भावरूपमावश्यकं सामायिकमध्ययन-नामादिनिक्षेपानुक्रमेणाधिगमनीयं यत्किञ्चित् तत्सर्वमागमतः उपयोग एव—ज्ञानमेवेत्यर्थः, अथ नियमस्यापि क्षणिकवादस्य—क्षणिकमेव वस्तु इत्यस्यापि दर्शनस्य नियमः—यदपि क्षणिकं वस्तु विज्ञानमेव—न रूपादि तद्व्यतिरिक्तं बाह्यमस्ति किं तर्हि ? विज्ञानस्य विपरिणामविजृम्भितमात्रमेवेति, नियमनियमभङ्गो नामाऽऽरको विधिभङ्गादारभ्य गण्यमानो द्वादशो भङ्गः ।

द्वादशारनयचक्रस्य श्रीमन्मल्लवादिकृतस्य टीकायां श्रीमत्सिंहसूरि
गणिविरचितायां समाप्तः ॥

उपयोग उच्यते स च विज्ञानमात्रस्वरूप एवेत्यतः आगमभावाध्ययनमेवेति । भावरूपाद्वैतमिति... विज्ञानरूपत्वात् आविर्भावादिति । एवमागमस्य उपयोग एवेति योऽर्थं नियमोऽत्र क्रियते स नियमस्यापि—क्षणिकवादस्यापि भवति क्षणिकवस्तुवादाभिमतं क्षणिकं वस्त्वपि विज्ञानमेव न ततो व्यतिरिक्तं रूपादीति दर्शयति—अयं नियमस्यापीति । तस्मादयं—नियमनियमभङ्ग इति ।

इति विजयलब्धिसूरिविरचिते विषमपदविवेचने नयचक्रस्य द्वादशो
नियमनियमभङ्गः समाप्तः ॥

---

१ सि भ पा डे °स्यात्वं मि° । २ सि भ पा डे °मवमाने ।

अथ द्वादशभङ्गस्यान्तरम्

विध्यादिसर्वभङ्गात्मकैकश्रुतिसम्यग्दर्शनाधिकारे मतैकश्रुतिमिथ्यादर्शनत्वापादनार्थं प्रवृत्तत्वादाह—

एतदपि पूर्ववदेवैकान्तत्वादयुक्तम्, सम्भवविकल्पानुपपत्तेः, एवं सर्वं निःस्वभावमित्येवं ब्रुवतस्तव विज्ञानवचसोरपि सर्वान्तःपातित्वाभिःस्वभावत्वेऽप्रत्यायनप्रसङ्गात् परप्रत्यायनमयुक्तम्, विज्ञानवचसोर्निश्चितपक्षादित्वेनाभूतत्वादुन्मत्तप्रलापविज्ञानवत्, अथ मा भूदेष दोष इति सस्वभावे विज्ञानवचसी अभ्युपगच्छसि ज्ञानवचनस्वभावस्याभ्युपगमेनाभ्युपगमविरोधः, इदानीं सस्वभावस्याभ्युपगमादिति स्ववचनविरोधश्च ।

(एतदपीति) एतदपि पूर्ववदेवैकान्तत्वादयुक्तम्—यथा क्षणिकमेव रूपादिसमुदाय एव सामान्यविशेषै[कत्वा]न्यत्वादीनीमेऽन्यथावादानामयुक्तत्वमेकान्तत्वात्, युक्तत्वे वा जैनेन्द्रत्वम्, अनेकान्तप्रतिज्ञाभित्वादेत्युक्तम्, एवंसदपि सर्वं निःस्वभावमिति मतम्, कस्मात् ? सम्भवविकल्पानुपपत्तेः—अस्मिन्नपि मते ये विकल्पाः सम्भवन्ति समासेन विज्ञानवचसोः निःस्वाभाव्य स्वाभाव्य येऽनयोरेव भेदा वक्ष्यमाणास्ते सर्वथा नोपपद्यन्ते, तदनुपपत्तेरस्यापि मतस्यायुक्तिरेवो जिनकल्पितानेकान्तरूपस्य वस्तुनः भव इत्युपसंहारो भविष्यति, तद्यथा एवं सर्वं निःस्वभावमिति ब्रुवतोऽवीतासिद्धादिप्रकारेण तवेति मत्पुत्राण प्रथमैकंग्रन्थात् द्वितीयेऽपक्षम्याद्विज्ञानवचसोरपि स्वयोक्तयोः सर्वान्तःपातित्वादविशेषेण सर्वं

ननु विध्यादिविधिकल्पनाद्यभिनैकश्रुतिः सम्यग्दर्शनं मतेकमात्रश्रुतिस्तु मिथ्यादर्शनम्, तस्माद्विधमनियमभङ्गस्यापि मिथ्यादर्शनत्वापादनमयो द्रव्यार्थनयाश्रयं तदापादयितुमुपक्रमते—एतदपीति एतदपि एतत्तावत् निःस्वभावमिदं सर्वमित्युक्तवादस्य समस्तानुपपत्तिभिन्नत्वात् युक्तोऽस्मदाभिमतिरिति मतमपीत्यर्थः । अपिशब्दसमुच्चितं दर्शयति—यथा क्षणिकमेवेति, नियमेऽस्य एकत्वे क्षणे क्षणेऽस्यन्तमित्यमपास्याकारधर्मैरेवपरमाणवः उदयन्ते नियमविधायुक्तादादिभिरपेक्षं स्वरसतस्तन्त्वविधिका विधिविशेषरूपतामाने वस्तु, नियमतो मतमे सामान्यविशेषयोरन्यान्यतोऽभयस्यानुस्वरूपस्थितेऽभवप्रधानोपसर्जनभावाभावात्सरूपं वस्तु, एतमेवाह यथाऽयुक्तः एकान्तत्वात्तथा विज्ञानमात्रमेवेदं त्रिभुवनं द्वैतपक्षे वा न बाह्यं रूपादिवस्तु सर्वं शून्यमिति नैयायिकादिवादा अपि नियमविधानतोऽयुक्ता एकान्तत्वादिति भावः । एतेषां वादानां युक्तत्वे यदि वादानामेषां वस्तुपादुभूतत्वात्जिनेन्द्रीयत्वं स्यात् अनेकान्तप्रतिज्ञाया उपयोगादित्याह—युक्तत्वे वेति सर्वेषामेव तत्र तत्र नयेषु योजितत्वादिति भावः । एवं निःस्वभावमिदं सर्वमिति नियमनिस्वभावमप्ययुक्तमित्याह—तद्वदिति । हेतुमाह—सम्भवेति सम्भविनो ये विकल्पाः तेषामनुपपत्तेरित्यर्थः सर्वमिदं निःस्वभावमिति विज्ञानं निःस्वभावं वचनं वा सर्वमिदं निःस्वभावमिति वचनं निःस्वभावं ससभावं वेति विज्ञानवचसोः भेदौ द्वौ द्वौ विकल्पौ तत्रान्यतरेण स्वपक्षस्योपेक्षणीयमत्र वक्ष्यमाणा विकल्पाः नोपपद्यन्त इति मतस्यास्यायुक्तत्वमिति भावः । तस्मादयुक्तत्वे जिनोक्तं वस्तु स्यादित्याह—अतो जिनकल्पितमिति । एतन्मतस्यायुक्तितामाविर्भावयति—तद्यथेति । प्रथमे पक्षे ग्रन्थादिति एवं सर्वं निःस्वभावमित्यत्र प्रथमे पक्षे नित्यादिप्रकारेण सर्वं वस्तु निस्वभावमिति विज्ञानं प्रतिपादये द्वितीयेऽपक्षम्यादेवं सर्वं निःस्वभावमित्युक्ते तव सर्वान्तःपातित्वेन विज्ञानवचसोरपि सर्वान्तःपातित्वात् सर्वं निःस्वभावमिति वचनस्य

1 सि. क्ष. छा. मत । 2 सि. क्ष. छा. त्वो । 3 सि क्ष इत्यादि सं ।

सतो विज्ञानरूपतामिति त्वयैवाभ्युपग[त]मसिद्धतामिहेतुमिवापर्नैः सामान्यमापाद्य विज्ञानमात्रमेवेद सर्वं सत्यासिद्धमिवत् जागरसिद्धदर्शनपुत्रजन्मादिमयदर्शस्वप्नसुखादि विज्ञानमपीत्वतः सर्वस्य विज्ञानरूपस्यैव सत्त्वात् तस्य च सर्वत्वात् सर्वमिदं चेत् विज्ञानमात्रं स च पुरुष एव ॥ अन्यथाप्रवमतीतानागतमपि भवमपि वर्तमानमेव, स्तिमितसलिलसिक्तपुष्पुष्पापवत्स्वात् सुप्त[सुप्त]जागरितसुखदुःखादिमात्रमेवमभिमतमेवाचीत्सम्भुपगतं भवति, यथोक्तं विधिविधिविनियारम्भे प्राक् पुरुष एवेद सर्वमित्यादि, एवत् पुरुषसूक्तं व्याख्यातं तत्रैवेति न पुनर्विविच्यते, अत्राह—ननु विज्ञानरूपेणोऽन्तेषामात्रमुच्यते, नार्थत्वं विज्ञानस्य, जागरसिद्धदर्शनव्यापितिवतुल्यात्व कल्पनामात्रत्वस्य प्रतिपादितत्वात्[।]भाव, भावाभावे भाकल्पत्वाभावः, यथोक्तं 'तद्भाव तदप्यसत्' इति, प्रत्युत्तरमत्र तदर्थं भावात् स्वमतमत्र त्रितिति, अत्रोच्यते—एवदप्ययुक्तं जागरितस्वप्नविरिक्तस्योदाहरणादय विज्ञानमात्रत्वस्यादर्शनात् समस्तिपक्षस्यात्र भावानां प्रमाणप्रमाणमात्रत्व[त्व] त् साम्प्रतमन्यथैवाभ्युपगमोऽनवस्थायी ।

यदि तन्मात्रं किं स्वप्नस्य जागरणाद्विशेषकर्म घटते ? उभयोरप्यभावतुल्यत्वात् सपुत्रस्य वन्ध्यासुतादिव, प्रतिपाद्यमत्यपेक्षया इति चेन्न, उभयोरप्यभावतुल्यत्वात् ।

यदि तन्मात्रं किमित्यादि, यदि विज्ञानमेव—स्वप्नोऽस्वप्नो न भवति तस्मिन् स्वप्न सिद्धदर्शनम-

---

प्रतिपन्नपुत्रप्रादिभिरवयव पर्यन्तेन विज्ञानरूपमेव, जागरत्वस्यास्य सिद्धरूपमावृतोऽतः पुत्रजन्मादितो स्वैन स्वप्न प्रवेश विज्ञानस्य भावे सिद्धदर्शनपुत्रजन्मादिमयदर्शिसुखदुःखादिविज्ञानत्वस्यकल्पनामात्रत्वादेव विज्ञानमेव सत् एवं च, सर्वविज्ञानस्यैव विज्ञानरूपत्वात् तस्य सर्वं विज्ञानमेव, अन्यथा तत्त्वातत्त्वम् एव स्यात्, एवं सर्वं यदि विज्ञानमेव तर्हि तन्मात्र पुरुष एव इत्यतो विज्ञानं सर्वं तन्मात्रमेव वर्तमानं, अतीतानागतमपि वर्तमानमेव स्तिमितसलिलसिक्त तदाद्युपादेव सन्निधेयत् तथा पुरुषस्य सुखदुःखाद्यनुभव वाच्यतयोऽवस्था तन्मात्रमेवमभिमतमेव विज्ञानत्वं पुरुषत्वमनुरूपं भवतीति भावः । पुरुष एवेदं सर्वमित्येवं विधिविधिभागे पुरुषवाद निरूपित नेह पुनर्विस्तरत इत्याह—यथोक्तमिति । ननु पुरुष एव सर्वमिदमित्यपि न पुनर्विस्तरतस्यागमादिभिर्विनस्य कल्पनामात्रत्वस्योक्तत्वात्, यतो विज्ञानरूपेणोऽन्तेषां कल्पनामात्रस्य सिद्धदर्शनवदिति तथाप्यन्यत्वस्य तद्विनाशाभावात्, यदि भावाभावत्वात् सामर्थ्ये विज्ञानमेव सामर्थ्यमेतत् तस्मात पुरुषत्वाभावः तयाभावात्वाद्वदे कल्पितमाहत्य—ननु विज्ञानरूपेणेति । भावाभाव इति कल्पितस्य इत्यादर्शनाभावोऽसिद्धमत्यभिमत कल्पनास्यापि भावरूपेणाभावः भावाभावयोर्भावे तदोत्सिद्ध विज्ञानस्य विज्ञानरूपं विज्ञानमिति भावरूपकरता प्रतिपादिता यतो न भावरूपेण कल्पनासामर्थ्यता विज्ञानस्य भावरूपत्वं—भावाभावस्वरूपत्वम् न तु विज्ञानत्वस्वरूपत्वमिति भाव । तत्र प्रमाणमाह तद्भाव इति भावरूपेण भावाभावे तदपि भावरूपमपि भावाभावरूपेऽपि भावाभावत्वा वा भावरूपमिति भावः । अत्राह—एतदपीति यदि विज्ञानमेव सर्वं तर्हि स्वप्नजागरणयोर्भेदाभावप्रसङ्गः तथापि जागरितस्वप्नत्वेन व्यवहारस्वरूपाभावात् स्याद्विशेषः यदि जागरित स्वप्नविज्ञानमेव एवं तर्हि स्वप्नजागरितस्य व्यवहार, तथैव जागरितस्य विज्ञानमात्रत्वं चैतत्कृतं कल्पनं तस्य विशेषतासिद्धम् भावरूपता स्यादिति भावः । ननु तथापि विज्ञानमेवेत्याह—समस्तिपक्षस्यात्रेति आत्मानं प्रतिपक्षप्रमाणम् यथा प्रमाणं प्रतिपत्तमुक्तं स्वभावाभावे भावोऽभावे च प्रत्यक्षं भावं तदभावे न भावरूपता तस्मात् विज्ञानं भावरूपं च तदपि तद्भावं विज्ञानाभावरूपता न विज्ञानमात्रमसिद्धिरिति भाव । यदि विज्ञानमात्रमेव तर्हि स्वप्नजागरदर्शनविशेषता न स्यादिति—यदि तन्मात्रमिति । व्याख्या स्पष्टा इति । यदि विज्ञानमात्रमेव तर्हि स्वप्नजागरव्यवहारभेदो न स्यात्, तत्रो हि जागरणादिदोषभावो न भवतीति मतम्, यतः स्वप्नोऽपि सिद्धदर्शनं स्वप्नसुखमपि तन्मात्रत्वस्य पुरुषस्य स्वप्नसिद्धत्वात् भाव सत्त्वादपि तथा जागरितस्य प्रत्येकं प्रवृत्त्यर्थं ज्ञातव्यं सम्पुत्रदर्शनमपि तदा प्रतिपाद्यमत्यपेक्षया—स्वप्ने यथो

सदेव मयमिमित्थम्, विशु[द्ध]स्य भयापगमोऽसत्त्वे स्वमासिद्धस्य आमर्तिसिद्धवञ्जनस्य साक्षात्स्वसुमिमित्थ स्वमेव शीतिहेतुस्य सामत्युत्रदर्शनेन स्वप्न तदपेक्षाविमुद्धे भीत्यपगमात् नैतावित्यवगम्य आमविज्ञानस्यतिरिक्त-स्यमोदाहरण मुच्यते, ननु स्वसत्त्वे स्वप्नस्य बागरप्रतिक्षेपण न घटते, कस्मात् ? उभयोरप्यभावतुल्यत्वात्, खपुष्पस्य वन्ध्यासुतादिव, प्रतिपाद्यमत्यपेक्ष्येति चेत्—स्यान्मत तोऽभयप्रत्ययोः बागरणस्वप्नविज्ञानयोरर्थो भावतुल्यत्वं तथापि तत्प्रसिद्ध्याभावार्थेन स्वप्नेन बागरैभावार्थत्वप्रतिपादनं युक्तं स्वप्नमत्यनुवृत्त्या क्रियते, यत्र हि प्रतिपाद्यस्य मतेरनुरोधः—उपायः प्रतिपादयितुमभावतुल्यस्यऽपीत्येतच्च न उभयोरप्यभावतुल्यत्वात् मतेरप्यसत्त्वेऽनेन विशेषण प्रतिपाद्यस्य प्रतिपादकस्य वेऽप्रतिपाद्यादिक्षेपणमित्याद्यप्यभावतुल्यत्वाच च[इव] एव ।

किञ्चान्यत् स्वप्नदृष्टान्तोऽपि—

खपुष्पमुद्दस्नेन च स्वमसिद्धदर्शनवदिति वचनं घटते, स्वप्नदृष्टान्तव्याख्याने न च क्षुधाभयदर्पादिविशेषणमक्षुधाभयदर्पादिना विना ननु भवितुमर्हति, विज्ञानविषया चास्तिता ननु स्थितैव, ततश्च सर्वं निःस्वभावमित्येतन्मिथ्या, निर्भेदस्य नास्तित्व नास्त्येव, कुतश्चित्सतो वस्तुनो विशेष्य सदेव शक्यं वक्तु नासीति न शून्यत्वं सर्वस्य, सत्यमेव तत्तथा, स्वप्नविज्ञान-सिद्धवेरपि नास्तित्वमभ्यास्तित्वं साधयति ।

(खपुष्पेति) खपुष्पमुद्दस्नेन च स्वमसिद्धदर्शनवदिति वचनं घटते—खपुष्प न भवति सिद्ध इति, स्वप्नदृष्टान्तव्याख्याने न च क्षुधाभयदर्पादिविशेषणमक्षुधाभयदर्पादिना विना[ननु]भवितुमर्हति, भवितव्यतापद्यति, किञ्चान्यत्—विज्ञानविषया चास्तिता ननु स्थितैव—विज्ञानमात्रमिति ब्रुवता विज्ञानास्ति-

॥ मीमस्सम्या आमसुनस्सम्पत्त्वे इति न मनोहेतुधीविरोध इति भेदं विज्ञानैव आमविज्ञाने वास्तेदाहरणं युक्तम् कर्तुम्, विज्ञानमात्रपक्षे एतयोः बागरणस्वप्नयोः स्वप्नमात्रप्रदेशप्रभावतुल्यत्वापाच्च खपुष्पस्य वन्ध्यासुतादिकल्पना न घटते तथा स्वप्नस्य बागरणाक्षेपो न सत्य इति भावः । सिद्धदर्शनमिति स्वप्ने प्रतियास्यामसत्सिद्धदर्शनं मनोहेतुस्त्वामागतस्य तत्सिद्धदर्शनात् स्वप्नात् भवात्मनः बागरणावस्थ स्वेन सिद्धदर्शनं मनुते प्राप्तदर्शनं भीतिहेतुः बागरणात् स्वप्ने मया मीके नासि तदा स्वमसिद्धपुनर्दर्शनयोरन्योन्य भवतैमोऽपगमो भवतीति विशेषः । घटते—प्रतिपाद्येति विज्ञानवादी प्रतिपादकः शून्यवादी प्रतिपाद्य यद्यपि प्रतिपादकस्य मे मतिर्भावस्वभावत्वे स्वप्नमात्रत्वाभावतुल्ये इति तथापि प्रतिपाद्यस्य स्वप्नदर्शनं प्रसिद्धं तत् बागरेऽस्मद्भीस्वप्नसादिति मति तत्मति प्रसिद्धमायावर्तनप्रतिविनिमतुरस्य स्वप्नेन भवात्मभावार्थत्वं प्रतिपादन भवतुतयोर भवतुल्यत्वेऽपि प्रतिपाद्यमतरेव प्रतिपादने उपायत्वादिति भावः । एतमेव व्याचष्टे—स्यान्मतमिति । प्रतिपाद्यमतः स्वरूप-माह—यत्र हीति । प्रतिपाद्यमत्यपेक्षयापि तथा वक्तुं न शक्यते प्रतिपादकस्य प्रतिपाद्यस्यापि तेन मतर्भेदाभावात्, प्रतिपाद्यप्रति-पादकयोरपीना स्वप्नमात्रत्वात्स्वभावतुल्यत्वादित्युत्तरयति—उभयोरपीति प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोर्मतयोरपीत्यर्थः । स्वप्नदृष्टा-न्तोऽप्यसत्यमतो भवत्वे सति युक्तं इत्याह—खपुष्पेति । व्याचष्टे—खपुष्पं नेति सिद्धः खपुष्पं न भवतीति खपुष्प-मुद्देन सिद्धदर्शनं स्वप्ने यदि सार्वत्र स्वप्नदृष्टान्तो घटते अन्यथाऽसत्त्वासिद्धस्वत्वादपेक्षमानिमित्तं सिद्धदर्शनं स्यादिति भावः । स्वप्नदृष्टान्त यथार्थं यद्यपि यथार्थभवदर्पादिना विना क्षुधाभयदर्पादेरसम्भवेन स्वप्ने प्रतिषेधे युक्तं इत्याह—स्वप्न-दृष्टान्तेति । सर्वं निःस्वभावमिति मृषावद् तथा तदप्यसत् विज्ञानमात्रं वस्तिति ब्रुवता विज्ञानस्यास्तित्वमभ्यास्तित्वं स्वीकृतम् इत्याह—विज्ञानविषया चेति, विज्ञानसत्तामनुपगमात् सत्त्वमार्थं विज्ञानमिति स्थितम् तथा च सर्वं निःस्वभावमितिवचनं

१ सि क्ष. का. डे. तदपेक्षं विद्युदे । २ सि क्ष ला. डे. मामवता । ३ सि क्ष ला. डे. यथार्थं भवत्व । ४ सि क्ष. डे. ला. विज्ञान वर्ष ।

निःस्वभावमित्युक्तत्वात्, विज्ञानस्यत्वाभावित्वसत्त्वविज्ञानवचसी निःस्वभावे इत्येवंतरमनियमेनेतिविज्ञानवचसोर् प्रत्ययनप्रसङ्गात्—यदा हि विज्ञानमसत् तदा निःस्वभावमिव सर्वमित्यभिमितं स्वकमनिमित्तत्वात् प्रतिनियतविषयत्वे पक्षादिसाधनवचनासत्त्वञ्च, तस्मात् परमसापसमनुक्तम्, विज्ञानवचसोर्निमित्तपक्षादित्वेनाभ्युपगमादुपगतप्रमाणपरिज्ञानवदिति निःस्वभावमितस्तो ज्ञानवचसोः सर्ववस्तुनैःस्वाभाव्यं व्यावर्तयतीति दोषः, अथ मा भूदिमानि, एतद्दोषभयात् सत्स्वभावे विज्ञानवचसी स्वीये एव[म]भ्युपगम्यसि सर्वं निःस्वभावमित्यस्याभ्युपगमस्य विरोध[ः] केन ? ज्ञानवचनस्वभावत्वाभ्युपगमेनेत्यभ्युपगमविरोधः प्रतिज्ञादोषः, न केवलमभ्युपगमविरोध एव, ज्ञानविपर्ययवचसोऽपि पक्षादिरूपत्वे ते[न] सत्स्वभावत्वे यत् प्रागुक्तं तव तर्हि सर्वं निःस्वभावम्, इदानीं सत्स्वभावत्वाभ्युपगमादिति, स्ववचनविरोधश्च दोषः इति कस्यस हेत्वर्थत्वात् ।

इत्थं स्ववचनप्रत्यक्षविषयप्रतिपादनव्यवहारमार्गानुपातिनः स्ववचनेऽनुमानलोकविरोधा[च] इत्याह—

एवञ्च घटाद्यपि सत् व्यवहारवृत्तत्वात्, तद्वाक्यवत्, उभयविरोधादिविकल्पस्य शून्यत्वे तु प्रत्यक्षादिविरोधाः लोकविरोधस्तु सर्वलोकसमतस्य प्रवृत्तत्वात् ।

(एवञ्चेति) एवञ्च घटाद्यपि सदिति प्रतिज्ञायते, सर्वो प्रत्यक्षसिद्धत्वात् सर्वलोकप्रसिद्धमपि,

१ न जानात् उभयोरपि विज्ञानवचसोः सर्वान्तर्भावम् सर्वं निःस्वभावमितिप्रतिज्ञेन व्यावर्तनमित्यसोऽवस्थातीति भावः । उभे सर्वान्तःपातित्वेन विज्ञानवचनमात्रीतिरिक्ते विज्ञानवचसी निःस्वभावे व्याप्ये, उभयोः निःस्वाभाव्येऽपि सद्भावाश्रयत्वं न स्यादित्याह यदेति साध—विज्ञानवचसोरेवेति तदनुपपत्तिनिःस्वभावतापत्तेः स्यादित्यतिव्याप्तत्वादित्यर्थः । अज्ञानमनेन यत्साह—यदा हीति सर्वमपि अभावत्वाभ्युपगमस्य सर्वान्तर्भावेन निःस्वभावत्वासत्त्वेन तदा सर्वं निःस्वभावमिति न सिद्धम्, तस्मादित्यभिप्रायेण ममान् अनभ्युपगमात् प्रतिपिपादयिषति तथापि स्वपक्षप्रतिपादनार्थं सर्वमिदं निःस्वभावमिति यदि ब्रूयात् तदपि वचस सर्वान्तःपातित्वेन निःस्वभावत्वमनन्तरमसत्त्वाभ्युपगमेऽपि परमतानभ्युपगमपीति भावः । हेतुमाह—विज्ञानवचसोरिति एतयोर्निःस्वभावत्वेन निमित्तपक्षादित्वस्यानाभ्युपगमम् तस्मात्तत्र वचनविज्ञानयोरिति भावः । अभ्युपगमे को दोष इत्याह—निःस्वभावमिति इति निःस्वभावमिदं सर्वमिति विज्ञानवचसोर्निःस्वभावत्व सर्वेषां वस्तूनां स्वभावप्रतिपादनेऽपि निःस्वभावता इति भावः । अथ दोषपरिहाराय विज्ञानवचसोः सत्स्वभावत्वाभ्युपगमेऽनेनाभ्युपगमेन सर्वं निःस्वभावमित्यभ्युपगमस्य विरोधः, सर्वस्य निःस्वभावत्वाभावात् तत्र प्रतिज्ञायां विरोध इत्याह—एतद्दोषभयादिति । अभ्युपगमस्य न दोषोऽपि तु स्ववचनविरोधोऽपीत्याह न केवलमिति सर्वं निःस्वभावमिति सर्वमपि स्वभावप्रतिपादनेन स्ववचनप्रतिज्ञावाक्यस्य पक्षादिरूपस्य सत्स्वभावत्वे सर्वं निःस्वभावमिति यत् प्रत्यभ्यधायि तत् स्यात्, इदानीं सत्स्वभावत्वाभ्युपगमात्, इत्येवमादि स्ववचनविरोध इति भावः । एवं सर्वमपि स्वभावत्वाभ्युपगमे तत्प्रतिज्ञाया वाक्यस्य न स्वावयवत्वमस्य व्यवहारप्रवृत्तिमात्रस्य तदनुमानलोकविरोधावपि च स्यात्—एवञ्चेति विज्ञानवचसोः प्राक्तनयोः सत्स्वभावत्वाभ्युपगमे घटादयः । ननु घटादीनां सत्त्वं लोकप्रसिद्धं तत् किमिति प्रतिज्ञायते विपक्षस्य तदपेक्षितत्वात् तत्स्वाभाव्यमात्—सर्वा प्रतीतिः । एतत्स्वाभिप्रेत

१ सि. क्ष. छा. डे. इत्येवमादिविभावनम् । २ सि. क्ष. डे. छा. विपक्षोपगमादपि । ३ सि. क्ष. डे. छा. °स्वाते स्वच । ४ सि. क्ष. छा. डे. लोकविरोधाविति सह ।

अनन्तरोक्तसत्त्वाभावत्वे विज्ञानवचसोरिति स्यादयमेवार्थः, कस्मात् सद्घटादीति चेत् उच्यते—व्यवहारदृष्टत्वात् तद्यथा—असिद्धखपुष्पानुमानसामग्रीदर्शनादर्शनपक्षपरायत्तोभयविरोधादिविकल्पहेतुखपुष्पादिरक्षम्बवृद्धिविषयाणां सत्त्वभावत्वात् घटादीनां व्यवहारदृष्टानां सत्त्वमवश्यं स्यादिति, [३]मय-विरोधादिविकल्पा[१], दैश्वर्यत्वे तु प्रत्यक्षादिविरोधाः—तस्य तस्य वचनस्य श्रोत्रेन्द्रियप्रत्यक्षस्य पक्षाद्यवयवविभागस्य प्रत्यक्षविषयार्थसहितस्य तद्विज्ञानस्य च तव मम च स्वसंवेद्यस्य शून्यत्वे प्रत्यक्षादिविरोधा सत्त्वाभावमनिष्टत्वः, इष्टस्योऽभ्युपगमस्ववचनविरोधादुक्तवेन आदिग्रहणादनुमानागमविरोधौ, अर्हद्बुद्धकपिलकणादाक्षपादजैमिन्यादिप्रणीतागमैः सह विरोधित्वात्, लोकविरोधस्तु प्रसिद्धघटादिवस्तुसत्तया यदा वयो यथार्थो ज्ञानवचने च स्त इति प्रपञ्चं सर्वलोकस्यामत्य शून्याः सर्वभावा इति प्रवृत्तत्वात्, एवं ज्ञानवचनशून्याशून्यत्वयोरभ्युपगमविरोधादिसर्वदोषाः सामान्यत उक्ताः ।

दोषविकल्पदर्शनार्थं तथैव विशेषाऽऽह—

सर्वशून्यवादगतपक्षधर्माद्यभावाच्च न साध्यः, विज्ञानाभ्युपगमाच्च पुरुष एवेदं सर्वं चतुरवस्थामात्रमेवममिश्रमस्तीत्यभ्युपगतं भवति सतो विज्ञानलक्षणत्वात् तस्य च सर्वत्वात् सर्वमेव चेद्विज्ञानमात्रं स च पुरुष एव ज्ञः, तन्मयश्चेदमिति, ननु विज्ञानशब्दनोत्प्रेक्षामात्रमुच्यते, नार्थसत्त्वं विज्ञानस्य, स्वप्नमुदाहरद्भिः कल्पनामात्रत्वस्य प्रतिज्ञातत्वादिति, एतदप्ययुक्तम्, जागरितव्यतिरिक्तस्वप्नोदाहरणादेव विज्ञानमात्रत्वव्यावर्तनात् ।

(सर्वेति) सर्वशून्यवादगतपक्षधर्माद्यभावाच्च—न साध्योऽसिद्धत्वादिपक्षासिद्धौ परायत्तत्वादि हेतवो न सिद्धास्त्वेवानयोरुक्तदोषेति सूत्रलताभावात्रामिनिविशामहे, अपि च विज्ञानाभ्युपगमादित्यादि चोपपत्त-

माह—अनन्तरेति । कारीता सत्त्वे साध्ये हेतुमाह—व्यवहारदृष्टत्वादिति व्यवहारप्रवृत्तत्वादित्यर्थः । तद्यथा[illegible] ध्यान्तप्रदर्शनपरास्तमाह—असिद्धेति असिद्धस्वपुष्पानुमानसामग्रीदर्शनादर्शनानि निःसत्त्वानि परायत्तत्वादुभयविरोधादिविकल्पात् खपुष्पादिवदिति योऽनुमानविकल्पो यच तदभिधं वचनं खपुष्पयोर्यथा सत्त्वाभावत्वं तथा व्यवहारप्रवृत्तानां घटादीनामपि सत्त्वाभावत्वं स्यादिति भावः । खपुष्पखचितेन पक्षहेतुदृष्टान्तादीनामुक्तानां वचनस्यैव अभ्युपगम्यमाने च प्रत्यक्षादिविरोधाः स्युः तद्वचनमन्तरा पक्षाद्यवयवप्रतिपादकमना श्रोत्रेन्द्रियमस्यप्रत्यक्षत्वादित्याह—उभयविरोधादीति । प्रत्यक्षादिविरोधमादर्शयति—तस्य तस्येति वाचकत्वायोग्यस्येतरवचनस्य तदर्थविज्ञानस्येमाभ्यां स्वसंवेद्यस्य शून्यत्वेऽभ्युपगम्यमाने विरोध इति भावः । स्ववाक्यैकौ तु एवं निःस्वभावमित्यभ्युपगम्यस्वसंवचनादिविरोधदोष इत्याह—इष्टस्य इति । एवमनुमानागमविरोधावपि च इत्याह—आदिग्रहणादिति प्रत्यक्षादिपदादिग्रहणादित्यर्थः । आगमविरोधमादर्शयति—अर्हदिति । लोकविरोधमाह—लोकेति सर्वो हि लोके घटादिवस्तु विज्ञानं वचनं च प्रतिपद्यते तमिमं लोकमध्यमत्य तथा मत्वैव निःस्वभावो भावो ध्रुवं सर्वभावाः शून्यत्वं प्रतिपद्यते प्रवृत्तत्वादित्यर्थः । तदेवं विज्ञानस्य वचनस्य सत्त्वे निःस्वभावत्वे सर्वसत्त्वाभावाभ्युपगमहानिरोधः असत्त्वे स्वभावत्वे सर्वनिःस्वभावताभ्युपगमविरोधः वचनविरोधोऽनुमानागमलोकविरोधश्च दोष इति सामान्यत उक्तमित्याह—एवं ज्ञानवचनेति । अथ दोषा विशेषेणोच्यन्ते—सर्वशून्येति । सर्वशून्यत्वे पक्षधर्मादिरभावात् साध्यसिद्धिर्न भवति, असिद्धस्वपुष्पानुमानसामग्रीदर्शनादर्शनानि खपुष्पाऽविरुद्धत्वादिरित्यादि सर्वशून्यत्वादेव परायत्तत्वादि हेतवोऽपि न सिध्यन्ति, एवमेव दृष्टान्तादीनामपि असिद्धत्व सूचयन्नाह—सर्वेति । विज्ञानस्यैव सर्वमित्यभ्युपगम्यमाने च पुरुषमेवप्रतिपादितमाह—अपि चेति भावस्तुनोऽभ्यु-

१ सि °तत्त्वत्वे । २ सि. क्ष. डा. डे. विभाविधायकत्व । ३ सि. क्ष. डा. डे °पुरुष एव ज्ञः । ४ सि. क्ष. डा. डे. विज्ञान्ते वा । ५ सि. क्ष. डा. डे निर्विशामहे । ६ सि. क्ष. डा. डे. सर्वोक्तो ।

ततो विज्ञानक्षणमात्रमिति सर्वेषाम्युपग[त]मसिद्धमितिहेतुमिथ्याचार्यनैः साधाप्यमभ्युपाय विज्ञानमात्रमेवेद सर्वं सम्प्रदर्शितमिति, ग्रामसिंहदर्शनपुत्रजन्मादिमयदर्शनसुखदुःखादि विज्ञानमपीत्यतः सर्वस्य विज्ञानस्यमात्रत्वेन सत्त्वात् तस्य च सर्वत्वात् सर्वमेव चेदं विज्ञानमात्रं स च पुरुष एव इति, तन्मयत्वेनेदमतीतानागताभिमतमपि वर्तमानमेव, विमिश्रत्वसत्त्वचित्तवद्युतुरावबाधात् सुप्त[सुप्त]जागरितबुद्धिपरस्परत्वमात्रमेदमभिन्नमेवार्थीत्यम्युपगत भवति, यथोक्त विधिविधिविनियारम्भ आह पुरुष एवेदं सर्वमित्यादि, एतत् पुरुषसूक्त व्याख्यात वर्तेयेति न पुनर्विभिद्यते, अत्राह–ननु विज्ञानशब्देनोक्तेभ्यामात्रमुच्यते, नार्थवत्त्व विज्ञानस्य, स्वप्नदर्शनवत्स्वामिनमित्युपालम्भ कल्पनामात्रत्वस्य प्रतिपादितत्वाद्ग्राह्य[ग्राह]कभाव, ग्राह्याभावे ग्राहकत्वस्याभावः, यथोक्त 'तदभावे तदप्यसत्' इति, प्रत्युत्तारणमेव तस्य यावत् स्वप्नतुल्यतर मिति, अत्रोच्यते–एवमप्युक्त जागरितस्वप्नविशिष्टस्योभयरूपस्य विज्ञानमात्रत्वस्याभ्युपगमनात् तदप्रतिपत्तेश्च भावानां प्रमाणप्रमाणाभास[च] त् साम्यतयामवेदाम्युपगमोऽवश्यम्भावी ।

यदि तन्मात्रं किं स्वप्नस्य जागरणाद्विशेषणं घटते ? उभयोरप्यभावतुल्यत्वात् खपुष्पस्य वन्ध्यासुतादिव, मतिप्रयत्नस्यापेक्षया इति चेत्, उभयोरप्यभावतुल्यत्वात् ।

यदि तन्मात्रं किमित्यादि, यदि विज्ञानमेव–स्वप्नोऽस्वप्नो न भवति तस्मिन् स्वप्ने सिंहदर्शन-

---

मतिप्रसुप्ताभिमतस्याप्य सर्वमिदं विज्ञानमात्रमेव, अप्रतरूपाया सिंहदर्शनप्रवृत्तेः पुत्रजन्मादितो दर्शन सुखदुःखादेश विज्ञानस्य ततो सिंहदर्शनपुत्रजन्मादिमयदर्शितसुखदुःखादिविज्ञानमात्रमायाप्रत्यासेतर विज्ञानमेव तत्, एवम् अन् सर्वत्रैवमिति विज्ञानमात्रत्वात् तत्तस्य सर्वं विज्ञानमेव, अन्यथा तत्तदस्य एव स्यात्, एवम् सर्वं यदि विज्ञानमेव तर्हि तन्मयस्य पुरुष एव भावतो विज्ञानं भवेत् तन्मयत्वेनं वर्तमानं अतीतानागताभिमतमपि वर्तमानमेव विमिश्रत्वसत्त्वचित्तवद्युतुरावबाधात् सुप्तजागरितबुद्धिपरस्परत्वमात्रमेदमभिन्नमेव विज्ञानत्वं पुरुषत्वमभ्युपगतं भवतीति भाव । पुरुष एवेदं सर्वमित्येतत् विधिविधिविनियो पुरुषाद भिन्नमिदं नेह पुनर्विभज्यत इत्यत्र–यथोक्तमिति । यत पुरुष एव सर्वमित्यपि न पुनर्विभज्यतामित्यर्थविज्ञानस्य कल्पनामात्रत्वस्योपपादनात्, केवलं विज्ञानशब्देनोक्तेभ्य कल्पनामात्रस्य सिंहदर्शनादिविषयकस्य कल्पनामात्रत्वेनापि तदाभासत्वमात्रत्वात्, केवलं यदि स्वप्नविज्ञानवत् स्वार्थवि विज्ञानमेव स्वाभिप्रेतस्य तस्मात् पुरुषात्मका स्वप्नावस्थायामतो स्वप्नविज्ञानाख्ये–ननु विज्ञानशब्देनेति । ग्राह्याभाव इति, तस्मिन्निति प्रतिभासकल्पितस्याभावेऽप्रतिभासितस्य कल्पनामात्रस्यापि ग्राहकत्वेनाभावः, ग्राह्याभावस्य तदपेक्ष विज्ञानस्य विज्ञानत्वमिति विज्ञानमिति ग्राहकग्राह्यता प्रतीयते यत्र च ग्राह्यत्वेन कल्पनामात्रत्वा विज्ञानस्य ग्राह्यत्वम्–ग्राह्यग्राहकत्वमुक्तत्वेन न तु विज्ञानकल्पनामात्रमपीति भाव । तत्र प्रमाणमाह तदभाव इति ग्राह्यत्वेन ग्राह्याभावे तदपि ग्राहकत्वमपि ग्राहकग्राह्योऽपि ग्राह्यग्राहकत्वा वा ग्राहकत्वमवतिष्ठते । प्रत्युत्तरे–एतदपीति यदि विज्ञानमेव सर्वं तर्हि स्वप्नजागरयोरुपलम्भस्तुल्य तथापि सर्वाभिप्रेतत्वेन स्वप्नजागरस्वरूपत्वात् एवाभिमतत्वात् यदि स्वप्नस्य जागरितस्येव स्वप्ने तर्हि जागरितस्वप्नभेदेरूपत्वात् तयोः जागरितस्वप्ने विज्ञानमात्रत्वं चेत्तस्यापि कल्पना जागरितस्वप्नविषयमात्रत्वस्य व्याप्तिरिति भाव । ननु तयोरपि विज्ञानमेवेत्याह–तदप्रतिपत्तेश्चेति भावनां प्रतिपत्त्याप्यम्, यथा प्रमाणं प्रतिपत्तिमुखेन प्रमाणाभासेन भावोऽभावेन स्वप्नोऽस्वप्नेन साम्य तदन्वेव च भावाभावतो जागरितो विज्ञानत्वं स्वप्नस्य च तत्प्रतिपत्त्यत्वं विज्ञानमात्रत्वमतो न विज्ञानमात्रत्वविशेषोऽपि भाव । यदि विज्ञानमात्रमेव तर्हि स्वप्नजागरयोर्विशेषतो न स्याद्विशेषणं यदि तन्मात्रमिति । व्याचष्टे–स्वप्न इति । यदि विज्ञानमात्रमेव तर्हि स्वप्नजागरयोर्भेदो न स्यात्, स्वप्ने हि जागरणादि विशेषणो न भवतीति प्रसिद्धम्, तत्र स्वप्नेऽपि सिंहदर्शनं भयहेतुर्भवति तथा जागरणेऽपि पुरुषस्य जागरितसिंहदर्शनतो भय-प्रवृत्त्यादि तथा जागरितदर्शने स्वप्ने प्रत्युत्पन्न भयादि जागरितदर्शनमपि स्वप्ने सिंहदर्शनेऽपि भयहेतुर्भवति तदपेक्षया जागरितस्य स्वप्ने

स्वेन भवनिमित्तम्, विद्व[द्व]स्य भयापगमोऽसत्त्वे सर्पासिद्धस्य जाग्रत्सिंहदर्शनस्य चाभावस्यनिमित्त स्वस्येव प्रीतिहेतुश्च जाग्रत्पुत्रदर्शन स्वप्ने तदपेक्षाविशुद्धे प्रीत्यपगमात् नैतावित्यपरस्य जाग्रद्विज्ञानस्यातिरिक्त- स्वप्नोदाहरणं युज्यते, ननु स्वप्नस्य सतस्य जागरणाद्विक्षेपश्च न घटते, कस्मात् ? उभयोरप्यभाववस्तुत्वात्, खपुष्पस्य वन्ध्यासुतवदिति, प्रतिपाद्यमप्यपेक्ष्येति चेत्—स्यान्मतं सोऽभ्युपगमान्तयोः जागरणस्वप्नविज्ञानयोरर्थो भाववस्तुत्वं तथापि स्वप्नसिद्धाभावार्थेन स्वप्नेन जागरभावार्थस्य प्रतिपादनं युक्तं स्वप्नमत्युपेत्या किञ्चिद्, अत्र हि प्रतिपादकस्य मतेरनुरोधः—उपायः प्रतिपादयितुमभाववस्तुत्वेऽपीत्येतच्च न उभयोरप्यभाववस्तुत्वात् मतेरप्यसतेर्भेदेन विक्षेपस्य प्रतिपादकस्य प्रतिपादकापेक्षप्रतिपाद्याद्विक्षेपस्यमित्याद्यप्यभाववस्तुत्वाच्च घ[टत] एव।

किञ्चान्यत् स्वमतग्रन्थोऽपि—

खपुष्पवन्ध्यासुतेन च स्वप्नसिंहदर्शनवदिति वचनं घटते, स्वमतग्रन्थव्याख्याने न च घटाभयदर्पादिविशेषणस्य घटाभयदर्पादिना विना ननु भवितुमर्हति, विज्ञानविषया चास्तिता ननु स्थितैव, ततश्च सर्वं निःस्वभावमित्येतन्मिथ्या, निर्भेदश्च नास्तित्वं नास्त्येव, कुतश्चित्सतो वस्तुनो विशेष्य सदेव शक्यं वक्तुं नास्तीति न शून्यत्वं सर्वस्य, सत्त्वमेव तत्तया, स्वमविज्ञान सिद्धेरपि नास्तित्वमन्यास्तित्वं साधयति।

(खपुष्पेति) खपुष्पवन्ध्यासुतेन च स्वप्नसिंहदर्शनवदिति वचनं घटते-खपुष्पं न भवति सिंह इति, स्वमतग्रन्थव्याख्याने न च घटाभयदर्पादिविशेषणस्य घटाभयदर्पादिना विना[ननु]भवितुमर्हति, भविष्यदुपपादयति, किञ्चान्यत्—विज्ञानविषया चास्तिता ननु स्थितैव—विज्ञानमात्रमिति ब्रुवता विज्ञानास्ति-

[illegible] भयाभावः जाग्रत्पुत्रदर्शनाभावे इति न भयहेतुप्रीतिहेतु इति मेदं विज्ञानेन जाग्रद्विज्ञाने स्वप्नोदाहरणं युज्यते किन्तु, विज्ञानमात्रपक्षे स्वप्नो जाग्रत्भावो [illegible] खपुष्पस्य वन्ध्यासुतादिवत् न घटते तथा स्वप्नस्य जागरणाद्भेदे न घटत इति भावः। सिंहदर्शनमिति [illegible] सिंहदर्शनं भयहेतु [illegible] तत्सिंहदर्शना- [illegible] सिंहदर्शनं भयहेतुः पुत्रदर्शनं प्रीतिहेतुः जाग्रत्वात् स्वप्ने तद् नैवं नापि तथा जाग्रत्सिंहपुत्रदर्शनयोरभावेन भयप्रीत्योरपगमो भवतीति विशेषः। स्यादेतत् प्रतिपाद्येति विज्ञानवादी प्रतिपादकः इत्यादी प्रतिपाद्य यद्यपि प्रतिपादकस्य मे मतिर्जाग्रत्स्वप्नयोः [illegible] इति तथापि प्रतिपाद्यस्य जाग्रद्दर्शनं सत्त्वं तत् [illegible] प्रतिपाद्यस्य वस्तुतस्तयोर भाववस्तुत्वेऽपि प्रतिपाद्यमतेरेव प्रतिपादने उपायत्वादिति भावः। एतमेव व्याचष्टे—स्यान्मतमिति। प्रतिपादकस्य [illegible] भाव—भयं प्रीति। प्रतिपाद्यमतमपेक्ष्येति तथा वक्तुं न शक्यते प्रतिपादकस्य प्रतिपाद्यमतेन मतभेदाभावात्, प्रतिपादकप्रति- पाद्ययोरुभयोर्मते [illegible] इत्युपपादयति—उभयोरपीति प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोर्मतभेदोऽपीत्यर्थः। स्वमता- [illegible] युज्यते इत्याह—खपुष्पेति। व्याचष्टे—खपुष्पं नेति, किन्तु खपुष्पं न भवतीति खपुष्प- [illegible] सिंहदर्शनं [illegible] सिद्धिर्न स्यादिति भावः। स्वमतग्रन्थस्य यथाख्यानं [illegible] तदपि घटाभयदर्पादिना विना [illegible] युज्यत इत्याह—स्वमत [illegible]। सर्वं निःस्वभावमिति यदुच्यते तथा तदप्यसत् विज्ञानमात्रं [illegible] विज्ञानमात्रमिति [illegible] विज्ञानविषया चेति [illegible] सर्वं निःस्वभावमिति [illegible]

१ सि क्ष. प्र. ले तदपेक्षा विशुद्धे। २ सि क्ष प्र. डे भयचयद्धा। ३ सि क्ष प्र. डे. जाग्रत्सर्गे भावाय।
४ सि क्ष. ले डा. विज्ञान वर्ण।

त्वमभ्युपगतमेव त्वया, ततश्च सर्वं निःस्वभावमित्येतन्मिथ्या, किञ्च—निर्मेयत्वान्नास्तित्व मा भूदेव, कुतश्चित् सतो वस्तुनो विशेषेण सदेव ह्यस्य यत्तु नासीदिति तस्य पुष्पं नास्ति, मासोऽस्येति नाविशेषेण, तस्मात् एवञ्च सर्वस्य, सर्वमिति सत्त्वमेव तत् तथा-तेन प्रकारेण, सप्रविज्ञानादिकाद्वेरपि नास्तित्वमभ्यधिकं साधयतीति ।

अपोह्येत विज्ञानास्तित्वमपि कः प्रतिपद्यते ? कल्पनामात्रत्वात्, विज्ञानादि विज्ञानम्, तद्विशेषाभावे कुतः ? स्वमते तत्कारणविशेषसामाधाद्विशुद्धेऽप्येवमेव ।

अपोह्येतेत्यादि, विज्ञानास्तित्वमपि कः प्रतिपद्यते ? कल्पनामात्रत्वात्—असिद्धादिहेतुम्य एव कल्पनामात्रं विज्ञानमपि, विज्ञानातीति हि विज्ञानं स्यात्, सा च विज्ञानक्रिया कर्तृत्वं वा विज्ञानस्य नास्ति, विशेषकर्माभावात्, स्वमते तत्परकर्मणमाह—विज्ञानोऽविज्ञानं तद्विशेषाभावे कुतः ?—तद्विजानातीति विज्ञानस्य विज्ञानत्व स्यात् तद्विशेषे कर्मण्यसति कुतः ? नास्ति कुतश्चित् कारणात्, स्वमते तत्कारणविशेष-सामाधाद्विशुद्धेऽप्येवमेवेति—आमविज्ञानस्यापि सप्रविज्ञानविशेषाभावे विज्ञानत्वाभावात् क्व विज्ञाना-स्तित्वाश ? इति ।

अत्रोच्यते—

एवमपि विज्ञानविशेषाविज्ञानाविशेषज्ञानवचनविशेषणमेवाभ्युपगमात् सद्भाव एवाभ्यु-पगतोऽत्र त्वया, नो चेद्भावाविशेषात्तूष्णीम्भावस्ते समाश्रयणीयः स्यात्, तथाऽविज्ञानाभावा-दिषु च नभः क्व गतिः ? किं प्रागविशेषेण नासीदिति ? उताविशेषेणैवेति ? तत्र यदि विशे-

स्यत्, सर्वान्त पाविविज्ञानस्य विज्ञानाभावमनाभावीति मतम् । एवं सर्वेषां [illegible]—नास्तित्वं [illegible] निर्मेयत्वाविज्ञान समाभाव—[illegible] निर्मेयत्वेति, निर्मेये मेये—विशेषो [illegible] । तर्हि [illegible] नास्तित्वमभ्यधिकमाह—कुतश्चिदिति, [illegible] पुष्पं नासीदिति यद्वा [illegible] पुष्पं नासीदिति न [illegible] पुष्पं नासीदिति, [illegible] पुष्पेण [illegible] पुष्पमुत्पन्न नासीदिति यद्वा [illegible] एवम्, एवम् सर्वं तदेव [illegible] । [illegible] नास्तित्वमभावात् [illegible] नास्तित्वमाग्रपत्वोपगमात् [illegible] नास्तित्वाभिधीयते मतम् । एवं [illegible] नास्तित्वमपि [illegible] स्यातम्, [illegible]—स्वमते । ननु सर्वे विज्ञानस्याभ्यवित्तं [illegible], [illegible] तदा विज्ञानमपि नासीदिति [illegible]—अपोह्येतेति । [illegible]—विज्ञानास्तित्वमपीति । विजानातीति हि विज्ञानम्, विज्ञानक्रियाकर्तृत्वस्य विज्ञानस्य विज्ञानता स्यात्, ते [illegible] विशेषकर्माभावे ते कुतः ? तस्मात्स्व कुतो वा विज्ञानम् ? [illegible] विज्ञानक्रियाकर्तृत्वे, यत्र च विज्ञानक्रियाकर्तृत्वाभावस्तत्र विज्ञानत्वाभाव [illegible]—विज्ञानादिविज्ञान-मिति विजानातीति विज्ञानं, [illegible] विजानातीति विज्ञानं [illegible] विशेषे [illegible], विज्ञानक्रियाकर्तृत्वाभावादिति [illegible] । नास्ति विज्ञानस्य विज्ञानत्वं कुतश्चित्कारणविशेष—नासीदिति । स्वमते [illegible] कारणविशेषसामाभावात् [illegible] न विज्ञानत्वं [illegible] विशेषाभावात् विज्ञानत्वं न [illegible] विशेषेणाद स्वमते तत्कारणेति । [illegible] विज्ञानस्य नास्तित्वं [illegible] न [illegible] हि त्वया [illegible] इति

१ सि क्ष डे [illegible] पुष्पं । २ सि क्ष. डे. विज्ञानास्ति० । ३ सि. क्ष. डे विज्ञानविशेषा-द्विशेषा० ।

पेण नासीत्युच्यते प्राक्स्वभावादितरेतराभावसामर्थ्यासंयोगेभ्यः ततो ननु निवृत्तत्वस्य तत्समर्थ बहिःसम्बन्धास्तित्वमेव घटादेः प्रसज्यते ।

एवमपीत्यादि, विज्ञानादीति विज्ञानमित्यभिधानात् सर्वोऽप्यामभिधान [illegible] स्वयैव, [अ]विज्ञानमिति च तस्मो नामभिधानात्, तथा विज्ञानमित्यभिधानात् [illegible] नामभिधेयो [illegible], [illegible] नामभिधेयाव विशेषाविशेषमिति तत्प्रविषयं वस्तु, तत्र भेदनाभ्युपगम्यते ज्ञानवचनविषयस्तथा सम्भव यथाभ्युपगमोऽत्र त्वया, नो चेत् विज्ञानविशेष्यविज्ञानाविशेष्यज्ञानवचनविज्ञानभेदोऽभावाद्भावाविशेषापत्त्या[illegible] समाश्रयणीयः स्यात्, किञ्चान्यत्—यथाविज्ञानत्वादि, विज्ञानमपि[न] विज्ञानं भवति, भावो भावो न भवतीत्यादिषु नयः का गतिः? विचार्य त्वया भाष्यम्, किमत्र निमित्तं सदसदसत्त्वं वा विज्ञानादेः? किं प्रागादिविशेषण नासीति? भ्रान्तिप्रपञ्चेनेति निपात भूहि, तत्र यदि 'विशेष[ण]नासीत्युच्यते ततः प्राक्स्वभावादितरेतराभावसामर्थ्यासंयोगेभ्यः यथा घटः प्राक् नास्ति मृदाद्यवस्थायां, पश्चात् कपालत्वे, इतरेतरतया पटत्वे, असामर्थ्ये छिद्रघुणत्वे, असंयोग गृहे नासीति ततो यथासंख्यं ननु निवृत्तत्वादि, प्रागभावे निवृत्तोऽस्तीति तं विशेषयति, पश्चाद्भावेऽप्यवस्थाऽस्तीति, इतरेतराभावे सोऽस्ति, सामर्थ्याभावे समर्थोऽस्ति गेहसंयोगाभावे बहिःसंयोगोऽस्तीति, तस्माद्वस्तित्वमेव घटस्य ननु विशेषयति ।

अथोच्येत नैवास्तीत्यविशेष्य वन्ध्यापुत्रादिषूच्यते, अथ कथं पुनर्वन्ध्यापुत्रनास्तित्वमपि? यदि न विषयो, निवृत्त्यादिप्रागभावादिस्वभावेषु न सम्भवेत् सम्भवति तु स्वप

[illegible]—एवमपीति । [illegible] तत्प्रयुक्ती—विज्ञानादीतीति, [illegible] विषयादीति [illegible] विज्ञानमुच्यते नामाभिधानात् [illegible] न विज्ञानादीति [illegible] विशेषयत एवं [illegible] इति [illegible] इति [illegible] विज्ञानमविज्ञानं [illegible] तथा [illegible] न [illegible] एवाभ्युपगमः [illegible] भावः । [illegible] भेदमन्तर [illegible]—नो चेदिति । ननु विज्ञानं विज्ञानं न भवति भावो भावो न भवती-त्यादौ किं [illegible] विज्ञानादेरिष्यते ? निमित्तमसत्त्वं वा निरूप्यते ? [illegible]—विज्ञानमपीति । विज्ञानं विज्ञानं न भवतीत्यादौ [illegible] किं विज्ञानादेः सत्त्वं निमित्तमसत्त्वं वा, [illegible] सत्त्वं निमित्तं भवति [illegible] निमित्तं [illegible]—किमत्र निमित्तमिति । [illegible]—किं प्रागादीति, प्राक् [illegible], इतरेतरतया, असामर्थ्यात् [illegible] किं [illegible] इति प्रश्नार्थः । [illegible]—तत्र यदीति, [illegible] प्रागभावादित्वम्, [illegible] इतरेतराभावादित्वम्, छिद्रघुणादौ [illegible] विशेषेभ्यो [illegible] नासीत्युच्यते [illegible] इत्यादि न भवती-त्युच्ये [illegible] असमर्थे नासीत्युच्ये समर्थोऽस्तीति, [illegible] नासीत्युच्ये [illegible] च प्रसज्यते [illegible] एव [illegible] विशेषयतीति भावः । [illegible]—यथाति । [illegible]—ततो यथासंख्यमिति । [illegible] इति [illegible]—अथोच्यतेति । [illegible]

1 × × [illegible] । २ [illegible] । ३ [illegible] । ४ [illegible]

भवितृत्वेन तत्र चेतनस्यानाद्यनन्तकर्मपरिवर्तानुभाव्यनाद्यनन्तभवेषु स्वजात्यपरित्यागेनेतर-द्रव्यवद्भव्ययाभवतो मनुष्यस्त्रीवन्ध्यात्वाभ्यां प्रत्यावृत्त्य जन्मान्तरे मनुष्यस्त्रीत्वोत्पत्तौ पुत्रवत्त्वे द्रव्यार्थाभेदात्तद्रूपा पुत्रवती जायते ।

अथोच्येत नैवेत्यादि, अथ मा भूदेव निर्हेत्वाद्यसद्भावविषय इत्यभिप्राय नास्ति न भवतीत्यादिपर्यायैरसिद्धत्वाद्विरुद्धो वन्ध्यापुत्रादिविषयविक्षेपा[द]न्यत्र नास्तीत्युच्यते, एवं तर्हि मन्यसे, अत्रापि ब्रूमः–भव एव पुनरित्यादि, वन्ध्यापुत्रनास्तित्वमप्यतस्त्वामात्राभिमतमसिद्धमतो निर्हेत्वाद्य-सत्स्वसामर्थ्यसम्बन्धप्रमाणविनिक्षेप[पापकारी]प्रतिषेधवादिनैव यथा सामान्याधिकरण्यानुपपत्तेरिति वयं सम्भावयामः, यदि न विषय इत्यादि–यदि वन्ध्यापुत्रोऽसत्त्वाभावात् स्यात् निर्हेत्वादिसद्भावप्रमाणादिसम्बन्धेषु न सम्भवेत्, सम्भवति तु स्व भवितृत्वेन, तत्स्वात्मस्वाभावः, किं तर्हि ? सम्भवत्येवास्य निर्हेत्वादि भवितृसम्भवार्थेषु, तद्यथा–भवत्व तत्सम्भाव्यते द्रव्यं चेतनमचेतनञ्च द्विविधम्, तत्र चेतनस्येत्यादि, इदं हि चेतनमात्मद्रव्यमनाद्यनन्तभवेषु भवितृत्वमुत्पद्यते, कुतः ? कर्मपरिवर्तान्यपरिहारात्, अनाद्यनन्तकर्म-बन्धसन्तानस्य विपरिवर्ताः तिर्यङ्नरक[नर]ामरभवाः ये चानाद्यनन्ता भवस्थिता एव स्वजात्य-परित्यागेनाभ्यवायभवन्त, इतरद्रव्यवत्–पुद्गलद्रव्यवत्, यथा पुद्गलद्रव्यं रूपरसगन्धस्पर्शवत्त्वमूर्त-चैतन्यापरित्यागेन मृत्पुदकज्वलनपवनवनस्पतित्रसस्थावरशरीरस्त्रीत्वोष्णत्वमधुराम्लपीतशीतादिपरिवर्तैर्भवता

चेतनमचितसत्सामान्याभावस्वभावमात्मसामान्याभावादिसर्वदैवविधम्यावाधिमादिहेतुभिरुच्यते तथा च वन्ध्यापुत्रादेर्नामकल्प्यमानसत्त्वनास्तित्वं विज्ञानस्यस्वेरभवद् इत्याह अथ मा भूदेवेति । वन्ध्यापुत्रादेर्नामप्यसत्त्वं नास्तित्वं नास्त्येव एव न मात्रादिविक्षेपविज्ञानास्तित्वादीनामेव यथा मात्रर्थत्वम् निर्हेत्वास्तित्वाभिधिस्विदैरेवानुवदति–अथ वायमिति वन्ध्यापुत्रना-स्त्वामात्राभिमतं नास्तित्वमसिद्धम्, निर्हेत्वाद्यसदस्तित्वाभावविषयं प्रतिषेधवादिना यथा सामान्याधिकरण्यं भवतीति विज्ञान-त्वे भवत्वेन यथा निर्हेते च प्राग् नास्तीति नास्तित्वेन निर्हेत्वसदसत्सामान्याधिकरण्येन तत्र योपपत्तीति वन्ध्यापुत्रेऽपि मत्वेवेति वयं सम्भावयाम इति भाव । यदि वन्ध्यापुत्रस्यास्तित्वं निर्हेत्वाद्यसत्त्वप्रतिषेधविषये न स्यात् तत्स्वात्मस्व-प्रतिषेधविषय एव स्यात् तर्हि निर्हेत्वाद्यसत्त्वप्रतिषेधस्थानेषु न सम्भवेत्, सम्भवति च स्वं भवितृत्वेन निर्हेत्वा-द्यसत्त्वप्रतिषेधविषय इत्याह–यदि न विषय इत्यादीति वन्ध्यापुत्रे नास्तीति स्वात्म इत्यसत्त्वप्रतिषेधविषय एव, स्वं भवितृत्वात् स्वात्मस्वाभावविषय इति भावः । सम्भवत्येवेति वन्ध्यापुत्रस्यास्तित्वं निर्हेत्वास्तित्वाद्यस्तित्वाविभवितृत्वस-म्भवार्थेषु सम्भवत्येवेत्यर्थः । तत्र भवितृत्वमस्वात्मेत्यर्थेनाह–तद्यथेति वन्ध्यापुत्रादेरस्तित्वं सम्भाव्यते द्रव्यं हि चेतनाचेतनभेदेन द्विविधम्, अत्रमपि चानाद्यनन्तपरिवर्तानुभाव्यते इदं हि चेतनद्रव्यमनाद्यनन्तकर्मभवपरिवर्तेषु नरकादिषु चेतनत्वापरित्यागेनान्यथान्यथा भवतीति भाव । अन्यथाभवनमाह–इदं हीति, चेतनमित्यनाद्यनन्तभवेषु भवितृत्वम् एव यत् कर्मपरिवर्तान्यपरिहारात् हेतुरयम्, तत्प्रदर्शयति अनाद्य कर्मणा परिवर्ता ये भवा अन्यथाभावेऽन्यथात्वं नाना-प्रकारेण भवनम्, कर्मपरिवर्तानामन्यथात्वं तत्स्थापितमिति तिर्यङ्नरकनरामरभवाः कर्मणो नानाविधाः ये भवा अनाद्य-नन्तभवस्थता हि चेतनाः कर्मभेदानुभूतेषु तिर्यङ्नरकनरामरभवेषु एकेन्द्रियाद्याकारभवितृत्वानादिपर्यायसन्तानादि-रूपेण चेतनत्वापरित्यागेनान्यथान्यथा भवतीति भाव । दृष्टान्तमाह–इतरद्रव्यवदिति चेतनेतरद्रव्यवत् पुद्गलद्रव्यवदि-त्यर्थः । दृष्टान्तं व्याचष्टे–यथेति पुद्गलद्रव्यं स्वस्वरूपपरित्यागेन–स्वस्व जाति- मूर्तत्वमचेतनत्वं च मूर्तत्वं रूपरसगन्धस्पर्श-वत्त्वम्, तदभावेन तत्तत्स्वरूपापरित्यागेन शीतोष्णत्वमधुरताऽऽम्लत्वपीतत्वादिपरिवर्तान्यनुभवतीति भाव । कर्मोन्मितं

१ सि० क्ष० डे० वन्ध्योत्येवाथ व निर्हेत्वादि भवितृत्वात् । २ सि० क्ष० डे० पुद्गलत्व म् । ३ × × क्ष० वक्ष ।

तथा चानुभवति यथा चेतनात्म[ना] कर्मपरिवर्तानुभाविमनुष्यस्त्रीवन्ध्यात्वाभ्यां प्रत्यावृत्त्य जन्मान्तरे मनुष्यस्त्रोत्पत्तौ स्त्रीत्वोत्पत्तौ वा पुत्रवत्त्वे ग्रन्थार्थ[ा]भेदात् सैव वन्ध्या पुत्रवती जायत इति ।

अत्र वन्ध्यापुत्र इत्येतमर्थं वाक्येन दर्शयति—

अनन्तरभववन्ध्याभावानतिरिक्तत्वात् सकर्मा चेतनोऽवन्ध्यात्वेऽपि तद्वत् बालकुमारयुवा एक एव, अनाद्यनन्तकर्मप्रबन्धात्मकत्वात् ।

अनन्तरभववन्ध्येत्यादिना यावत् प्रबन्धात्मकत्वात् । अवन्ध्यात्वेऽपि कस्मात् ? तद्भावानतिरिक्तत्वात्—तस्मात् पूर्वस्माद्भावादनतिरिक्तः सकर्मा चेतनः, तद्वत्—पूर्ववन्ध्यात्ववत् पुत्रवत्त्वपर्यायसम्भूतावपि, बालकुमारयुवेति दृष्टान्तान्तरं लोकसिद्धं—यथा बालः कुमारो युवेत्यादिपर्यायेष्वपि स एव भवति तथा वन्ध्यापुत्रवत्त्वावस्थयोरेक एव जीव इति, एष तावच्चेतनस्यानाद्यनन्तभवभावित्वात् तद्भावानतिरिक्तत्वात् तत्त्वे वन्ध्यापुत्रास्तित्वमुक्तम् ।

अचेतनस्यापि ब्रूमः तद्यथा—

वन्ध्याशरीरगतानां पुद्गलानामुपष्टब्धानां सूक्ष्मपीठादिस्थत्वसम्भूतौ वन्ध्यया स्त्रिया पुंसा वाऽऽहारितानां पुत्रत्वेनोत्पत्तावपि वन्ध्यापुत्रास्तित्वमविरुद्धम्, तदन्योऽन्यानुगतिमन्तरेण तदभावात्तत्त्वस्यैव तदेव वा, शरीरारम्भवत्, तस्मात् सर्वमिदं सर्वस्वभावमशून्यमुत्पत्तिस्थितिविनाशसहितमेकमनेककारकं स्वपरोभयतोऽस्त्येवेति प्रतिपत्तव्यम्, उक्तन्यायात् ।

(वन्ध्येति) वन्ध्याशरीरगतानां पुद्गलानामुपष्टब्धानां—केशनखदन्तमूत्रपुरीषश्लेष्मरसरुधिरमांसादीनां सूक्ष्मपीठादिस्थत्वसम्भूतौ वन्ध्यया स्त्रिया पुंसा वाऽऽहारितानां रक्तशुक्रादिभावेन चोपात्तानां पुत्रत्वेनोत्पत्तावपि वन्ध्यापुत्रास्तित्वम् तद्भावानतिरिक्तत्वात् अनाद्यनन्तविपरिवर्तान्यथात्वादित्यादिना

भवति—तथा चेतनात्मना इति एवं चेतनोऽपि कर्मणा परिवर्तमानुभवन् मनुष्यभवे स्त्रीत्वेन वन्ध्यात्वेन च भवन् पुनरुत्पत्तिसमये जन्मान्तरे मनुष्यभव एव स्त्रीत्वेनैव यदा पुत्रवान् भवति तदा वन्ध्यात्वपुत्रवत्त्वपर्यायानुभाविचेतनस्य ग्रन्थार्थाभेदेनै-कत्वात् वन्ध्यात्मभावतश्चेतन एव पुत्रवान् जात इति वन्ध्यापुत्रास्तित्वं सम्भाव्यत इति भावः । ग्रन्थार्थाभेदाद्वन्ध्या पुत्रवती जायत इत्येतमर्थमेव प्रदर्शयति—अनन्तरभवेति अनन्तरपूर्वस्मिन्भवे । भाष्ये—अवन्ध्यात्वेऽपीति पुनर्वन्ध्यात्वेऽपीत्यर्थः । अनन्तरभवे—पुत्रवत्त्वपर्यायानुभवस्य पूर्वस्मिन् भवे यो भावः—पर्यायो वन्ध्यात्वरूपः तदनतिरिक्तत्वात्तत्पूर्वपर्यायसम्भूतिरिति चेतने पूर्वोत्तरपर्यायसम्भूतिरपि पुत्रवत्त्वपर्यायसम्भूतावपि द्वयोरप्यवस्थयोः स एव चेतनो भवति न त्वन्यः तस्य चेतनस्यानाद्यनन्तकर्मप्रबन्धात्मकत्वादिति भावः । एक एव चेतनोऽनादिरनन्तेषु भवेषु भवति तत्पर्यायाभेदेनापि पूर्वोत्तरभावेभ्योऽनतिरिक्तत्वात् पुत्रवत्त्वभावेऽपि वन्ध्यैव पुत्रवती जायते वन्ध्यापुत्रास्तित्वं समर्थितमित्युक्तं भवति । ततो चेतनद्वारेणैव वन्ध्यापुत्रास्तित्वं प्रसाध्याचेतनद्वारेणापि तदस्तित्वं प्रसाधयति—वन्ध्याशरीरगतानामिति । वन्ध्याया भुक्तपीतादयः पुद्गला केशनखादयः सूक्ष्मपीठादिस्थाः परिणमन्तः ... यदा वन्ध्यास्त्रियोपभुक्ताः सन्तः ... पुत्रत्वेनोत्पद्यन्ते तदा ग्रन्थार्थाभेदात् वन्ध्यापुत्र एव पुत्रपुत्र इति कृत्वा वन्ध्यापुत्रसिद्धिः । सम्यक्त्वमेव भाष्ये—वन्ध्याशरीरेति । एते पुद्गला एवानाद्यनन्तपरिवर्तेषु ... अनाद्यनन्तपरिवर्तान्यथात्वात्, शरीरारम्भवत्, पुत्रपुत्र एव वन्ध्यापुत्रः पूर्वाभावानतिरिक्तत्वात्, बालकुमारादिवदिति वै पूर्वोक्तन्यायमतिदिशति—उक्तन्यायेति, पूर्वोक्तन्यायादित्यर्थः । ...

न्यायेनाविरुद्धं वन्ध्यापुत्रत्वम्, तदसाधयति–तदन्योऽन्यानुगतिमन्तरेण तदभावात्, यथाऽन्योन्यानुगतिमन्तरेण न भवति तदस्यैव, तदेव वा, शरीरारम्भवत्–यथा शरीरं तेषाम्, पुद्गलानापन्नत्वभवनाति-परिवर्त्यमयातान्योन्यानुगतिमन्तरेणाभावात् तान्येव तानि जीवपुद्गलद्रव्याणि, तथा वन्ध्याया एव पुद्गलाः पुत्रपुद्गलाश्च इत्यविरुद्धं वन्ध्यापुत्रत्वम्, तस्मादस्ति वन्ध्यापुत्रः, तस्मात् सर्वमित्यादि, सर्वस्यैक-पादे साधनदूषणसम्भवात् प्रतिपाद्यप्रतिपादकव्यवहाराभावात् विज्ञानमात्रपक्षस्यापि सर्वैकपुरुषमात्रता-भ्युपगमापत्तेः खपुष्पवन्ध्यापुत्रादिद्रव्याणां च सर्वसर्वात्मकत्वेऽसत्त्वसिद्धेरिदं सर्वमसाधनमदूषणमिति प्रतिपत्तव्यम्, त्वदुक्तपर्यविपर्ययेणाद्यन्यगूढव्यवच्छेदप्रमाणनिर्णयकसदृशरूपावसितिविनाशः सर्वमेव सर्वं एकमनेकात्मकमनुच्छित्तिप्रसङ्गात्मावित् विचित्रवैचित्र्यासद्भावाद् व्यवहारेण प्रत्यक्षपरिकल्पितत्वव्यवहारं कृत्वा परत एव तथा तस्मात् सर्वं न नास्तीति मामनुज्ञाप्यायात् ।

अत्राह–

अथ कथं स्वपरोभयभाव इति अत्र ब्रूमः संसिद्धिरसंयुक्त्यनुत्पादसामग्रीदर्शनस्वात् पर्येनेभ्यो हेतुभ्यः, ससिद्धिरसदात्मभेदैकीभावेन सद्भावः, दीर्घत्वं दीर्घ एव, अपरायत्तत्वात्, तद्धि स्वायत्तमेव, यदि स्वविषयमेव तत्र स्यात् नानामिका मध्यमादीर्घतायामपि कनिष्ठिकातो दीर्घा स्यात्, स्वात्मन्यविद्यमानदीर्घत्वात्, खपुष्पवत् भवति तु दीर्घापि स्वायत्तकनिष्ठि-कापेक्षस्वगतदीर्घत्वपरिणामात्, तथा न च मध्यमा द्रव्यपि दीर्घतायां अनामिकापेक्षात् भवति तु, एवं ह्रस्वत्वमपि ।

इत्यपेक्षया विचिकत्सायेतु यौवन पुद्गलस्य नामतिरिक्त तासयति–तदन्योऽन्येति तदस्यैव तदेव वैति यत्र पुद्गलस्य वन्ध्यापुत्रभावेन वन्ध्यापुत्रस्य एव वैति तदर्थे वन्ध्यात्मभावापन्नपुद्गलनामाभोऽन्यानुगतिमन्तरेण पुत्रभावाभावादिति हेत्वर्थः । दृष्टान्तमाह शरीरारम्भवदिति यथारम्भते वैव शरीरारम्भः स्यात्–शरीरारम्भकपुद्गलद्रव्याणि । दृष्टान्तं व्याचष्टे–यथा शरीरं तथास्मिति सर्वं तदारम्भकपुद्गलमयमेवोक्तं यथ पुद्गलत्वं मूर्तिमत्त्वरूपादिमत्त्वेनानापन्नत्वपरिवर्तनं तथाऽन्यथा नानुभवति तस्य परस्परानुगममन्तरेण भावाभावात्स्वीयं पुद्गलभावेन पुद्गलत्वमेव वा, जीवोऽप्यसत्त्वमन्तरभावमिति सर्व-मनुभवति गत्यादिभिर्बन्धारम्भम्, तथा येनान्योन्यानुगममन्तरेणाभावात् एव जीवद्रव्यमेव वन्ध्यापुत्रस्य पुत्रपुत्रत्वात् वन्ध्यापुत्रत्वं विरुद्धमिति भाव । एवम् वन्ध्यापुत्रत्वस्थापनात् [illegible] सर्वमसत्त्वमस्तित्वं [illegible] तत्रावस्थाय जीवपुद्गलद्रव्याणामापन्नत्वभावप्रतिनियतिवर्तमयातान्योन्यानुगतिमन्तरेणाभावात् सर्वसत्त्वेन सिध्यति न नि तामानपेक्षुस्थं तदधि–तस्मादिति । तस्मादित्यस्य भावार्थमाह सर्वैकत्वसम्भवात् इति सर्वं हि सर्वात्मकमिति द्रव्यत्वस्वभाव-त्वस्थं साधनदूषणसम्भवात् प्रतिपाद्यप्रतिपादकव्यवहाराभावात्–तस्माद्विति विशेषाद् विज्ञानमात्रस्याभ्युपगमे चतुरस्रतामात्रे सर्वैकैकपुरुषत्वापत्तेः खपुष्पवन्ध्यापुत्रादिद्रव्याणां च नास्तित्वमपर्यायेः सर्वसत्त्वाभेदेन सर्वसत्त्वसाधिसिद्धेर्भवितव्याभिमत आपत्तेश्च सर्वतोऽसत्त्वप्रसङ्गेन विशेष तर्हि सर्वं तदावस्थायामसत्त्वमनुत्पन्नमिति भावः । त्वदुक्तार्थेति तेषीदायाविभ्यानाम प्रत्यक्षादिसर्वं प्रमाणेन भवतामवस्थितेन मन्त्रापरमात्मा सूचयत्युदम् यथा सूक्ष्मत्वे न प्रमेया न साध्य न निर्णेय व्यवितिष्ठ तदाऽप्यपि न तत्सुपर्यवस्थितिविनाशात्मकता एवि वसतु तथाऽन्वयविवेकिनस्ते सर्वमसत्त्वप्रदर्शनप्रमाणनिर्णयकस्वरूपाविनाशे-विनाशे । एतस्मादेकमनेकात्मकमनुच्छित्तिप्रसङ्गात्मावित्, विचित्रवैचित्र्याभावात् व्यवहारेण प्रत्यक्षाभिमतत्वव्यवहारं कृत्वा परतः उभयतयास्ये न तु नास्ति तथ्यमायाविति भावः । स्वपरोभयकृतत्व कथमित्याह । अत्र ताभ्याम् सम्य–अथ कथमिति ।

१ सि. क्ष. डे. धनेन्द्र । २ सि. क्ष. डे. य. स्वोपन्यस्ते ।

अथ कथं सापरोक्षभाव इति, अत्र ब्रूमः संसिद्धिसंयुक्तानुत्पादसामग्रीदर्शनसद्भावेभ्यो हेतुभ्यः—संसिद्धिसद्भावात् समितैकीभाव, सर्वे भावा भेदाभिमताः सामान्यान्तर्भूताः परस्परमेकीभूताः सिद्धन्तीत्यत आह—संसिद्धिसद्भावात्मभेदैकीभावेन सद्भावः, संसिद्धिः सद्भावः, सद्निष्पत्तिः, समुत्पत्तिरित्यनर्थान्तरम्, तद्यथास्ति—दीर्घत्वं दीर्घे एव, अपरापेक्षत्वात्—स्वापेक्षत्वादेवेत्यर्थः, तद्धि दीर्घत्वं स्वायत्तमेवानामिकायाः, यदि स्वविषयमे[व] तत्—कनिष्ठिकाह्रस्वतरापेक्षमनामिकादीर्घत्वं स्वात्मत्वेन स्यात्, नानामेक्ष मध्यमादीर्घतायामपि कनिष्ठिकातो दीर्घा स्यात्,—मध्यमां दीर्घां दृष्ट्वा स्वगतेन ह्रस्वतरपरिणामेन ह्रस्वा सती दीर्घा पुनर्न स्यादेवार्थान्तरापेक्षयापि, स्वात्मन्यविद्यमानदीर्घत्वात् खपुष्पवत्, मध्यमायच्च ह्रस्वत्वात्, भवति तु दीर्घापि, स्वायत्तकनिष्ठिकापेक्षस्वगतदीर्घत्वपरिणामात्, तस्मात् स्वायत्तं दीर्घत्वमनामिकायाः, तथा न च मध्यमा ह्रस्वमपि दीर्घतायां—स्वकन्यकत्वापेक्षमध्यमाह्रस्वपरिणामात्तस्मात् स्वगतात् ह्रस्वति, न त्वनामिकापेक्षात् स्वदीर्घत्वपरिणामात्, दीर्घा स्यादिति वर्तते, भवति तु, तस्मादनामिकाया मध्यमायाश्च कनिष्ठिकापेक्षाभिमतदीर्घत्वं स्वायत्तमेव, दीर्घतरापेक्षे ह्रस्वत्वे संवृत्तेऽपि स्वतो ह्रस्वत्वापेक्षया दीर्घत्वस्यापरिच्युतत्वात्, एवं ह्रस्वत्वमपीति, अनेनैव न्यायेन कनिष्ठिकाया ह्रस्वत्वमपि स्वायत्तमेवेत्यतिदिशति, यदि स्वविषयमेव तत्[न]स्यात् न कनिष्ठिकाऽनामिकादीर्घतायामपि सर्वोत्पत्त्यादिभ्यो दीर्घा स्यात् न चानामिका मध्यमादीर्घतायामपीति ।

व्याचिख्यासुराह—अथ ब्रूम इति सापरोक्षभावमभिधित्सुरित्याह—ब्रूमः समाधिमित्यर्थः । नान्यिस्ते वायुरूपानुत्पत्तिमुक्त्वा तारिदेवता विपक्षभावमयं हेतुः नाभिहतमित्यर्थभावमस्य दर्शयति—संसिद्धीति । संसिद्धिसम्प्रायेण संसिद्धिसद्भावादिति संसिद्धिरित्यत्र समुत्पत्तौ एकीभावे—अनेकस्यैकत्वमनयोऽर्थे वर्तते एकीभावेन सिद्धिः संसिद्धिः सर्वे भावा दीर्घत्वादयस्तावस्यो भेदाः सामान्यान्तर्भूताः—आत्मस्वरूपभूताः परस्परमविरोधेनैकीभावेनैव सिद्धन्तीति भावार्थः । अमुमेवार्थं सूत्रकृदाह—तद्यथास्तीति सामान्यात्मना ये भेदास्तेषामेकीभावेन सद्भावः संसिद्धिरित्यर्थः तथात्मभेदानां सद्भावः समुत्पत्तिर्निष्पत्तिरिति समानार्था इति भावः । अनुमित्यर्थमेव दीर्घा कनिष्ठैव दृष्टा, तयोरनामिकाया यद्दीर्घत्वं तद् स्वात्मन्येव दीर्घतामनामिकायामपि स्वायत्तमित्याह—दीर्घत्वमिति अनामिकाया दीर्घत्वस्य परायत्ततामाशङ्क्य, अनामिकायास्तद्वत्, परायत्ते हि स्वात्मन्यविद्यमानस्य दीर्घत्वस्य परतोऽपि सिद्धिर्न स्यादित्यर्थः । अनामिकाया दीर्घत्वं यदि स्वविषयमेव स्यान्न तत् कनिष्ठिकाह्रस्वतरापेक्षमनामिकादीर्घत्वं न स्यादिति नानामिका दीर्घा भविष्यत्—तद्धि दीर्घत्वमिति । अनामिका दीर्घा न स्यादर्थान्तरापेक्षयापि स्वात्मन्यविद्यमानदीर्घत्वात्, खपुष्पवत्, स्वात्मनि दीर्घत्वस्याविद्यमानत्वे मध्यमां दीर्घां दृष्ट्वाऽनामिकाया ह्रस्वत्वपरिणामेन परिणतत्वात्, ह्रस्वदीर्घत्वयोः प्रतिनियतत्वेन कनिष्ठिकापेक्षदीर्घत्वस्याप्यभावादित्याह—नानामिकेति मध्यमादीर्घतायामपि—मध्यमाया दीर्घतायां प्राप्तायामपीत्यर्थः अनामिकोपलक्षणेन मध्यमाया अपि दीर्घत्वं स्वतो न सिद्धयति तथापि तत्र प्रकारान्तरमुपन्यस्यतीति कनिष्ठा दृश्यते व्याचष्टे—मध्यमामिति । न चेदापत्तिः परस्य विपर्ययमित्याह भवति त्विति कनिष्ठिकां दृष्ट्वा दृष्ट्वा स्वगतेन दीर्घत्वेन स्वयमेव परिणततया नामिका दीर्घा भवति, तस्मात्तस्या दीर्घत्वं स्वायत्तमेवेति भावः । अनामिकायाः स्वायत्तदीर्घत्ववन्मध्यमाया अपि ह्रस्वत्वं, कनिष्ठदीर्घत्वं दृष्ट्वा तदपेक्षतया स्वगतेन स्वयमेव परिणतत्वात्, तदुपपादयन् स्पष्टयति—तथा न चेति । न तु मध्यमा अनामिकापेक्षदीर्घत्वपरिणामात् दीर्घा स्यात् तदपेक्षया स्वात्मन्यविद्यमानदीर्घत्वादित्याह—न त्वनामिकेति । भवति तु मध्यमा दीर्घाऽनामिका च तस्मात् कनिष्ठिकापेक्षतयाभिमतं तयोर्दीर्घत्वं स्वायत्तमेव न परायत्तमित्याह—भव तित्यादिति । दीर्घत्वस्य स्वायत्तत्वात् स्वदृष्टापरदीर्घतरापेक्षह्रस्वत्वकालेऽपि तत्र दीर्घत्वमपरिच्युतमेवेत्याह—दीर्घतरापेक्ष इति । एवमेव ह्रस्वत्वमपि स्वायत्तं भाव्यमित्याह—एवं ह्रस्वत्वमपीति । कनिष्ठिकाया दीर्घत्वं यदि स्वविषयमेव तत् न स्यात् अनामिका

---

१ ××सि । २ ५ वे स दीर्घेत्व ।

कस्माद्धेतोः—

स्वगतनानारूप्यानतिक्रमात् एकपुरुषपितृपुत्रत्वादिवत् तथा तथानियमवृत्तेर्द्रव्यवीर्यस्वाभाव्याभावात्, आत्मगता एव हि तास्ताः सापेक्षनिरपेक्षाः परिणामशक्तयः पुद्गलानामन्येषां च।

(स्वगतेति) स्वगतनानारूप्यानतिक्रमात् पश्चादात्मगता एव तास्ताः सापेक्षनिरपेक्षाः परिणामशक्तयः—द्रव्यवीर्यस्वभावपुद्गलनियमानियमवृत्तिमूर्तामूर्तत्वेन[विततत्वा]द्रूपः पुद्गलानाम्, अन्येषां च—आत्मधर्माकाशादीनां स्वे स्वे परिणामाः, जैनेन्द्रदर्शनात् सर्वसर्वात्मकत्वार्पणनये वा विश्वाविश्वमतान्तरे, किमिव ? एकपुरुषपितृपुत्रत्वादिवत्—यथैवैकः पुरुषः स्वपुत्रापेक्षया पितृत्वेन परिणतः स्वपित्रपेक्षया च पुत्रत्वेन तथा मातुलभागिनेयभ्रातृश्वशुरपौत्रदौहित्रभ्रातृव्यभ्रातृव्य [illegible] स्वामिदासादि शक्तिभिः परिणमति सोऽन्यनिरपेक्षश्चैव ज्ञानदर्शनसुखदुःखक्रोधहर्षभयादिभिरूत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणत्वात्, न च ताः शक्तयस्तत्राविद्यमानाः सम्भाव्यन्ते स्वपुत्रादाविव, न च तासां शक्तीनां परस्परं विरोधो नाप्यनवस्था न च सङ्करः, स्वपुत्रापेक्षया पितृत्वस्य नियतत्वात्, एवं शेषाणामपीत्यत आह तार्थेष्विव—तथा तथा नियमवृत्तेर्द्रव्य[स्व]वीर्यस्वाभाव्याभावात् इत्यतद्विरोधाभावोपन्यसनम्, तथा सङ्करानवस्थादोषाभावोपनयनमपि द्रष्टव्यम्, एवं नेतरेतराभावेतरेतराभावासिद्धत्व इति।

पर्वते यथा समवेत [illegible] स्पर्शपरिणामेन [illegible] परिणता तन्मतेन [illegible] पि पर्वो न स्यात्, [illegible] मध्यमा पर्वेषु [illegible] परिणामेन [illegible] परिणता पर्वो न स्यादित्याह—पश्चीति [illegible] त्वादिति [illegible] भाव [illegible] अपेक्षितं [illegible] तस्मिन् [illegible] वर्तते [illegible] सापेक्षं [illegible] सापेक्ष [illegible] निरपेक्षं [illegible] परिणाम [illegible] स्वगतेति [illegible] भावः। सापेक्ष [illegible] परिणाम [illegible] सापेक्षा निरपेक्षाश्च [illegible] सापेक्षा परिणामशक्ति [illegible] निरपेक्षाः परिणामशक्तयः [illegible] परिणामशक्तयो [illegible] तथा [illegible] भवतीति भाव। ननु [illegible] सापेक्षनिरपेक्षपरिणाम [illegible] समवेत परिणम [illegible] त्याह—एकपुरुषेति। सापेक्षपरिणाम [illegible]—पर्येति इति। स्वाभ्यनिरपेक्षपरिणाम [illegible]—स्वाम्येति। [illegible] उत्पादेति [illegible] परिणामा भवन्ति [illegible] भावः। [illegible] पुद्गल [illegible] भवन्तीति [illegible] न वा [illegible] विरोधो वा अनवस्था वा [illegible] वा [illegible] इति। [illegible] विरोध [illegible] तथापीति। [illegible] न वा [illegible] तथा सङ्करेति। [illegible] एवमिति।

1 सि० क्ष० प्र० डे० समतपरिणामकेन।

अनेनैव न्यायेन ह्रस्वसद्भावे दीर्घस्याभावो न भवति, तथेतरेतराश्रयत्वादसिद्धिरपि न, उक्तवत् अत एवाप्रतिबद्धमित्त्वम्, विरुद्धाभिमतसर्वधर्माविरोधवृत्तत्वात्, एवमेव चेतरेतरयोगविचारानवकाश इति ।

(अनेनैवेति) अनेनैव—अगदनानारूप्यानतिक्रमात्स्वैकपुरुषपितृपुत्रत्वभ्रातृत्वानियमप्रवृत्तेर्ह्रस्वत्व दीर्घत्वाद्यभावात् इति दोषपरिहारन्यायेन ह्रस्वसद्भावे दीर्घस्याभावो न भवतीति सद्भावसद्भावदोषपरिहारः कृतो भवतीति, तस्मादेव हेतोरुक्तदृष्टान्तवत्, तथेतरेतराश्रयत्वादसिद्धिरित्येषोऽपि दोषो नास्त्युक्तवत् स्वाश्रयत्वादेव, अत एवाप्रतिबद्धमित्त्वम् विरुद्धाभिमतसर्वधर्माविरोधवृत्तत्वात्, तदित्थं साधनं—ह्रस्वेऽपि च दीर्घत्वमिति पक्षः, द्वितीयो 'दीर्घेऽपि ह्रस्वत्वमिति, एक एव हेतुरप्रतिबद्धमित्त्वादिति, दृष्टान्तस्तीर्थस्याश्रमवत्, दृष्टो ह्रस्वस्यात्मा तेन—ह्रस्वस्वात्मना ह्रस्वत्वेनाप्रतिबद्धमित्त्वात् ह्रस्व भवत्येव ह्रस्वे दीर्घत्वं भवति, दीर्घेऽपि ह्रस्वत्व' दीर्घत्वात्मवदिति विरोधदोषोऽपि परिहृतः इत्थं योऽपि तदनन्तरमितरेतरयोगदोषोद्भावनाय विचारः कृतः, तस्यानवतार एव स्वपरोभयेभ्यो भवनं सर्वभावानां विरोधाभावमतिशायनादेव तद्वद्दोषपरिहारस्यापि कृतत्वादत आह—एवमेव चेतरेतरयोगविचारानवकाश इति गतार्थः एव तावत् स्वपरोभयभावसंसिद्धिः सिद्धा ।

संयुक्तेरपि च स्वपरोभयभावाः, इह भाव एव भावो नाभाव इति, स च भावः तदतद्वीतानागतवर्तमानेष्वविशिष्ट एव, तद्भावे भावात् तदभावे चाभावात्, पटपांशुकार्पासतन्तुपटवत् सर्वसर्वात्मकमिति स्थितेऽस्मिन् न्याये तत्रास्त्येको घट इति प्रमाणामेकत्वे यत्रैकत्वं तत्रास्तित्वस्यापि निष्फलेन स्वतत्त्वेन भवितव्यम्, अनर्थान्तरत्वात्, अत्र यस्यानर्थान्तरत्वं तत्र तस्य निष्फलमेव स्वतत्त्वं, एकस्मिन्नेकत्वस्वतत्त्ववत्, अस्तित्वस्वतत्त्वञ्च सर्वभावा इति यदुक्तं तत् सर्वघटत्वैकं वस्त्विष्यतो ममेष्टमेव ।

तदेव प्रतिपादयति—अनेनैवेति । न्यायेन—स्वगतेति, नैकविधपरिणामप्रतिबन्धेऽपि वस्तुनस्तेषु भावा विरोधेन भवन्ति तत्स्वभावेन ह्रस्वसद्भावे दीर्घत्वस्य दीर्घत्वसद्भावे ह्रस्वत्वस्य सद्भावो नास्तीति विरोधं परिहृत्य तत्र सद्भावस्वभावदोषो नास्ति, एकपुरुषपितृपुत्रत्वादिवदेव तदभिमतप्रतिपत्तिरिति भावः । एवमेवेतरेतराश्रयत्वादसिद्धिरपि नास्ति—तथेतरेतरेति ह्रस्वदीर्घत्वयोः परापेक्षाभावमनुसृत्याह अत एवाप्रतिबद्धमिति भाव । सर्वेषां धर्माणां ह्रस्वदीर्घत्वपूर्वपक्षादीनां विरुद्धाभिमतानामप्यविरोधेन वर्तमानत्वं न प्रतिबद्धमित्यभिप्रायात् अत एवेति ह्रस्वत्वादिधर्मास्तु अत एवाप्रतिबद्धा तथैव दीर्घत्वादिष्वपि समाविष्टोऽस्तीत्यर्थः । तदाश्रयमनुमानं प्रयोक्तुं आह—तदित्थमिति । ह्रस्वेऽपि चेति ह्रस्वत्वविशिष्टे वस्तुनि दीर्घत्वं वर्ततेऽप्रतिबद्धमित्त्वात्, एवं दीर्घत्वविशिष्टे वस्तुनि ह्रस्वत्वं वर्ततेऽप्रतिबद्धमित्त्वादिति प्रयोग दृष्टान्तो यथाक्रमं ह्रस्वात्मवत्, दीर्घात्मवदिति । दृष्टान्तं व्याचष्टे—दृष्ट इति । यथा ह्रस्वेऽनुभूयमाने ह्रस्वे ह्रस्वात्मा ह्रस्वत्वाविरोधेन वर्तते तथा ह्रस्वे दीर्घत्वमविरोधेन भवति, यथा वा दीर्घे दीर्घात्मा दीर्घत्वाविरोधेन वर्तते तथा दीर्घे ह्रस्वत्वमविरोधेन भवतीति भावः । ननु ह्रस्वे ह्रस्वदीर्घत्वयोर्दीर्घेऽपि तयोरविरोधेऽपीतरेतरस्य योग [illegible] तदभावे [illegible] दीर्घे भवति ? [illegible] दीर्घे एव वर्तमान [illegible] दीर्घे भवतीति [illegible] को विचारः [illegible] एव [illegible] सर्वेषां भावानां [illegible] विरोधाभावस्य प्रतिपादितत्वात् [illegible] परिहारो [illegible] इत्यर्थः याऽपीति । तदेवं स्वपरोभयेभ्यो भवनानां [illegible] निर्दिशति—एवं तावदिति ।

१ सि. क्ष. डे. दीर्घत्वमपि । २ सि. क्ष. डे. ह्रस्व । ३ भा. ह्रस्व । ४ सि. क्ष. छा. डे. ह्रस्वात्मवदिति ।

(संयुक्तेरपि चेति) संयुक्तेऽपि च सपरोक्षभावः तद्भावयति—इह भाव एव भावो नाभाव इति—सर्वमिदमुक्तं भवत्येव भवति वस्तु न न भवतीत्युक्तत्वात्, सैवास्ति, स च भावः तदवस्थितामव्यक्तवर्तमानेषु—तस्मिन् अतस्मिंश्च भूते वर्तमाने वर्त्स्यति च देशकालविशिष्टाभिमतेषु अविशिष्टः—एव एव, कस्मात्? [तद्भावे भावात्] तदभावेऽभावात् तेषु तेषु सर्वेषु भवत्स्वेव भवति अ[भवत्सु न]भवत्सु वा तद्भावे भावात्तदभावे चाभावादविशिष्ट एव तेभ्य एकः, किमिव? घटपांसुकार्पासतन्तुपटवत्—यथा घटः कपालशर्कराभिक्रमेण पांसुभूतः पांसुरेव सन् भूमिकार्पासबीजसम्बन्धात् कार्पासीभूतायां तन्तवः तन्तुभ्यः पट इति क्रमेण घटपटैकत्ववत् सर्वसर्वैकत्वमिति, स्थितेऽस्मिन् न्याये तत्राप्येको घट इति भवाभावैकत्वम्, एवं सति चैकत्वे घटैकस्य तत्रास्तित्वस्यापि नित्यत्वेन सातत्येन भवितव्यम्, कस्मात्? अनर्थान्तरत्वात्, अस्य इतोः साम्येनाभिवर्तं भवद्यैते—यत्र यत्रैतस्यापि यावत् सत्त्वं भवतीति गतार्थम्, किमिव? एकस्मिन्नेकरसत्वस्थितवत्—यथैकस्मिन् वस्तुन्येकरसत्वस्य ततोऽनर्थान्तरत्वात् नित्यत्वमेव भवति, तथैकत्वेऽस्तित्वमपि नित्यत्वमेव भवितुमर्हतीति, अस्तित्वसत्त्वत्वाश्च सर्वभावा इति परेषामिष्टमापादयितुमुक्तम्, मम तु सर्वस्थिति एक अस्तित्वमस्य इष्टमेवेति न दोषः।

किञ्चान्यत्—

यत्रास्तित्वमित्यादि पूर्ववत्, न मे कश्चिद्दोषः, मत्पक्षसाधना एव ते हेतवः।

एवं सपरोक्षभावसंयुक्ति [illegible]—संयुक्तेरपि चेति। व्याख्याति—तद्भावयतीति अत्र [illegible] एवं भवत्येव न कश्चिदभावो नाभावोऽस्ति वस्तुनः [illegible] तथा तथा भवत्येव भवति वस्तु नाभवद्भवति, [illegible] भवति, न [illegible] इति भावः। [illegible] स च भाव इति [illegible] न भूते वर्तमाने भविष्यति चाविशिष्ट एव भवति न [illegible] एव भवति [illegible] तदभावे न तु [illegible] भेदो न वा [illegible] एव—एक एवेति भावः। हेतुमाह—तद्भावे भावादिति। हेतुं व्याचष्टे—तेषु तेष्विति। दृष्टान्तमाह घटपांसिति यथा एव क्रमेण घटो भवति यथा घटः [illegible] भवति तथा [illegible] भवति न [illegible] भवति सा भूमि सा पांसुः स एव, तत्र च कार्पासबीज[illegible] तेन कार्पासो भवति स तन्तुभवति सोऽपि पटो भवति, एवं च एक एव [illegible] न ततो विशिष्टो घटः [illegible] सर्वभावानामपि [illegible] एकत्वम्, [illegible] एव [illegible] तेषाम् [illegible] एव स इति भावः। एवमेव एवं सर्वात्मकं भवति तथा चास्तित्वे च [illegible] एवं घटैकत्वे तत्रास्तित्वमपि नित्यत्वेन सातत्येन भवितव्यम् अनर्थान्तरत्वात्, [illegible] तत्र तत्र नित्यत्वेन भवति [illegible] अस्तित्वसत्त्वाच्च सर्वभावा इति सर्वभावानां [illegible] इति [illegible] दोष [illegible] एव अस्तित्वे मे नैव दोष इति प्रतिपादयति स्थितेऽस्मिन् न्याय इति। अत्र दृष्टान्तमाह—एकस्मिन्निति। [illegible] सर्वभावा [illegible] सर्वभावानां [illegible] इति परेषामिति। एवं द्वितीयं भाष्यं—यत्रास्तित्वं तत्रैकत्वमपि नित्यत्वेन सातत्येन भवितव्यम्, तदनर्थान्तरत्वात्, [illegible] तत्र तत्र नित्यत्वेन भवितव्यम् [illegible], [illegible] एवमुपपादयति—यत्रास्तित्वमिति। [illegible]

१ सि क्ष. [illegible] । २ सि. [illegible] ।

यत्रास्तित्वमित्यादि द्वितीयमनियमपादनसाधनं परेणोक्तं तदपीदमेवेति पूर्ववत्परिहार इति मन्यमानस्यैव साधनं पूर्वमित्यतिदिशति, तद्यथा—यत्राखिलं तत्रैकत्वस्यापि निष्कलेनैव सदत्त्वेन भवितव्यम्, ततोऽनर्थान्तरत्वात्, यत्र यस्मानर्थान्तरत्वं तत्र तस्य निष्कलमेव सदत्त्वमखिलेऽखिलसदत्त्ववत्, एकत्वसदत्त्वञ्च सर्वस्मिन्नेकैकस्मिन् एकैकमप्येकत्वञ्चेत्यतोऽखिलैकत्वाभ्यामनन्ये सर्वभावाः, के च ते ? घटादयः—घटपटादयः एकश्च घटः तदनन्यदखिलम्—एकघटादनन्यदखिलं तस्मादेकघटाभ्यामनन्यत्वादखिलादनन्ये सर्वभावाः, अतः—एकस्मादव्यतिरेकात्, सर्वमेव घटपटादि, सर्व घट इति सत्त्वेनैकत्वाव्यतिरेकद्वारेण घटैकत्वाखिलाभ्यां सर्वभावघटस्य यथा एवं घटे सर्वसिद्धिः, अखिलाव्यतिरेकादेकत्वाव्यतिरेकाच्चेति घटे सर्वसिद्धिरुक्ता, तथा घटत्वमित्यादिना घटेऽखिलैकत्वाव्यतिरेकादनर्थान्तरत्वाद्विनाऽखिलैकत्वाव्यतिरेकात् घटवत्सर्वः, पटादिरपि घटः तथाऽऽदिः—तदेकादिरपि घट एव यावाम् भावः, न मे कश्चिद्दोषो मत्पक्षसाधना एव त इत्यतः।

तन्निदर्शनं देशभेदमात्रे तावत्—

ऊर्ध्वमध्यमभूमिदेशभेदेऽप्यभिन्नः स एवैकोऽस्ति च घटः, बालकुमारादिभेदे स एवैको नरः, तथा सर्वभावाः, तथा च सर्वात्मकमेव वस्त्विति प्रत्यक्षादिप्रमाणैरुपलभामहे, अतोऽन्यथा प्रत्यक्षादिविरोधात्, एवं चेभेऽप्यन्ये मयुक्तं सर्वं घटोऽस्त्येक इति प्रतिपत्तव्यम्, घटानर्थान्तरत्वात् घटस्वात्मवदिति।

(ऊर्ध्वेति) ऊर्ध्वमध्यमभूमिदेशभेदेऽप्यभिन्नः स एवैकोऽस्ति च घटः, कालमात्रभेदेऽपि—बालकुमारादिभेदे स एवैको नरः, तथा सर्वभावाः परस्परतो देशकालाकारादिमात्रभेदेऽप्येकभवनाविशिष्टत्वात्

द्यपगमेऽप्यनेन यत्राखिलं तत्रैकत्वस्यापि निष्कलेनैव—निरवयवेनैव सदत्वेन भवितव्यम् यदि ह्यखिलं सर्वं तदैकत्वस्यापि निरवयवेन सर्वात्मकभावेन सत्त्वं स्यात्, ततोऽनर्थान्तरत्वात्, यत्र यस्मानर्थान्तरत्वं तत्र तस्य निष्कलमेव सदत्वम्, यथा यदि यत्किञ्चित्सदत्वं ततोऽनर्थान्तरत्वादिनिष्कलमेव भवति तथाऽखिलस्यापि सदैकत्वस्यापि निष्कलमेव भवितुमर्हति एकत्वसदत्त्वञ्च सर्वस्मिन्नेकैकस्मिन् वस्तुन्यखिलमेकत्वं चास्ति, तस्मात् सर्वेषामेव वस्तूनामखिलैकत्वसदत्त्वादनन्यत्वमिति द्वितीयं साधनं परोक्तं पूर्ववदिति परेणाभिहितमिति सूत्रकार इत्याह—द्वितीयमिति। तत्रमतिदिश्यमानमन्यथमाह—तद्यथेति। अखिलैकत्वाभ्यामनन्ये सर्वभावा इत्यस्य भावार्थमाह—के च त इति एकघटानर्थान्तरं घटः तस्मादनर्थान्तरमखिलम् एकघटानर्थान्तरत्वादनर्थान्तरमखिलम् एकघटाभिन्नत्वादखिलादभिन्नतया घटाभिन्नपटादेः तस्मात् वस्तु निरवयवेनैकत्वसदत्त्वं भवति, एवञ्च घटपटादेरनर्थान्तरत्वम्, सर्वात्मकत्वमिति भावः। अखिलानर्थान्तरं घटः तस्मादनर्थान्तरं, अखिलानर्थान्तरत्वादनर्थान्तरमेकत्वम्, अखिलाभिन्नघटाभिन्नत्वस्य सर्वस्मिन्नेकैकस्मिन्नभावादनन्यतया तस्मात् तत्र च निरवयवेनाखिलसदत्वमपि भवतीति घटे सर्वभावसिद्धिः पूर्वोक्तेन घटः सर्वमिति द्वितीयेन सर्वात्मकत्वं च सिध्यति तथा च सर्वसर्वात्मकत्वसिद्धिरित्याह सर्वं घट इति। एवं घटस्य सर्वात्मकत्वसाधनप्रकारेण पटादीनामपि तथात्वमतिदिशन्नाह—तथा घटत्वमित्यादिनेति, यत्र घटस्य तदखिलैकत्वस्यापि निष्कलेनैव सदत्वेन भवितव्यम्, अनर्थान्तरत्वात्, यत्र यस्यानर्थान्तरत्वं तत्र तस्य निष्कलमेव सदत्वं भवति तस्मादेकैकं घटादिपटादिकमपि सर्वं सर्वात्मकम् एवं घटवदन्यदपि सर्वं तदनभिप्रायमपि सर्वैकैकं घटे भवति—सर्वात्मकं भवतीति सर्वसर्वात्मकत्वं सिध्यतीति भावः। तदेवैतत्परोक्तमपि साधनानि मत्पक्षस्यैव न प्रतिकूलानि परेणोक्तसाधनानि स्वपक्षपोषकाणीत्याह—न मे कश्चिदिति। अथ सर्वभावानामभिन्नत्वमेकत्वं प्रत्यक्षादिना यत्र देशभेदेऽपि कालभेदेऽपि भेदाभेदे निदर्शनं सर्वस्यापि सर्वात्मत्वे ऊर्ध्वमध्येति। तत्र देश

भिन्न एक एव भावो भिन्न इवाभाति यथा येषामिति, एवमुक्तन्यायेन सर्वात्मकमेव–अस्ति नित्यं सर्वगत सर्वमेकस्वभावञ्च वस्त्विरयसि प्रत्यक्षादिप्रमाणैरुपलभामहे, अतोऽन्यथा प्रत्यक्षादिविरोधाः—घटस्य घटरूपस्य पर्यायसत्त्वमुपलभ्यमानस्य प्रतिपरिवर्तस्य प्रत्यक्षदर्शनात् प्रत्यक्षविरोधः, तद्वदेव सर्वात्मकत्वमिष्यते। तादृग्विधार्थानुमेयत्वादनुमानविरोधः, लोकागमाभ्युपगमस्वपरवचनविरोधाः, स्वपरलोकप्रसिद्धसाधनमुपसंहारादाराभ्युपगमात् अस्मेकत्वाभ्यतिरेकाच्च तेषाम्, एते येषेऽप्यन्ते–मा भूवन्नेते दोषा इति मतुक्त मावतिष्ठित् तस्सर्वं घटोऽस्त्येक इति प्रतिपत्तव्यम् कस्मात् ? प्रधानपर्यायान्तरत्वात्, भवत्स्वात्मवचिरि साधनस्मुपसंहारार्थम्, एवं तावत् प्रमाणामेकत्वे नास्ति दोषः।

अपुनरवक्तव्यमस्तोकमवबानो यथार्थं मानात्वे विपरीतस्वभावत्व घटपटादुत्वमभावस्तत्र प्राप्नुवन्तीति विकल्पान्तरासङ्ख्या विचारान्तरं कृत्वा वयं ब्रूमः—

विपरीतस्वभावत्वादुत्पादाद्यङ्गनवतार एवमन्यत्वानभ्युपगमात्, नन्वन्यथा तावत् प्रत्यक्षादिभिरुपलभ्यते नास्तीति, तद्यथा घटः पटत्वेन नास्ति पटोऽपि घटत्वेनेत्यादि, घटो हि घट एवोपलभ्यते न त्वसौ पटोऽपि, अथ पुनस्त्वमसतेन सर्वरूप उपलभ्येत, न तूपलभ्यते तस्मान्नास्ति पटादित्वेनेति पररूपेणाभावः, तथा स्वरूपेणाप्यभावः पररूपासत्त्वात् खपुष्पवदिति।

नानात्व सर्वमप्युक्तमोपादानवेषा भेदेऽपि च घट एव एकात्मेव येषे वैषम्येऽप्यभेद घटस्य घटत्वस्य नाम्नैवमारव्यैकमात्रं स्यादप्येषा भेदेऽपि च घट एव एवास्ति एवं सर्वभावा अपि वैषम्यत्वप्रतातिभेदेऽपि एक एव भाव, एकभावनिर्दिष्टत्वात्सर्वत्रादिविविक्तादिविलक्षणादिनिर्दिष्टत्वस्य स एव येषामवक्तव्या भिन्न इव भवन्त इत्याह रूपाद्येकमप्युमेति। प्रतिपादयिष्यमाह—एवमुक्तन्यायेनेति, सर्वाभिमेदमावस्य नानाविमेदनत्वस्य सर्वभावा अभिविद्या सर्वात्मका एवम सर्वात्मकं वस्तु, भाव एव भावो भवति नानात्वस्यादविवक्षा विवक्षानपर्यायान्तरत्वात् सर्वगतं तथावस्थानमनवस्थानात् सर्वमेकस्वभाव मस्तीति भाव। एवमेव वस्तु प्रमाणैरुपलभ्यत इति न त्वनुक्ता प्रत्यक्षादिविरोधा तस्य हि घट एव स्वात्मप्रत्यक्षेण पदार्थसिद्धः पर्यायादिरीतिमत्त्वात्, क्रमेण पर्यायसत्त्वमुपलभ्यमानो भवति प्रत्यक्षे घटो मृत्पिण्डादिपर्यायसमुदायेन च एव मृत्पिण्डे च एवोपलभ्येऽस्तीति, तस्मात् सर्वपर्यायसमुदायाभावः एव प्रत्यक्षादिविरोधो अभ्युपेतव्य प्रत्यक्षादिरीति। सर्वसर्वं तद्वदेव प्रत्यक्षसमानत्वादनुमानविरोधः साधितमाह—तद्वदेवेति सर्वात्मकं सर्वत्र सर्वात्मकत्व इत्यर्थः। लोकादिविरोधमाह—लोकागमेति लोकविरोधागमविरोधाभ्युपगमविरोधस्ववचनविरोधाः एतेषां प्रत्यक्षानुमानात् प्रत्यक्ष सर्वसर्वात्मकत्वप्रत्यक्षादावनभ्युपगमे विरोधा एते सुगमेति भाव। तत्प्रमाणस्य न्यायत्वात्, तस्य परस्य लोकस्य च प्रसिद्ध ये हेतव तदेषा प्रतिज्ञादय हेतुमाहात्म्यदेषा अविसंवादको दृष्टान्तः दृष्टान्ताभासा उपनयनिगमनस्य प्रत्याख्यानिरुपा अभ्युपगम्यन्ते ते यदि तेषां सर्वसर्वात्मकत्वात् ततोऽन्यथाऽनभ्युपगमे ते विरोधा अत्रैव प्रत्यक्षे प्रत्यक्षं, अक्षरेण प्रतिज्ञा, अस्तेव एकत्वैकत्वमेवार्थं तेषा प्रतिज्ञाय यथाविकल्पविधाविधानेन सर्वसर्वात्मकत्वसाधनविवक्षा—स्वपरेति। तथा प्रत्यक्षादिविरोधा यदि नेष्यन्ते तर्हि भेदस्वभावत्वाभावात् सर्वं घटोऽस्त्येक, प्रधानपर्यायान्तरत्वात् प्रधानपर्यायस्यैव सर्वे घटो वा सर्वभावा अभ्युपेया एवैषि सर्वात्मकत्वमेकत्वमेकस्यैकत्वमेकात्मा न्यायमेवैषां न कोऽपि दोष इत्याह—एते येषेऽप्यन्त इति। एवं तथाऽस्तोकयथाभावो—यदि यत्सत्तोकत्वाभावः विपरीततादात्म्यस्वभावतापि विपरीतता स्यात्, एकस्यैव च घटस्य बहुत्वं स्यात्, अस्त्यपि घटो नैव एषोऽपि घटो नैव पटोऽपि घटो नेत्येवैषि, अन्यथा तथात्वं विशेषैकत्वं घटादेरेकत्वमपि, तत्र यदि ते घटादेर्भेदान्तरमुक्त तथा हि तादात्म्यतादिविविक्तत्वात् घटादेरसत्त्वेन स्यात् खपुष्पवदिति ये भेदा उच्यन्ते न भवन्ति अस्त्येव घटस्वभावपर्यायान्तरस्येकत्वमभ्युपगमादित्याह—विपरीतेति। सर्वगतिमभ्युपेतं वस्तु, एवमुक्तविकल्पानवस्थिति प्रतिज्ञाय तदात्मभेदेऽभिमाचेन घटादयनेकत्वाऽनभ्युपगमात्, अस्तेकत्वपर्यायान्तरतया अप्रसिद्धत्वात् खपुष्पवदित्यत्र-

(विपरीतेति) विपरीतसमाधानानुसारापाशङ्कानवतार एव, अभ्युपगमात्, सर्वमर्वात्मक-वस्तु तदात्मभेदैकीभावेन संसिद्धिसद्भावाभ्युपगमात्प्रतिज्ञातस्यारोपस्य सत्समतिविलसितमात्रमेव ते, तस्मात्तद्विकल्पस्वदोषा नास्माकं बाधन्त इति, अथोच्यते—नन्वन्यथा तावदित्यादि, इदं तावदाशितं प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धं घटादावन्यरूपेण प्रकारेण अप्रूपाप्यन्यरूपेण, घटोऽपि पटात्, उष्ट्रोऽपि गर्दभादन्यः अन्यथा प्रत्यक्षादिभिरुपलभ्यते नास्तीति, तद्यथा—घटः पटत्वेन नास्ति पटोऽपि घटत्वेनेत्यादि, तद्भावयति—घटो हीत्यादि, किमुक्तो भवार्थे यस्माद्घटो घट एवोपलभ्यते न त्वसौ पटोऽपीत्युपलभ्यते, तस्मात् प्रत्यक्षत एव घट एव पटत्वे(न)नास्ति, अथ पुनस्त्वन्मतेन यदि तु सामान्ये घटस्य तदात्मकत्वैकत्वे स्यातां तत्स्वतुल्यपर्यायेन सर्वरूप उपलभ्येत, घटः पटाद्यन्यतमादिरूपो न तूपलभ्यते, तस्मान्नास्ति पटादित्वेनेति पररूपेणाभावः तथास्वरूपेणाप्यभावः पररूपासत्त्वादिति भावः, खपुष्पवदिति ।

अत्र ब्रूमः—

को वा ब्रवीति नोपलभ्यत इति, ननु भोः त्वं नाम सर्वात्मकमुपलभ्यमानमप्यपलप्य शून्यं कर्तुमिच्छसि, न पुनरहमुपलभ्यमानमेव सर्वरूपं सन्तं कर्तुं शक्नोमीत्यहो साहसम्, घटो हि मृत् मृन्मयत्वात् मृदः पृथिवीत्वं तदात्मत्वात् पृथिव्या द्रव्यत्वं तद्विकारत्वात्, द्रव्यस्य भव्यत्वात् भव्यस्य भवितृत्वात् भवितुः सत्त्वात् सदस्ति भाव इति घटपटादिसर्वं परस्परस्वरूपं इत्यवधिति न किञ्चिदेतत्, अन्यथा तावत्तस्यैव घट इति ।

को वा ब्रवीतीत्यादि, सर्वरूप उपलभ्यत एव, नोपलभ्यत इति त्वमुक्तावेवमुच्यते, न[नु]भो इत्यादि, त्वं नाम सर्वात्मकमुपलभ्यमानमप्यपलप्य शून्यं कर्तुमिच्छसि, न पुनरहमुपलभ्यमानमेव सर्वरूपं सन्तं कर्तुं शक्नोमीत्यहो[1] साहसम्—उपलब्धिः सर्वलोकप्रमाणा सा चाऽपलभ्यमाना पूर्वोक्तसर्वप्रमाणविरोधिता ते वचसः सम्पादयति तस्मादयुक्तो भवतोऽभिमान इति भव्यो गवार्थस्तात्र विक्षिप्यते, तद्यथा घटादय भवात्

प्रत्यक्षादिविरोधेऽप्येवं केवलं विकल्पविलसितमात्रमेव प्रत्यवस्यति, नास्माकं बाधकं तदो बाधा भवतीति व्याचष्टे—सर्वेति । सर्व-सर्वात्मकत्वे दोषमाशङ्कते—नन्वन्यथेति अन्यतो हि प्रत्यक्षादिभिरन्यप्रकारेण नास्तीत्युपलभ्यते यथा घटादि तदन्यप्रकारेण-त्वात्, उष्ट्रोऽपि तदन्यप्रकारेणान्यत्र, घटः पटादन्य, उष्ट्रो गर्दभादन्य इति प्रत्यक्षादिभिरुपलभ्यते तेन सर्वात्मकं सामान्यं नास्तीति भाव । तदेवाऽऽवश्यमाह—तद्यथेति घटः पटत्वेन नास्ति पटोऽपि घटत्वेन नास्तीति । एवं च घटस्य घटत्वान्यत्वेऽनुपलम्भात् घटादिरूपतया नानुपलभ्यमानात् प्रत्यक्षो घटः पटत्वेन नास्ति न तु घटादित्वेनाभावात्मकत्वादसाविति सामान्यमस्तित्वं नेति भावमवधीनाह—तद्भावयतीति, प्रत्यक्षादिभिर्घटस्योपलम्भप्रकारेण नास्तित्वेनान्यं भावयतीत्यर्थः । यदि वस्तु तव मतेन सर्वतदात्मकं भवितव्येकत्वे सामान्यमेवैकत्वमनुस्यूतं भावनात्मत्वात्, तर्हि सर्वरूपो घट उपलभ्येत न तु घटान्तरपदादिरूपतया घटस्यो-पलम्भोऽस्तीति तस्मान्नास्ति घटः पटादित्वेनेति पररूपेण तदभाव भावः अथ पररूपेण नास्ति च स्वरूपेणापि नास्त्येव खपुष्प-वदिति प्रसङ्गमेव दर्शितवान्—अथ पुनरिति । पररूपेणासत्त्वेऽनुपलभ्यमानं निराकरोति प्रत्याचष्टे—को वा ब्रवीतीति । सर्वात्मकत्वं घटादेः सर्वत्वमुपलभ्यत एव नोपलभ्यत इति न कोऽपि वक्ति, अपितु त्वमुक्तावेव तथा मया सूक्तं इत्याह—सर्वरूप इति । ननूपलभ्यमाने सर्वत्वं सत् प्रमाणैरनुपपत्तिभिर्न शक्नोमीति मतेन त्वयोपलम्भेन तत्रैव प्रत्यक्षो प्रत्यक्षविरु-ध्यते तदेतत् साहसमेवेत्याह—त्वं नामेति । व्याचष्टे—उपलब्धिरिति सर्वस्योपलब्धिभिर्विकल्प्यमाना येन तदित-परित्योक्तत्वविपर्ययस्य पूर्वाभिहितप्रत्यक्षप्रमाणविरोधित्वं प्रसज्यतीति त्वन्मतेऽयुक्त इति भावः । सर्वस्योपलभ्यमानस्यापि घटादि-वस्तुनः सर्वरूपतां भावयतीत्याह—तद्यथेति । घट इति, घटो हि मृत् मृन्मयत्वात्-पृथिव्यात्मकत्वात्सूक्ष्मत्वेन पृथिवीत्वं तस्य द्रव्यत्वं

सर्वरूपं भवतीत्येतद्भावयितुमाह–घटो मृत्, मृन्मयत्वात्, मृत्त्वं घटस्य सिद्धं मृदः पृथिवीत्वं तद्रूपत्वात् पृथिव्या द्रव्यत्वं तद्विकारत्वात्–सत्त्वभिन्नत्वात्, द्रव्यस्य भव्यत्वात् भव्यस्य भवितृत्वात् भवितुः सर्वत्वात् सर्वं हि भवद्भवति तत्र सदस्ति भाव इति पर्यायाणि सर्वं परस्परस्वरूपं तस्मात् सर्वस्य सर्वत्वात् सर्वरूपो घट उपलभ्यते, किमिव ? एकवत्–यथा एकोऽङ्गुलिपर्वसन्धिरेखादिसर्वरूप उपलभ्यते सर्वस्य तुल्ययोगक्षेमत्वात् तथा घटोऽपि सर्वात्मकत्वात्सर्वरूप उपलभ्यत एवेति न किञ्चिदेतत् अन्यथा तावन्मात्र एव घट इति अन्यथा तथापि च घटस्य सत्त्वाद्यन्यथाऽसिद्धेरिति ।

अथोच्यते भिन्न एवासावर्थो भिन्नप्रकारत्वात्, षाडिमतिमाडिमतिवचनवदिति तच्च न तुल्यत्वात्, येन प्रकारेणैकस्यात्मलाभस्तेन प्रकारेण सर्वभावानामिति सर्वोऽप्यभिन्नोऽसावर्थः, आत्मलाभेऽभिन्नप्रकारत्वात्, एकवत्, न हि ताभ्यामस्तित्वैकत्वाभ्यां घटस्यान्यत्वमस्ति, घटात् सर्वमेव भावस्तयोरन्यत्वम् तदनन्यत्वे तेषामपि घटात्मकत्वं तदनर्थान्तरत्वात्, घटस्यात्मवदिति ।

(अथोच्यत इति) अथोच्यते अन्यत्वं यदि साधयामि–भिन्न एवासावर्थो घटः पटादिभ्यो भिन्नप्रकारत्वात् षाडिमतिवाडिमतिवचनवत्, पर्यायसन्निधानभवनाभिन्नप्रकारभेददर्शनात् नासिद्धिर्हेतोः अतोऽन्यत्वे सिद्धे तदुपलब्धिरपि भिन्नप्रकारैवेति न स्यात् सर्वरूपोपलब्धिरिति तच्च न तुल्यत्वात्–नैवमुक्तं तुल्यत्वादस्य हेतोरस्मदर्थसाधनत्वेन तद्भावना–येन प्रकारेणैकस्यात्मलाभो घटस्य तेन प्रकारेणाविशेषेणैकत्वाविना सर्वभावानामप्यात्मलाभो हेतुप्रकारभेदाभिन्नतोर्मूमव्याघोषाग्नवधुवमभपुष्पवानिम, [भिन्नार्थ] अतः प्रतिज्ञायते–सर्वोऽप्यभिन्नोऽसावर्थ इति, तत्र सिद्धिः स एव हेतुः–आत्मलाभे भिन्नप्रका-

---

घटस्य सिद्धम्, सा च मृद् पृथिवीत्वरूपत्वात् पृथिवीविशेषत्वात् पृथिवी सापि पृथिवी द्रव्यम्, [illegible] भवितृत्वात् [illegible] भवितृत्वं सर्वं तद्विकारत्वात्, द्रव्यस्य भव्यत्वाविशेषविशेष्यत्वात्, भव्यस्य भवितृत्वात् [illegible] भवितुः सर्वत्वादिति । एवम् भवत्सर्वं निखिलं वस्तु सत् अस्ति भाव इति अन्योन्यपर्यायत्वात् सर्वमेकम्, तस्मात्, सर्वस्य घट उपलभ्यत इत्याह–सर्वं इति । निदर्शनमाह–एकवदिति । [illegible] एकः अङ्गुलि [illegible] न [illegible] ऐषा [illegible] सर्वरूप उपलभ्यते एवेति योगक्षेमत्व इति [illegible] न किञ्चित् निरर्थकमिति भावः । [illegible] अन्यथा [illegible] [illegible] अन्यथेति । ननु [illegible] [illegible] वस्तुना [illegible] भिन्नार्थ एव न हि [illegible], तस्मात् [illegible] [illegible] [illegible] भिन्नार्थ [illegible]–अथोच्यत इति । [illegible] भिन्नत्वं [illegible]–भिन्न एवासाविति [illegible] [illegible] भिन्नप्रकारत्वात् [illegible] । भिन्नप्रकारत्वं [illegible] घटस्य [illegible] एव घटस्य [illegible] [illegible], घटस्य [illegible] [illegible], [illegible] वस्तुना [illegible] [illegible] भिन्नत्वं [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible]–[illegible] न तुल्यत्वादिति । [illegible] [illegible] एव [illegible], [illegible]–[illegible] प्रकारेणेति । [illegible]

रत्वादिति यत्त्वयोक्तः, आत्मस्वमेऽभिन्नप्रकारत्वादिति स वक्तव्यः, एकत्वादिति ग्रन्थः, यथैको घटः घटो वा मध्यमूर्ध्वादिनवादिविशेषाकारप्रकारेण भिन्न इत्यभिन्नतोऽप्यभिन्न एव, अखिलैकत्वघटत्वाभेदात्, एवं घटादिरूपा सर्वभावा अभिन्नप्रकारात्मकाभावात् स्युः, मा मंस्था असिद्धो हेतुरित्यत आह—न हि ताभ्यामखिलैकत्वाभ्यां घटत्वान्यत्वमस्ति स त्वेक एव घटो यस्मात् घटा[न्]सर्वमेवभाजः तयोरखिलैकत्व योरन्यत्व, न हीति सर्वत्वे-सर्वान् घटपटादीन् भेदान् स्वगतानूर्ध्वादिनवादीन् भजमाना[न्]घटादयस्त्वि लैकत्वयोरन्यतमात्मम्, ततः किं ? त[त]स्त्वनन्यत्वे-घटाखिलैकत्वानन्यत्वेऽभिन्नत्वन्यायेन सिद्धे सर्व भावा घटादयोऽपि तयोऽनन्ये, तदखिलैकत्वाभ्यामनर्थान्तरत्वात्, घटवदित्युक्तत्वात्, अत आह—तेषामपि घटात्मकत्व घटादीनाम्, तदनर्थान्तरत्वात् घटस्यात्मवदिति भावितार्थोऽयमतीतार्थोपसंहारः ।

अत्राह—

नन्वेकत्वे प्रत्यक्षसिद्धं तृप्तिसुखादि विरुध्यत इति ननु तत् सर्वसिद्धान्तेष्वपि, प्रत्यक्षसिद्धमन्यथा मत्वा मोक्षायाऽऽयस्यत इति न वा पुनरन्या विमतिः कार्या ।

(नन्विति) नन्वेकत्वे प्रत्यक्षसिद्धं तृप्तिसुखादि विरुध्यत इति—इत्थ सर्वमेकं सर्वात्मकमिति तुपगते प्रत्यक्षतः भेदेनाऽऽस्वादितसुखानन्तरा तृप्तिर्दुःखाविरोधिनी तदनन्तरभावि च सुखं दुःख-विरोधीत्येवमादि विरुध्यते, न हि प्रत्यक्षविरुद्ध प्रतिज्ञातु योग्यमित्यत्र ब्रूमः—ननु तत्सर्वसिद्धान्तेष्वपि, प्रत्यक्षसिद्धमन्यथा मत्वा मोक्षायाऽऽयतन्त इति—ननु विषयसुखानामवभासत्वात् दुःखप्रतीकारमात्रत्वात् दुःखसम्भिन्नत्वात् दुःखभूयिष्ठत्वात् मात्यन्तिकत्वाच्च दुःखत्वमेव तथैऽपि सुखमभिन्नपयजननदुःखावयमित्य-मेवेति मत्वा निरावाधमपराधीनमात्यन्तिकमैकान्तिकं विषयसुखविपरीत कथं नाम मुक्तिसुखं निर्दोषं प्राप्नुयामेति शास्त्रप्रामाण्यात् सर्वसिद्धान्तप्रसिद्धप्रवृत्तिदर्शनात्, न वा पुनरन्या विमतिः कार्येति संयुक्तेऽपि सर्वभावाः सन्तीति भावः ।

व्याख्यानम्—यथैक इति । घटमध्यादिभेदभिन्नाभिन्नतोऽप्येक घटः पटः घटो एकोऽखिलैकत्वघटत्वैरभिन्नप्रकारात्मकाभिन्न एव तथा सर्वे भावपदार्थो भावा अभिन्ना एवेति भाव । घादिभेद हि घटैकत्वमखिलं घटत्व वा तत्राखिलैकत्वयोर्निवर्तकमेव तत्त्वेन अखिलमनर्थान्तरत्वमिति तस्मात् सर्वभावानां विभागेऽभिन्नानि प्रकाराण्यखिलैकत्वघटत्वानीत्यत—मा मंस्था इति । न हीति अखिलैकत्वाभ्यां घटस्य सर्वभेदभाजो घटाद्यभिन्नैकत्वयोरर्थान्तरता नहि वर्तत इति भावः । एवम् घटादीनामखिलैकत्वानन्यत्वे सिद्धे सर्वभावेष्वपि तयोरनन्यत्वं तदखिलैकत्वाभ्यामनर्थान्तरत्वात् घटवदित्युक्तमित्याह—तदन-न्यत्व इति सर्वभावात्मकत्वसाधनोपसंहारमन्यतोऽप्यमिति भावः । नन्वेवं सर्वसर्वात्मकत्वप्रतिज्ञेयं तृप्तिसुखादिदुःखादि वादिविरोधि-त्वेन प्रत्यक्षेण प्रत्यक्षेण विरोधपरिहार समाधत्ते—नन्वेकत्व इति । व्याख्ये—इत्थमिति एवम् सर्वेकत्वमभिन्नत्वात भक्ष्ये सुखदुःखमयीभक्ष्यपदार्थभुक्तमनन्तरं वा तृप्ति च सुखदुःखविरोधिनी तदनन्तरं सत्सुखं तदु दुःखविरोधीति पार्थक्येन प्रत्यक्षतो दृष्टं विरुध्यते न हि प्रत्यक्षविरुद्धं वस्तु प्रतिज्ञातु योग्यमित्याह । समाधत्ते—नन्विति ननु तत् प्रत्यक्षसिद्धमन्यथापि सर्वेष्वपि सिद्धान्तेषु दृश्यत एव तथाप्रतीतमन्यथा मोक्षमार्गमनुसरन्तीति भावः । प्रत्यक्षसिद्धमन्यथामननमेवाद्दर्शयति—ननु विषय सुखानामिति । प्रत्यक्षसिद्धमपि विषयसुखमसुखं मन्यन्त न हि तात्त्विकं सुखं विरुध्यमानमसत्त्वात्, पारमार्थिकत्वात्, किन्तु तदिच्छामनमे सुखं मति तत्प्रतीकारमात्रमेव दुःखमभिव्यक्तमपि अत एव दुःखभूयिष्ठं तथाभावादि-करणदुःखमयमात्मानमवधीनेषीति दुःखेन आत्यन्तिकमपि हि सुखो महती अवस्था आसते तथापत्, तत्तोऽपि तन्मत्सुखविरोधाभावा

यथा—

अनुत्पादादपि सर्वभावाः सन्ति, यदि हि तद्वस्तूत्पद्येत विनश्येद्वा ततः प्राक् पश्चा भावयम्भव्येऽप्यभावः स्वभावस्याभाव्यात्, न स्यादेकरूपं भेदवद्वा स्यात्, या त्वया तत् सा सम्भाव्येतोत्पत्तिविनाशसद्भावे, न तु कस्यचिद्वस्तुन आदिरन्तो वा, वस्तुत्वात्यागात्, हि वस्तु स्वरूपं त्यजति, शिवकादिरूपात्मविघटमृद्वत्।

(अनुत्पादादपीति) अनुत्पादादपि सर्वभावाः सन्ति, यदि हीत्यादि—यदि हि तद्वस्तूत्प वस्तुत्वात् विनश्येद्वेति-उत्पद्येत विनश्येद्वा ततः किं? ततः प्रागभावः उत्पत्तेः, पश्चादभावो विना तद्भव्यम्भव्येऽप्यभावः स्वभावस्याभाव्यात्, न स्यादेकरूपमिति भेदवद्वा स्यात्, स्वविकल्प्यस्य वा स भाव्यात् य[ा]त्वया तत्त्वे तत्त्वोपपत्तिः सम्भाव्येतोत्पत्तिविनाशसद्भावे, किं तर्हि? न तु कस्यचि स्तुन आदिः—उत्पत्तिः, अन्तो—विनाशो वाऽस्ति, कस्मात्? वस्तुत्वात्यागात्, न हि वस्तु स्वरूप-वस् जहाति, किमिव? शिवकादिरूपात्मविघटमृ[द्व]त्-यथा हि घटः शिवकस्तूपकछत्रककुशूलघटादिस भेदाभिमतासु अवस्थाभेदान्तरेषु कपालशर्करिकाचूर्णत्रुटिपरमाणुष्वपि मूर्तत्वान्वयेनापरित्यक्तः, त ऽप्यत्रापि विनाशादि वस्तुत्वात्यागादिति नास्त्युत्पादस्वभावाद्विनाशोऽभावः।

अनाद्यनन्तममूर्तिमूर्तयथामूर्तमप्यनुत्पादविनाशाभ्यामनाद्यनन्तम्, यतोऽसौ तथा वस्थित एकस्वभावो निर्भेदो भेदासम्भवात्, उत्पादविनाशाभ्यां हि भेदः सम्भाव्ये स तु न भवति।

(अनादीति) किञ्च यथाभ्रमेवानाद्यनन्तत्वात् [illegible] परिवर्तेऽपि स्वाभि तदनुत्पादविनाशाभावादनाद्यनन्तममूर्तिमूर्तयथामूर्तमपि वस्तुत्वात्यागादनुत्पादविनाशाभ्यामनाद्यनन्तम

१ [illegible] पूर्वं विनाशान्तर्भावे [illegible] विनाशादिनाप्यनि [illegible] इति यत्र [illegible] । एवं [illegible] सर्वभावस्तत्त्वमभिधायानुत्पादादपि [illegible] भनुत्पादादपीति। [illegible] प्राक् पश्चाच्च विनाशसम्भव्येऽप्यभावः स्यात्, [illegible] न भवति तत्र [illegible] । इति [illegible] भव्येऽप्यभावं [illegible] यदि, हीति [illegible] विनाशोऽसम्भवी [illegible] । [illegible] इति [illegible] पूर्वं पश्चाच्च [illegible] भव्येऽप्यभावः [illegible] भावः। [illegible] [illegible] न स्यादिति। [illegible] [illegible] भावः। यदा तु न कस्यचिद्वस्तुनः [illegible] न तु कस्यचिदिति। [illegible] [illegible] एवं [illegible] भनाद्यनन्तमिति। [illegible]

तस्मात् सत्त्वम[व]स्थानमेव वस्तुनः, तदुपसंहरति–अतोऽसौ सदाऽवस्थित एकस्वभावो निर्भेद इति भेदासम्भवात्–भेदसम्भवकारणाभावात्, तदर्शयति वैधर्म्येण–उत्पादविनाशाभ्यां हि भेदः सम्भाव्येत, स तूत्पत्तिविनाशाभावान्नास्त्यत्र भवतीति ।

अत्राऽऽह–

नन्वनिष्ठितं प्राक् पश्चादारम्भात्, आरम्भवचनात्, तत्र यदि निष्ठितं स्यात् निष्ठितत्वा-दारम्भेत निष्पन्नघटवदिति, इदं विप्रतिषिद्धं यदनिष्ठितं अनिष्ठितत्वादसत् खपुष्पवत्, इतरो घटवत्, यथा घटो मृद्रूपादित्वेन निष्ठित एव सन्नाकारान्तरव्यक्तिरूपतो व्यज्यते, यदि न तथाऽऽरभ्येत किं न खपुष्पादद्रव्यादेर्वाऽऽरभ्यते ? ।

नन्वनिष्ठितमित्यादि, ननूक्तं 'द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते–पृथिव्यादिपरमाणुद्रव्याणि स्वतः स्वात्मनि द्वे बहूनि वा परस्परसंयोगापेक्षाणि आरभन्ते, कार्यद्रव्यमन्यत्, गुणाश्चारम्भकचतुर्विधद्रव्यसम वेताः स्वैरारब्धे कार्यद्रव्ये नियम[त] एव स्वतः परात्मनि गुणान्तरमारभन्ते, कर्म संयोगविभागसंस्कारा नारभते परतः परात्मनि' (　　　　) इत्यादिनाऽऽरम्भवचनेनानिष्ठितं प्राक् पश्चादारम्भात् क्रिया क्रियातो निष्ठितमनिष्ठितम् तत्र यदि निष्ठितं स्यात् निष्ठितत्वादारभ्येत निष्पन्नघटवदित्यत्र भूयः–इदं विप्रतिषिद्धमित्यादि, विप्रतिषेधं भावयति–यदनिष्ठितमित्यादिना अनिष्ठितत्वादसत् खपुष्पवत्, असत्त्वा-न्नारभ्यते इतरो घटवदिति वैधर्म्यदृष्टान्तः यथा घटो मृद्रूपादित्वेन निष्ठित एव सन्नाकारान्तर

अप्राप्यकारित्वात् मूर्तिरहिता मूर्तोभावा एकत्रमूर्तमप्यक्षाविनाशित्वमेव नानात्वमापरित्यज्यतीति भावः । एवं मूर्तामूर्तानां सत्तावस्थितत्वमेके-रूपतयाऽवस्थित एव न निर्भेदत्वमित्याह–अतोऽसावितिति । हेतुमाह–भेदासम्भवादिति भेदस्य सम्भवे कारणमेव नास्तीति भावः । किं कारणं भेदस्य सम्भवे स्यात् यदभावाद्भिर्भेदमेकस्य स्यादित्यत आह–उत्पादेति यदि हुत्पादविनाशौ स्तो भावस्य तदा घटो न घटो भिन्नस्वभावत्वात्, भवन्तु पट एव न घटो भिन्नस्वभावत्वादिति भेदः सम्भाव्येत यदा तु सत्सत्त्वा-परित्यागादुत्पादस्त्वं तदा कथं भेदस्य सम्भव इति भावः । ननु वस्तुनः स्थितस्वभावत्वाभ्युपगमे आरम्भोऽप्यभ्युपगत एव क्रियानन्तरमपूर्वक्रियापूर्वकत्वात् न युज्यते स्वारम्भे तत प्राक् पश्चादनिष्ठितत्वं प्रसक्तमिति शङ्कते–नन्वनिष्ठितमिति । वैशेषिकमते द्रव्यस्यारम्भ एव इति कथयति ननूक्तमिति द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते इति वचने व्याचष्टे–पृथिव्यादीति पार्थिवादिचतुर्विधपरमाणुद्रव्याणि स्वतो भिन्नं कार्यद्रव्यं समवायिकारणत्वे स्वात्मनि परस्परसंयोगमपेक्ष्यासमवायिकारणमपे-क्ष्याऽऽरभन्ते द्वे परमाणुद्रव्ये द्व्यणुकं बहूनि द्व्यणुकद्रव्याणि त्र्यणुकं बहूनि त्र्यणुकद्रव्याणि चतुरणुकमिति भावः । पार्थिवादि चतुर्विधपरमाणुस्था रूपादयो गुणाः परमाणुभिरारब्धे कार्यद्रव्ये परात्मनि कारणगुणपूर्वकाः कार्यगुणा इति नियमात् गुणान्तरमारभन्त इत्याह–गुणाश्चेति । कर्म संयोगं विभागं वेगं स्थितिस्थापकं च द्रव्ये आरभते इत्याह–कर्मेति द्रव्यं सत् स्वात्मनि द्रव्यान्तर मारभते गुणः सन् परात्मनि गुणान्तरम्, कर्म च परतः परात्मनि संयोगमपीति भावः । अनेनारम्भवचनेनाऽऽरम्भात् पूर्वं पश्चाच्च वस्त्वनिष्ठितमित्याह–इत्यादिनेति । क्रियावस्थाऽनिष्ठितमिति भावः आरम्भादिति क्रियानन्तरमारम्भपूर्वकक्रियापूर्व कत्वादित्यर्थः । यदनिष्ठितं न भवति तदा निष्ठितस्यैवानुपलभ्यते तदारम्भ एव न स्यात् निष्ठितत्वादित्याह–तत्र यदीति एवमारम्भात् प्राक् पश्चाच्च वस्तुनोऽनिष्ठितत्वेन यच्चेदुक्तमनिष्ठितत्वं स्यादिति दृष्टान्तपरिभावनम् । अनिष्ठितस्यैवाऽऽरम्भो भवति निष्ठितस्य नारभ्यते निष्ठितत्वादिति मतम् । विप्रतिषिद्धमेतदिति समाधत्ते–इदमिति । वस्तुनोऽनिष्ठितत्वे खपुष्पवदसत्, सदसत् तथा-पति च खपुष्पादेः आरम्भसम्भवोऽभ्युपगतः स्यादित्याह–अनिष्ठितत्वादिति । निष्ठितमेवारभ्यत इति वैधर्म्यं दर्शयति–यथेति मृद्रूपादित्वेन निष्ठित एव घटः, तस्यैव चाऽऽकारान्तरस्य पृथुबुध्नोदराद्याकारस्य प्रकटत्वे भवति, तत्र स्थैव पृथिव्यादित्वा व्यादि-

व्यक्तिरूपत्वो नेष्यते पृथुबुध्नोदराद्याकारेण [यदि] न तथारभ्येतेति, उच्यते, किं न खपुष्पाद्यवस्था- देर्वाऽऽरभ्यत इति, द्रव्यगुणकर्मादिभेदवस्तुविपरीतात् कुतश्चिदनारम्भादनिश्चितत्वादेव व्यक्तिरभिव्यक्त्यारम्भः ।

एतदुक्तं भवति संक्षेपतस्तदुपग्राहकविवर्तमात्रमन्त्वेतत्सर्वम्, भावैकत्वात्, अतो नानिश्चितं निश्चितमेव वस्तु, अनारम्भारम्भत्वात्, यथानारम्भारम्भं तन्निश्चितमेव, क्षित्यादिवत्, यथाऽनारब्धमपि क्षित्यादित्वेन सूत्र कार्यत्वान्निश्चितमेवमन्यदपि वस्तु, यद्येवमपि नेष्यते अनारब्धानि तानि, अनिश्चितत्वात् खपुष्पवत् ।

(एतदिति) एतदुक्तं भवति संक्षेपतः तदुपग्राहकविवर्तमात्रमन्त्वेतत् सर्वमिति किं कारणं ? भावैकत्वात्–एकस्यैव पुरुषादेर्भावस्य कारणमात्रस्य विजृम्भितत्वात् कार्यत्वात्कार्यमात्राभेदेन, तदुपसंहारात्– अतो नानिश्चितमित्यादि, निश्चितमेव वस्तु नानिश्चितम् कस्मात् ? अनारम्भारम्भत्वात्–अनारभ्य कर्माभिव्यक्तिरूपस्य, आरभ्य केवलकारणमात्राधीनकार्यत्वेन, यथानारम्भारम्भं तन्निश्चितमेव नानिश्चितम् किमिव ? क्षित्यादिवत्–यथाऽनारब्धमपि क्षित्यादित्वेन सूत्र कार्यत्वान्निश्चितमेवमन्यदपि वस्त्विति, यथा यज्ञोपवीतसूत्रादिरूपान्वैर्भावितव्यम्, यद्येवमपीत्यादि–इत्थं युक्त्या प्रतिपादितमप्यनभ्युपगमे वस्तुनो

भंगस्त इति भाव । इत्थमेव निश्चितारम्भो नान्यथा यदि तु निश्चितत्वा नारभ्येत तदा खपुष्पाद्यवस्थादेर्वा कुतो नारभ्यते किं नेष्यत–यदि न तथेति तत्राभिधीयते वेद । तत्स्वरूपे–द्रव्यगुणेति द्रव्यं गुणः कर्म च भेदवस्तु, द्रव्यादीनामपि एतद्विपरीतात् ततो विपरीतात् कुतश्चिदारम्भो न भवति, द्रव्यगुणकर्माणि च निश्चितानि तस्मादेव व्यक्तिरूपस्याभिव्यक्तिरेवाऽऽरम्भ- स्तस्मात्सा भवतीति भाव । पुरुषविवर्तमात्रं पृथिव्यादि सर्वम्, तस्यैव मूर्तामूर्तभेदेन विवर्तत्वेनेत्याह–एतदुक्तं भवतीति । पुरुषो हि चेतनाचेतनत्वेन भवनात्मा तस्यैवेदं सर्वं विवर्तमात्रम्, यथानुयुक्तपुरुषैककारणतत्त्वं जगत् तथापत्तत्त्वः पुरु- षस्य तस्यैव भवनोपपत्तेरेतस्य सर्वं पुरुषमयात् पुरुषो भाव एकः तस्यैव च कार्यभूतानास्वामेकनेदं सर्वं विजृम्भितमित्यस्यैवाह– एतदुक्तमिति । हेतुमाह–भावैकत्वादिति, पुरुष एवाद्वितीयो भावो व्यक्ताव्यक्तविचित्रकार्यभवनयोग्यतास्वभावत्वेन परिणतिभिन्नात् व्यक्ताव्यक्तविचित्रावस्थास्वेव कार्यात्मना विजृम्भते पुरुषस्यैककारणत्वात् सर्वकार्यस्वभावैकत्वं तस्यैव विजृम्भितत्वा- ज्जगत स भवतीत्येवं भवतीति भाव इति तात्पर्यम् । एवं पुरुषात्मकं वस्तु आरब्धमनारब्धमपि यदा पुरुषः कार्य- स्वेनाभिव्यक्तो भवति तदारम्भ यदा च तत्कार्यत्वेन नारब्धमभिव्यक्तौ तदाऽनारब्धं तथा चानारम्भारम्भत्वान्निश्चित- मेव वस्तु नानिश्चितमित्याह–अतो नानिश्चितमित्यादीति यस्तो विचित्रमभिव्यक्त्यभिमुखमप्यन्तरालावस्थारूपं । हेतुमाह अनारम्भेति । कार्यं वस्त्वनारब्धमित्याह–अनारभ्यमिति, कार्यात्मनाऽनभिव्यक्तत्वात् वस्तु अनारब्धमित्यर्थः । अस्यारब्धमित्याह आरभ्यमिति कार्याभिव्यक्तिरूपेण कार्यत्वस्य वस्त्वारब्धमित्यर्थः । एवमनारम्भारम्भत्वाद्वस्तु निश्चितमेव भवति क्षित्यादिवदित्याह–यथेति । दृष्टान्तं व्यनक्ति–यथेति, यथा हि सूत्र तावत् क्षित्यादि कार्यम्, यदा तत् क्षित्यादित्वेन न विजृम्भितमनारब्धं केवलं तत्कारणमात्रं तदा तन्निश्चितमेव भवति, तथा सर्वमपि वस्तु निश्चितमेवेति भाव । आदिपदग्राह्यमपि दृष्टान्तान्तरमपि समर्थयितुमाह–यथा यज्ञोपवीतेति यज्ञोपवीतसूत्रस्य तत्तुपटस्य, सर्वस्य यज्ञोपवीतप्र- कारस्याभेदरूपेणाभिव्यक्तेरव्याप्ता. पूर्वापरमध्यमा हि निश्चितं न निश्चितत्वमिति, यज्ञोपवीतस्य तत्प्रयोगावस्थानादवस्थां तत्तन्तुवर्त्तीनां तदवस्थत्वान्निश्चितत्व भवेदिति भाव । इत्थं प्रमाणेनप्रतिपादितमपि वस्तुनो निश्चितत्वं यदि न मन्यते तदा दोषमाह– इत्थं युक्त्येति इत्थमपि इत्यानवस्थारम्भत्व इति चतुर्थ तत्रारम्भाभिमतानि द्रव्यगुणकर्माण्यनारब्धान्येव तु अनिश्चि-

१ सि ध वे का नष्यते ।

नेष्यते, अनिष्टापादनमिदं—अनारभ्याणि तानि—द्रव्याण्यप्यारम्भाणिमतान्यपि, अनिष्टत्वात्, खपुष्पवत्, धटस्यासत्त्वमित्यभिप्रायः ।

अथोच्येत आदिः प्रत्यक्षत एव घटादेर्दृश्यते भेदहेतुः, अत्र पृच्छ्यसे स किं नित्यः ? उतानित्यः ? यदि नित्यः सर्ववस्तुनित्यता, आदिस्वरूपत्वात् तन्मयत्वाच्च, क्रियमाणनिष्ठि तयोश्चाभावात् तथाजन्यभेदाभावः, ततश्चाविशिष्टोऽव्यस्थानपक्ष एव जयति, आदिप्रत्यक्ष प्रमाणीकरणाच्च क्रियानिष्ठाप्रत्यक्षद्वयपरित्यागः तयोश्च दृष्टव्यभिचारमितरत्रैकस्मिन् प्रत्यक्षे कथं प्रमाणीकरिष्यत इति पुनरपि तदानिरिति सर्वथा त्वयैव प्रत्यक्षमप्रमाणीकृतम् ।

अथोच्येतेत्यादि, आदिस्तावत् प्रत्यक्षत एव घटादेर्दृश्यते, स च भेदहेतुः घटादेर्वस्तुनः, यदि ह्यनुत्पत्तिविनष्टं स्यात् सामान्यमिति, अत्र पृच्छ्यसे स किमित्यादि, स आदिरारम्भः स प्रत्यक्षा भिमतः किं नित्योऽनित्य इति निर्धार्यः, किञ्चातः ? यदि नित्यः सर्ववस्तुनित्यता—सर्वेषां घटादीनाञ्च वस्तूना-मविशेषेण नित्यत्वं स्यात्, आदिस्वरूपत्वात् तन्मयत्वाच्च, अनिष्टमेतत् [एव]भुवतः, किञ्चान्यत्—क्रियमाणनिष्ठितयोश्चाभावात्तथाजन्यभेदाभावः—आदेर्नित्यत्वादादेरेव च वस्तुत्वादारम्भ एव आदिसंज्ञोऽस्ति न क्रियानिष्ठे स्तः, तयोश्च क्रियमाणनिष्ठितयोरभावात् तथाजनयितव्यस्य तेन प्रकारेण घटादित्वेनोत्पाद्य स्याभेदस्याभावः, ततश्चाविशिष्टोऽव्यस्थानपक्ष एव जयति, किञ्चान्यत्—आदिप्रत्यक्षेत्यादि—आदिः प्रत्यक्षत एव भेदहेतुर्दृश्यते इति विशेष्यादिरेव प्रत्यक्षः प्रमाणीकृतो न क्रियानिष्ठे, तयोः प्रत्यक्षयोरपि परित्यागश्च कृतः, स च प्रत्यक्षविरोधादयुक्तः, तयोश्चेत्यादि तयोश्च प्रत्यक्षयोः क्रियानिष्ठयोरप्रमाणीकरणे प्रत्यक्षमप्य-

---

त्वात्, खपुष्पवदिति कारणे द्रव्ये द्रव्यान्तराणां कार्याणां कल्पितानामसत्त्वेनानिष्टत्वात्सत्त्वासत्त्वादिति भावः । ननु घटादी-नामादिस्तावत् प्रत्यक्षत एव दृश्यते, एवं च भेदसम्भवात्सामान्यस्य तस्यादेरभावे निर्भेदमनुत्पत्तिविनाशमन्यमनापत्तं भवत्विति शङ्कामपहरते—अथोच्येतेति । व्याचष्टे—आदिस्तावदिति उत्पत्तौ सामान्यस्याम्भावी वस्तुभेदः अनुत्पत्तं तन्नित्यत्वे तु स्यादिमं दर्शितत्वं । प्रत्यक्षेण तेऽभिमत आरम्भः किं नित्योऽनित्यो वेति विकल्प्य दोषमाह—अत्र पृच्छ्यसे इति । नित्यपक्षेऽनिष्टमाह—यदि नित्य इति यद्यादेर्नित्यत्वं तर्हि घटादिनिखिलवस्तूनामादेर्नित्यत्वात् तेषामपि नित्यता स्यात् नित्यधर्मधर्मित्वे नित्यत्वात्, अन्यथा अन्यतरपरिणामित्व स्यादिति भावः । घटादीनामनित्यस्य प्रत्यक्षत्वं ब्रुवतो तदिष्ट-त्वादनिष्टमाह—अनिष्टमेतदिति । आरम्भनित्यत्वे घटादिभेदानामभावादिभेदस्याभावनत्वं निषधत्वात्सर्वं वस्त्वेव सर्वोत्कर्षेण वर्तेत सत्यत्वस्यैव च दृष्टम्—क्रियमाणेति क्रियानिष्ठयोरभावः आदेरारम्भकस्य नित्यत्वानुपपत्तेः, तथा च क्रियानिष्ठानित्यत्वाच्च घटोत्पत्तिकाले कारणे परमाणु प्रधाने वा तदरसभेदास्य प्रयोगात्. किञ्च यावत् स एवारम्भः तस्य क्रियात्वं यथा कारकेषु कार्योत्पत्तिः प्रयत्यते तस्मिन्नेव सति समन्वयित्वं क्रियेत्युच्यते यावता या कार्योत्पत्तिः कारणमपि निष्पाद्यते येन तदेव निष्ठा, एवं वस्तुस्थितिपरम्परानिष्ठाक्रियायाम्, एवञ्च क्रियानिष्ठयोरभावे जनयितव्यस्य—घटादेर्भेदोत्पादना-भावात् कारणमात्रस्यास्त्वात्मेव सर्वं सर्वत्वेन्नत्वो वा तथाव्यवस्थितमेव सर्वोत्कर्षेण वर्तत इत्यभिप्रायः भावः । आदिक्रियानिष्ठाना-मविशेषेण प्रत्यक्षत्वमपि भेदहेतुरादिः प्रत्यक्ष एव दृश्यत इति क्रियानिष्ठे परित्यज्य विशिष्यवचनात् क्रियानिष्ठे न प्रत्यक्षेण प्रमा-णीकृते आदिरेव तु प्रमाणत्वात्तु ताभ्यां क्रियानिष्ठे प्रत्यक्षेऽपि सत्ये, तयोस्त्यागश्च प्रत्यक्षविरोधादयुक्त इत्याह आदिः प्रत्यक्षत एवेति । एवञ्च क्रियानिष्ठयोः प्रत्यक्षयोरप्यप्रमाणीकरणे तदन्यस्याप्यप्रमाणं प्रमाणं ततश्चादि प्रमाणं प्रत्यक्षादन्यस्यापीति प्रत्यक्ष-

---

१ सि. क्ष. छा. डे. क्रियमाणनिष्ठेयो । २ सि. क्ष. छा. डे. प्रत्यक्षे प्रमाणीकृते न क्रियानिष्ठेयो ।

प्रमाणमिति पुनो व्यभिचारः, तदर्शनादादेरपि प्रत्यक्षस्य वादेवामाप्रामाण्यात् पुनरप्यादेः प्रत्यक्षस्य तत्त्व इति सर्वथा त्वयैव प्रमाणममाण्यीकृतम्, एष तावदादेर्नियतायां दोषः ।

अथाविनियतायां दोषात् निर्वृत्तनित्यत्वमभ्युपगम्यसि यस्मान्न परेक्ष्यतेति, नन्वेवमपि कुतो भेदः? नित्यनिश्चितत्वे नारम्भोऽस्ति न क्रियेत्यभ्युपगतत्वात् कुतो भेदः?, अथानित्यत्वमभ्युपगम्यते चेत् स क्रियाविर्भावोऽज्ञात इत्यादिरस्यपर्यनुयोगस्तदेव दोषाः, यदि ज्ञात तत्सैवानुत्पादो आत्मत्वादिनिर्वृत्तपटवदित्यादि त्वदुक्तदेवेद न युज्यते, अन्तेऽपि च त्वदुक्तदोषविमोक्षात् यावदपोह्येतान्तः प्रत्यक्षत एव भेदहेतुर्दर्शयत इति पूर्वपक्षे स किं नित्योऽनित्य इत्यादि स एव पर्यनुयोगो वाच्यः ।

अथाविनियतायामित्यादि, एतद्दोषभयादविनियतपक्षं त्यक्त्वा निर्वृत्तनित्यत्वमभ्युपगम्यसि दोषाभावत्वं यस्मान्न परेक्ष्यतेति-इत्थं हि निर्वृत्तनित्यत्वार्थं त्वदोक्त सार्वैकत्वं तत्र नास्ति पृथगविभक्तत्वादित्यत्र ब्रूमो नन्वेवमपीत्यादि, यदि नित्यनिश्चितमेव वस्तु ततो नारम्भोऽस्ति न क्रियेत्यभ्युपगतत्वात् कुतो भेदः—आरम्भः क्रिया कस्य इति भेदाभाव यथाप्रसिद्धः प्रसक्तः, एवं तावदविनियतायां दोषः, अथेत्यादि एतद्दोषभयादादेरनित्यत्वमभ्युपगम्यते चेत्तया तत इत्थं पर्यनुयोगोऽस्ति स क्रियाविर्भावोऽज्ञात इत्यादिरयस्पर्यनुयोगस्तदेव त्रिष्वपि विकल्पेषु त्वदुक्तो[प]गदोष इति सिद्धं दर्शयति—यदि ज्ञातस्सैवानुत्पादो ज्ञातत्वात् निर्वृत्तपटवदित्यादेरिति प्रथमविकल्पमुक्त्वा द्वैतं मध्यमविनियमश्चि—त्वदुक्तदोषेण न युज्यत इत्यादावज्ञाताज्ञातविकल्पयोरपि त्वदुक्त दोष इत्युत्पादाभावः यन्तेऽपि चेत्यादि अन्तेऽप्युत्पादाभावा विनाशविनाशविनाशविनाशविकल्पेषु त्वदुक्तदोषाविमोक्षात् यावदपोह्येतान्तः प्रत्यक्ष[त]एव भेदहेतुर्दर्शयत

दर्शनं क्रियाभिवृत्तोरम्भवत्पर्यनुयोगस्थितमिदाह—तथोक्तेति । तत्र विभिन्नमाह—तद्दर्शनादिति व्यभिचारदर्शनादित्यर्थः एवमादिरपि प्रत्यक्षप्रमाणम्, प्रत्यक्षत्वात् क्रियाभिव्यक्तत्वादिति क्रियाभिव्यक्ते प्रत्यक्षत्वसम्भवात् प्रत्यक्षत्वमपि तत्त्व इतीति सर्वथा प्रत्यक्षप्रमाणता त्वयैव कृतेति आदेर्नियतत्वपक्षे दोष इति भाव । अन्यादेर्नियतत्वे यदि प्रेक्ष्योपलभ्यमानादौ निरवद्य—नियमस्य निरवद्यस्य तस्यापह्नवे यथादीति । भाष्ये—एतद्दोषेति, अनेकदुनियतत्वपक्षदोषेणेत्यर्थं निर्वृत्तनित्यत्वे तु कारणस्याविभेदात्मा निर्वृत्तानां विकल्पात् परेण साध्यैकत्वं न सम्भवति नियमनिवृत्तत्वत्यैषाम्, अनिर्वृत्तादिदोषाभ्यन्तरे हि अवयवत्वात्स्वतैकत्वात् प्रौपम्येच्छ सवेत्, स च नास्तीति भावः । तदेव भाष्ये—इत्थं हीति । एवं तर्हि त्वया नित्यनिश्चितत्वमभ्युपगतम् तत्र न सम्भवति नियमः आरम्भो हि क्रियास्वीकारात्, आरम्भाभिव्यक्तेव तथाऽभ्युपगमात् अनिर्वृत्ता भावैर्ना येन निवृत्तनियमः स्यात् तस्मात् आरम्भादिनिर्वृत्ते तत्त्वेन नियतत्वाद्युपपत्ति—यदि नित्यनिश्चितमेवेति । अथादेर्नित्यत्वमपह्नवाभिव्यक्तत्वं यदभ्युपगम्यते तथापि आरम्भादारम्भत्वं यावत्तावत्त्वं भेदे हेतुः क्रियावज्ञात इत्याह—एतद्दोषभयादिति पर्यनुयोगप्रकारमाह । एवं विकल्पत्रयेऽपि प्रत्येकं दर्शितं तथैवान्यदपि दोषा भवन्तीति विकल्पेन दर्शिता त्वदुक्तदोषादिदोषाः—इत्यादीति । ज्ञातपक्षे चोत्पादाभावो ज्ञातत्वात् निर्वृत्तपटवदिति त्वदुक्तदोषोऽज्ञातपक्षेऽपि विकल्पमध्यमात्मत्वे तथाविधमानविकल्पे—यदि ज्ञात इति । अज्ञातविकल्पेऽप्युत्पाद एव, अज्ञातत्वात् अज्ञातविकल्पेऽप्युत्पादाभावो वाऽविनोद इति न एवादापीत्याह—इत्यज्ञातेति । अन्तपक्षेऽपि त्वदुक्तदोषात्मेनाप्यपि वाच्यविनाशविनाश—अन्तेऽपीति, अन्तेऽपि किं विनाशोऽविनाशो विनाशविनाशो वा विनाशस्येति विकल्पत्रयेऽनुत्पाद एव विनाशात् विनाशत्वात् द्वितीये नाविनाशो विनश्यति, अनुत्पन्नत्वात्प्रागभावत्वात्, अन्यथाऽपि तृतीय उभयदोषापत्तेरिति त्वदुक्तेषु दोषेषु वाच्यम्, तदभिव्यक्तादिति भाव । अनुपपत्तेन भेदहेतुः प्रत्यक्षप्रमाणमानात् आविर्भावोपलम्भोऽपि चेत्यादि

१ सि. ए. क्ष. डे. प्रत्युत्पन्नेन । २ सि. ए. क्ष. डे. यावदपोह्येतान्तः ।

इत्यस्मिन् पूर्वपक्षे स किं मित्योऽस्मिन् इत्यादि पर्यनुयोगः, विशेषस्यभ्रान्तप्रत्यक्षप्रमाणीकरणप्रारम्भक्रिय-माणप्रत्यक्षद्वयपरित्यागः, तयोश्च द्व्यव्यभिचारमितरत्रैकस्मिन् प्रत्यक्षे कथं प्रमाणीकरिष्यत इति पुनरपि धर्मग्लानिरिति गम्य इत्यभिप्रायकत्वम्, एवमनुत्पादात् सर्वभेदैक्यसिद्धिः ।

किञ्च—

सामग्रीदर्शनादपि सर्वास्तित्वसिद्धिः, तथा च तदेवैकं सर्वात्मकं स्व परमुभयञ्च समर्थं सम्पादयति, सा च सामग्री दृश्यते प्रत्यक्षतः, सामग्री अशेषभावानां भावान्तरं प्रति वृत्तिः यथा पृथिव्यादिसामग्री तं समर्थं प्रति, वस्तुनोऽनेकशक्त्यात्मकस्यैकस्य व्यक्ताव्यक्तशक्त्यपेक्षत्वात् सर्वसर्वात्मकत्वात्, सामग्र्यामेवं दर्शनमेव संघातेन रूपादिपृथिव्यादिपरस्परसामग्रीघट पटादीति दृश्यते सञ्जायते प्रवर्त्तते चेतन जगदिति ।

(सामग्रीति) सामग्रीदर्शनादपि—पुरुषनियतिप्रवृत्तसमापभावापम्यक्रमकारणसमग्रत्वस्यापि भेदसामर्थ्यमेवैनदर्शनादपि द्वयोः सर्वास्तित्वसिद्धिः, तथा च—येन प्रकारेणोत्पत्तिविनाशान्यथाभिप्रोक्त-कारणतया तदेवैकं सर्वात्मकं स्व परमुभयञ्च समर्थं सम्पादयति सामग्री, स्वावयवात्मकत्वात्तस्याः, सा च सामग्री दृश्यते प्रत्यक्षतः, किं लक्षणा सामग्रीति चेदुच्यते—सामग्र्यशेष[भावानां]भावान्तरं प्रति वृत्तिः—एकैकस्मिन्नभिन्नकारणकरणस्तुभेदमात्रे भावे भवान्तरस्यैकैकस्य वृत्तिर्या सा सामग्रीत्युच्यते तद्दर्शयति—यथा पृथिव्यादिसामग्र्यादि—पृथिव्युदकज्वलनपवनगगनात्मादिसर्वसमूहात्मकः कर्पासः तद्रूपादयः तत्स-मूहाऽणुः अणुसमूह[ः]परमाणि[वत्]समूहास्तन्तवः तत्समूहः पट इति तं समर्थं प्रति सामग्री पृथिव्यु-दकादि—अपोऽभ्येतीति । विशेषमत्र पूर्वपक्षे स्पष्टयति—विशेषस्यैवेति, भ्रान्तिविभाव्यप्रत्यक्षस्य प्रत्यक्षस्य ... तयोः प्रत्यक्षयोरप्रमाणत्वात् व्यभिचारः प्रत्यक्षत्वस्याविशेषात् तस्याप्रामाण्येन तद्दर्शनादन्यत्रापि न प्रमाणं स्यात् तस्य प्रत्यक्षस्यापि हानि स्यादिति मिश्रं गम्य इत्यभिप्रायवता प्रत्यक्षेण प्रमाणं इति भावः । अनुत्पादेऽपि निगमयति—एवमिति । अथ सामग्रीदर्शनात् सर्वसिद्धिमाह—सामग्रीदर्शनादपीति । अवस्थानेकत्वा या सामग्री तस्या एव भावान्तरम्भावस्वरूपेण स्वात्मना पुरुषादिभेदावस्थाभेदात् सर्वास्तित्वसिद्धिरित्याह—पुरुषेति अवस्थाभेदः पुरुषादयः पुरुषादिकारणमात्रस्य नियतिस्वभावस्यावस्थाभेदानाम् तेषामवस्थानतः तथा तथा विपरिवर्तन्त पुरुषादयः, तत्कारण-स्यानेकत्वमपि एव तदर्थसम्पादकत्वात् सर्वमात्र पुरुषादौ सामर्थ्यं सिद्धमिति पुरुषस्य हि व्यक्ताव्यक्तापेक्षत्वात् सर्वस्य सर्वात्मकत्वमिति भावः । तत्सामर्थ्यमात्रपुरुषादेः सर्वस्यापि ... पुरुषादेः सामर्थ्यमपेक्षितमपि सामग्री पुरुषादौ स्वं परमुभयञ्च तं समर्थं सम्पादयतीत्याह—तथा चेति सामग्री तदेवैकं सर्वात्मकं स्वं परमुभयञ्च समर्थं सम्पादयतीति भेदप्रयोजकं सम्पादयति—अभिव्यक्तमित्यर्थः । हेतुमाह स्वावयवेति अवयवा हि सामग्री पुरुषादयस्तस्यैव व्यक्ताव्यक्तावस्थायां पुरुषादि सा च सामग्री प्रत्यक्षे दृश्यत इति भावः । सामग्रीं लक्षयति—सामग्रीति भावानां भावान्तरं प्रति भावाभावव्यवस्थायां पृथ्व्युदकज्वलनपवनाकाशादीनां घटस्य प्रत्यक्षमेव सामग्री तदपि वर्तन्ते भवान्तराभिभावात्मकं नाभिप्रेत्य तथैव किन्तु समुदायात्मकमिति भावः । न च सामग्रीभावान्तरयोरैक्यं समुदायात्म-कत्वतयोऽपि वाच्यम्, सामग्र्या समुदायात्मकत्वादित्याशयेनाह—एकैकस्मिन्निति, भावारम्भे भिन्नभेदस्य ... वस्तुनः प्रत्येकमेकस्य भावान्तरस्य वृत्तिर्दृश्यते सा सामग्रीत्यर्थः समुदायस्यैक्यमिति भावः । सामग्रीमाह दृष्टा-न्तेन—यथा पृथिव्यादीति पृथिव्युदकाद्यात्मकस्य घटस्य सामग्री तत्समुदायस्य भावोऽयं पृथिव्यादेर्वा एकैकस्या-

१ म. ध. प्र. दे. सामग्र्यपर्यवे । २ सि. क्ष. प्र. ड. पुरुषप्रेरकसामर्थ्यं ।

स्वभावितत्वादिपदादिसमूहात्मिका, वस्तुनोऽनेकान्तत्वात्मकस्यैकस्य व्यक्ताव्यक्तत्वापेक्षत्वात् सर्वसर्वात्मकत्वात्, सामान्यमेवं दर्शनमेव संवादेनेत्यादि एतेन सर्वसर्वात्मकैकवस्तुभेदसामग्रीदर्शनत्वेन संवादिरूपादिवृत्तिभ्यादिपरस्परसामग्रीघटपटादीति दृश्यते संज्ञायते प्रवर्तते येन जगत्, यथा विधिविधिनयमध्ये प्राग् व्याख्यातम् तस्मात् सिकतादिभ्योऽपि हेतुम्यमेवनात्मकवस्तुविजृम्भितमात्रमिति सिद्धातीति।

अत्राऽऽह—

यदि सामान्यक्षेपतः सर्वस्य सर्वत्र वृत्तेः तिलेषु तैलवत् सिकतास्वपि तैलं स्यात्, तदभावपक्षे तिलेष्वप्यभाव एव स्यात्, ननु यथा तिलेष्वभ्यक्तं स्वाभिव्यक्त्युपायादुपलभ्यते तथा सिकतास्वप्यनभिव्यक्तं तैलं नोपलभ्यते सिकतामूलप्रदेशोत्पतितक्षीरस्याङ्कुरमूलपर्णादिप्रभवा सिकतानामेव तथातथा विपरिवृत्तेः, तद्गुरुकादिद्रव्येषु।

यदि सामान्यक्षेपतेत्यादि, यथाक्षेप समेत्सामग्रीमात्र सर्वस्य सर्वत्र वृत्तेर्यथा तिलेषु तैलं तथा सिकतास्वपि तैलं स्यात्, तदभावपक्षे तिलेष्वप्यभाव एव स्यात् न तु भवति तस्मादसत्सामग्रीमात्रमित्युच्यते—ननु यथेत्यादि [illegible] सिकतासु नास्ति तैलं तिलेष्वेवास्तीति, किन्तु यथा तिलेष्वभ्यक्तं स्वाभिव्यक्त्युपायात् यंत्रपीडनादेः यत्नेन उपलभ्यते, पर्णप्रतिबिम्बासु क्षीरवत् [illegible]-

एक सामग्री तत्स्वरूपव्यक्तत्वपर्यायो [illegible] सामग्री [illegible], [illegible] [illegible] तस्य सामग्री तत्स्वरूपात्मकत्वस्य एव [illegible] [illegible] सामग्रीति परस्परसामग्रीत्वात् [illegible] सर्व सामग्री [illegible] वस्तुनो [illegible] [illegible] ते अपेक्ष्य वस्तु सर्वसर्वात्मकं भवति एवम् [illegible] सामग्रीति भावः। एतमेवाह—वस्तुन इति [illegible] [illegible] विपरिवर्तमाना [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] परस्परमत्स्वभाव [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] तेन [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] सामान्यमेव [illegible]मेवेति। सर्व [illegible] [illegible] [illegible]—यथेति। [illegible]—तस्मादिति। ननु सामग्री [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] तिलेषु तैलम् [illegible] सिकतास्वपि [illegible] [illegible] सामान्या [illegible]—यदीति। [illegible] [illegible] [illegible] सामग्री [illegible] यदि तर्हि यथा तिलेषु तैलं तथा सिकतास्वपि तैलं स्यात्, यदि च तासु न तैलं तर्हि तिलेष्वपि न तत् स्यात् न चैवमस्ति तस्मात् [illegible] सर्व [illegible] सामग्रीमात्रं [illegible]—यथारोपमिति [illegible] [illegible] [illegible]। यद्यपि सर्व सर्वत्र [illegible] [illegible] सामग्रीमात्रं तथापि [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] एव, यथा तिलेषु तैल[illegible] [illegible] [illegible] तैलाभिव्यक्तं भवति यथा वा [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] तस्मात् तिलेषु तैलमपि [illegible] [illegible] [illegible] सिकतासु [illegible] [illegible] [illegible] न तु सिकतासु तैलस्य [illegible] [illegible]—ननु यथेत्यादीति। [illegible]-

१ सि. क्ष. डे. प्र. [illegible]। २ सि. क्ष. प्र. डे. [illegible] वृत्ते०।

पमानक्षितिमूलांकुराद्यवस्थासु च तथा शिवकासत्त्वेनाभिव्यक्त तैलं नोपलभ्यते, शिवकाभूमदेशो-द्भविश्लीवस्याङ्कुरमूलपर्णादिप्रभवः शिवकानामेव, तथा तथा विपरिणामे, शिवकानामभावे तिलमूलाद्यभावात् शिवकास्वेव तैलमस्ति, तद्गुरुत्वादिद्रव्येषु—समानगुणकोष्ठेषु द्रव्येष्वस्ति तैलं पावकाद्यन्यमन्यस्मात्तनीति, शिवके[ष्व]स्त्यजीवद्रव्यस्यापि तैलत्वात् व्यक्ताव्यक्तरूपेण सर्वस्य सर्वत्र भावात् समानमेवतत् ।

यथा—

सदा दर्शनात् संसिद्ध्यादिहेतुभिः सम्पादितसर्वात्मकैकवस्तुत्वाददर्शनादृश्यमानभागान्तरासत्त्वेन कल्पिता अपि न परमार्थतोऽसन्तो न वा न दृश्यन्ते, भावितपर्वैकभवनात्मकत्वात् तदपृथग्भागान्तराणामपि दर्शनमेव, निर्विभागमेव हि सद्वस्तु विभागेनेक्षण भ्रान्तिरित्युक्तम्, तस्मात् स एवास्ति स्वतः परत उभयतश्चेति, यथोक्तं 'तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ॥ तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः । (ईशा० १–५) 'यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ॥ तथाक्षराद्विविधाः सौम्य ! भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति' ॥ (मुण्ड० २।१।१) इति, भावितानवर्धद्रव्यार्थमेवतत्, यः पुनर्भेदः सोऽसत्येव भेदे भेदाभिमानः, तस्य क्रमाभिव्यक्तेः, एकद्रव्यस्वतत्त्वरूपादिभवितिति ।

(सदेति) सदा दर्शनात्—सर्वदा भावस्य भावान्तरादर्शनेऽपि दर्शनमेव कस्मात् ? संसिद्ध्यादिहेतुभिः सम्पादितसर्वात्मकैकवस्तुत्वात् प्राक्प्रभावितरेतरे[1]प्रमाणसामर्थ्यसंयोगसत्त्वाभावानां प्रतिपक्षभूता भावा यथासत्त्वाभूताभिमतवन्ध्यापुत्रान्वा इत्युक्तत्वात् असम्बद्धसत्त्वाख्ये सन्तोऽर्थाः, अदर्शनात्—दृष्टिशक्तिनैकस्यादृश्यमानभागान्तरा असन्त इति कल्पितेरन् तत्[न] परमार्थतोऽसन्तः न वा न दृश्यन्ते, यथाभूतेऽसेदे कल्पिता यस्य शिवकेषु सत्त्वे सोऽत्यन्तमङ्कुरस्कन्धादिमन्मूलादिकैरविभागसत्त्वं शिवकानामेव भावः शिवकानामेव तथातथापरिणामात्, तेन विनाऽभावात् तदनुभवत्वाच शिवकास्वेव तैलमस्तीति सर्वेषाति—शिवकेति । एवं पार्थिवमदेशोऽद्भविभूतमङ्कुरादीनां पृथिव्यादिरूपा यथाशिवमूलाद्योऽङ्कुरादीनां तेन तद्गुरुत्वमेवोक्तानि यथायथासमूलदमाशादिनां मूलाङ्कुरादिप्रभवा यथैवापरसमवायाभावे यत् तद्गुरुत्वादीति, पृथिव्यादिभेदे भवितमूलाद्योऽपि समूलाङ्कुरादिभागुरुत्वादित्वादिद्रव्येष्वपि तथा वासन्ते भावशोऽपि तैलमस्तीति भावः एतस्मादपि सर्वत्रैकावयवत्वात् सत्समुत्पत्तेरुपलभ्यते प्रतिपत्त तथा च शिवकोऽनुपलभ्यमानमपि तैलमनेकस्मात् तिलकालीति यदेव सर्व व्यक्तस्वेतात्मकत्वेन व्यस्तेमेवैति भावः । एवं सामर्थ्यदर्शनाद सर्वविविधमुपलब्ध सदा दर्शनात्पि तत्प्राह—सदा दर्शनादिति । संसिद्धिसंयुक्तादिभिर्हेतुभिः सम्पादितसर्वात्मकैकवस्तुत्वात् प्रतिपादितत्वात् भावान्तरादर्शनेऽपि सर्वदा भावस्य दर्शनमेव सर्वसर्वात्मनिर्विभागैकवस्तुनः पराम्यान्तमावरहितस्य दर्शनादित्याह—सर्वदा भावस्येति । नन्वदर्शनापि कुतश्चित् तत एव वस्तुनो विशेषा उदयन्तु वाच्यं भवति न प्रापभवाबाधीति पूर्वमुक्तत्वात् अपरिहार्यानोऽभावोऽदर्शनं नैवाह प्राक्प्रभावितेति तदुक्तं कथमपि तत्सत्त्वपरिमाण्यमावात्प्रतीतिविभागयोरभावात् भावात्मके सर्वस्य भावस्य परस्परात्मकत्वात् सर्वस्य सर्वात्मके भाव एव सर्वभाव इति सर्वभावात्मा सदा स्वभावत्वेन व्यक्तेः स्वस्वभावत्वादित्वात्, प्राक् भाविभवेन पदार्थविशेषस्य पदार्थान्तरस्य प्रमाणविशेष अवैतद्भावेन सर्वैकात्मैकत्वादिभिरपरस्परपरिहारस्य प्रमाणानन्तरभावैकानन्तरप्रमाणसामर्थ्येन सामर्थ्यस्य येऽपि संयोगाभावी यदि संयोगसत्त्वमेव योग्यत्वात् वन्ध्यापुत्रवदपि सत्त्वापि विदूरान्तरविवितुभावान्तरतया तस्मात्सिद्धमुक्तमेति नास्ति कस्यापि वस्तुनोऽभाव इति प्रतिपादितमिति भावः । दर्शनशक्तेर्दृश्यमानभागान्तरस्यासत्त्वं कल्पनं न तु तस्य परमार्थतोऽसत्त्वमसत्त्वं वैतत्—अदर्शनादिति । न वा न दृश्यन्त इत्यर्थानुगमः कथमिति चेदाह यस्मात्प्राभिता

1 सि. क्ष. डे. तैलमस्तर । 2 सि क्ष. डे. [illegible] । 3 सि. क्ष. डे. [illegible] ।

यस्माच्चापि नास्त्येवादर्शनम्, कस्मान्नास्ति ? यस्मात्सर्वत्र सामग्रीदर्शनहेतोरेकभवनात्मकमिति, तस्या इतरवैकभवनात्मकत्वात्—अतीतव्यापारभावितसंस्कारैकभवनात्मकत्वात्, निर्विभागस्य हि वस्तुनः परमन्यभाग[त]शक्तिभेदात् कस्यचित् अपि यत्नभवनात् तदेव ते भागस्य दृश्यत्वात् त[द]नुभवत्वात्तदनन्यत्व मपि दर्शनमेव निर्विभागमेव हि तद्वस्तु, विभागेनेदमं भ्रान्तिरित्युक्तम्, तस्मात् स एव[दृ]ति इत्यादि गतार्थम्, तस्मात् सदा दर्शनं नादर्शनम् यथोक्तमित्यादिना भागवीत न्याय ज्ञापकत्वेनाऽऽह—'चक्षुषि वर्तते' ( ) इत्यादि भाष्यम्, तदेव व्याख्यायते चिख्यिपते, व्याख्यातु समभेदं व्यापार्यमविरिच्यति—व्यविदानेकार्थद्रव्यार्थभेदमिति—द्रव्यार्थनयेषु पटस्तु विभ्वादिभेदेष्वादयु यथा भावितं प्राक् यथा लोकमाश्रित्य पश्यिस्थादिपु स एवाक्षेपो मन्योऽस्यावधारयितव्यः, यः पुनर्भेदो घटः पट इत्यादि सोऽप्यस्मेव भेदे भेदाभिमानः कस्मात् ? तस्य—अभिन्नस्य वस्तुनः क्रमाभिव्यक्तेः, क्रमेण हि अभिव्यक्ताः शक्तिमात्रा अभिव्यज्यमाना भेदा इत्याश्रयन्ते पुरुषमहत्त्वतत्त्वापेक्षया, न तु परमार्थतो भेदोऽस्ति, किमिव ? एकद्रव्यसमवस्वरूपवित्—यथैकमेव घटाख्यं वस्तु चक्षुरादिग्रहणापेक्षमविशिष्टं रूपादिभ्यपेक्षभाग् भवति—यथा चक्षुषा गृह्यमाणं रूपं जिह्वया रसो घ्राणेन गन्धः श्रोत्रेण शब्दः त्वचा स्पर्श इति तथा सर्वस्याभिन्नस्यैकस्यैव घटपटादिभेदभावनमभिमानमात्रमेवेति, एवं तावच्छून्यवादः पुरुषादिद्रव्यार्थवादेन निवर्तित इति ।

द्वादशारान्तरं समाप्तम्

मिति । [illegible] सामग्रीदर्शनहेतुनापुनः निश्चितसाद्वैतम्यैः चार्वाकमिति भावः । एतदेव व्याख्यानं भ्याख्या अतीतव्यापारेति, सामग्रीदर्शनस्याकेन्द्रं सर्वोत्तरेणात्मकत्वेन निर्विभागत्वात् परमन्याविभागपर [illegible] शक्तिभेदा अपि [illegible] तथापि ते तदेव यो हि भव्यो दृश्यते [illegible] भावः । वस्तुतः [illegible] निर्विभागत्वात् [illegible] वस्तु सर्वं [illegible] न तु [illegible] निर्विभागमेव दीति । विभागा पुरुषेऽभिव्यक्तिरपि [illegible] न तु वस्तुनो भिन्न [illegible] प्रान्तिरेव तस्मात् पुरुष एव [illegible] भावः । [illegible] तदेव [illegible] वस्तु लभ्यते न लभ्यते [illegible] तदेव न [illegible] अर्थः स्वेन चह । द्वितीया तु यथा [illegible] । [illegible] । [illegible] भावितानकार्थेति । व्याख्याति द्रव्यार्थनयेष्विति [illegible] । [illegible] पुनरिति, [illegible] पुरुषे [illegible] वस्तुनो भिन्न इति भाव [illegible]—तत्रेति [illegible] पुरुषस्य [illegible] भाव । तत [illegible]—एकद्रव्येति [illegible] इति । [illegible]—एवं तावदिति । [illegible] द्वादशारमिति।

अथ तुम्बनिरूपणम् ।

अतः परं तुम्बं नयचक्रस्य वर्ण्यते तदपि किं द्रव्यार्थैकम् उभयत सत्यम् ? किमसत्यम् ? इति, अस्मिन् सन्देहेऽभिधीयते—

एतदपि नैकान्त्ये युक्तम्, ततश्च विधेरारभ्य विधिविध्यन्तरानुक्रमक्रमेणोत्तरोत्तरैकान्तायुक्तत्वप्रक्रान्त्या तेषु तेष्वरान्तरेषु विचारितमेव यावच्छून्यवादम् ।

(एतदपीति) एतदपि नैकान्त्ये युक्तमिति प्रक्रान्तमेव, कथमित्यत आह—ततश्चेत्यादि, ततश्च सर्वसन्नद्वारसमुद्भिन्नविधिविधिनियायवारम्भोत्तरोत्तरैकान्तायुक्तत्वप्रक्रान्त्या तेषु तेष्वरान्तरेषु विचारितमेव, किं पुरुष एवावस्थाः ? अवस्था एव पुरुषः ? इत्यादिविकल्पपर्यनुयोगोपक्रमेणेति, तदनुसारयति विधिविध्यन्तरा[क्रम]क्रमेण—विधिविधिभेदानां पुरुषनियतिकालस्वभावभावानां पूर्वपूर्वदूषणेनोत्तरोत्तरप्रस्थान तत्परं विभुमयादीनामनुक्रमस्य—परिपाट्याः क्रमेण—विधिना, यावद्योऽप्यविद्रव्यार्थदूषण इति वेद्यस्ते याव द्रव्यक्रियोभयनय उक्तः तावद्द्रव्यार्थस्यावधेः ततः परं पर्यायार्थभेदाः, तेषामपि पर्यायार्थभेदानामुत्तरोत्तरैकान्तायुक्तत्वप्रक्रान्त्या यावच्छून्यवादम्, शून्यवादस्याप्येकान्तायुक्तत्वे पुनः विधिविधिनयस्य प्रक्रान्तम् ।

तदेकान्तायुक्तत्वस्थापना त्वेकान्तवादानां परस्परसंयुक्तत्वमापाद्य प्रत्येकशो द्विधो यावद् द्वादशारशः सप्तभेदस्तेषामुपरि विधिनयो यथाऽऽलोकमाह पश्यति, तद्भावतितथविकल्पसामान्यविशेषोद्धारार्थं विधिनियमविधिस्तन्निवर्तनार्थमुभयोभयनय इत्ययमपि क्रमो यावत् पुनरपि विधिविधिः, यथा ध्यानेन शून्यवादपूर्वपक्षस्य सम्बन्धस्तधैवैकैकेन द्रव्यार्थभेदेन, यथा

तदर्थ द्वादशारस्यान्तरमोक्षायामन्त्यामिधानां पूर्वप्रतिपन्नां इति प्रतिपादयति—अतः परमिति । ननु द्वादशारस प्रतिपादे द्रव्यार्थनयेन परिक्षिप्तम्, तत्स्वार्थस्याभिमतं सर्वं सत्यं वस्तु किं तत्सदुक्तसत्त्वमिति एवम् उक्ति, सर्वस्यान्त निरा तमेव पुनरभिधानाभिप्रायरूप तदपीति । तदरयति—एतदपीति । इत्यपि द्रव्यार्थैकं द्रव्यार्थनयानियतमनन्तैर्युक्त मिति विचारितमन्तरेषु निरूपितमेवेति व्याचष्टे—इति प्रक्रान्तमेवाति । एकान्तायुक्तत्वं कथं विचारितमित्यत आह—ततश्चेति सर्वसद्द्वारसमुद्भिन्नविधिविधेररान्तरेषु पूर्वपूर्वैकान्तविनाशप्रस्थानस्य समानमयुक्तत्वं भावयितव्यमेव भावः । किम् इत्येव विचारितमि त्यत्र विधिविधिनयस्यान्तरे प्रतिपादिते तत्रयोरिति निरुक्तं निरूपणारम्भे विकल्पस्याभेदे विचारेऽनेकान्तदर्शनं—किं पुरुष एवेति । मूलेऽपि विचारप्रकारं व्याचष्टुमाह तदनुसारयतीति । विधिविधीति अभिमतं हि नय पुरुषनियतिकालस्वभावभावा पृथक् पृथक् प्रतिपादिता पूर्वैर्वैमतान्निरासपुरस्सरम् तं विधिविधिनयं विभुमयाद तं विधिनियमनयमनुक्रमात् तं विधि नियमविधिनयं प्रत्यधिकरणा द्रव्यार्थेन एवम्बरधिकरणनियमित्य उभयनय इति भावः । विधिविधिनयविधिनयप्र द्रव्यार्थे पर्यायार्थे उभयोभयनय उभयस्यनियम्यस्य नियमनयो नियमविधिनयं नियमोभयनयस्त्वमपि पर्यायो नियमनियमन स्यापेक्षया, तत्र स्वार्थं स्वस्वार्थं द्रव्यार्थे विधिविधिनयोऽप्युप प्रत्यक्षरेखाह—ततः परमिति । एवमेतन पूर्वकारस्या तुम्बस्थापना अस्मिन् प्रकारान्तरेण तन्मात्रा दर्शयति—तदेकान्तति । अत्र प्रतिपादिता एवमन्यथा परस्परमेकम्

---

१ सि क्ष. ड. ... परंतुम्बं पा. ... परं तुम्बं । २ सि. क्ष. यावा । ३ × × क्ष पा. ।

च तैः प्रत्येकं विधिविधिना शून्यवादे प्रतिषिद्धे यथारुचितमभिसम्बन्धः, शून्यवादस्यापि येन केनचिदेकदेशानामन्यतमेनान्वयितस्य सम्बन्धोपपत्तेः ।

(तदिति) तदेकान्तानुपपन्नत्वमापन्ना स्वेकान्तवादानां परस्परसंयुक्तत्वमापाद्य प्रत्येकशो द्विके यावत् द्वादशारस्य सप्तमेऽरस्याद्युपरि विधिनयः, प्रथमोक्तो द्रव्यः, तस्मादप्येकादशैकान्तपरिमाणेन वस्त्वितीति चतुरुत्थानादिभिन्नत्वात् समस्तारसूचनम् तद्व्याचष्टेऽत्रादि—तेन विधिनयेन व्यावर्तितयोः सविकल्पयोः सामान्यविशेषयोरुद्धाराय विधिनियमविधिः, ततः तन्निवर्तनार्थमुभयोरप्येकत्वमपि क्रमो यावत् पुनरयं विधिविधिरिति यथा चानेनेत्यादि यथा चानेन विधिविधिनयेनैकान्तानुपपन्नवादिभिः शून्यवादपूर्वपक्षस्य सम्बन्धः तदर्थकेन तद्विधत द्रव्यार्थ[भेदेन], यथा च तैरित्यादि—यथा च द्रव्यार्थैः प्रत्येक विधिविधिनयेनैव योगः शून्यवादस्य, तथा शून्यवादे प्रतिषिद्धेऽपि तदनन्तरमेव विध्यादीनां द्वादशानामन्यतमानां यथारुचितमभिसम्बन्धः शून्यवादस्यापि येन केनचित्, एकदेशानामन्यतमेनान्वयितस्य सम्बन्धोपपत्तेः प्रत्येक वचनसमाधानप्रतिपादनसमर्थानां व्यापित्वं येनकेनचिदिति वचनात् यदि विध्यरनया- दीनां समनन्तरेणैवाव्यवहितेनोत्तरेणाव पूर्वेण समनन्तरातीतेनैवाव्यवहितातीतेनैकविरुद्धक्रमेण उत्क्रम- क्रमाभ्यां वा सम्बन्धोऽस्ती[स]र्थः ।

तस्माच्च द्वादशान्यतमारानन्तरोत्थानक्रमसम्बन्धेन सर्वेऽप्युत्पत्तानां व्यवस्थापाये-

द्वाभ्यां विधिमुभिर्वोपकेभारकर्मिनिर्मिता [illegible] परस्परसंयुक्तत्वं त्यापत्तिः तथा भिन्नसामान्या तेऽप्युपरि विधि- नय ... रितये [illegible] यथा ... यस्य यदि नहि [illegible] सामान्यविशेषो [illegible] —तदेकान्तानुप- त्वेति, [illegible] । विधिनयोऽपि [illegible] —यथा कोऽपि । [illegible] तत्रैव प्रसङ्गात् सामान्यविशेषे हि [illegible] इति [illegible] । तथैव विधिनयेन [illegible] सामान्यविशेष- प्रतिषिद्धो [illegible] —तेन विधिव यतति । [illegible] सम्बन्धो द्रव्यार्थेन विधिविधिनयेन [illegible] —यथा चानेनेति [illegible] विधिविधिनयेन [illegible] सम्बन्धो यथाऽत्र [illegible] नयस्य सहापि सम्बन्धोऽस्तीत्यर्थः । [illegible] —यथा चेति । [illegible] विधिविधि नयेन [illegible] विधिविधिनयस्य [illegible] मध्ये यथा- रुचि येन केनचित् [illegible] विधिविधिनयेन [illegible] सम्बन्ध इत्यादि [illegible] विधिविधिना [illegible] यथारुचितमभिसम्बन्ध [illegible] । [illegible] यथा [illegible] येन केनचिदन्तरितेन [illegible] सम्बन्धो भवतीति [illegible] —शून्यवा- दस्यापीति । येन केनचिदिति [illegible] —यदीति विधिनयेऽपि विधिविधिनयवादिना विधिविधिनयवादिना [illegible] क्रमेण सम्बन्ध एवमुत्तरेणा विधिविधिनयप्रतिषेधना [illegible] विधिविधिनयेन [illegible] विपर्ययेन सम्बन्धो भिन्न इति प्रतिभाति । तेषां [illegible] ।

१ छा. [illegible] । २ सि. क्ष. छा. [illegible] ।

नार्थं सर्वमिदं नयचक्रशास्त्रं क्रमते, एवमेवास्य शास्त्रस्य नयानां चक्रं नयचक्रं नयसमूह इत्यन्वर्थसंज्ञा स्यात्, यथा चास्मादेवं सर्वेभ्योऽपि सर्वनयानामुत्थानमविरुद्धम् ।

(तस्मादेवेति) तस्माच्च–सर्व[1]भावव्यापकत्वान्यान्यस्मरसम्बन्धा[त्] द्वादशानामन्यतमादरात् अन्यतरस्योत्थान तदपरद्रूपणार्थं क्रमः, तेन क्रमेण सम्बन्धेन सर्वक्रमतपक्षाणां–मिथ्यादृष्टिप्रणीतपक्षाणां अन्यतरस्यार्थमेकत्रार्थं सर्वमिदं नयचक्रशास्त्रं क्रमते सर्वेकस्वभावभावाभिनिवेशाग्रहानपेक्षसर्वनयमिथ्यादृष्टित्वात्, तत्र तत्र च तदोर्विशिष्टस्य प्रतिपादितत्वात् परस्परविशिष्टपक्षाणां क्रमेणान्योन्यसंबंधानुसारेण सर्वेषामन्योन्यदूषकत्वात्, एवमेवेत्यादि–एवमेकत्वाऽस्य शास्त्रस्य नयादीनां चक्रं नयचक्रं नयसमूह इत्यन्वर्थसंज्ञा स्यात्, नयानां स्वपरमतस्थापनदूषणसमर्थानां समूहत्वात् नयन्तेऽर्थम् प्रापयन्ति नयन्ति गमयन्तीति नयाः, वस्तुनोऽनेकात्मकस्यान्यतमैकात्मकैकात्म्यपरिग्रहात्मका नया इति तेषां चक्रम्, एष तावदस्मादन्या-न्यूनत्वाग्रहात् सर्वनयोत्थानं न विरुध्यते, यथा चास्मादेव सर्वेभ्योऽपि–मध्येमध्यस्मादन्यतरा उत्थान सर्वनयानाम् अस्मादविरुद्धं तथा सर्वेभ्योऽपि–सर्वस्मादेकैकस्मादपि नयात् सर्वनयानामुत्थानमविरुद्धमेव, सर्वस्य सर्वेण सह विरोधित्वे सति विवादसद्भावात् ।

एषामशेषशासननयाराणामुपग्राहकं जिनवचनं तद्यथा–इमाणं भंते ! रयणप्पभा पुढवी किं सासता असासता इति पृष्टे व्याकरणं सिया सासता सिया असासता इति समग्रादेशात्, पुनः, से केणट्ठेणं भंते एवं वुच्चति सिया सासता सिया असासता, तस्य विकलादेशा द्व्याकरणं, रत्नप्रभायाः स्वतत्त्वमुभयात्मकं विभागेन विदधाति तद्यथा–दव्वट्ठताए सासता वण्णपज्जवेहिं गंधपज्जवेहिं रसपज्जवेहिं फासपज्जवेहिं संठाणपज्जवेहिं असासता इति तदनुपा

भिन्नभिन्नेन सर्वाभावो व्यापकः तदनन्तरं तेन सम्बन्धात् द्वादशानामराणामन्यतमादरादन्यतरस्यारस्योत्थानं तदपरप्रतिक्षेपाय भवति, तदनुत्थानमन्यतरस्यानमपि तदपरप्रतिक्षेपमेकैकं क्रम. एवं क्रमेण विवादमाना सर्वे पृष्ठा क्रमवान्मेव मिथ्यादृष्टित्वात् तन्नेकत्र यथान् न्यस्तादभिनिवेशमार्थं इदं सर्वं नयचक्रशास्त्रं क्रमते इति व्याकरोति–तस्माच्च सर्वाभावेति । इत्यादि सर्वं नयचक्रानां मिथ्यादृष्टित्वे–सर्वैकेति व्याहारो हि सर्वेषां नयानामेकस्वभावत्वादि एकान्तेनमन्यतरसनिबद्ध परमार्थतस्त्वाभवनात्मकाविशिष्टानां परस्परविरुद्धानां परिग्रहणात्, स हि स्वभावः सर्वभावमेकस्वभावाभ्योपगमात्मिका परस्परसम्बन्धस्थापनेन परिग्रहणात् तत्र एकविशेषाभावाग्रहापेक्षया मतानः सर्वे नया सम्यग्दर्शनविपक्षत्वान्मिथ्यात्वस्य इति भावः । तत्र तत्रेति विभाजितनयविवक्षावसरे तेषां मिथ्यात्वं दुर्निश्चितत्वं प्रतिपादितमेवेति भावः । विभाजितमेकेन प्रतिपादितार्थस्य परेण दूषणार्थस्थापितार्थस्थितिमाह–परस्परेति प्रोक्तक्रमेण परस्परेण विशिष्टपक्षाणां अन्योन्येन दूषितत्वादिति भावः । अत एव नया पयोऽन्यान्य परस्परपक्षदूषणसमर्थस्थापकाः अत एव स्वपरमतस्थापनदूषणसमर्थानां नयानां समुदायस्यास्य नयचक्रमुपपन्नं इत्याह–एवमेकत्वेति । नयशब्दार्थमाह–नयन्त इति । वस्तु सामान्यविशेषाद्यनेकात्मकम् तदेकदेशमात्रं ये परिग्रहमुपादायैकान्तेन तदेव सर्वमवस्थापयन्ति प्रतिपादितं न कदापीति अन्यतरस्यापि नयानामन्योन्योत्थानार्थं सम्भवतीत्याह–एषं तावदिति तस्मात् विवादाभावात् विरोधाभावात् नयानां अन्यतापि नयादिनेतरोत्थानं सम्भवति सर्वेषां नयानां सर्वे सह विरोधेन विवादसद्भावात् न सर्वं नयोऽन्येनैव विवदत इत्यपि नियम इति भावः । एवं नया न सर्वथा न वा निर्मूलाः किन्तु जिनवचनमहाम्बुराशेः तरङ्गाः अत एव सर्वनयानां जिनप्रवचनेन नियम्यता-

1 सि. क्ष. डे. सम्बन्धा । 2 सि क्ष. डे. °न्योन्येनार्थं ।

तद्वृत्तेः ससाधननामिक्रिया–तस्याः शाश्वताशाश्वतधर्मसत्तत्त्वायाः कारणाभ्यां द्रव्यार्थपर्यायार्थाभ्यां कारितं, सत्तत्त्वं विश्वतो जिनवचनस्यानुगमात् ।

एषामित्यादि, एषामक्षेपणवार्ता किं निरूपणमिति चेदुच्यते एषामक्षेपशासननयाराणां–अक्षेपशासनान्येव जैमिनीयोपमिषद्वादीनि नयाः–अरस्थानीयानि व्याख्यातुम्नस्य नयचक्रस्य तेषामक्षेपशासननयाराणां च भगवदर्हद्वचनमुपनिबन्धनम् जिनवचनमहासमुद्रस्यैव तरङ्गा एते तथा च तत्र तत्र भणितम् यथाऽऽचार्यसिद्धसेनस्याह–'भद्दं मिच्छादंसणसमूहमइयस्स अमयसारस्स । जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाहिगम्मस्स ॥ (सं. का. गा. ६९) इति तेषामाक्षेपशासन[नया]राणां द्रव्यार्थपर्यायार्थनयौ द्वौ मूलभेदौ तत्प्रभेदाः सङ्ग्रहादयः तित्थयरवयणसंगहविसेसपत्थारमूलवागरणी । दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पासिं' (सं. का. १ गा. ३) इत्यादिव्याख्यानात्, तत्र द्रव्यार्थस्य विकल्पाः षट् संक्षेपेणात्रोक्ताः पर्यायार्थस्य षट्, तेषामुपग्राहकं जिनवचनं तद्यथा–'इमाणं भंते ! रयणप्पभा पुढवी किं सासया असासया इति पृष्टे व्याकरणं 'सिया सासया सिया असासया' इति समाधेयात् पुनः से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ सिया सासया सिया असासया' इति व्याख्यातार्थः प्रश्नः तस्य विभक्तदेशव्याकरणं रत्नप्रभायाः शाश्वताशाश्वतात्मकं विभागेन विदधाति, तद्यथा 'दव्वट्ठयाए सासया वण्णपज्जवेहिं गंधपज्जवेहिं रसपज्जवेहिं फासपज्जवेहिं संठाणपज्जवेहिं असासया' (जीवा. सू. ३–१–७८) इति तद्वृत्तेः ससाधननामिक्रिया तथा रत्नप्रभायाः शाश्वताशाश्वतधर्मसत्तत्त्वाया कारणाभ्यां द्रव्यार्थपर्यायार्थाभ्यां नैमित्तिकप्रवृत्तिरूपाभ्यां कारितं सत्तत्त्वमनेकान्तात्मकं विश्वतो जिनवचनस्यानुगमात् ।

विवरणम्–एषामिति । आक्षेपेति–अक्षेपशासनान्येवेति अक्षेपशासनान्येव नया अरनेमिसंनिवेशात् तानि च जैमिनीयोपनिषद्–पुरुषाद्वैतवादीन्यारभ्य शास्त्राणि तेषां च भगवतो मूलभूतवचनमेव निमित्तकारणमिति तदुक्तं–भद्दं भगवओ जिणवयणस्स महासमुद्दस्सेति भावः । अत्रार्थे सिद्धसेनाचार्यवचनमुपन्यस्यति–यथा चेति भद्दं मिच्छादंसणसमूहमइयस्स अमयसारस्स । जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाहिगम्मस्स ॥ इति । अक्षेपशासनान्येतानि द्रव्यार्थपर्यायार्थौ एवेति विभजनं तथा प्रभेदाः सङ्ग्रहादयो नैगमादय एतदनुसरणमिति सम्मतौ आह–तेषामेवेति । आचार्यसिद्धसेनवचनमाह–तित्थयर इति तीर्थकरवचनसङ्ग्रहविशेषप्रस्तारमूलव्याकरणी । द्रव्यार्थिकश्च पर्यायनयश्च शेषा विकल्पा एषाम् ॥ भगवदर्हद्वचनमाश्रित्य तस्य सङ्ग्रहविशेषौ प्रस्तारविशेषा–प्रभेदमूलौ द्वौ नयाः सङ्ग्रहादयः तस्य मूलभूते व्याकरणी व्याख्यात्री वा द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकौ नयौ शेषास्तु सङ्ग्रहादयो विकल्पा भेदा इति तदर्थः । अथवा तत्र द्रव्यस्य षट् विकल्पाः पर्यायार्थिकस्य षट् संक्षेपेणोक्ता इति । तयोः द्वादशारनयचक्रमेव जिनवचनं दर्शयति–तेषामुपग्राहकमिति तत्प्रश्नो इमाणं भंते रयणप्पभा पुढवी किं सासया असासया इति प्रश्ने द्रव्यार्थपर्यायार्थोभयनयसमर्थकव्याकरणमिति व्याख्यातार्थः, इत्येवाह–'इमाणं' इति । तत्प्रश्नस्यार्थो जिज्ञासितार्थस्य निर्णयार्थमाह–'से केणट्ठेणं' इति । रत्नप्रभा शाश्वताशाश्वतात्मकं तत्त्वं विभक्तदेशव्याकरणविभागेन व्याख्यातवतीति–द्रव्यार्थतया इति । तद्वृत्तेरिति तत्प्रवर्तनस्य साधनसहिता नामिक्रिया द्रव्यार्थिका, पर्यायार्थिका

1 सि. डे. क्ष. परान्नस्य भाष्यक । २ सि. क्ष. डे. इत्ये व्याख्यानमपरवादिना । क्ष. इत्येवमनन्तरमिष । ३ सि. क्ष. भा. डे. द्रव्येष्वट ।

द्वादशानामराणामित्थं तुम्बक्रिया, तत्प्रतिबद्धसर्वारावस्थानात् अतोऽन्यथा विशरणात्, तद्यथा विधि-विधिविधि-विध्युभय-विधिनियम-उभय-उभयविधि-उभयोभय-उभयनियम-नियम-नियमविधि-नियमोभय-नियमनियमा ऐकमत्येनान्योन्यापेक्षवृत्तयः सत्यार्थाः, तदुभयदर्शनविकल्पैकवाक्यात्मकत्वात्, घटवत्, एतत्क्रमनियतस्याद्वादलक्षणः शब्दः स्यान्नित्यः, स्यान्नित्यानित्यः, स्यादनित्यः, विध्यादिद्वादशविकल्पनियताकृतक–कृतकाकृतक–कृतकत्वानेकान्तविकल्पात्मकत्वात्, घटवदिति ।

(द्वादशानामिति) द्वादशानामराणामक्षेपशासनसङ्ग्राहिणामित्थं तुम्बक्रिया-साधारणनाभिकरणं तत्प्रतिबद्धसर्वारावस्थानात्, अतोऽन्यथा विशरणात् यथोक्त—'जंमि कुलं आयत्तं तं पुरिसं आयरेण रक्खाहि । ण हु तुम्बम्मि विणट्ठे अरया साहारया होंति ॥' (आ० नि० गा ७५९) इति तद्यथा— विधिविधिविपरीतादिसाधनवाक्ये यावद् घटवदिति दृष्टान्तः, एवं तुम्बकरण—सविकल्पद्वादशनयचक्रैकवाक्यता नयनसाधनम् तत्र विधिभङ्गाश्चत्वारः आद्याः, उभयभङ्गा मध्यमाश्चत्वारः, नियमभङ्गाश्चत्वारः पाश्चात्याः, यथार्थस्य नियमप्रविभागाः ४ नियमानियमप्रविभागाः ४ अनियमप्रविभागाश्च ४ विधिः विधि [विधिः, विधे]र्विधिनियम, विधिनियम इति प्रथमभङ्गचतुष्टयम्, मध्यमं विधिनियम, विधिनियमयोर्विधिः, विधिनियमस्य विधिनियमम्, विधिनियमस्य नियम इति, पाश्चात्यमपि नियमः, नियमस्य विधिः, नियमस्य विधिनियमौ नियमस्य नियम इति, एते द्वादशाप्यरास्ते ऐकमत्येनान्योऽन्यापेक्षवृत्तयः

यस्मिन् आवर्ते यथावस्था [illegible] प्रमेयं [illegible] द्रव्यार्थपर्यायार्थाभ्यां कारणाभ्यां तौ यस्मिन् आवर्ते तथा इति परिशिष्टमनेकान्तात्मकत्वं विरुध्यते जिनवचनस्यानुपममिति सर्वं । एवमेव द्वादशारस्य नाभिनिवेशनम्–द्वादशानामिति । भाष्ये—द्वादशानामराणामिति सर्वे द्वादशारा निविष्टाः [illegible] एकवाक्यतायामपि यतो यदाऽनुपतन्ति द्रव्यार्थपर्यायार्थाभ्यां तदा नयविकरणे जातमिति विशेषम्, इदमेव साधारणनाभिकरणम् साधारणनाभौ सर्वेऽरा यदा प्रतिबद्धा भवन्ति तदैव तेषामवस्थानं भवति अन्यथा तु विकीर्णत्वे परस्परं विरोधेन [illegible] द्रव्यार्थपर्यायार्थाभ्यां [illegible] वान्ति तदा विरोधाभावेन सर्वे सुस्थिता भवन्तीति भावः । तत्प्रतिबद्धानामवस्थानमन्यथा विशरणम् दृष्टान्तेन प्रसाधयति यथा वचनमुपन्यस्यति—यथोक्तमिति यस्मिन् कुलमायत्तं तं पुरुषमादरेण रक्षेत् । नहि तुम्बे विनष्टे अरकाः साधारा भवन्ति ॥ इति गाथा कुलाधारं पुरुषं परिरक्षेत् न हि विनष्टे तस्मिन् कुलं तिष्ठति न हि तुम्बे विनष्टेऽरकाः साधारा भवन्ति निराधारा विशीर्यन्त इति भावः । एतदर्थसंवादिनी कारिका यथा—यस्मिन् कुले य पुरुषः प्रधानो यत्नेन सोऽयं परिरक्षणीयः । तस्मिन् विनष्टे न कुलं विनश्येत् न नाभिभङ्गे अरका भवन्ति ॥ इति ॥ नाभिकरणे प्रयोगं दर्शयति विधिविधिविपरीतादीति विध्यादयो द्वादशारा ऐकमत्येन परस्परापेक्षवृत्तयो यथार्थाः तदुभयविकल्पैकवाक्यात्मकत्वात् घटवदिति [illegible] तुम्बकरणमिति । तत्र प्रतिज्ञा यथा विधि–विधिविधि–विध्युभय–विधिनियमनामकाश्चत्वारो विधिभङ्गा उच्यन्ते उभय–उभयविधि–उभयोभय–उभयनियमा उभयभङ्गाः नियम–नियमविधि–नियमोभय–नियमनियमनामका नियमभङ्गाः [illegible] एवेति । एषु भङ्गेषु [illegible] प्रतिज्ञा प्रदर्शयति—यथार्थस्येति [illegible] नियम इति [illegible] विधिभङ्गेषु, [illegible] नियमानियम इति चत्वार उभयभङ्गेषु, [illegible] अनियम इति चत्वारो नियमभङ्गेषु [illegible]

---

१ सि. क्ष. डा. दे. मध्यमं विधिनियमौ विधिनियमयोर्विधिर्विधिनियमयोर्विधिनियमयोर्विधिर्नियमनियमनियमपाश्चि-त्या । २ सि. क्ष. पा. दे. विधिनियमौ । ३ सि. क्ष. दे. ऐकमत्येन एव एकमत्येन ।

सत्यार्था इति संक्षिप्तरूपेण प्रतिज्ञा—एवमाद्यनित्यत्वसाध्यलक्षणः शब्द इति, सामिन्नः सामित्यमनित्य स्याद्नित्यः शब्द इति संक्षेपेण त्रिविधा हेतुरपि विध्यादित्रयसमवत्त्वमित्वात्कृतक—कृतकाकृतक—कृतकत्वानेकान्तविकल्पासमस्त्वादिति प्राग्व्याख्या[ता]र्थमवार्थसमाहारात्मक एवार्थ, प्रतिज्ञावत्, वचनसर्वेम-विकल्पैकव्यात्मकत्वात्, घटवदिति दृष्टान्तः, परस्परापेक्षवृत्तिसमवानयमतैकत्वानुवृत्तिमित्व—नित्यानित्य[ानित्य]त्वानेकान्तविकल्पात्मकत्वागताकृतक—कृतकाकृतक—कृतकत्वानेकान्तविकल्पात्मकः सिद्ध एवेति प्राग् व्याख्या[ता]र्थत्वात् ।

व्याख्यानविकल्पदर्शनसाधनन्तु व्यवहारैकत्व-सर्वैकत्व-सर्वसर्वत्वो-भयप्राधान्या-न्यतर प्रधानोपसर्जनत्वे-तरेतराभाव- मेदप्रधानता-यकल्पत्वमेवसमुदायिमात्रत्व- क्षणिकत्व-शून्यता-नित्यः शब्दः, व्यवहारैकत्वसर्वैकत्वसर्वसर्वत्वोभयप्राधान्यान्यतरप्रधानोपसर्जनत्वेतराभावम-दप्रधानत्वापकल्पत्वमेवसमुदायिमात्रत्वक्षणिकशून्यताऽकृतकत्वात्, व्याख्यार्थपदवत् ।

(व्याख्यानेति) व्याख्यानविकल्पदर्शनसाधनन्तु—एवमानन्यतामित्विनामिनित्यानेकान्तसमग्रा-

---

[illegible] तदेव मानयोमवयोतु नित्य इति प्रयोगमात्रो दृश्य एव इति भावः । नाममाह नयान् दर्शयति—विधिविधीति [illegible] परस्परापेक्षया व्याख्येयमाह यस्य, यथा पौरुषेयादीति प्रतिपादयन्तो विधिविधि भावः । [illegible] विधिविधि [illegible] यथाभिमतवस्तु सर्वसर्वप्रसङ्गनिवारणाय [illegible] अमननिवमात्स्यमितोऽविधिनियमम्, [illegible] परस्परानात्वे [illegible] एवं [illegible] विधिनियमवन्ध्या [illegible] विधिनियमयोस्तथैवेति [illegible] विधिनियम इति प्रथमस्यानुग्रहम् । [illegible] विधिविधी [illegible] विधिनियमम्, [illegible] परस्पराभि पेक्षत्वे प्रधानत्वे [illegible] विवादात् विधिनियमयोरिति । [illegible] विधिनियमस्य विधिनियमम् [illegible] विधिनियमोभयनियम इति [illegible] । [illegible] नियमस्य नियमाद्विषयमिति । [illegible] नियमस्य विधिनियमम्, [illegible] नियमाविषयस्य नियम इति [illegible] । एतेऽरा [illegible] परस्परापेक्षाः [illegible] भवन्ति [illegible] परस्परविशेषरा भवन्ति तथा सत्यार्था इति प्रतिज्ञामाह—एते इत्यादि । पूर्व [illegible] प्रतिज्ञा [illegible] [illegible] एते सत्यार्था—एवमादयोऽपि [illegible] तथाभिमतेन व्यवस्थिता शब्द इति सामित्यमनित्य शब्द इति सामित्य शब्द इति च त्रिविधा प्रतिज्ञा भवन्तीति भावः । तत्र हेतुमाह—हेतुरपीति [illegible] कृतकानेकान्त [illegible] कृतकत्वानेकान्त विकल्पे च [illegible] भावः । [illegible] हेतु प्रतिज्ञावत् पूर्व व्याख्याता वे [illegible] [illegible] व्याख्यासाथेति । [illegible] हेतुमाह—वचनसर्वेमेति [illegible] विधिविधि— [illegible] हेतु [illegible] । ननु [illegible] इति [illegible] वर्णी [illegible] भिन्न एव [illegible] परस्परापेक्षा [illegible] परस्परापेक्षेति, [illegible] न व्याख्यातार्थ एवेति भावः । [illegible] विकल्पे—व्याख्यानादिति । [illegible]—एतयेति [illegible] एवं सत्यार्था [illegible] व्याख्यार्थी

पनसाधनस्य व्याख्यानमिदं बृहत्त्वतत्साधनम्, अतीतानां द्वादशानामराणां प्रत्येकं यथासङ्ख्यं प्रस्तावार्थो यत्नार्थत्वात्, तद्यथा—व्यवहारैकत्वेत्यादिविचरणकमप्रविक्षेपन्यासो यावत् शून्यस्वाभिन्यः स्व इति, हेतुः व्यवहारैकत्वेत्यादिविचरणको यावत् प्रमित्यशून्यत्वाऽकृतकत्वादिति, १ विधिनयस्य तावद्यथालोकग्राहमेव वस्तु, यथा लोकेन परिगृहीतमेव नित्यानित्यकारणकार्यैकनानात्वाद्यसम्यग्ज्ञानप्राप्त्यप्रयोजनत्वादिविचारेण ज्ञानप्राप्तिप्रयो-जनत्वकर्मफलसम्बन्धमात्रपरिज्ञानमपौरुषेयानाद्यनिधनागमगम्यमिति दर्शनम्, २ विधिविधिस्तु क्रियावि-धायिवाक्यपरिज्ञानसाध्यज्ञानप्राप्त्यप्रयोजनत्वादिदोषाभिमोक्षात् स्ववचनादिविरोधात् वस्तुतत्त्वपरिज्ञाना विनाभावायुक्तेः सर्वैककारणमात्रत्वम् तच्च पुरुषकालनियतिस्वभावभावाद्यन्यतमात्मकम्, आत्मप्रभेद मात्रावस्थाभेदमात्रव्यवहृतेरिति, तस्यापि विधिविधेरस्यावस्थावस्त्वपादानाद्यसम्भवात् परमशून्यस्य-विधायिनभिमतत्वात् प्रसङ्गाच्च सन्निधिव्यापत्तिमनन्तर्वित्तत्वात् भयात्, प्रकाशप्रवृत्तिनियमात्मनोऽगयसत्त्व रजस्तमोमयप्रकृतिव्यापारस्योदासीनभोक्तृपुरुषोपभोगार्थप्रवृत्तेरिति विधिर्विधीयते नियम्यते यस्मिन् विधि विधिनियमनयमतदर्शनम्, न सर्वमेककारणकं किं तर्हि ? सर्वं सर्वात्मकमिति, ३ उभयं वा विकल्पार्थत्वं

[illegible] । [illegible]—अतीतानामिति प्रोच्यमानं द्वादशनयाराणां यथासङ्ख्यं [illegible] । [illegible] प्रस्तुवन्ति—व्यवहारैकत्वेत्यादिविविक्तम् [illegible] विध्यादि द्वादशनयव्याख्यानमिदं [illegible] वा, [illegible] प्रत्येकार्थः । प्रत्येकनयप्रस्तावार्थोपवर्णने विधा विध्यादि विधिनयस्येति यथा-[illegible] परिगृहीतं तथैव वस्तु [illegible] सामान्य विशेषाद्यपेक्षं [illegible] यथा कारणमेव [illegible] सामान्यमेव सर्वमिति [illegible] एव [illegible] वर्तमानानि [illegible] [illegible] पुरुषार्थसाधनं [illegible] न तु [illegible] एव [illegible] इति भावः । विधिविधिस्त्विति क्रियाविधायकवाक्यस्य परिज्ञानमपि न सम्भवति [illegible] ज्ञानप्राप्त्यप्रयोजनत्वादिदोषाभिमोक्षात् [illegible] सर्वमिति [illegible] ज्ञानाभावे [illegible] कथं [illegible] वस्तुतत्त्व-परिज्ञानाविनाभावित्वादित्यादिना [illegible] सामान्यमेव [illegible] मात्रमिति [illegible] वस्तु, न च पुरुष [illegible] इति [illegible] भावा वा [illegible] इति विधिविधिनयमतम् । तस्यापीति [illegible] पुरुषाद्यवस्था [illegible] एव [illegible] न [illegible] इति [illegible] पुरुषः [illegible] एव [illegible] यथा [illegible] एव [illegible] न [illegible] इति [illegible] प्रकाशप्रवृत्तिनियम [illegible] सत्त्वरजस्तमोमय [illegible] [illegible] इति [illegible] पुरुषः [illegible] विधिनियमनयमतम् । [illegible] भावः [illegible] भोक्ता [illegible] पुरुषः [illegible]

विधुभयनयदर्शनस्य प्रकृतिपुरुषयोर्भुभयमयत्वानुपपत्तेः स्थित्युत्पत्तिविनाशानामसत्त्वात् ... भावेन भाव्यभवितृभेदात् प्रविनिश्चितबुद्धिसर्वत्राभिप्रायाभिधेयासत्त्वात् ... ईश्वरेच्छितत्वात्... द्वैतमिति एतस्यापि प्रकृतिपुरुषयोः परस्परात्मानापत्तौ कर्मफलसम्बन्धाभावे संसारमोक्षाद्यनुपपत्तेः, ईश्वरस्यापि च प्रवर्तकपुरुषकर्मान्तरात् कर्मणो पुरुषान्तरात् आत्मनैवात्मनः कार्यकार[ण]त्वादेकं सर्वं सर्वमेकमिति निर्नियमत्वात् ४ विधिनियमनयदर्शनमिति एषां चतुर्णां द्रव्यार्थनयानां ... अन्वः । भविष्यभवनयोर्द्रव्यक्रिययोरन्यतरप्रधानोपसर्जनत्वानुपपत्तिरन्यतरापत्तौ विधिनियमौ प्रधानत्वेन द्रव्यभावपरिग्रहात्मकाविति ५ उभय[नय]दर्शनम् अस्यापि नयस्य परस्परनिरपेक्षत्वात्... द्रव्यभावयोरनुपपत्तेः स्थित्युत्पत्तिविनाशस्वाभाव्ययोरभावस्य खपुष्पवत्त्वः परतः स्वतश्च ... गुणप्रधानभावेन

अनात्मकस्य तद्विभिन्नस्य पुरुषस्याभावात् ... प्रधानस्य ... पुरुषस्य ... एकस्य प्रवर्तनात् ... भवति मुक्तस्य ... ईश्वरः ... इति भावः । ... निराकरोति—एतस्यापीति । प्रकृतिपुरुषयोः परस्परात्मानापत्तौ कर्मफलसम्बन्धो न स्यात्, तदभावे संसारमोक्षाद्यनुपपत्तेः ईश्वरोऽपि ... कर्म स्यात्, ... कर्मणः ... कर्म ... स्यात् ... इति ... [illegible] ... कर्म पुरुष एव कर्ता, ... तदपि कर्म ... [illegible] ... परिणमति ... [illegible] ... एवं ... विधिनियमनयदर्शनम्, एवं ... [illegible] ... इति । ... भवति ... इति ... [illegible] ... द्रव्यं ... [illegible] ... भवति ... भाव इति ... [illegible] ... क्रियाया ... [illegible] ... एव ... प्रधानभूतौ ... भविष्यद्भवनयोरिति । एवं द्रव्यभावयोः ... [illegible] ... तस्मात् ... [illegible] ... क्रियाया एव ... [illegible] ... स्यात्, ... [illegible] ... इति भावः ... [illegible] ... विधिनियमयोः ... [illegible] ... अस्यापि नयस्येति । ... [illegible] ... गुणप्रधान ... [illegible] ... इति ... न ... [illegible] ..., तथापि न

द्रव्यादि सत् परतः सत्तादि सत्त इत्यसदपि भवतीति विधिनियम विधीयते इति ६ विधिनियमविधिनय दर्शनम्, अस्याप्यसदुत्पत्तिप्रसङ्गिनो नयस्यासमिद्धि[मविदुष्कत्वात्]खपुष्पादिवत् सतोऽसतः सदसतो वा सताऽसता सदसता वा सम्बन्धाभावात् स्वरूपलाभाभावादसदुत्पत्त्ययुक्तेः प्रवृत्तिरूपमितरेतराभावस्वरूप-ममवबुध्यति[घ]त्स्विति ७ उभयोभयनयदर्शनम्, अस्यापि दर्शनस्य पराभावस्य विशेषस्य स्वरूपविशेषासम्भवे ऽनवस्थानात् द्वयोरप्यभावसङ्करूपाविशेषाद्युक्तेर्भेदप्रधानं भवनोपसर्जनमिति ८ उभय[नियम]नयमत[म्] । एषु चतुर्ष्वम[नियम]विध्यादिषु [illegible] प्रविशतहेतुत्वात्या विकल्पः, अस्यापि नयस्य भेदप्राधान्येऽभ्यवाभावः, उपसर्जनत्वात्, भेदस्यापि तदविनाभाविनोऽभावो गगनेन्दुम्बरकुसुमवत् सामान्यविशेषयोरन्यतरोभयप्रधानोपसर्जनपक्षविकल्पानामसम्भवाभावाभिमुखानो त्याग

सम्भवति सर्वविशेषाभावे सत्त्वस्याप्रसङ्गात् सत्तासम्बन्धात् प्राक् द्रव्यादीनामसत्त्वात् सत्तायाः सतोऽसतः सदसतो वा सम्बन्धासम्भवात् चाप्यसम्बन्धितस्य सत एव सत्तासम्भवात् सत्तासम्बन्धात् सत्त्वे तस्य सतो निष्फलत्वेनासत्त्वं स्यात् सत्ता च सत्ता स्वरूपत्वे वैयर्थ्यात् सम्भवति तस्मात् सत्तासत्ता वा द्रव्यादीनां न सत्त्वी यथा सदसत्तामप्यनुभूतस्यार्थक्रियाकारत्वान्न तेनैव न सत्त्वी सत्कार्यस्य तु [illegible] किञ्चिदुभयापेक्षाभावात् तस्मात् सामान्यं विधीयते नियम्यते च विशेषोऽपि एवं सामान्यं प्रतिविशेषं नियतं प्रतिविशेषं अन्योन्याविनाभाविनी एवं सामान्यं सामान्यं विशेषश्च भवतः विशेषोऽपि विशेषः सामान्यश्च भवत इति इतरेतराभावस्यैव तेन न भावस्यैव धर्मत्वात् धर्मिणि [illegible] वक्तुमशक्यत्वात्—अस्याप्यसदुत्पत्तीति । भावाभावयोरुभयवस्तुनो भावभावो विशेषस्य पराभावरूपत्वे स्वरूपविशेषाभावे स्वरूपस्यास्याभावितत्वं स्यात्, स्वं स्वं न भवति पराभावविशेषत्वात्, परमपि परं न भवति स्वाभावविशेषत्वादिति भावाभावयोर्भेदानवस्थाने न स्यात् स्वपरयोरितरेतराभावत्वे एवं भावाभावयोरैक्यम्, स्वतोऽन्यस्य परतोऽपि स्वत्वमिति परतोऽपि स्यात्, भावाभावयोरुभयोः प्राधान्योपसर्जनभावो न स्यात् अन्यतरप्रधानोपसर्जनभावे एवमप्यसम्भवो विशेषस्य भविष्यत् प्राधान्यं तथाप्यस्य भवनस्यैवोपसर्जनत्वं पुनः स्वाभाव्यात् उभयस्वभावत्वे भावाभावो परस्परं प्राधान्येन भवितव्यम्, तदभावे भावस्वरूपाविति उभयनियमनयमतमिति भावयति—अस्यापि दर्शनस्येति । एवं चत्वारो नयाः द्रव्यं भावयन्ति तत्समवेषु धर्मविशेष भविता नियमाभिनयभावप्रत्ययत्वात् स्वपरयोरुभयतः उभयो नियमनियमः भावाभावाभावादिति भाव्यमि-त्याह—एषु चतुर्ष्विति । तच्चासमर्थं न युक्तम्, यदि हि भेदप्रधानो भावः स्यात्, तदैवोऽभ्यवः भावः स्वं भवितारमन्तरेण कथं भावं समर्थोऽभवमभ्यवत् तन्यवसन्निभ अभविष्यत्वात् खपुष्पवत्, एवं तदभ्यवसायभावे भेदः विशेषोऽपि भेद-स्वरूपितः स्युः भेदवस्तुनोऽभावात् भेदाः अपि न भवितुमर्हन्ति खपुष्पवदिति भवनोपसर्जनो भेदप्रधान इत्यसत्, एवं समीभेदाभावः भेदस्याभावात्, गगनेन्दुम्बरकुसुमवत्, एवं विरोधसामान्यं विशेषो वा भावोपसर्जनं विशेषप्रधानं वा विरोधविशेषो भाव एव वा विशेषोपसर्जनं सामान्यप्रधानं वा [illegible] सामान्यविशेषं वा अभावस्वार्थसामा-न्यविशेषसामान्यविशेषं वा वस्तु न भवति सर्वेषु विकल्पेष्वयुक्तत्वात् [illegible] सामान्यविशेषयोरुभ-[illegible] अस्यापि नयस्येति । [illegible] खपुष्पवत् [illegible] विधीयते [illegible] सर्वोऽप्ययुक्तत्वात्, [illegible] विशेषसमुच्चयानुपल-ब्धेरपि, न [illegible] भवेत्, किं भावो विधेयः स्वरूपं वा भावादेरन्यादिति [illegible] स्यात्, [illegible] प्रतिषिद्धत्वात्, यदि [illegible] तथापि न [illegible] विविक्तत्वात् [illegible] न भविष्या [illegible] स्यात् [illegible] एव [illegible] वस्तु भवति न युक्तो [illegible] खपुष्पवत्, [illegible] न सामान्यम्,

दृष्टीन्धनवत् तरराम्स्त्वोभयसाधकस्य तथा भेयसीति ९ नियमनयमतमेवत्, पठमपि मत[मनुक्त]मयस्यमपिति वक्तव्यस्थानविद्येः सामान्यविरोधाभावनिरूपितवस्तुसत्स्वभावविनाभावावित्वमस्त्वात् रूपरसादयमन्यविविक्तदेशभिन्नविक्षेपसमुदायिमात्र वस्त्विति १० नियमस्य विधिः, इदमपि नयमतमशोभनम्, इन्यभवनव्यावृत्तौ प्रतिज्ञातायां कोऽत्र भेदमात्रो नाम समुदायसंहतिसमुदायिनामुत्पादविनाशव्यतिरिक्तस्वरूपाभावादभाव स्यापत्तेः घटे घटेऽन्यत्वभिन्न रूपादि, असाधारण्यनिर्देशपरमार्थत्वाद्वस्तुन इति नियमो विधीयते नियम्यते चेति ११ नियमोभय[नय]मतम्, अस्यापि नयमतस्यासाधुता, घटोऽस्मात्तीति घटिक इति प्रत्ययुत्पत्तौ ठन्प्रत्ययपक्षयोर्म्या सद्भावाभावाभ्युपगमात्, अनिर्वचनीयत्वात्, अभावपरमार्थवस्तुत्वापत्तिप्रसङ्गात्, शून्यत्वमेव वस्तुन इति [१२ नियमस्य नियमः], एतेषु चतुर्षु नियमविभ्यायिषु दूषणमुक्तमित इति हेतुप्रतिज्ञाभ्यासस्याविकल्पा, सर्वत्र न्यायपर्यवदनमिति दृष्टान्तः, एकसर्वार्थपिण्डनैकत्वापनप्रयोगा छ व्याख्यानविस्तरदर्शनेन कृतः ।

एवं सर्वप्रभेदेष्वपि, स्यादेकः स्यादेकानेकः, स्यादनेकः विधिविधिविनियमनियमस्वभावत्वात्, विध्याविद्धावधारमकत्वात्, घटवत्, भावितमेव नयचक्राक्षेपानेन, एवञ्च जिनशासनमेकान्तसत्यमेव, सम्यक्सम्मतिरूपनिव घनसम्मतिहितार्थत्वात् सदसदर्थपदाभिधारिममाणप्रकम्पसत्विर्चनुमेवार्थसिद्धावेशनैमित्तिकयाक्यार्थवत् ।

स च परस्परविविक्तैकस्य द्रव्योत्पादसत्त्वमेव वस्तु, तस्य प्रतिपत्तिनिमित्त समुदायवचनं चः घटः एव रूपादि परिमाणमात्रार्थत्वादन्यत्वेति देशभिन्नत्वमन्यभिन्ने विरुद्धसमुदायिमात्रं वस्त्विति नियमविधिनियमतमिदम्—एतदपीति । रूपादिमात्रमेव भाव इति मतमशोभनम्, रूपादिमिति भावरूपेणाभावरूपेण वा भवितव्यम्, रूपादिभवनस्य पर्यायार्थिकवर्तव्यात् भावरूपेण भवनाभावो रूपादेः तस्माद्रूपादिविनाभावस्य भावेनाभ्युपगमात्, तस्यापि न्यायसंग्रहाद्यत्वात् स्यादि स्यात्, एवञ्च विनाशस्यैव विनाशविनाभावाद्युपगमेन विनाशमनुभवतीति घटिकं रूपादि वस्तु तथापरत्वमविशेषं प्रतिपक्षमन्य भवतेव भवतीति नियमोभयं वाग्व्यवहारं नय इत्याह इदमपि नयमतमिति । अन्य इत्यरसौलापको यः इति यो घटिकत्वानुपपत्तेऽपि न साधु तथा यदि सिद्धस्यापि विनाशविनिमित्तं प्रतिपत्तेरभ्युपगमे भवेत्, स्वपरविनाशको घटिक वस्तुविषयत्वात् भवत एव हि भवत्विनाशमनुपगमते तथाप्यत्ययमस्यपत्तिसद्धुपरिनियमनविभागात् व्यापित्वस्तुत्वस्य तस्याविति वस्त्विति माहम् तथ्यपरम्परिते स्याताम्, मिथ्यित्वात् न च घटिकत्वात् विना येति वाच्यम्, घटिकस्वार्थमन्त्रीकरणमय अस्पष्टपरभावसम्भवात्, घटोऽस्मात्तीति घटिक इति कथेन तदा तथा पार्थेन विना घटिकत्वप्रत्यायार्थत्वं नादि घटोऽस्मात्तीति घटिक इति, एव तत्समस्तत्वात्परमार्थत्वमपेक्ष्य एव स्यात्, न घटवती, अन्यथा घटिकसम्बन्धोऽनिर्वचनीय एव स्यात्, य घटोऽस्ति स एव घटिक इत्यसाधारणीनिर्वचनाभावपरिपूर्णे प्रत्यग्रन्थापत्ताद् घटिकप्रत्ययविभाव एव स्यात्, भावविभावेन प्राप्तस्य घटिकत्वमपरोऽपेक्षोऽपि न सम्भवति भावित्वात्मकस्यैव भावविभाग तस्य भवतेऽभ्युपगमात्, अभ्यवत्वात् तन्मतस्य घटित्वे सम्भवनियमायोगे न स्याताम्, विरुद्धत्वाभावात्, विरुद्धे योऽसावनिर्वचनीयः, एवञ्च परमार्थापत्ति स्यात् तस्माद्वि-नयानां सर्वमिदम्, तत्स्वभावत्वात् विनाशविशेषतत्त्वम् मतादिविविक्तवस्तुत्वम् विधि विधिनियमाश्रयम् परमार्थेऽपि नास्ति कश्चिदाधार इत्यमेव, न सत्ते नापि पटो न द्रव्यम् मान्येतुम् समवायोऽपि अविद्यायुक्ताद्युपादानमतोऽस्य दर्शनात्सदेव्य इति इत्यमेव वस्त्विति नियमविधिनयमतमिदम्-भवतापि नयमतस्येति । तु नियमादिषु चतुर्षु दूषणमुक्तमपाक्षेप्य नित्य इति प्रतिज्ञाहेतु विशेषेति वाद—एतेनिति, एकनयमिश्रेषु न्यायविधा यदो यथा तथा तत्पर्यवेति । तत्रार्थाद्व्यक्तमपक्षेयो न्यायव्याप्ति दर्शित एतद्-एकसर्वार्थेति, व्याख्यानविस्तरपरिमाणमय दर्शने । एवं विधिनियमभेदो दर्शितः इत नयचक्रमत्यानिन्येऽस्मि

एवं सर्वप्रमेयेष्वपीति, एकानेककारणकार्यसर्वगतासर्वगतसामान्यविशेषधर्मिधर्मादिवस्तुप्रभेदे ष्वप्येवं नयत्रयमिश्रविधिरिति, तन्निदर्शनार्थं द्वादशानां विकल्पानां त्रिधा सम्पिण्डनेन चतुरसङ्ख्ये विकल्पा नेकत्र व्याख्याय–स्यादेक इत्यादि, तथैवानुपूर्व्या तत्र स्यादेक इत्यादि चत्वारो विकल्पाः संक्षिप्य पठितव्याः, स्यादेकोऽनेक इत्युभयविकल्पाः, स्यादनेक इति नियमविकल्पाः, एवं स्यात्कारणं स्यात्कारणकार्यं स्यात्कार्यं मेवेति, तथा स्यात् सर्वगतं स्यात् सर्वगतासर्वगतं स्यादसर्वगतमेवेति इत्थं तथैव निर्लेककारणमगतोभया नित्यानकारणासर्वगतविकल्पानां पृथक् पृथक् द्वादशधा विभागानां सङ्ग्रह प्रतिज्ञाय इतुरपि संक्षिप्योक्तव्ये तदेव–विधि–विधिनियम–नियमस्वभावत्वात्–विधिग्रहणेन विधिविकल्पाश्चत्वारो गृहीताः, विधिनियमग्रहणेनोभयविकल्पाः, नियमग्रहणेन नियमविकल्पाश्चत्वारः विधिश्च विधिनियमश्च नियमश्च–विधिविधिनियमनियमा इति विग्रहात्, सङ्ग्रहमर्थमाह–मिथ्यात्विद्वादशारा नयचक्रारा इति षट्‌पदमिति द्वादशान्ता भावितमेवेति–व्याख्या नमेव द्वादशनयव्याख्यानप्रपञ्चात्मकेन नयचक्रग्रन्थेनेति अतीतावेक्षश्च तत्प्रयुक्तिः, अविवेको नाम प्रकृतसाधनेन साधनमतिवृत्य इति व्याख्यात्, यतो हि मिथ्यात्विद्वादशविषयनयसमूहात्मकः तेषामन्यतमो नाम न भवति, परस्परापेक्षायामेव भवतीति विस्तरेण परिभाषितमेतत् एवञ्चेत्यादि, सम[द्वार]नयचक्र शास्त्रोक्तमिथ्यात्विद्वादशारत्वमसत्यताधारतामीमूतस्याद्वादमतस्य तृतीयनयवाक्यतायां सत्यत्वसम्पूर्णायतार्थो च सत्यामित्व प्रतिपादितायां पर्यायोक्त्या शास्त्रोत्पादन प्रतिज्ञात मिथ्यात्विद्वादशारकत्वात् जैनशासनसत्यत्व प्रसिद्धिरिति तत्सिद्धम्, तथोपसंहृत्य साधनमिदम्–जिनशासनमेकान्तसत्यमेवेति प्रतिज्ञा, सम्यक्त्वसम्प्राप्ति

एकानेकत्वादिषु नाम्ना इत्यतिदिशति–एवमिति। व्याचष्टे–एकानेकेति। द्वादशनयान् नयत्रये प्रविभज्यैकानेकत्वादि-प्रमेयविषया प्रक्रिया प्रतिपाद्य दर्शयति–तन्निदर्शनार्थमिति। नयत्रयेण प्रक्रिया तत एकानेकत्वादीनां तत्तथा-नेकत्वादीनां द्वादशानुपूर्व्या कर्तव्याह–तथैवानुपूर्व्येति। तत्र कर्तव्यमाह–तत्रेति। कारणकार्यत्वमेवाश्रित्याह–एवं स्यात्कारणमिति। सर्वगतासर्वगतत्वमेवाश्रित्याह तथेति। आचार्यमाह–इत्थं तथैवेति स्याद्विधिः स्याद्विधिनियमः स्यान्नियम इति प्रतिज्ञाय, स्यादेकः स्यादेकोऽनेकः स्यादनेक इति, स्यात्कारणं स्यात् कारणकार्यं स्यात्कार्यमिति स्यात्सर्वगतं स्यात् सर्वगतासर्वगतं स्यादसर्वगतमित्येवं द्वादशनयक्रमेण प्रक्रिया कृत्वा हेतुरपि तथैव वक्तव्य इति भावः। साधनमाह–विधीति। व्याचष्टे–विधिग्रहणमिति। उभयमाह–विधिनियमेति। तत्र भावार्थमाह–मिथ्यात्वीति। यतो यथा विधि-समासो विधिनियमसमासो नियमसमासश्च मिथ्यात्विद्वादशारसमासात्, तस्य स्याद्विधिः स्याद्विधिनियमः स्यान्नियमश्च तथैव एकाद्यनेकत्वान्तसर्वगतत्वान्तानेकात्मकत्वान्ता इत्येवमाह–षट्‌पदमिति। द्वादशनयेषु परस्य व्याख्यानं दर्शितमेवेत्याह–भावितमेवेतीति। अनेक-दोषस्य ... अतिदिशति प्रकृतार्थे ... नाम द्वादशनयात्मकस्य युक्तिः ... प्रकृतार्थसाधनस्याविवेकः ... अतीतेति। दृष्टान्तं कथयति–यतो हीति। एवञ्च जैनशासनसत्यत्वप्रसिद्धि ... एवञ्चेत्यादि–समद्वारेति सम-द्वादशारनयचक्रशास्त्रे पूर्वापरविरोधे ... मिथ्यात्विद्वादशारत्वमसत्यताधारतामीमूत स्याद्वादमतस्य ... तृतीयायां सत्य एकान्तवादमेव ... सत्यतायाः ... प्रतिपादितं यदि शास्त्रोत्पादने विधिनियमत्व इति ... मिथ्यात्विद्वादशारत्वमसत्यतेत्याद्यसत्यतादिति प्रतिज्ञाय तत् सिद्धं भवतीति भावः। तत्र साधनं समर्थयति–तथोपसंहृत्येति। जिनशासनं एकान्तसत्यमेव सम्यक्त्वसम्प्राप्ति-

1 सि. क्ष. डे. अ. विधिविकल्पौच।

स्तुपनिबन्धनसम्प्रतिष्ठितार्थं गादिति हेतुः,–समीचीना सम्प्रसिद्धिः सम्यक्सम्प्रसिद्धिः,–सामान्यविशेषवि-षयसाम्योऽप्ययाथातथ्यस्य वस्तुतत्त्वनिष्पत्तिः, सम्यक्सम्प्रसिद्धेः उपनिबन्धनं–तत्प्रमाणानुमानागमतोऽप्यविरुद्ध-सम्यग्व्यापारविशेषेण येनोपनिबध्यते तेन सम्प्रतिष्ठितोऽर्थो यस्य तदिदं जिनशासनं सम्यक्सम्प्रसिद्ध्युपनिबन्धन-सम्प्रतिष्ठितार्थं तद्भावादेकान्तयुक्तमेव तत्, दृष्टान्तः सदसद्वेत्यादि संभार्यंभावोऽभिधेयो यस्य पद-प्रयत्नादेः पदस्य समुदीयमानक्रमेण[अक्रमेण च]अन्वायतः, तेन सदाद्यव्यभिचारिणां प्रत्यक्षानुमानादि-प्रमाणानां प्रत्यक्षेणानुमानपरिच्छिन्नप्रमाणप्रमेयसम्बन्धाभिधानप्रयत्नाबाल्येन संसिद्धा प्रयत्नक्रमाद्भावाभि-हिता बहुभेदाः–षट्‌त्रिंशदपदाभिधेया भस्त्यादिक्रियापदाभिधेयाभावाः सांसिद्धिकनिर्वर्तनाः सिद्धादेश-नैमित्तिकयोगवत् सदादिपनेकान्तार्थनिपतनात्, तत्त्व न प्रमाणताव्यभिचारीति भावितमेव, व्याख्यात-प्रकारसम्यक्सम्प्रसिद्ध्युपनिबन्धनसम्प्रतिष्ठितार्थत्वादिति, एव सपक्षसंसिद्धिस्थापनाभिधानगर्भसर्वं व्याख्यार्थोपसंहारात्मकं सूत्रम्।

परपक्षविक्षेपणस्थापनाभिधानविस्तृतदर्शनमपि व्याख्यार्थोपसंहारात्मकं क्रियते–

एतदन्यतरैकान्तव्याख्यानकस्य तु विघटितार्थः प्रस्तुतवस्तुविच्छेदपरमार्थत्वात्, एव दाडिमानीत्यादिवाक्यवत्।

तिरन्वयसम्प्रतिष्ठितार्थत्वादिति प्रयोगः। हेतुमाह–समीचीनेति सामान्यविशेषात्मको परस्परापेक्षात्मा [illegible] तत्त्वस्य [illegible] न भवति, [illegible] सम्प्रतिष्ठितत्वादि तथापि जैन-शासनं [illegible] प्रमाणविशेषेण [illegible] सामान्यविशेषो परस्परापेक्षात्मा जैन-शासने प्रतिपादितत्वेन वस्तुनोऽपि [illegible] वर्तते [illegible] तेषु क्वचित् [illegible] निर्णीयते [illegible] न भवति किन्तु जैनशासनमेव एकान्तेन [illegible] भाव। दृष्टान्तमाह–सदसद्वेत्यादीति [illegible] सर्वोऽपि [illegible] प्रमाणमपि तथाविधत्वेन [illegible] न [illegible] अत एव [illegible] बहुभेदा अर्था–[illegible] तथाविधक्रियापदाभिधेयाश्च [illegible] नैमित्तिकस्य [illegible] अनेकान्तात्मकत्वम् [illegible] तथाविध [illegible] भावः। तेन सदेति तद्-सर्वोऽपि [illegible] व्यभिचारित्वाभावात्–क्वचित् वाक्ये प्रमाणभूते [illegible] तेषां प्रमाणानां [illegible] तथाविधत्व [illegible] तथाविधार्थनिर्णये वा [illegible] प्रयोगे, एवम् [illegible] बहुभेदा अर्थाः सिद्धा एव तथाविध [illegible] नैमित्तिकस्य वाक्यस्य सदर्थे प्रमाणमेवेति भाव। दृष्टान्ते [illegible]–सदादिपनेकान्तेति तथापि वाक्यं [illegible] एव [illegible] सम्यक्सम्प्रसिद्ध्युपनिबन्धनसम्प्रतिष्ठितार्थत्वात् [illegible] भाव। तदेवं जैनशासन [illegible] व्याख्यार्थोपसंहारस्य [illegible] जैनशासन [illegible] परपक्ष [illegible]–एवमिति। [illegible] तथा [illegible] विधानमाह–परपक्षेति। [illegible] प्रत्यक्षो [illegible] माह–एतदन्यतरेति। [illegible]

1 सि. क्ष. छा. डे. °[illegible]।

(एतदिति) एतद्द्व्यपरैकान्तशास्त्रप्रबन्धस्तु विघटितार्थ,—एवैषामुक्तानां विध्यादिनयानां परस्परमिममत्वानानं सर्वशास्त्रमतानुवृत्त्या सह्त्योक्तानां सदसत्त्वमद्वयतया द्रव्यार्थ[पर्यायार्थ]स्थितानतिवर्तिनो द्वयोरन्यतरस्यैकान्तस्य शास्त्रस्य प्रबन्धः—पुरुषपरम्परयाऽऽम्नायाव्यवच्छेदपरम्प[र]या सदेवासदेव नित्यमेवानित्यमेवेत्यादिः विघटितार्थ इति पदार्थः शास्त्रवचनं सांख्यादीनां वृक्ष्याणामेव लौकिकघटमषत्यादिप्रयोगेभ्यो दृष्टान्तभूतेभ्य उत्कृत्य पक्षीकरणार्थं मा भूद् दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरविवेक इति, प्रस्तुतवस्तुविच्छेदपरमार्थत्वादिति हेतुः, प्रस्तुत वस्तु—पुण्डरीकोद्धारेष्टसाध्यसाधनसम्बन्धविधान प्रमाणमेव सिद्धिमिच्छन्त तद्विच्छेदो व्याघातः विरोधोऽन्यथाभाव तदनिर्वाहः, महासरःपुण्डरीकमिष्टार्थमनुपायमाप्तप्रुमिमपुरुष[व]त् स परमार्थो यस्यैतयोर्द्रव्यपर्यायार्थयोरन्यतरैकान्तशास्त्रप्रबन्धस्य[स] वस्तुविच्छेदपरमार्थः—स्वाभिमतविपर्ययहेतुः, तद्भावात् प्रस्तुतवस्तुविच्छेदपरमार्थत्वात् विघटितार्थः, किमिव ? दृष्ट दाडिमानी त्यादिवाक्यवत्—यथेदमसम्बद्धवाक्यार्थमिदं वाक्यमाचानापत्तेर्विघटितार्थं प्रस्तुतवस्तुविच्छेदपरमार्थत्वात् तथोक्तद्रव्यार्थपर्यायार्थान्यतरविकल्पैकान्तशास्त्रप्रबन्धो विघटितार्थ इत्येषोऽर्थो भावित एवातीतसमस्तनयचक्रव्याख्यानेनेति ।

एवमनेन समस्तेन ग्रन्थेनैतदभिहितं—विधिनियमभङ्गवृत्तिव्यतिरिक्तत्वादनर्थकवचोवत् जैनादन्यच्छासनमनृतम्, जैनमेव शासनं सत्यम्, विधिनियमभङ्गवृत्त्यात्मकत्वात्, भवति वत्, घटवद्वा, एवमेव वा साधनम्, तत्साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां सर्वैकान्तत्वाविरूपणायानेकान्तस्य विपक्षसाधनाय च प्रभवति, एवञ्च कृत्वा विधिनियमभङ्गव्यतिरिक्तत्वादिति सिद्धे वृत्तिवचनमशेषभङ्गैकवाक्यतामात्मेव प्रतिभङ्गमपि वृत्तिरिति ख्यापनार्थम् किमुक्तं भवति ? स्याद्वादसुप्रतिबद्धसर्वनयभङ्गात्मिकैकैव वृत्तिः सत्या, रत्नावलीवत्, अन्यथा वृत्त्यभाव एव, तथैव च सर्वकान्तप्रक्रमः ।

एवञ्च परस्परविभिन्नार्थनिरूपणाः निखिलस्यागमतानुसारेण प्रवृत्ताः तथा केचित् सत्त्वं केचिदसत्त्वं प्रतिपादयन्ति अत एव ते द्रव्यार्थपर्यायार्थद्वयमतिवर्तन्ते तयोर्द्रव्यार्थपर्यायार्थयोरन्यतरस्य एकान्तभूतस्य शास्त्रस्य प्रबन्धः—प्रतिपाद्योऽर्थः स च पुरुषपरम्परया समायातः आगमपरम्परया वाऽव्यवच्छेदेन समायातः सदेव असदेव नित्यमेव अनित्यमेव इत्यादिरूपः विघटितार्थ—असङ्गतार्थ इति प्रतिज्ञार्थः—एतेषामुक्तानामिति । अत्र शास्त्रप्रबन्धपक्षमाह—शास्त्रवचनमिति शास्त्रवैशेषिकाणां वृक्षाणां वचनमेव शास्त्रवचनं तदेव पक्षत्वेन न तु लौकिके घटपटादिनिर्देश्ये तस्य दृष्टान्तत्वादन्यथा दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरविवेक स्यादिति भाव । विघटितार्थत्वे हेतुमाह—प्रस्तुतेति । प्रस्तुतं वस्तु दर्शयति—पुण्डरीकोद्धारेति पुण्डरीकोद्धार इष्टसाध्यसाधनसम्बन्धविधानं [illegible] इष्टं प्रमाणसिद्धम्, प्रमाणं वा प्रमाणसिद्धं वस्तु, विधिनियमयोर्वा तस्य विच्छेदो—व्याघातो विरोधोऽन्यथाभावः अनिर्वाहो वा यथा महति सरसि पुण्डरीके निमग्नोऽयं [illegible] [illegible] पुण्डरीकं प्राप्तुं महति पङ्के निमग्न एवाभिरुपायस्य प्रस्तुतवस्तुविच्छेद एव परमोऽर्थो यत्र एवमेतद्द्रव्यार्थपर्यायार्थान्यतरैकान्तशास्त्रप्रबन्धस्य प्रस्तुतवस्तुविच्छेद एव परमार्थः अत एव च विघटितार्थं इति भाव । दृष्टान्तमाह—दश दाडिमानीति । दशानां दाडिमानां षडपूपाः कुण्डमजाजिनमित्यादि वाक्यानि [illegible] विघटितार्थानि प्रस्तुतवस्तुविच्छेदपरमार्थत्वाद्वाक्यप्रमाणत्वाच्च इति प्रस्तुतविच्छेदपरमार्थत्वं च द्वादशस्वपि नयमार्गेषु तत्र तत्र निरूपितमेवेति भावः । सर्वेषामेवचक्रस्य सारमाह—एवमनेनेति । जैनादन्यच्छासनमनृतं विधिनि-

1 सि. क्ष. डे. ट. [illegible]पक्षी ।

(एवमिति) एवमनेन समस्तेन ग्रन्थेनैवमभिहितं—विधिनियमभङ्गवृत्त्यव्यतिरिक्तत्वादनर्थकं वचोऽन्यत् जैनादन्यच्छासनमनृतम्, जैनमेव शासनं सत्यम्, विधिनियमभङ्गवृत्त्यात्मकत्वात्, भवतीत्यत्र वक्ष्यति, एकमेव वा साधनम्, तत्साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां सर्वैकान्तवादिरूपप्रमाणानामन्यथानुपपन्नसाधनत्वं च प्रमवतीति यथाप्रसिद्धं व्याख्यातम्। एतदुभयं कुतः सम्यगिति चेत् वृत्तिवचनात्, तद्व्याख्यानार्थमाह—एतत्र कृत्वा विधिनियमभङ्गव्यतिरिक्तत्वादिति सिद्धं वृत्तिवचनमक्षेपमनेकवाक्यतयाप्येव प्रतिपन्नमपि वृत्तिरिति व्याख्यानार्थम् विमुक्तं भवति । स्याद्वादतुम्बप्रतिबद्धसर्वनयमङ्गात्मिकत्वेन वृत्तिः सत्ता रत्नावलीवत्—यथा प्रतिविशिष्टजातिवर्णच्छायासारवृत्तिप्रमाणार्थसंस्थानादिगुणगणोपेतमणिगणसमूह[ाविक] (?) रत्नावलीसुभगत्वे यथास्थानविन्यस्तत्वात् न प्रत्येकं तथा विधादिनयारामपि तुम्बप्रतिबद्धवृत्तित्वात् स्याद्वादप्रतिबद्धैकान्तवृत्तिः, अन्यथा वृत्त्यभाव एवेति चक्रदृष्टान्तसाधर्म्यम् । नयचक्रग्रन्थार्थप्रत्यायन दृष्टान्तस्य प्रतिपादनेन नार्थो वा, तथैव च सर्वैकान्तप्रक्रम इति—एतत्र कृत्वा सर्वेषामेकान्तवादानामवृत्तिरेव, अवस्तुत्वादिति प्रमाण्यमेव यत्र तत्र ।

जैनशासनसत्यत्वेतरशासनासत्यत्वसाधनयोरेकतरस्य साधनेन साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामर्थद्वयप्रतिपादनं कृतं भवति अन्योऽन्याविनाभावात्, विध्यादीनामेकस्मिन्नप्युक्ते शेषवत्ता वक्ता एव वर्णाभिधानमेषाम्युक्तिवचनवत्, प्रतिज्ञादावितरसङ्ग्रहोऽव्यभिचारात्, तत्साधनधर्माणां तदन्वयव्यतिरेकप्रदर्शनसाधर्म्यवैधर्म्यदृष्टान्तानामर्थाव्यभिचारात् वाक्यान्तराभिधानं कृतमेव ।

समस्तवृत्त्यव्यतिरिक्तत्वात्, अनर्थकवचनत्वात्, तथा जैनमेव शासनं सत्यं विधिनियमभङ्गवृत्त्यात्मकत्वात् भवतीत्यत्र व्याख्याता जैनशासनसत्यत्वसाधनं इदं भवतीत्यादिग्रन्थेन—विधिनियमेति । विधिनियमभङ्गेति विधादिनयानां साक्षात्प्रतिबद्धत्व इति सर्वेषां नयानां स्याद्वाद एव प्रतिष्ठा यदि इतरेषां तदर्थस्य अन्यथा सा इतरेषां न भवतीत्यस्यार्थो एवेति भाव । एकमेव वा साधनं साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामुभयार्थप्रत्यायकं भवतीत्याह—एकमेव वेति, जैनशासनसत्यत्वसाधनं विधिनियमभङ्गव्यतिरिक्तत्वादित्येतस्यैव साधनं सत्यधर्मदृष्टान्तेनान्यवैधर्म्येण सर्वैकान्तवादिरूपाणां भवतीतरशासनमिति वैधर्म्यदृष्टान्तेनानेकान्तवादिपक्षसाधनानां च समर्थो भवतीति भावः । एतच्चोभयं कृतो कथं इति चेत्—वृत्तिवचनादिति विधिनियमभङ्गव्यतिरिक्त-सम्यक्त्वाभावस्तदेवैति तस्मात् विवृतं वृत्तिवचनस्याक्षेपो महाशास्त्रस्य एषोऽन्तर्गत प्रत्येकं महात्मा वृत्तिमन्यथाऽवृत्तिरेव एकानेकतावच्चैव च स्याद्वादतुम्बकत्वात्, इति व्याख्याय इतिवत् तथा चैकान्तवादानामप्यनेकान्तात्मनां यथार्थत्वम्, एकान्तवादानामनर्थकत्वं सिद्धं भवतीति भाव । तत्समर्थनमाह—स्याद्वादेति स्याद्वादात्मके तुम्बे प्रतिबद्धा वै सर्वे नयभङ्गा तदाश्रित्य वृत्तिरेव एकानेकत्वात्मकत्वात्, यथैकत्रस्थितरत्नानुगुणप्रतिबद्धरूपा यथास्थानरचिता रत्नावली एवं प्रत्येकं रत्नानि रत्नावलीति नोच्यन्ते तथा विध्यादिविधिनयानां स्याद्वादप्रतिबद्धत्व एव वृत्तिर्नान्यथेति भाव । तुम्बप्रतिबद्धेति चक्रस्य तुम्बेऽनुबद्धा अरा यथा वृत्ति लभन्तेऽन्यथा विशीर्यन्ते तथा स्याद्वादप्रतिबद्धा एकान्तवादा अपि वृत्तिं लभन्ते नान्यथेति चक्रदृष्टान्तेन साधर्म्यमस्त्यन्वयेति भाव । अत एव नयचक्रमिति नामान्वर्थमतोऽपरथा दृष्टान्तानुपपत्तिरनर्थकत्वं विपर्ययेण वा—नयचक्रेति नान्येन चक्रदृष्टान्तेनेति भाव । स्याद्वादप्रतिबद्धाः सर्वे नया अवश्यं यथावस्थिता एवेति निरूपितस्य तदर्थसमर्थनाय एतत्—तथैव चेति । नान्यो—एतत्र कृत्वेति । जैनशासनसत्यत्वसाधनेनेतरशासनासत्यत्वसाधनेन वा साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां अन्वयव्यतिरेकप्रदर्शनात्परस्पराभावव्याप्त्या मेवम् एकतरं वा साधितमेव भवति तदव्यतिरेकेण तदव्यभिचारित्वात्

(जैनेति) एवञ्च सर्वनयात्मकैकवृत्तिजैन[शासन]सत्यत्वसाधनप्रवृत्त्यैवार्थापत्त्या क्षेपशासनासाधुत्वप्रतिपादन कृत, तदसाधुत्वप्रतिपादनेन च जैन[शासन]सत्यत्वप्रतिपादन कृत भवति, अन्योऽन्याविनाभावात् जैनशासनसत्यत्वेतरशासनासत्यत्वसाधनयोरेक[तर]स्य साध[ने]न साधर्म्य[वैधर्म्य]दृष्टान्ताभ्यामन्वयव्यतिरेकप्रदर्शना मध्यस्थ्यामर्थद्वयप्रतिपादनात्, विध्यादिनयानामेकाभावे सर्वाभावात् परस्परापेक्षत्वात्, एकाभावे सर्वाभावादिति, किमिव ? वर्णाभिधानसवाच्युभयविरचनवत्—यथा वृष्टिर्मेघोन्नमनमन्तरेण न सम्भवतीत्यविनाभावादुच्यते तथा विध्यादीनामेकस्मिन्नप्युक्ते क्षेपतया अप्युक्ता एव, अन्योऽन्याविनाभावात्, प्रतिज्ञाद्यविरत्याद्यर्थाव्यभिचारादिति यथैकस्यां नित्यप्रतिज्ञायामनित्योऽभावश्चाप्यविप्रतिज्ञाऽपदस्याविता तथा तत्साधनधर्माणां हेतूनां तदन्वयव्यतिरेकप्रदर्शनसाधर्म्यवैधर्म्यदृष्टान्तानां चार्थाव्यभिचारात् द्वादशानामभिधानं कृतमेव भवत्यर्थतः, ततो निःसङ्गमेवैकस्मिन्नपि विवक्षिते क्षेपतयाविनाभावात् स्याद्वादस्यापि विक्षेपितानेकान्तसाधनप्रक्रियैव साधीयसीति भावम् ।

अत आह—

तथा द्वयमेव प्रयोगार्थो विधि—विधिविधि-विध्युभय-विधिनियमो भयोभयविध्युभयोभयोभयनियम-नियम-नियमविधि-नियमोभय-नियमनियमाः पैकमत्येनान्योन्यापेक्षवृत्तयः सत्यार्थाः, तत्त्वमयदर्शनविकल्पैकवाक्यात्मकत्वात्, घटवदित्येक एवायं हेतुः प्रत्येकनयविवक्षया प्रयोगेऽपि, तत्र यस्मिन् कस्मिंश्चित् नित्यानित्यादीनां साधने प्रयोगविधयो भवन्ति, तेषां भङ्गानामेकैकयोगे द्वादश भङ्गाः, द्विकयोगे षट्षष्टिः त्रिकसयोगे द्वे शते विंशे, चतुष्कयोगे चत्वारि शतानि पञ्चनवतियुतानि, पञ्चकयोगे द्विनवतियुतसप्तशतानि, षट्कयोगे चतुर्विंशत्युत्तरनवशतानि, सप्तकयोगे द्विनवतियुतसप्तशतानि, अष्टकयोगे चत्वारि शतानि पञ्चनवतियुतानि, नवकयोगे द्वे शते विंशे दशकयोगे षट्षष्टिरेकादशयोगे द्वादश द्वादशयोगे

विनाभावादित्याह जैनशासनेति । व्याकरोति–एवञ्चेति । इत्थञ्च विध्यादीनामेकस्याभिधाने क्षेपतया अन्याभिहिता एव विध्याद्यन्यतमाभावे सर्वेषामभावात्, तस्मात् तस्मात् परस्परापेक्षत्वादित्याह–विध्यादिनयानामिति । तत्र निदर्शनमाह–यथा वृष्टिरिति यथा वर्षोऽन्वीरत्युक्ते मेघोन्नतिरप्यवगतैव [illegible] भवतीति भावः । दृष्टान्तं स्पष्टयति–यथा वृष्टिरिति । दार्ष्टान्तिकमाह–तथा विध्यादीनामिति यथा जैनशासनं सत्यमिति प्रतिज्ञायां तदन्यशासनासत्यत्वमपि प्रतिज्ञातं भवति तथा विधिनय एवार्थे स्तुत्यमपीतरैरप्यस्तनयानां सत्यार्थत्वमुक्तं भवति अन्योऽन्याविनाभावाद्विरतरतमा[illegible]व्यभिचारादिति भावः । तत्र दृष्टान्तमाह–यथैकस्यामिति यथा नित्य इति प्रतिज्ञायामनित्याभावात् स्यादनित्य स्यादुभयं स्यादवक्तव्यः स्यान्नित्योऽवक्तव्यः स्यादनित्योऽवक्तव्यः स्यादुभयोऽवक्तव्य इत्येते प्रतिज्ञा भवन्ति भङ्गान्तरेषु साधनादीनामपि तथाविधत्वमेवेत्याह–तत्साधनधर्माणामिति [illegible] एवं साधर्म्यवैधर्म्यदृष्टान्तानामन्वयव्यतिरेकप्रदर्शनस्याप्यन्यैरनभिधानेऽप्यभिधानं कृतमेव भवतीति भावः । एवञ्च विध्यादीनामेकस्याभिधाने द्वादशानामप्यभिधानमर्थापत्त्याऽऽयातम् इत्येवं भवति एतदेवं [illegible]–द्वादशानामिति । एवञ्च स्याद्वादस्य [illegible] स्यादस्ति स्यान्नास्ति इत्यादिरूपेण सप्तभङ्गयुक्त्यैव [illegible] युक्त्याह–स्याद्वादप्रक्रियेति । एवञ्च सर्वेषां [illegible] वस्तुसर्वांशपरिग्रहकत्वं [illegible] प्राह [illegible] अवसरे तदपेक्षत्वमाह–तथा द्वयमेवेति । साक्षात् [illegible] विधिः [illegible] तत्त्वस्वरूपमभिव्यक्तं [illegible] भवतीति

(एवमिति) एवमनेन समस्तेन ग्रन्थेनैवमभिहितं—विधिनियमभङ्गवृत्तिव्यतिरिक्तत्वादनर्थकवचोवत् जैनादन्यच्छासनमनृतम्, जैनमेव शासनं सत्यम्, विधिनियमभङ्गवृत्त्यात्मकत्वात्, भवतिवद् यद्वा एकमेव वा साधनम्, तत्साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां सर्वैकान्तवादिदूषणाय अनेकान्तवादिपक्षसाधनाय च समभवदिति यथाप्रसिद्धं व्याख्यातम्, एतदुभयं कुतो लभ्यमिति चेत् वृत्तिवचनात्, तद्व्याख्यानार्थमाह—एतच्च कृत्वा विधिनियमभङ्गव्यतिरिक्तत्वादिति सिद्धे वृत्तिवचनमपेक्ष्य [illegible] वाक्यावयवेन प्रतिभङ्गमपि वृत्तिरिति ख्यापनार्थम्, किमुक्तं भवति ? साध्यस्तुम्बप्रतिरवदर्शनमङ्गात्मिकैव वृत्तिः सत्ता, तथाऽऽह—यथा प्रतिविशिष्टशब्दनिर्गच्छायासारमुखिप्रमनार्थसंस्थानादितुम्बाभोगसमभिव्यक्त्यमिव[के]न तथाऽऽकृतिस्तुम्बे यथाऽऽख्यानक्रियात्मना न प्रत्येक तथा विध्यादिनयात्मनामपि तुम्बप्रतिरववृत्तिवत् साध्यप्रतिरवेऽन्यनयावृत्तिः अन्यथा वृत्त्यभाव एवेति चकद्दृष्टान्तसाधर्म्यम्, नवचक्रशासनयथार्थत्वमस्त्वेव दृष्टान्तान्तर प्रतिपादनेन नार्थो वा तदेव च सर्वैकान्तप्रक्रम इति—एतच्च कृत्वा सर्वेषामेकान्तनयानामवृत्तिरेव, असत्त्वस्यामिति प्रभावमेव तत्र तत्र ।

जैनशासनसत्यस्येतरच्छासनासत्यस्य साधनयोरेकतरस्य साधनेन साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामर्थ द्वयप्रतिपादनं कृतं भवति, अन्योऽन्याविनाभावात्, विध्यादीनामेकस्मिन्नप्युक्ते शेषनया उक्ता एव पर्यायाभिधानमेषामुक्तवचनवत्, प्रतिज्ञाव्यतिरभङ्गतथाव्यभिचारात्, तत्साधनधर्माणां तदन्वयव्यतिरेकप्रदर्शनसाधर्म्यवैधर्म्यदृष्टान्तानामर्थाव्यभिचारात् द्वादशानामभिधानं कृतमेव ।

[illegible]व्यतिरिक्तत्वात्, अनर्थकवचनवत् तथा जैनमेव शासनं सत्यं विधिनियमभङ्गवृत्त्यात्मकत्वात् भवतिवत्, यद्वेति जैनादन्यच्छासनानां असत्यत्वसाधनं कृतं भवतीत्याह—विधिनियमेति । विधिनियमभङ्गेति—[illegible] भङ्गानां साध्यप्रतिरवेऽन्य इति [illegible] यथार्थं साधनेन सह प्रतिज्ञा यदि प्रतिज्ञा [illegible] अन्यथा [illegible] न भवतीत्यन्यथा एवेति भाव । एकमेव वा साधनं साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामुभयार्थसाधकं भवतीत्याह—एकमेव वेति, जैनादन्यच्छासनमनृतं विधिनियमभङ्गव्यतिरिक्तत्वादित्येव साधनं साधर्म्यदृष्टान्ताभावात् वैधर्म्येण सर्वैकान्तवादिदूषणाय [illegible] च समर्थं भवतीति भाव । [illegible] एतत् कुतो लभ्यत इति चेत् वृत्तिवचनादिति विधिनियमभङ्गेत्यत्र व्यतिरिक्त [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] इति [illegible] एकवाक्यताप्रसङ्गमेव च साध्यतुम्बकरणम्, [illegible] एकदेशासंख्याकृतरपक्षाणां यथार्थत्वम् [illegible] सिद्धं भवतीति भाव । [illegible] साध्यादिति [illegible] तुम्बे प्रतिरवा ये सर्वे नयभङ्गा [illegible] एवास्यस्वरूपम्, [illegible] यथास्थ भवितव्या [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] भावः । तुम्बप्रतिरवेति तत्तत्तुम्बे [illegible] यथा वृत्ति [illegible] तथा साध्यत्वेन [illegible] इति [illegible] साधर्म्यैकमुक्तं भवति । [illegible] नयचक्रेति [illegible] नयचक्रेति [illegible] [illegible] विधिनियम [illegible] [illegible]—[illegible] । [illegible]—एतच्च कृत्वेति । [illegible] साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां [illegible]

स्याद्वादस्सुप्रसारास्त्वनवधृतक्रमाद्[पाद]वादपारीणस्य संख्यां कर्तुं शक्नुयात्, किन्त्वस्यां दिशि प्रदर्शितायां विपश्चिता विशेषमुपपादयिना शेषं यथाऽनुगन्तव्यम्, एवञ्चानेकान्ते सम्यगवबोधिते न स कश्चिदो न हेतुः, तृणादिरपि यस्यां कस्यांचिदप्यनिष्टः स्यात् इत्यभिमतायां प्रतिज्ञायां हेतुर्भवति—अनेकान्तवादिनोऽनन्तहेतुः कस्मात्? सर्वस्य सर्वात्मकत्वेन सर्वद्रव्यपर्यायार्थविपरिवृत्तेः—एकैको द्रव्यार्थः सर्वं एकैकसर्वद्रव्यार्थतया विपरिवर्तितः सर्वपर्यायार्थतया च, तथा सर्वपर्यायार्थः सर्वो द्रव्यपर्यायार्थतया विपरिवर्तते, तेषु तेषु नयदर्शनेषु स्वविषयव्यवस्थापनविवरणेषु विस्तरेण प्रदर्शितं सर्वद्रव्यपर्यायार्थविकल्पात्मकमेकैकं वस्तु, तस्मात् सर्वमेकात्मकमेकश्च सर्वात्मकः सर्वश्च सर्वात्मकमित्यादि, तत एवैकं यो वेद स सर्वं वेद, यः सर्वं वेद स एकं वेद, यथोक्तम्—'जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ' (आचा० ४-१-४८) इति, तथा—'एको भावः सर्वभावस्वभावः सर्वे भावा एकभावस्वभावाः । एको भावस्तत्त्वतो येन दृष्टः सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन दृष्टाः ॥' (   ) इति, स्याद्वादिनाञ्च सर्वभावस्वभावैकभावत्वादेकभावस्वभावसर्वभावत्वाच्च यः कश्चित् तृणादिरप्यर्थो हेतुरस्त्येव यस्यां कस्याञ्चित् प्रतिज्ञायामिति साधूक्तम् ।

येन त्वेवंविधं वस्तु न ज्ञायते नासौ कस्यचिद्वस्तुनोऽवयवमात्रस्यापि ज्ञाता, तदेकदेशमात्रस्यैव परिगृहीतत्वात्, अनवधार्यस्यावधारयितृत्वात्, स्वगजावयवमात्रनियतजात्यन्धस्वहस्तस्पर्शग्राहिवत् ।

एवञ्चेति, यस्यां कस्याञ्चित् प्रतिज्ञायां सर्वं वस्तु हेतुर्भवितुमर्हति न तादृग् वस्तु यो हेतुर्न भवेत्, तृणादि घटादि सर्वं हेतुर्भवतीति भावः । एवमनेकान्तवादिन एकस्या अपि प्रतिज्ञाया अनन्ता हेतवः सम्भवन्ति न तथा हेतुर्नियम्यम्, सर्वस्य सर्वात्मकत्वेन सर्वेण सार्धं सर्वस्याविनाभावसम्भवादित्याह—अनेकान्तवादिन इति । हेतुमाह—सर्वस्येति । सर्वस्य द्रव्यस्य सर्वस्य च पर्यायस्य सर्वद्रव्यार्थतया सर्वपर्यायार्थतया च विपरिणामादित्यर्थः । हेतुं व्याचष्टे—एकैक इति । एकैको द्रव्यार्थः सामान्यतया—सर्वद्रव्यतया सर्वपर्यायतया च विपरिवर्तते सर्वे पर्यायाश्च सर्वपर्यायतया सर्वद्रव्यतया च विपरिवर्तन्ते, एकं हि परमाण्वादिद्रव्यमेव सकलद्रव्यतया विविधपर्यायतया [illegible] एव च परमाण्वादिसर्वद्रव्यरूपतया सर्वपर्यायरूपतया च विपरिवर्तत इति तत्तद्दर्शनव्यवस्थायामिति भावः । इदमेवाह—तेषु तेष्विति स्वस्वविषयव्यवस्थापनपरेषु नयेषु सर्वं द्रव्यार्थपर्यायार्थविकल्पात्मकमेकैकं वस्तु प्रतिपादितमस्तीति भावः । एतदेव निगमयति—तस्मादिति सर्वमेकात्मकम्, एकं सर्वात्मकं एकं सर्वात्मकं सर्वं सर्वात्मकमिति वस्तुतत्त्वमनुसृत्य स्याद्वादात्मकमेवेति भावः । एतत एव सम्यगाह—तत एवेति । एकस्य वस्तुनः सर्वद्रव्यपर्यायार्थविकल्पात्मकत्वादेव एकं वस्तु यो जानाति स सर्वं वस्तु जानात्येव सर्वं यो जानाति स एकं जानात्येव [illegible] सर्वात्मकत्वादेकस्य । अनेनार्थेन प्रमाणयति यथोक्तमिति । तथान्यवचनान्तरमाह—एको भाव इति सर्वभावस्वभावस्य एकभावस्वभावत्वे सर्वभावानामिति वस्तुस्थितिः तथा च येन [illegible] भावो दृष्टस्तेन सर्वे भावा दृष्टा एव तत्त्वतः इति भावः । अत एव स्याद्वादि-प्रतिज्ञायां [illegible] हेतुर्भवति स्याद्वादिनां [illegible] सर्वभावस्वभावत्वात् [illegible]—स्याद्वादिनाञ्चेति । [illegible] इति । [illegible]

एक एव, एवं सर्वसङ्ख्यैतीः प्रतिज्ञाः, तासामेकैकस्यां हेतूनां चत्वारि सहस्राणि पञ्चनवति-युतानि (४०९५) विकल्पशो भवन्ति, एवञ्च प्रतिज्ञाभङ्गहेतुभङ्गानामन्योन्यगुणिता भङ्गानामेका-कोटी-षट्पष्टिः सप्तसहस्राणामेकोनसप्ततिश्च सहस्राणां पञ्चविंशतिरिति (१६७६९०२५), एवं तावन्नित्यादिप्रतिज्ञासु भङ्गानां भेदाः ।

(तथा हीति) यथा अयमेव प्रयोगार्थो योऽस्माभिरुपसंहृत्य शास्त्रपिण्डितार्थस्तेनोक्तः विधि-विध्यादीति एक एव चात्र हेतुः प्रत्येकमनेकविकल्पतया विद्यते अभ्यस्तसमप्रयोगोऽपि सामर्थ्यात्सर्वसम्भवात् तत्र यस्मिन् कस्मिंश्चित् साधने-नित्यानित्यादीनामन्यतमस्मिन् पञ्च प्रयोगविषयो भवन्ति-विकल्पा भङ्गा इत्यर्थः, तेषां-द्वादशानां भङ्गानामेकैकयोगे द्वादश भङ्गाः, द्विकयोगे षट्पष्टिः, विधिश्च विधिविधिश्च सप्रतिषेधो भङ्गः, एवं विधिरनेकैकप्रयोगानां योग्यः तथा विधिविधिः, तथा विधिविधिविधिनियमः, विधिनियमश्च एवमन्ये-षामप्यसति भङ्गानां द्विकयोगे षट्पष्टिर्भवति, एतेनैव संयोगविधिना त्रिकसंयोगे द्वे शते विंशे इत्या-दिनाऽऽचार्येणैव भङ्गविधिरुक्तः यावद् द्वादश[योगे एक] एवेति, एवं सर्वसङ्ख्यैताः प्रतिज्ञाः, एव चत्वारि सहस्राणि पञ्चनवतियुतानि तासां चैकैकस्यां हेतूनां चत्वारि सहस्राणि पञ्चनवतियु[ता]नि (४०९५) विकल्पशो भवन्ति, हेतौ दृष्टौ च प्रतिज्ञा अपि तावत्य एव, सर्वस्य परस्पराविनाभावेन नयभङ्गानामुक्तत्वात्, एवञ्चैतस्मिन्नेव, प्रतिज्ञाभङ्गा हेतुभङ्गाश्चान्योऽन्यगुणिता भङ्गानामेका कोटी सप्त-षष्टिः सप्तसहस्राणामेकोनसप्ततिश्च सहस्राण्यं पञ्चविंशतिः (१६७६९ २५) एव तावन्नित्यादि-प्रतिज्ञासु द्वादशानां भङ्गानां भेदा उक्ताः, एवं सामान्यसर्वगतैकत्वादिप्रतिज्ञासु विध्यादिद्वादशभङ्गभेदाः प्रमाण नेतव्याः ।

एवमियमनेकान्तवादविद्युपदर्शिता एवमनेकान्ते सम्यगवलोकिते न स कश्चिदो न हेतुः, तृणादिरपि यस्यां कस्याञ्चित् प्रतिज्ञायां हेतुर्भवति, सर्वस्य सर्वात्मकत्वेन सर्वद्रव्यपर्या-यार्थविपरिवृत्तेः तस्मात् सर्वमेकमसकमेकञ्च सर्वात्मकं सर्वञ्च सर्वात्मकमित्यादि तत एवैकं यो वेद स सर्वं वेद यः सर्वं वेद स एकं वेद ।

(एवमिति) एवमियमनेकान्तवादविद्युपदर्शिता, कोऽस्य भगवतो महतो महानुभावस्य सामा-

प्रयोग प्रतिकल्पविकल्पना, एवं विधिविध्यादिप्रयोगानभिविकल्पा प्रयोगा वाच्या सर्वत्र हेतुरप्येक एव अभ्यस्तप्रयोगोऽपि सम्योऽस्माभिरमाभिधेन सर्वत्रार्थसम्भवादित्याह एक एव चायमिति । अत्र नित्यानित्यसङ्गतारतम्यार्थैकत्वादीन-तमास्वपीत्येवादिषु यस्मिन् कस्मिंश्चित् साधने क्रियमाणे प्रयोगविकल्पाः सम्भवन्ति-तान् दर्शयति-तत्र यस्मिन्निति । तत्र विधिविधिविधिना विधिविधिविकल्पेन विधिविधिरूपेण एवं सर्वे प्रयोगेन विध्यादीनामेकैकेन योगेन षट्पष्टिर्द्विकयोगे भङ्गा भवन्तीत्याह-तथा विधिविधिविधिरिति । एवं त्र्यादयो योगे भङ्गाः-एतेनैवेति । विधिविकल्पनियमाद्वा विकल्पा प्रतिज्ञायाह-एवं तावदिति । प्रयोगैकत्वापेक्षया तावत्य एव प्रतिज्ञा भवन्ति सर्वेषां नयभङ्गानां परस्परसम्मिलितत्वेन हेत्वाभासासम्भवादित्याह-हेतौ हेतौ चेति । एवञ्च विधिविकल्पापेक्षया प्रतिज्ञाभेदमाह-प्रतिज्ञाभङ्गा इति । एवमेवं नित्यप्रतिज्ञानाम्, एवमेव सामा-न्यसर्वगतैकत्वादिप्रतिज्ञास्वपि द्रष्टव्या इत्याह-एवं तावदिति । एवमनेकान्तवादः एतेनैव द्वादशनयभङ्गापेक्षया कथना भङ्गाद्युप-दर्शिता विचारेण तु साध्यसाधनसम्बन्धस्य व्याप्तत्वात् भगवता सम्यग् दृष्टः च इदं चैकत्र हि विद्यानदर्शितं विचार-मार्गेणान्तर्गतं निरूपयितुमाह एवमियमिति । भगवतोऽस्य-कोऽस्य भगवत इति । एवं व्याख्यानेन अस्मद-

अर्हज्ज्ञानं नापर्यायेऽस्तीति ज्ञानस्य सर्वार्थेष्वव्याहतवृत्तित्वादनपह्नुतविषयत्वात् तस्य च वस्तुनोऽनन्त्यत्वात् यु[ग]पदनन्तार्थावच्छिन्नज्ञान एव यथावस्थितवस्तु वेत्ति नान्यः, स चार्हन्नेवेत्येव आह–

भगवांस्त्वर्हन् यदेतत् सर्वं नाम तत्र निरावरणज्ञानः, तस्य यथाभूतप्रमेयस्य सम्यगभिधातृत्वात्, यस्य यथाभूतप्रमेयवस्तुविषयसम्यगभिधातृत्वं स तत्र निरावरणज्ञानो दृष्टः, तद्यथा मैत्रक इव स्वगृहान्तरकिताविभेदपलाशस्वतत्त्वं देशकालाकारप्रमाणादिविशिष्टं शिशिरवसन्तनिदाघवर्षाशरद्धेमन्तेषु तां तामवस्थां बिभ्रत पलाशं स्वगृहाश्रोऽङ्गारकितः किंशुकयितः पत्रित इत्यादि ब्रुवन्, तथार्हन् यथाभूतं वस्तु निरवशेषं ब्रुवन्निरावरणज्ञान इत्यनुमीयताम्।

(भगवानिति) भगवांस्त्वर्हन् यदेतत्सर्वं नाम तत्र निरावरणज्ञानः–सर्वार्थे वस्तुनि निरावरणमव्याहतमस्य ज्ञानमित्यर्थः, तस्य यथाभूतप्रमेयस्य सम्यगभिधातृत्वात्–तस्य–सर्वात्मकवस्तुनो यथाभूतं–यथाभूत यथाभूत वीप्सार्थत्वादयथाभूतस्य, येन प्रकारेण भूत वा वस्तु सप्रमेय–समतिपक्षनिरवशेष-सर्वगतादिसद्भूतविशेषप्रकारात्मकमनन्तमेदप्रमेय तच वस्तु तैरनन्तभेदैरवयवैरशेषैः सह साक्षात् अनेकनयविकल्पयुक्तमतः सर्वात्मकवस्तुनि च[ा]शेषावयवप्रमेयकविषयसम्यगभिधायित्वमस्य सिद्धम् समस्तनयात्मकत्वात् स्याद्वादस्य, यस्य यथाभूतनिरवयवप्रमेयवस्तुविषयसम्यगभिधातृत्वं स तत्र निरावरणज्ञानो दृष्टः, तद्यथा–मैत्रक इव स्वगृहारण्यविभेदपलाशस्वतत्त्वस्य देशकालाकारप्रमाणादिविशिष्टस्य शिशिरवसन्तनिदाघवर्षाशरद्धेमन्तेषु तां तामवस्थां बिभ्रतं यथा विशेष्य स्वगृहाश्रोऽङ्गारकितः किंशुकयितः पत्रित इत्यादिब्रुवन् मैत्रकः यथार्थं निरवयवप्रमेय तत्र निरावरणज्ञान इति प्रसिद्धो न रेवतीद्वीपपवनम्यआवसेयस्या

तिथिनिर्णयविर्णयं भावकिंशुकस्य तादिविनिर्णयान्तरमपेक्ष्य तथाविधकेवलज्ञानेन भगवान् यथावस्तु यथाप्रकारेषु प्रमेयमर्थसमग्रा परिपश्यति तथाभिदधाति, तस्मादर्थं नास्सर्वासमिविषयम्, यदि तज्ज्ञानं इन्द्रमानविषयमथावस्थानं स्यात्तर्हि तत् सर्वेकत्वे केवलविज्ञानस्तदेति वक्तव्यं स्यात्, परन्तु तज्ज्ञानं न तथाविधम्, अपि तु सर्वार्थेष्वव्याहतमपि अत एवानन्तविषयम्, एवम् तस्य वस्तुनोऽनन्तत्वात्, एवम्भूतवस्तुतत्त्वस्य स एव ज्ञाताऽपि यस्य ज्ञानं युगपदनन्तार्थेषु इति भवेत्, नान्यः तत्समानविषयसमानार्थत्वेन न त्वन्य इति भावः। अमुमर्थं भावेन दर्शयति सूत्रकारः भगवांस्त्वर्हन्निति। भगवांस्त्वर्हन् निखिलार्थविषयनिरावरणज्ञान इति प्रतिज्ञामाह–भगवानिति। हेतुमाह–तस्येति। हेतुं व्याचष्टे–सर्वात्मकवस्तुन इति। यथा वस्तु वीप्सार्थत्वमभिप्रायाह–यथाभूतमिति। येन प्रकारेण भवेदिति प्रकारार्थं वाचकस्य यथार्थत्वमाह–येन प्रकारेणेति। सप्रमेयवस्तुनोऽर्थमाह–समतिपक्षेति प्रमेयेन प्रतिपक्षेणाभिमतरूपेण निरवशेषसर्वगतादिना सहितं निरवयवमेकत्व-मयादि, अर्थेन सद्भूतविशेषप्रकारात्मकमनन्तमेदप्रमेयरूपं वस्तु साक्षात् निःशेषैरनन्तमेदप्रमेयैः सहानेकविकल्पयुक्तं वर्तते तथाविधं साक्षात्समस्तं भगवति सर्वात्मकवस्तुविशेष्यप्रमेयात्मकप्रमेयप्रकारत्वमभिधानं ज्ञापयतीति भावः। कारणमाह–समस्तेति स्याद्वादो हि निखिलनयसमुदायात्मक इति भावः। व्याप्तिं दर्शयति–यस्येति। यो हि यद्वस्तुविशेष्यप्रमेयात्मकप्रमेयप्रकारकत्वमभिधाता च तद्विषयनिरावरणज्ञानो यथा दृष्टः। दृष्टान्तमन्वयमाचष्टे–मैत्रक इवेति। पलाशवृक्षो हि देशकालाद्यपेक्षया तत्तदृतुविशेषेषु तत्तदाकारविशेषमनन्तप्रविभक्तविभागैर्भवति, तथाविधं पलाशं तत्तदपेक्षया विशेष्य स्वगृहाश्रोऽङ्गारकितः किंशुकितः पत्रितः कुसुमितः इत्येवं निरवयवप्रमेयं ब्रुवन् मैत्रकादिस्तत्र निरावरणज्ञानो भवतीति प्रसिद्ध इति भावः। वैधर्म्यदृष्टान्तमाह द्वीपविशेषमात्रपरिपूर्णतयापेक्षया–न रेवतीद्वीपेति यौवनकुमार कश्चित् यथा सर्वर्तुफलके रेवती-

१ सि. प छ. वे मयिनेय।

येन स्वेच्छविधमित्यादि, यावत्—साध्यसत्त्वस्यैवधर्म्यमात्रप्रकाशनं परार्थप्रमाणविकल्पीकरणस्थापनं वा य—एवंविधसाध्याभिगम्यानेकधर्मात्मकवस्तुज्ञानरहितः पुमान् नासौ कस्यचिद्वस्तुनोऽवयवमात्रस्यापि ज्ञाता तदेकदेशमात्रस्यैव परिगृहीतत्वात्—भिन्नाभिन्नत्वाद्यनन्तधर्मात्मके वस्तुनि भिन्नमेव भिन्नमेवेत्यपरिमितविकल्पितत्वात्, तदेव व्याचष्टे—अनवधार्यमाणावधारणत्वात्—इदमेव इदमेवेत्यनवधारणयोग्यस्यावधारण[मे]व स्यात् किमिव ? रङ्गद्वारकिञ्चिन्मात्रनिक्षेपकाशस्तवत्समाहितवत्—यथा प्रेक्षणके कश्चित् परिषद्वित्तस्य [illegible] वमपश्येन्न कश्चिदिति [illegible] भूयात् सर्वस्यैव[ा]निष्पन्नपुष्पफलप्रकार इति, चैत्रमासे चाङ्गारकितमिव वनस्पतिजातमालापल्लवितमिव वाऽशोककुसुमसहकारकुसुमं पुन्नागबकुलनमेरु-[illegible] ब्रूयात् इत्यपाहन एवायं सर्वस्यमिति स तत्प्रकाशमात्रनिक्षेपकाशस्तवत्समाहितत्वात् [illegible] महामिरमीभिरपि सर्वेषां [illegible] यात् [illegible] परेरसमानस्थानेकस्याङ्कुरकिसलयपत्रकुसुमफलादिविकारत्वं सर्वत्वं तत्र चेति [illegible] सर्वविज्ञानहीनत्वात्, तदन्यतमाक[illegible][ा व]त्वात् एकमेवमन्यादिको वस्तुत्वस्यानभिज्ञत्वमिति ।

युगपदनन्तक्रम्यपर्यायपरिणतिविषयाभ्यास्वनियतपरस्परपरिणतिनिमित्तादिभावात्[illegible]त्वत[प]रिच्छेदस्यानोऽर्हन् भगवान् यैन् यथाक्रमं परिणमति विशेषसम्प्रयोगाभ्यां तत्त्वेति तथा

[illegible] परार्थे [illegible] व्याख्यानं प्रतिपादयन्नाह—यथाक्रमेति । [illegible] पुमान् कस्यचिदपि वस्तुनोऽवयवमात्रस्य [illegible] नापि भवति इति प्रतिपादयति—एवंविधेति । व्याचष्टे हेतुमाह—तदेक[illegible]देशमात्रस्यैवेति [illegible] भिन्नमेव वस्तु, [illegible] भावेन विज्ञानादिति भाव । हेतुं विस्तरेण व्याचष्टे—भिन्नाभिन्नत्वादीति । मूलव्याख्यानं दर्शयति—अनवधार्य-मेति । [illegible] । व्याचष्टे—इदमेवेति [illegible] परमात्मादीति [illegible] । [illegible]माह—रङ्गद्वारकितेति [illegible] [illegible] तदेव [illegible] एवमेवेति [illegible] । [illegible] परिवर्तित [illegible] [illegible], [illegible] पुष्पादि [illegible] [illegible] एवमेव [illegible] [illegible] एवमिति [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], अत एव [illegible] [illegible] एतस्मिन्नन्यादिनोऽपीति भावार्थः । [illegible] पर्यायैरेव नाम "जं जं जे जे भावे परिणमइ [illegible] दव्वं । तं तह जाणइ जिणो अपज्जवे जाणणा नत्थि ॥" इति [illegible]माह—युगपदिति [illegible] युगपदनन्तक्रम्यपर्याय[illegible] [illegible] नियतत्वं [illegible]

१ सि. [illegible] डे. [illegible] । २ सि [illegible] । ३ सि. [illegible] डे [illegible] । ४ सि. [illegible] डे [illegible] । ५ सि. [illegible] डे. [illegible] । ६ सि. [illegible] डे. [illegible] [illegible] ।

सर्वज्ञान नाप्यसर्वमेऽस्तीति ज्ञानस्य सर्वार्थेष्वप्याहतप्रवृत्तित्वादनवधृतविषयत्वात् तस्य च वस्तुनोऽनन्तत्वात् यु[ग]पदनन्तार्थवृत्तिज्ञान एव भवत्सुसत्त्वं वेत्ति नान्यः, स चार्हमेवेत्यत आह—

भगवांस्त्वर्हन् यदेतत् सर्वं नाम तत्र निरावरणज्ञानः, तस्य यथाभूतसप्रभेदस्य सम्यगभिधातृत्वात्, यस्य यथाभूतप्रभेदवस्तुविषयसम्यगभिधातृत्वं स तत्र निरावरणज्ञानो दृष्टः, तद्यथा मैत्रक इव स्वगृहाङ्गणकिंशुकादिभेदपलाशस्कन्धत्वं वेद्यकालाकारप्रमाणादिविशिष्टं शिशिरवसन्तनिदाघवर्षाशरद्धेमन्तेषु तां तामवस्थां बिभ्रत पलाशं स्वगृहाङ्गणरूढः किंशुकपितः पवित्र इत्यादि ब्रुवन्, तथाऽर्हन् यथाभूतं वस्तु निरवशेषं ब्रुवन्निरावरणज्ञान इत्यनुमीयताम्।

(भगवानिति) भगवांस्त्वर्हन् यदेतत्सर्वं नाम तत्र निरावरणज्ञानः—सर्वस्मिन् वस्तुनि निरावरणमप्याहतमस्य ज्ञानमित्यर्थः, तस्य यथाभूतसप्रभेदस्य सम्यगभिधातृत्वात्—तस्य—सर्वास्यवस्तुनो यथाभूतं—यथाभूत यथाभूत वीप्सार्थत्वाद्यथाभूतस्य येन प्रकारेण भूतं वा वस्तु सप्रभेद—सप्रतिपक्षनिरूपणैक-सर्वगतादिसद्भूतविशेषप्रकारात्मकानन्तभेदप्रभेदं तच्च वस्तु तैरनन्तैर्भेदैरवयवैरवयवैः सह स्याद्वादे अनेकनयविकल्पयुक्तत्वः सर्वास्यवस्तूनि च[।]शेषावयवप्रभेदकविषयसम्यगभिधायित्वमस्य सिद्धम्, समस्तनयात्मकत्वात् स्याद्वादस्य, यस्य यथाभूतनिरवयवप्रभेदवस्तुविषयसम्यगभिधातृत्वं स तत्र निरावरणज्ञानो दृष्टः, तद्यथा—मैत्रक इव स्वगृहाङ्गणकिंशुकादिभेदपलाशस्कन्धस्य वेद्यकालाकारप्रमाणविशिष्टस्य शिशिरवसन्तनिदाघवर्षाशरद्धेमन्तेषु तां तामवस्थां बिभ्रत तथा विशेष्य स्वगृहाङ्गणरूढः किंशुकपितः पवित्र इत्यादि ब्रुवन् मैत्रकः पलाशं निरवयवप्रभेदं तत्र निरावरणज्ञान इति नैसिद्धो न रेवतीद्वीपपलाशव्याससंख्या

शिशिरादिपर्यायं स्वगृहाङ्गणपलाशादिविशिष्टान्तरापेक्षया तथाविधपलाशज्ञानेन भगवान् भवतस्तु यथार्थेषु प्रमाणविशेषाभ्या परिच्छिनत्ति तथाविधतत्परिच्छेदि, तज्ज्ञानं नासर्वाविषयम्, यदि तज्ज्ञानं प्रत्यक्षमविषयमपरावरणं स्यात्तर्हि तत् सर्वास्वस्थे केनचिदवस्थितत्वादिति तज्ज्ञ स्यात्, परन्तु तज्ज्ञानं न तथाविधम्, अपि तु सर्वार्थेष्वप्याहततया तत् प्रत्यक्षज्ञानमिदम् एवं तस्य वस्तुनोऽनन्तत्वात् एवम्भूतवस्तुसत्त्वस्य च एव जानाति यस्य ज्ञानं युगपदनन्तार्थेषु इति भवेत्, नान्यः तस्मात्तथाविधज्ञानवानर्हन्नेव न त्वन्य इति भावः। अमुमर्थं मानेन दर्शयति मूलकार भगवांस्त्वर्हन्निति। भगवांस्त्वर्हन् निखिलवस्तुविषयनिरावरणज्ञान इति प्रतिज्ञामाह—भगवानिति। हेतुमाह—तस्येति। हेतुं व्याचष्टे—सर्वास्यवस्तुन इति। यथा तस्य वीप्सार्थतामभिप्रेत्याह—यथाभूतमिति। येन प्रकारेण भवति यथाभूतं यावत्प्रमाणं यथाभूतमेवाह—येन प्रकारेणेति। सप्रभेदत्वमाह—सप्रतिपक्षेति प्रभेदेन प्रतिपक्षेणानित्यत्वादिना सहितं नित्यत्वादिरूपेण वर्त्तते, अर्थात् सद्भूतविशेषप्रकारात्मकानन्तभेदप्रभेदरूपं वस्तु स्याद्वादे निःशेषैरनन्तभेदप्रभेदैः अनेकविकल्पयुक्तं वर्त्तते तस्मादेव स्याद्वादपक्षे भगवति सर्वास्यवस्तुविशेषावयवप्रभेदप्रकारसम्यगभिधायित्वं सिद्धमिति भावः। कारणमाह—समस्तेति स्याद्वादे हि निखिलनयसमुदायात्मक इति भावः। व्याप्तिं दर्शयति—यस्येति। यो हि वस्तुविशेषावयवप्रभेदप्रकारसम्यगभिधाता स तद्विषयनिरावरणज्ञानो दृष्ट इत्यर्थः। दृष्टान्तमवतारयति—मैत्रक इवेति। पलाशस्कन्धं हि वेद्यकालपेक्षया तत्तदृतुभेदेषु स्वगृहाङ्गणकिंशुकपलाशविशिष्टादिभेदं भवति, तथाऽवस्थं पलाशं तत्तदपेक्षया विशेष्य स्वगृहाङ्गणरूढः किंशुकपितः पवित्रः पवित्र इत्येवं निरवयवप्रभेदं ब्रुवन् मैत्रकस्तद्विषये निरावरणज्ञानो भवतीति प्रसिद्ध इति भावः। वैधर्म्यदृष्टान्तमाह द्वीपविशेषस्थापरपलाशपुष्पापेक्षया—न रेवतीद्वीपेति मैत्रकमारः कश्चित् यदा सर्वोऽपत्युत्युवे रेवती-

---

१ सि छ क्ष. डे प्रसिद्धेन।

द[ग्ध]दृष्टान्ते मौर्यकुमारोऽन्यथा कुणत्, एकान्तस्याभावाभिधायी वा मेयकमुण्डकुमारोऽन्यः, तथार्हद् यथाभूतमिच्छति सर्वावयवप्रमेयं वस्तु निरवशेषं कुणमनुमीयतां तत्र निराकरणस्थान इति, तत्र निराकरणता नत्वेन व्याप्तत्वादेषेऽपि विवक्षितधर्मसाम्यत्वान्न विरुद्धविरोधः, साधनत्वाच्च प्रसाधितत्वाच्च सर्वस्य सर्वत्र हेतुत्वप्रसङ्गे, अर्हत्सर्वज्ञकथनवत्पौरुषत्वाद्यनिसर्वज्ञत्वप्रसङ्गोऽप्यनिष्टो न भवति, अनुमानमपि सर्वमाप त्वभावकत्वात् स्याद्वादिनः व्यवहारलक्षणोपमसाः सपक्षविपक्षाभ्यामवस्थाकोपमसङ्गादिति चेन्, प्रत्येक-नयविषयाविषयावाः परस्परापेक्षविधिपक्षाभ्यामवस्थायाः प्रसङ्गः परिहृतःप्रत्येकदोषास्तत्प्रमेयवत्साधनमिति ।

अधुना तु प्रकरणप्रयोजनमुच्यते—

सत्स्वपि पूर्वाचार्यविरचितेषु नयशास्त्रेषु तस्मिन्नार्षे सप्तनयशतारनयचक्राध्ययने च प्रायशमारनयचक्रोद्धरणं दुष्षमाकालदोषपरुषप्रतिदिनप्रक्षीयमाणमेधायुर्बलोत्साहश्रद्धासंवेग-श्रवणधारणादिशक्तीनां संक्षेपाभिलाषिणां शैक्षकजनानामनुग्रहाय विहितं श्रीमन्मल्लवादिक्षमाश्रमणेन स्वनीतिपराक्रमविजिताशेषप्रवादिविजिगीषुचक्रविजयिना तदिदं नय-चक्रस्य चक्रवर्तिनामिव चक्ररत्नं जैनानां वादिचक्रवर्तित्वविषये सिद्धमतिष्ठितम्, प्रतिष्ठित-सिद्धविजयावहमस्मन्मूर्धस्थसिद्धवदिति ॥

[illegible] सम्यक् [illegible] सर्वत्र सर्वत्र [illegible] यदि ब्रूयात् न च तत् निराकरणस्थान इति भावः सम्भाव्यते । [illegible] इति [illegible] सर्वत्र [illegible] वा [illegible] वा [illegible] च [illegible] कुणत् निराकरणस्थान इति भावः । [illegible] तत्र निराकरणस्थानत्वेन यथाभूतमिच्छति [illegible] वस्तु [illegible] हेतोर्व्याप्तत्वात् [illegible] नात्र विरुद्धविरोधः [illegible] तत्र निराकरणमेवेति । [illegible] न च [illegible] न हेतुः, [illegible] हेतुर्भवति, [illegible] सर्वत्र [illegible] एवं च [illegible] सर्वं च [illegible] इति । [illegible] साधनत्वाच्चेति । [illegible] अर्हदिति । [illegible] यथाभूतप्रमेयस्य वस्तुनः [illegible] यथाभूतप्रमेयस्य वस्तुनः [illegible] हेतुर्भवति [illegible] भावः । [illegible] अनुमानमपीति [illegible] भावः । [illegible] व्यवहारेति, [illegible] इति [illegible] सर्वत्र [illegible] न [illegible] इति भावः । [illegible] परस्परापेक्ष [illegible] इति भावः । [illegible] पूर्वाचार्यप्रणीतनयशास्त्रेषु नयचक्र [illegible] सत्स्वपीति । [illegible]

1 सि ध. डा. दे व्याहृत ।

(सत्स्वपीति) सत्स्वपि पूर्वाचार्यविरचितेषु सन्मतिनयावतारादिषु नयग्रन्थेषु अर्हत्प्रणीतनैगमादिप्रत्येकशतसंख्यप्रभेदात्मकसप्तशतारनयचक्राध्ययनानुसारिषु तस्मिन्नार्षे सप्तशतारनयचक्राध्ययने च सत्यपि द्वादशारनयचक्रोद्धरणं दुःषमाकालदोषोपच्छिन्नप्रतिदिनप्रक्षीयमाणमेधायुर्बलोत्साहश्रद्धासंवेगभयपारम्पर्यविच्छिन्नानां भव्यसत्त्वानां भवत्येव तावद् दुर्लभम्, श्रुत्वापि तत्त्वबोधः सुदुष्कर एव समन्यस्य व्यवहारकाले परमप्रयत्ने प्रमादतो दुर्लभः, सत्यप्यादरे ग्रन्थार्थसंस्मरणं तदनुग्राहकमनुग्राहित्वार्थप्रतिपादनं चात्यन्त-बोधायेति मत्वा तस्मात् विशालं विस्तरग्रन्थमीदृशं संक्षेपाभिलाषिणः शेषकजनाननुगृह्णीतु कथं भगवान्सी-यता क्रमेण नयचक्रमधीयेरन्निमे सम्यग्दृष्टय इत्यनयाऽनुकम्पया संक्षिप्तमस्य ग्रन्थार्थमिदं नयचक्राख्यं श्रीमल्लवादिक्षमाश्रमणेन लिखितम्, सनीतिपराक्रमविजिताशेषप्रतिविजिगीषुचक्रविजयिना सत्क्रमरवविषयवासिनृपतिविजिगीषुचक्रविजयिनेव भरतचक्रवर्तिना देवतापरिगृहीतामवितथचक्ररत्नेन सपुत्रपरम्परानुयायिश्रुतज्ञानादिपुण्यविभज्यपक्षता चक्ररत्नमिव तदिदं नयचक्रम्—चक्रवर्तिनामिव चक्ररत्नं पुत्रपौत्रादिनृपतीनां विहितं—कथं, किमर्थमिति चेदुच्यते—चक्रवर्तिनामिव चक्रवर्तित्वविषये वादिनां जैनानां—जिनशासनप्रभावनाभ्युद्यतानां वादिचक्रवर्तित्वविषये—वादिचक्रवर्तित्वं विधेयमित्येतदर्थमित्येतस्य नयचक्रग्रन्थस्य विधाने प्रयोजनमभिहितम्, तदेवमेवं द्वादशारनयचक्रं सिद्धमविच्छिन्नं—अस्मादृश चक्रवर्तिचक्ररत्नम्

पूर्वाचार्यविरचितानि सन्मतिनयावतारप्रभृतिनयशास्त्राणि तेषु सत्स्वपि तथा सप्तशतारनयचक्राध्ययने चार्षे विद्यमानेऽपि दुष्ष-मादोषेण क्षीणमेधासामर्थ्यानां भव्यानां दुराधिगमत्वात्तदर्थावधारणस्य दुष्करत्वाद् सप्तशतारनयचक्राध्ययनमहासमुद्राद्विन्दुरूपमिदमुद्धृत-मिदं दर्शयति—सत्स्वपि पूर्वाचार्येति। दुःषमेति, दुःषमानाम्ना कालविशेषो वर्तमानकालः स एव दोषः तद्वशेन प्रतिदिनं प्रक्षीयमाणाः मेधाऽऽयुर्बलोत्साहश्रद्धासंवेगभयपारम्पर्याविच्छिन्ना येषां तेषां भव्यजीवानां तावत्तद्ग्रन्थार्थश्रवणे प्रवृत्तिरेव दुर्लभा कथंचित् श्रवणेऽपि तदवतारबोधो दुर्लभः तदर्थं कथमपि दुष्करमपि व्यवहारे परमप्रयत्नेनाव प्राप्तिर्दुर्लभा सत्यामपि प्राप्तौ तद्ग्रन्थार्थस्मरणं तदर्थस्यावेदनं पर्यालोचितार्थप्रतिपादनं चात्यन्तदुष्करम् भवतीति मत्वा तदेभ्यः विशालम् अतुरं विस्तृतं तद्ग्रन्थमुपेक्ष्य जीवदृषन् संक्षेपाभिलाषिणः विस्तरसंक्षेपरुचिषु दुर्मेधःसु अनुग्रहेण भव्यसत्त्वा इत्येतन्नीत्या क्रमेण कथं नयचक्रमधीयेरन्निमे सम्यग्दृष्टय इत्यनुकम्पया श्रीमल्लवादिक्षमाश्रमणेन संक्षिप्तमेतत् विस्तृतार्थं नयचक्रमसंक्षिप्तमुपनिबद्ध-मिति भावार्थः। अत्र योऽयं ग्रन्थप्रणयनकालीनः दर्शयति—सनीतीति, सह नीतिपराक्रमाभ्यां विजिताः अशेषप्रतिविजिगीषवो येन विजिगीषुचक्रेण तदपि विजिगीषुचक्रं येन तेन सहितेन सन्निवेशके। उपमानमाह—सत्क्रमेति सत्क्रमे भरतक्षेत्रे विषये निवासिनां नृपतीनां विजिगीषुचक्रमपि विजेत्रा भरतचक्रवर्तिनेव सन्निवेशके। विशेषणान्तरमाह—देवतापरिगृहीतेति यस्य भरतचक्र-वर्तिनश्चक्ररत्नं देवताधिष्ठितमविरुद्धं तदविच्छेदेन तथा निजपुत्रपौत्रादिपरम्परानुगमाभिषेकव्याप्तिविशेषमतलविशुद्धेन चक्रं भावः चक्रवर्तिनां भरतादिचक्रवर्तिषु पुत्रपौत्रादिनृपतीनां चक्ररत्नम्, तद् किमर्थमित्यपेक्षायामाह—चक्रवर्तिनामिवेति। व्याचष्टे—चक्रवर्तिनामिवेति इत्यस्य निवेदनम् चक्रवर्तिनां चक्रवर्तित्वविषय इवेति योजना पञ्चपदानां चक्रवर्तित्व-विषय इवेति तदर्थः। जैनानां जिनशासनप्रभावनाभिमुखोद्यतानां वादिचक्रवर्तित्वविषये नयचक्रमिदं विहितमिति दर्शयति—वादिनामिति एते जैनाः तत्समये वादिचक्रवर्तित्वं विदध्युरित्यभिप्रायेणेति भावः। इत्येवं प्रयोजनमभिधाय—वादीति। सम्प्रदाय निर्दिशति—द्वादशारेति इदं ग्रन्थरत्नं सिद्धमविच्छिन्नं सिद्ध-अस्मादृशां प्रतिष्ठा यथेदं तस्य संजातमिति

१ सि ज्ञ. प्र. के. °द्वारेण। २ सि. न. प्र. के निजके।

तेनापि मयका, भगवन्मल्लवादिपरमगुरुशिष्यमुख्येन सिद्धम्, सिद्धनामधेयेन मङ्गलं कस्याम शिष्यप्रशिष्यपरम्परया प्रतिष्ठातुमर्हति, प्रतिष्ठितसिद्धिविजयावहजगत्पूर्णसिद्धवत् प्रतिष्ठित मङ्गलमिति ॥

इति श्रीमल्लवादिक्षमाश्रमणपादकृतनयचक्रस्य तुम्बं समाप्तम्

ग्रन्थाग्रम् ॥ १८०००

श्रीरस्त्वायमस्तु.

सिद्धमिति मङ्गलमिति ... क्वाप्यपि ... एव तथा ... प्रार्थ्यते च ... मया । तथा ... परात् ... मङ्गलमिति । ... शिष्यप्रशिष्यपरम्परया ... सिद्धमिति ... । प्रतिष्ठितेति ... इति । इति ... । तुम्बनिरूपणं ... इति श्री ति ॥

श्रीमत्पद्मसूरीशैः कृपा ... ।
प्रेरणा सफला जाता ... ॥ १ ॥
...पर्यानुसन्धाने, कृत्वा मूले पूर्णकृतम् ।
... कापि संशोध्या सा तु धीधनैः ॥ २ ॥
विजयमेघसूरीश पट्टालङ्कारधारिणाम् ।
श्रीमल्लब्धिसूरीणां, शिशुना लब्धिसूरिणा ॥ ३ ॥
विषमाणां तु वाक्यानां ... लघु ।
... तुष्टये ... ॥ ४ ॥ युग्मम्
द्वादशारमिमाटोऽपि ... हि ।
... पाण्डित्यो ... मया ॥ ५ ॥
... हि, ... ।
... पूर्णीकृतं मया ॥ ६ ॥

इति श्रीविजयलब्धिसूरिविरचिते विषमपदविवेचने नयचक्रस्य तुम्बनिरूपणं समाप्तम्
समाप्तश्च द्वादशारनयचक्रस्य विषमपदविवेचनम् ॥ शुभं भूयात् ॥

न्यायागमानुसारिणीसमलङ्कृते द्वादशारनयचक्रे निर्दिष्टान्युद्धरणानि।

कृतम्पुषे गृह्यम्	(टी)	[पा १ ३-११३]	६९	२५
कामिनमि कमि पश्यन्ताः	(टी)	[पा. मा. १२७ १२५, १२६]	६९	८
वर्णो नामोच्यते नामस्वरूपः	(मू.)	[अभिधर्मपि]	७	९
वर्णो मंचो एक स्पर्शः	(टी)	[ ]	७	१४
पुष्पला परमं सर्व	(टी)	[परिवर्त]	७१	२१
भ्रान्तिसंशयविवेकाम	(टी)	[प्रमा. स. ८]	७२	८
पंक्तिमानवाणा पंचविज्ञानकायाः	(मू.)	[अभिधर्मपिटके]	७२	११
वैशेषिके निमित्तं	(टी)	[वै. सू. ९-२ ४]	७३	२१
अन्यथानुपपन्नत्वात्	(टी)	[वाक्यप. १-४३५]	७५	३
यस्मिन् मिथो न व्यभिचारः	(टी)	[अभिध. ६-४]	७५	१३
पृथिव्यादैः	(टी)	[पा १-११]	८	१४
यदि धर्मी व्यभिचारे च	(टी)	[ ]	८३	४
नियमाद्वि न विकल्पम्	(टी)	[चतु शतक. ११ १८]	८३	६
प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नाम्नम	(टी)	[न्यायप्रवेश. पृ ७]	८३	८
गुणसंज्ञायो द्रव्यम्	(टी)	[पातंजल. ५-१ ११९]	८४	३
संघात एव संघातान् सूचयति	(मू.)	[ ]	८४	१६
कि परमाणवः परस्परं स्पृशन्ति	(टी)	[ ]	८५	४
संघाताः संघातान् देशेन	(टी)	[ ]	८५	६
तथानेकमवयवमिव	(मू.)	[अभिधर्मकोश.]	८९	९
द्रव्यमभिव्यक्तं	(टी)	[अभिधर्मकोश.]	८९	१८
अनेकमवयवमिवैकदेशेन	(मू.)	[अभिधर्मकोश.]	९	१
व्यापन्नस्वाभाव्यं प्रमेयं	(मू.)	[अभिधर्म]	९	३
व्यापिनैकेन द्रव्येण कार्यं	(मू.)	[अभिधर्मकोश]	९	४
अनेकेन द्रव्येण कदाचित्	(मू.)	[अभिधर्मकोश]	९२	१९
इदं प्रतीत्य चक्षु प्रतीत्य	(मू.)	[बुद्धवचन]	९२	२५
व्यवस्थानवचनं प्रमेये.	(मू.)	[अभिधर्म भा ३-१]	९७	२४
नियमाद्वि न विकल्पम्	(टी)	[चतुः श ११-१८]	९३	५
व्याप्यव्यापकभावेष्वस्मिन्	(टी)	[पा. १-१-९]	९३	८
मा(मिथ्यावदन	(टी)	[वै. ३-५९]	९२	२
द्रव्यमनेकमवयवे	(टी)	[ ]	९५	४
मेरुपर्वतास्य चक्षुषः	(टी)	[तत्त्व ५-२८]	९६	९
परस्परविरुद्धाणाम्	(टी)	[ ]	९७	१२
अनेकार्थमन्यत्वात् कार्ये	(टी)	[न्यायब. श्लो. ४]	९८	१३
गुणस्य स्फोटस्पर्शः	(टी)	[वै ९-२ २५-२६]	९९	१२
प्रत्यक्षमनुमानञ्च प्रमाणे	(मू.)	[न्यायमु पृ ७]	१ १	१
व्यभिचारे सद्भावात् सर्वथाम	(टी)	[मैत्रा. ६-३६]	१ १	१६
तथानेकार्थमन्यत्वात् कार्ये	(मू.)	[न्यायब श्लो. ४]	१ २	१७
अनेकमन्योन्यव्यपेक्षत्वात् वाक्यानी	(मू.)	[न्यायब]	१ ४	५

विषयो हि नाम यस्य ज्ञानेन	(टी)	[आत्मतत्त्वपरीक्षाया]	१ ४	१८
यस्मिन् सिद्धे न तद्बुद्धिः	(मू)	[अभिधर्म १ ४]	१ ६	६
एवं सर्वं इति ज्ञानम्,	(मू)	[[illegible]]	१ ६	१७
विज्ञप्तिर्न विज्ञानं	(मू)	[मधु-प्रकाश. ११-१८]	१ ७	१
यतोऽर्थाद्विज्ञानं प्रसज्यम्	(टी)	[प्रमाणवि]	१ ९	११
यदाकारं तेषु ज्ञानमुत्पद्यते	(मू)	[विंशिका]	११४	७
प्रत्येकं न तं समुदितं कारणम्,	(मू)	[प्र. समुच्चय.]	११४	१
तस्मानेकार्थसम्बन्धात् कार्ये	(मू)	[प्रमाणस श्लो ४]	११४	१
परिच्छेदकत्वमात्रं चैव विज्ञानकत्वा:	(टी)	[अभिधर्मकोश]	११६	७
इत्यन्तो	(टी)	[पा. भा. १ ४५]	११९	११
बुद्धिर्योग्यं तथाप्यन्यत्	(मू)	[ ]	११९	२
तत्स्वरूप प्रत्येकमुक्तिः	(मू)	[ ]	११	१९
येन यथा यद्यपास्य	(टी)	[वाक्यप. १-७-८१]	१२१	१
भेदाभिधानात् प्रत्ययम्	(मू)	[सर्वदर्श]	१२४	१४
वर्णैर्युक्तत्वात् प्रतिपत्तिः	(मू)	[ ]	१२५	१४
प्रसिद्धिमात्रोऽर्थोऽभिधीयते	(मू)	[वै. सू. १ १-१८]	१२	११
क्रियाविशेषनिबन्धनात्	(टी)	[उत्पादाधिकारस्कन्ध ४]	१२	६
भूतस्याप्यनन्वयात्,	(टी)	[वै. सू. ८-२-५६]	१२	१४
सुप्तप्तौ	(टी)	[पा. भा. ६४२ ६४३]	१३२	१९
तुन अव्ययम्	(टी)	[पा. भा ८५८]	१३२	२
यत्सर्वं सर्वसम्भावनाम्	(मू)	[वाक्यप. २-१२१]	१३३	४
यत्सर्वं सर्वसम्भवनाम्	(टी)	[वाक्यप २ १२१]	१३३	१२
सर्वेश्वरादेवं वाक्यं	(टी)	[वै. सू. २ अ. १ पा. १५ आदि.]	१३३	१३
वाक्यप्रयुक्ताः चैवाहः	(टी)	[वाक्यप. २ का. १-२]	१३३	१४
केचित्तत्र तत्प्रत्ययो	(मू)	[तत्त्वा. भा. १ सू. ३५]	१३३	१९
एवाख्याः त्यक्तवती युक्ता	(टी)	[प्रम. श्लो १ भा. ४]	१३४	२
इ इ पदौ	(टी)	[पा. भा १३४-१३५]	१३४	४
सु इत्यर्थः मः	(टी)	[पा. ५-२ १ ८]	१३४	५
यथा यैव नाभ्यां यत्र	(मू)	[भगवद्गी. ११ ३ १]	१३४	१
– भिन्नभिन्नरे –				
अग्निष्टोमं सुयात् स्वर्गकामः	(मू)	[मैत्रा. ६-३]	१३१	१४
प्रत्यक्षित्वेप्सेत्कामः	(टी)	[चरक सं. ६ १५-१८]	१३६	१९
स्वर्गिणाः सुखकामः	(टी)	[ ]	१३८	१
प्रमाणानि प्रत्यक्षे	(टी)	[सिद्धान्त १-४]	१३८	१९
यत्सर्वं ममात्मा येन	(मू)	[तैत्ति सं कां. २. प्र. १ अ. १]	१४	१४
इ तत्समासे.	(टी)	[पा. भा १ ८३]	१४२	७
यदिष्यस्यामी प्रत्यर्थं पर सूत्र	(टी)	[न्या. महाभा १ १६७]	१४२	११
मेरुस्वर्णमयी तत्समानाधिकरण्यात्मकत्वं (वाक्यन्याय)	(टी)	[ ]	१४३	८

कर्मादिष्वपसम साक्षमेव	(टी)	[पी. ५-२ १५]	१८९	१
मधुप्रभृतिमास्वृत्येवे	(टी)	[चरक. १६७]	१८९	२
मधुरलेखेष्वर्थ	(टी)	[न्याय सू १५]	१८९	३
अग्निहोत्रं जुहुयात्	(मू)	[कात्यास. ६-७]	१८९	११
कर्मणे च प्रयासने च	(टी)	[मैत्रा १-८-७]	१८९	१९
दध्ना जुहुयात्	(टी)	[काठकसं. ६ ३-५]	१८९	१९
दध्नेन जुहोति	(टी)	[तैत्ति. ब्रा. १ ६-५]	१८९	१९
शंका: कस्मा कस्मै च मेध्यै	(टी)	[ ]	१९	१
प्राशुः प्राशसे कस्मै च	(टी)	[ ]	१९१	५
द्विः प्रविवेक मद्यं नमयति	(टी)	[ ]	१९२	१५
यत एवमरत्नोऽप्यनालामारम्भम्,	(टी)	[ ]	१९९	१४
यत एव प्रारम्भकिया व निर्भेदार्थम्	(टी)	[ ]	२ १	११
महत्ति दास्यौ प्रसमार्थ एव मूलः	(टी)	[म्ना. म्ना. ३ १-६६]	२ ७	१९
मुखमोपसंख्यानम्	(टी)	[ ]	२	१८
सर्वेऽप्युपमर्थेषु	(टी)	[सुश्रुत सू १७९]	२ ९	१
निरस्य शकृत् पाते०	(टी)	[चरक सं. १-२६ ६८]	२११	१४
इम इमनियामाम्	(टी)	[प वा १३३४]	२१३	४
के कि मास चमान्!	(टी)	[मनु. १०-५]	२१४	१२
के के वे वे भावे	(टी)	[अम. लि. १६६७]	२१८	२४
महामरणमानियायो	(मू)	[ ]	२१९	१
दुग्धं अशुमी सदा	(टी)	[आचा सू. १ ५]	२१९	१९
यस तु मनसि ज्ञात्वे	(टी)	[चरक २-२१ ३५]	२२	६
सम्मुखसंयोगो सार्वनित्यम्	(टी)	[तत्त्वार्थ २ १८]	२२	१४
यो दुर्गे दुर्गमे चरन्	(टी)	[मनु. १९-६-५७८]	२२१	१
मिथ्यावर्णान्यप्रतिमिनात्	(टी)	[वरना ८ १]	२२५	४
दुर्भिक्ष मते। क्षुधी चक्षुः बोधए	(टी)	[मनु. १-६-५१]	२२५	
एतत्सामर्थ्यं मते। एतेमेतस्य	(टी)	[मनु १९ ७]	२२५	११
सुखम् एवं	(मू)	[शतपथ. च ३१-२]	२२६	१४
आमयतस्य अत्रेत्सम्बो	(टी)	[मनी. ४१]	२३	४
इति यदी आपद्रिक्षित	(टी)	[मनी. ४१ ३]	२३	५
सर्वे वै प्राणाः	(टी)	[तैत्ति. ३-२ ३ १९]	२३	१
भवि भवति नियति भवति	(टी)	[शिवलीन.]	२३१	६
सर्वोऽभ्यासिक एवस्ये	(टी)	[मुंड १ १-७]	२३१	१२
यथा सुर्भित्राद्विस्फुलिङ्गा	(टी)	[मुंड २ १-१]	२३१	१४
एवम् पचति भूतानि	(टी)	[महाभारत]	२३२	२
आगमिष्य छोडीरत्नकल्पना	(टी)	[गीता ४-१-५]	२३२	४
च चस्यस्त्वा प्रशोधि तैलम	(टी)	[ ]	२३२	७
तदेजति तन्नैजति	(मू)	[ईशा. १-५]	२३२	१

प्रातिपदिकार्थानां क्रियायाम्	(टी)	[म्या. महाभा. १ १-५]	५१४	२
कारकाणां प्रातिपदिकेन	(टी)	[म्या महाभा १ १ १]	५१४	३
पार्श्वे इत्याः	(टी)	[पा. १ १-२५]	५१५	५
मासर्थ पुसो यजते	(टी)	[म्या महाभा १ १ १९]	५१५	५
प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाण	(टी)	[पा. १ १ ४६]	५१७	७
संयोगक्रियायाश्च कर्मत्वम्	(टी)	[वैशे. १-१ १]	५११	१४
गुरुत्वप्रयत्नसंयोगानाम्	(टी)	[वैशे १ १-२९]	५१२	१५
सत्परत्वविषयम्	(टी)	[वैशे ४ १-१]	५११	८
पश्चिमयामस्यावस्य	(टी)	[वामनप. १-७-२]	५१	११
अविर्भवन्तीपरः	(मू)	[म्या. महाभा. २ १ १]	५११	२
आर्ष्यार्थिपि परेण न शास्यते	(टी)	[ ]	५१६	४
इतिरार्थेच्	(टी)	[पा. १ १-१]	५१६	५
इतिविधीये संज्ञा कार्येत्यर्थानाम्	(टी)	[ ]	५१६	६
सूत्रेणैव हि तत्सर्वं	(टी)	[ ]	५१६	७
प्रतिपद पिण्डीम्	(मू)	[ ]	५१७	९
कः कर्मणि च	(मू)	[पा. १ ४-५१]	५१७	१८
कारकाणां प्रातिपदिकेन	(मू)	[म्या. महाभा]	५२१	११
पोम्पके वे भंते! किं कवि	(टी०)	[मगव ५-७-११२]	५५४	१९
माल म्यस्याणं वाणि	(टी)	[प. भा. ६११]	५५५	७
श कम्मोक्षो	(टी)	[प. भा. १५ ८]	५५५	७
पिता सर्वे	(टी)	[प. भा ७८१]	५५५	७
कवि दधमेदोसे	(टी)	[प. भा. ३६१]	५५५	७
केणेई मिणदि माणेहि	(टी)	[आव. ७५५]	५५५	१७
संपहिम सिक्खिस्सं	(टी)	[आव. ७५६]	५५५	१७
क्रियावचनो धातुः	(मू)	[म्या. महा-१ ३ १]	४६	१२
अन्वयव्यतिरेकसाध्यमानो भावः	(टी)	[ ]	५६२	६
सामान्यमपि यस्य विशेषः	(मू)	[म्या. पद्य. १-२ १४]	५६२	११
अस्थि अस्थि परिणमदि	(मू)	[म. १ १ ११]	५६६	११
एदवो य सदमिधो	(टी)	[आ. नि. २२६१]	५६६	१८
आख्यातं साव्ययकारकं वाक्यम्	(टी)	[पा. वा. २ १-१]	५६७	६
एकतिङ् वाक्यम्	(टी)	[पा वा. २ १ १]	५६७	६

— विधिनियमविधि —

यथाऽदीमन् शब्दे आत-	(टी)	[ ]	५७२	१६
वीणायाः क्रिया कार्यः	(टी)	[ ]	५७४	२
शुद्धमपि संपात्य	(टी)	[ ]	५८	१५
असिद्धत्वस्य धर्मेण धर्मान्तरमिष्टौ	(टी)	[ ]	५८१	६
अनुरे नास्तीस्वमार्गान्तरम्	(टी०)	[वे १ १-६]	५६७	१८
यस्मिन् प्रयत्नविनया न निर्मातर्थम्	(टी)	[मी १ १-७]	५६८	३
येयथधिकृत्यारम्भसामर्थ्यम्	(टी)	[ ]	६ १	११

समयपुष्पा सन् दीपः	(टी)	[ ]	४६	१२
व्याप्यमाविशुद्ध	(टी०)	[ ]	४६	११
वेदास्मवाक्यमात्र	(टी)	[ ]	४६	१४
स्वपरादि स्वरूपे मधु	(टी)	[ ]	४६	१५
गौणमीमांसामोदैर्	(टी)	[समवाय. ८६]	४६१	६
उपमानीमार्थ मित्र में	(टी)	[कर्मी. प्र. ४२]	४६२	३
वाक्यं एवे हि वाक्यम	(टी)	[ ]	४६२	४
पू पारामासुकस्वो	(टी)	[पा भा. १ ८६]	४६२	१४
वाक्यमात्रे निरवधारः	(टी)	[ ]	४६८	४
समवेताविस्मयविस मेशित.	(टी)	[ ]	४६९	३
यथा यथा प्रीतहस्त कर्मेण.	(टी)	[ ]	४६९	११
कर्तुरीप्सिततमं कर्म	(टी)	[पा. १-४-४९]	४७१	४
पुण्येमस्त च मंते सौरस्य	(टी)	[ ]	४७७	१
वाचावस्तुम्ने व्याकरणे	(टी)	[ ]	४७७	१
पुण्यपेन्मस्य पुण्यौरस्य	(टी)	[ ]	४७८	१
ते मेन त पोमस्य	(टी)	[ ]	४७९	१
धर्म न स्वर्ग	(टी)	[ ]	४७९	५
पुण्यि मंते पुष्पी		[मम १-६-५१]	४७९	१४
स्वाधोप्रमस्त्यार	(टी)	[ ]	४८१	६
कर्मान्याधसीधिहिते	(टी)	[प ना ५-२ ११५]	४८४	८
कमानसमन्यार्थेषु पक्षपोषा	(टी)	[ ]	४९१	४
प्रोक्षे च छत्रिपो	(टी)	[आप भा. १२६ भि. १२६१]	४९५	१४
पृथिवी वातो कि छस्म्	(मू)	[ ]	४९६	१८
समानकर्तृकयोः पूर्वकाले	(टी)	[पा ३ ४-२१]	४९८	१५
ये एवमासे ये बहुमासे	(मू)	[आप. ११-४ ११४]	४९९	१
—उपसर्गे—				
भू सत्तायाम्	(टी)	[पा. धा. १]	५	१६
डु पचौ	(टी)	[पा. धा. ९९५]	५	१८
इगुपधात् कित्	(टी)	[पा. १ २ ११२]	५	१८
क्रिया यस्तो धातुः		[ ]	५ १	१५
न धेन कश्चिदपि लक्षितव्यस्मि	(मू)	[भा. महा ९-२ ६४]	५ ४	११
अन्ये तु पुनरन्वेषे च	(टी)	[भा. महा. १-२-६१]	५ ५	६
सुराज	(टी)	[ ]	५ ९	१२
महाविर एव प्रसन्न.	(मू)	[भा. महा. १ १ १]	५१	३
वाक्यप्रेपदार्थमित्याभा		[ ]	५११	४
क्रियावाचकमाख्यातम्	(टी)	[ ]	५११	६
तन्मध्यमसिद्धं धर्म	(टी)	[भा. महाभार० १ १ १]	५११	७
पूर्वापरीभूतं धर्म	(टी)	[यास्क निरुक्ति १-१४ १५ १६]	५११	७
क्रियाणां पदार्थानां	(टी)	[ ]	५१२	१२

— विधिनियमविधि —

— [illegible] —

इत्येतदाम्नाति च	(टी)	[व्या. महा १ १-१]	७०१	५
इतरे	(टी)	[वै ७-१-२६]	७११	८
सत्यसमाम्नानम्	(टी)	[ ]	७१६	२
मिथो समारोपे निम्नगाके	(टी)	[ ]	७२१	१२
यथा लोके स्यादि समासमर्थितश्च	(मू)	[ ]	७२१	१८
निष्कस्येनक सन्ध्या	(टी)	[निरुक्त]	७२७	३
सन्धान्तरार्थयोर्हि	(मू)	[निरुक्त]	७२७	४
पौरुषेय सन्निधे	(टी)	[भग सि २२६४]	७२८	६
नाहं भंते! परमाणुपोग्गले०	(मू)	[भग. श ११ उ १ सू.१६२४]	७२८	१
– समयनिसमारे –				
कुशलबुद्धे बहुत्वम्	(टी)	[प २२ ११२]	७४४	६
समलन्तरानुलोमाः	(टी)	[ ]	७४५	१४
वैलक्षण्यो सम्यक्समाधा	(मू)	[वाक्य. १-१४२]	७४८	२
सम्यग्दीपार्थ विशेषं	(मू)	[नन्दी सू. ४१]	७४९	८
दीपिकादि नामदीपकोऽयम्	(टी)	[नन्दीप्र सू. ४१]	७४९	११
प्रयमाप्तसत्कर्मयोगाः	(टी)	[तत्त्वा ६ १]	७५	५
स आस्रव	(टी)	[तत्त्वा ६ २]	७५	६
योगवक्रताविसंवादनम्	(टी)	[तत्त्वा ६-२१]	७५७	७
स्पर्शिनद् लोकनी	(टी)	[पा. भा. १४ ४]	७५१	१४
यदि अनुनिमोदने	(टी०)	[पा. भा. १ १२]	७५१	१४
इति परमेश्वरे	(टी०)	[पा. भा. ६६]	७५१	१
अन्येषामपि दृश्यते	(मू)	[ ]	७५४	६
नामयते नामए अनुसर्पे	(मू)	[अनु २२ सू]	७५७	२
आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्	(टी)	[पाणिनिशिक्षा श ६]	७५८	८
न हि मूर्तस्य मूर्तत्वम्	(मू)	[ ]	७५८	१६
अहो मे इमे मे	(टी)	[अनु सू. १६]	७५९	७
ओतप्रोतविवक्षायाम्	(मू)	[पा. १-४ २१ २२]	७६१	३
एहि मन्ये रथेन यास्यसि	(मू)	[ ]	७६५	६
प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं	(मू)	[व्या. महा १ १-६७]	७६६	११
प्रकृतिपर एव प्रत्ययः	(मू)	[व्या. महा ३-१ २]	७६६	१२
कर्तरि कृत्	(टी)	[पा ३ ४-६७]	७६७	३
तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः	(टी)	[पा ३-४-६९]	७६७	३
आधारोऽधिकरणम्	(मू)	[पा १-४-४५]	७६८	११
सप्तमी च सम्मोदरसे	(टी)	[पा १ ४-१ ६]	७६८	१२
बहुवचने प्रत्ययाः	(टी)	[पा ३-४ १]	७६९	१
स्वतन्त्रो बहुत्वम्	(टी)	[पा १ १-८५]	७६९	१
समार्थाभिधानस्य सम्यक्	(टी)	[तत्त्वा १-२४ भाष्ये]	७६९	१
यत्र प्रवृत्ते प्रत्यये	(मू०)	[व्या महा. १ १-१]	७०	१
एतस्मिन्नेवार्थे	(टी)	[व्या महा. ४ १-३]	७०२	११

क्रियाकारकभेदेन	(मू.)	[ ]	७७६	११
शास्त्रिम्भूतीय	(मू.)	[ ]	७७६	१७
किंतु कौण्डभिक्षिणीया	(मू.)	[पा भा ११११]	७७६	१४
स्वामित्वपदेऽप्यभिधौ	(टी.)	[पा १-१-५६]	७७७	५
स्थान्यादेशपृथक्त्वात्	(टी.)	[भा महा १ १-५६]	७७७	५
गुरुवद्गुरुपुत्रे	(टी.)	[भा महा १ १-५६]	७७७	६
सर्वप्रातिपदिकार्थम्	(मू.)	[वाक्य कां १-११]	७७७	१८
योऽयमित्यभिसम्बन्धात्	(टी.)	[वाक्य कां २ ११]	७७८	१५
तयोरप्युपसम्बन्धे	(मू.)	[वाक्य कां २ १११]	७७८	१
योऽयमर्थसम्बन्धम्	(टी.)	[वाक्य कां २ १११]	७७९	१५
धीरन्तो वत्	(टी.)	[श ४ १-१२]	७७९	१
मुखे वैदिके	(टी.)	[प. प १४४२]	७७९	१
अपदके सर्वकर्मां	(मू.)	[वाक्य कां २ १११]	७८	६
अन्योन्याश्रयार्थ	(टी.)	[श्ल १-४०]	७८६	१४
प्रकृत्यर्थेषु	(मू.)	[प १-१-१]	७८७	१४
अनभिहिते	(टी.)	[पा २ ३ १]	७८७	१
कर्मणि द्वितीया	(टी.)	[पा २ ३-२]	७८७	१
कर्तृकर्मणोः कृति	(टी.)	[प २ ३-६५]	७८७	१
कर्मणिहितो भावे	(टी.)	[भा महा ५-४-१९]	७८७	२
सर्वेषां सर्वकर्मा	(मू.)	[प्रत्यक्ष]	७८९	१
अरण्यमामभिरक्षा प्रेष	(टी.)	[भा. महा २ ३ ४]	७८९	६
यत्र द्वयौ सर्वे व्यभिचरति	(मू.)	[भीतिकोष]	७९	११
ते सम्यगभिमतम् प्रच्छते	(मू.)	[ ]	७९४	११
अ पदौ	(टी०)	[पा भ १६१]	७९४	११
तयोरप्युपसम्बन्धे	(मू.)	[वाक्य कां २ ११११]	७९६	४
योऽयमर्थसम्बन्धम्	(मू.)	[वाक्य कां. २ ११२]	७९६	९
यत्तु प्रवृत्ते पुरुषो	(मू.)	[भा महा १-१-९]	९८	६
निवृत्ते यस्ये सम्बन्धी च	(टी.)	[भा महा १-१-१]	७९८	११
यद यस्य प्रत्ययो यानि	(टी.)	[प भ ११७-११]	१	
यस्य उपमा शिवे	(मू.)	[श्ल १६]	१	६
सपर्यामिपर्वं प्रथमा	(टी.)	[तत्वार्थवा. १-१५]	८ १	११
नामस्थापनाद्रव्यमिव	(टी.)	[ ]	८ १	१४
व्यासक्तो गुण	(टी.)	[पा १ १ १ ७]	८ ४	१
आद् सर्वेऽभिहितो	(टी.)	[प २ १-११]	८ ४	१५
आसन्नत्वे शासर प्रसक्ते	(टी.)	[आप सू ११]	८१३	१६
अतस्योरपि वत्समम्	(मू.)	[वाक्य कां १ ११५]	८१५	१२
चतुर्थी आर्षिकादयः	(टी.)	[प १ ३-७१]	८१६	११
नाहने द्वात् यत्नो निवसन्ति	(टी.)	[वैदि ६-१ ७-२०]	१८	४
उपसाधनसम्मोहः	(टी.)	[भा महा १-१-७१]	१८	१४

प्रतिषेध्यप्रस्तारेण	(टी)	[प्रमा वा]	९१	५
वाक्यवाक्यान्तरं वाक्यम्	(मू)	[मन्त्रकृत]	९५	६
समस्तो यदपि हि	(मू)	[प्रमा वा]	९९	१
सिद्धे सिद्धि मतस्येन	(मू)	[प्रमा वा]	९९	१४
धर्मे क्रियमपि व्याप्ति	(मू)	[प्रमा वा]	१११	१
प्रतिषेध्यप्रस्तारेण	(मू)	[प्रमा वा]	१११	११
नायिका कृतस्येन	(मू)	[प्रमा वा]	११२	६
नियमितेन योग्यादि	(मू)	[प्रमा वा]	११२	६
तद्व्यवस्थेनारेण	(मू)	[मन्त्रकृत]	११३	९
स्वसाम्याभिमानेन सम्बन्धात्	(मू)	[ ]	११६	१४
एतस्मात् प्रभवात्	(टी)	[शां]	११७	१
यथैकं यथाविधिविशेष	(मू)	[ ]	११७	११
अन्यथानुपपत्त्या प्रभवात्	(टी)	[शां]	११८	
व्यापके च च एताके	(टी)	[ ]	१२१	२
इतिविशेषं तत्र भवति	(टी)	[व्या महा १-१-१]	१२६	१
इतिपरेण	(टी)	[पा १-१-१]	१२६	११
न धर्मो धर्मिणा साध्य	(मू)	[ ]	१२६	१८
साध्यसाधकता यात्र	(मू)	[ ]	१३	५
साध्यस्यैवोपस्थिता यथा	(टी)	[ ]	१३२	७
तुल सेके	(टी)	[पा धा १७२५]	१३५	१
स्पृशी द्रुते	(टी)	[पा धा १८१५]	१३५	१
सिद्धे सिद्धि मतस्येन	(मू)	[प्रमा वा]	१४	२२
तद्व्यवस्थेनानुमानेन हि	(मू)	[मन्त्रकृत]	१४१	१५
यतोऽर्थे धर्मं कारणम्	(टी)	[वैशे १-२-१]	१४४	१
विशेष न विना सिद्ध	(टी)	[मन्त्रकृत]	१४७	८
धर्मे क्रियमपि व्याप्ति	(टी)	[प्रमा वा]	१४९	१
विशेषार्थेनारेण	(मू)	[मन्त्रकृत]	१४९	११
प्रतिषेध्यप्रस्तारेण	(मू)	[प्रमा वा]	१४९	१२
वाच्येनानुपस्थो हेतो.	(मू)	[प्रमा वा]	१४९	१८
नायिका कृतस्येन	(मू)	[प्रमा वा]	१५१	६
नियमितेन योग्यादि	(मू)	[प्रमा वा]	१५१	११
क्रियमसंज्ञा कार्यं विविधं	(मू)	[वै ९-२-७]	१५३	१५
कारणात् सम्भवति	(टी)	[वै २-१-१]	१५७	११
कर्मान्तरपरोक्षं कार्यं कुर्वते	(टी)	[विधुन.]	१६१	१
कर्मान्तरपरोक्षेण कार्याभिव्यक्तम्	(टी)	[विधुन.]	१६१	१
सिद्धि सम्बन्धे	(मू)	[ ]	१६२	६
संयोगो विभागेषु	(मू)	[प्रमा वा ३१७-३१८]	१६७	११
वाक्यव्यतिरेकेणाप्यत्र	(मू)	[ ]	१७१	५
यत्र तत्र योजना सम्बन्धी	(मू)	[ ]	१७१	६

दृष्टो मनसा निगद्यते.	(मू)	[ ]	१७५	१
यथा हि दृष्टानिरूप्यः	(मू)	[ ]	१७५	१४
पुरुषप्रत्यक्षीरम्य	(मू)	[प्रमा प]	१८२	१
प्रत्यक्षं किंचिद् स्यात्	(मू)	[प्रमा प]	१८२	१२
प्रत्यक्षतः	(मू)	[प्रत्यक्षतः]	१८२	११
प्रत्यक्षेऽप्यवश्यं	(टी)	[प्रमा प]	१८५	८
प्रत्यक्षस्याविशेषस्य	(मू)	[ ]	१८५	१
अविशेषाभावतया	(मू)	[ ]	१८५	११
विपक्षविशेषो निषेधाद्	(मू)	[वाक्य पं २ सूचि ८]	१८७	२
अयोग्यमेवाय मिथ्यार्थो	(टी)	[प्रमा प]	१८९	२
प्रत्येको नार्थान्तरम्	(मू)	[प्रमा प]	१९	४
प्रत्यक्षोऽप्यमेयमात्रलक्ष्मो	(टी)	[ ]	१९१	२
प्रत्यक्षस्य मेयाय	(मू)	[प्रमा प]	१९१	६
प्रत्यक्षं च लघुत्वाद्	(मू)	[प्रत्यक्षतः]	१९१	८
मान्यथोपलम्भेऽपि मान	(मू)	[ ]	१९१	७
सर्वेषामुपलिप्तोऽस्त्वं	(मू)	[वाक्य पं ११४]	१९४	९
यो हेतवाद पश्यति	(टी)	[प्रमा १-७५]	१९६	१
प्रत्यक्षेषु पञ्चलक्षण	(टी)	[श्लो ५४]	१९६	१४
पुरुषार्थं परिनिष्ठितमेवं	(मू)	[प्रमा सू ४२]	१९७	६
अविसंवादिविशेषस्य	(टी)	[प्रमा प]	१ ८	१
साधुत्वेऽप्यपाने.	(टी)	[प २ १ १९]	१ ९	९
अपि नामी निपाती	(टी)	[धीतिशब्देनस्य]	१ ९	११
सि इन्ती दीप्ती	(मू)	[पा धा. १४७१]	१ १	९
व्यय दीप्ती	(मू)	[पा. धा ११८७]	१ ११	१
पद मर्यादाने.	(मू)	[पा धा. १ १६]	१ ११	४
पान् पाने.	(टी)	[पा. धा. ९५५]	१ ११	११
वेष् यत्ने.	(टी)	[पा. धा. ९८७]	१ ११	११
चेष्टायामने.	(टी)	[पा. धा. ११७१]	१ ११	१२
रैप् सेवने.	(टी)	[पा. धा. ९४९]	१ ११	१२
शब्दो वाच्याभिधानात्	(मू)	[वाक्य पं २ ११]	१ १६	५
यथोक्तवाच्यसमात्	(मू)	[वाक्य पं० २ १११]	१ १६	११
प्रत्यक्षपूर्वीतरेऽप्युक्त	(मू)	[वाक्य पं २-१५]	१ १६	११
नामनामप्रभवस्य	(मू)	[ ]	१ १६	११
सामान्यवर्तिनां वाचां	(टी)	[ ]	१ १७	५
पद्मभवस्य व्यक्ति	(मू)	[भग ११ १]	१ १८	१
तस्य च तत्प्रतिषेधाय	(टी)	[ ]	१ १८	४
इमार्थ मति	(टी)	[भग ११ १]	१ १८	११
न विद्यार्थं पुनि प्रमार्थं	(टी)	[ ]	१ ४२	१५
तदविशेषाभ्यासमि	(मू)	[ ]	१ ४६	११

विस्मयोत्सुक चक्षुः	(टी)	[विक्रम]	१ ४८	१
येन येन विसर्जन	(टी)	[विक्रम]	१ ८८	११
कामाः विकसमानानाम्	(टी)	[ ]	१ ५५	१
मत एत्मरतत्वोऽभ्यम	(मू)	[ ]	१ ७१	७
राशिवत्सर्वमेव	(मू)	[ ]	१ १	८
मोहादीन्याय तत्त्वेषु	(मू)	[ ]	१ ७४	११
मत्पुत्रो सत्यमर्थ होति	(मू)	[काव्य ७५७]	१ ७५	६
एदेण्णो य छल्मिदो	(टी)	[ ]	२ ७५	१८
पन गुणसंख्याने	(टी)	[पा भा १८ ७३]	१ ७८	१
सोममा ! परमिन्हे पन्नते	(मू)	[मन प १ प ५]	१ ७८	४
सम्मिहे णं मंते मायमयाणं	(टी)	[मन प २ प ५]	१ ७८	८
पुरुषनिन्दाप्रसंगात्	(टी)	[पा ५-२ २४ वार्तिक.]	१ ७८	१२
तनाम-भूमि समयान्	(टी)	[भा मङ्गः ५-२-२४]	१ ७८	१३
इत्थं पवासमिदं	(टी)	[समदि १२]	१ ७८	१७
मेहा नेयानकिमा न	(मू)	[ ]	१ ८१	५
सार्थ विनायोद्गतम्	(मू)	[ ]	१ ८२	६
वासीयेन हि मायतामु	(मू)	[ ]	१ ८४	२
सुबुक्तित्वं मिलेहमि	(मू)	[ ]	१ ८४	१
मायोसप्तो सर्व सहत	(मू)	[ ]	१ ८८	१२
शक्तिमा सर्वसंस्थाप्य	(मू)	[ ]	१ ८६	८
सवेमकिमन् सर्वे वासमु	(मू)	[ ]	१ ९	८
वंजण वत्स तदुत्थं	(टी)	[वसु ११६]	१ ११	१६
को पाउम्मो हुतिकिमक	(मू)	[ ]	१ १२	७
इमाणं मंते	(मू)	[जीवा १ १-७८]	१ १२	६
जातयानुपूर्व द्वितीयादवा	(टी)	[पा ५-३-८१]	११	११
अनुग्रहरोम जीवो	(टी)	[ ]	११ २	९
मग् मानस्तामे	(मू)	[पा भा १४२८]	११ २	२
अर्थमयुक्तिरत्नानां	(टी)	[वाक्य का १-११]	११ २	१
वारिधेन हि भासनाम्	(मू)	[समयुक्त]	११	१
सर्वेऽप्यनभिमत भासा	(मू)	[समयुक्त]	११ ८	१२
महा नेयानकिमा न	(मू)	[ ]	१११	१
पार्थ विनायोद्गतम्	(मू)	[ ]	११११	५
मनिद्वयोतमिमः न	(मू)	[समयुक्त]	११११	६
सुबुक्तित्वं मिलेहमि	(मू)	[ ]	१११२	७
सर्वे विनायतत्त्वे स्त	(मू)	[ ]	१११२	८
वं वं वे वे सवे	(टी)	[आव नि ११६७]	१११४	२
रामिमत्	(मू)	[ ]	१११५	५
वाक्यमवाक्यतायामन्यत्	(मू)	[समयुक्त]	१११४	५

सूरपाय	(मू)	[ ]	१११५	१
युधिष्ठिरे मिमितयु	(टी)	[ ]	१११६	१२
सचा गच्छमपी हौ	(टी)	[ ]	१११७	१९
एमिमर्	(टी)	[ ]	१११७	१८
मीमांसीन्याय तत्त्वेषु	(मू)	[ ]	१११८	५
न चाठे नापि परतः	(टी)	[मामभिक्षमरिम]	१११९	१२
इत्यादि इत्यन्तम्	(टी)	[ ]	११२९	८
मिमाहुमन्मपेक्षामामाम्	(टी)	[मैमे. १ ३-१]	११२९	८
इत्यमिमामता	(मू)	[पा २ २ १८]	११४	१२
कमग पैमी	(मू)	[पा मा ११८७]	११४	१२
यौः कमलानुरकमम्	(टी)	[मामन मं २ ४१]	११५	१६
मिमिमिमामनेमेन् मे	(टी)	[मुमलनमम्]	११५१	१६
मचन्तौमसर्सं मु	(टी)	[मार्क ६]	११५२	१
मम एहमपतिपीति	(टी)	[पा मा ६ १]	११५२	१४
मविमामितिमिमं मति	(टी)	[पा ३-४-६]	११५३	१
मु ह मती.	(टी)	[पा मा ९९९-९७]	११५३	९
मे कि तै मामसंवे	(मू)	[मनु सू ५४-५५]	११५३	१५
तस्माने तदन्यत्न्	(टी)	[ ]	११५८	८
इत्यादि इत्यन्तरमारमेते	(टी)	[ ]	११७५	९
तमेमति तमेमति	(मू)	[हिम १-५]	११६१	९
मच पुरीमह् पामसन्	(मू)	[मुण्डक २-१-१]	११६१	१
इमार्व मेते एमपमना	(मू)	[ ]	११८५	१२
मर्दिमम देवम	(टी)	[सम मं १ ५९]	११८६	६
मिममरवम	(टी)	[सम मं १-३]	११८६	८
वमि मुर्क मापदं	(टी)	[माम ७५९]	११८७	८
मे एपे मामनी मे एम्,	(टी)	[मामा ४ १ ७४]	११९९	८
एपे मामः सर्ममतमाः	(टी)	[ ]	११९९	९

इति प्रथमं परिशिष्टम् ।

द्वितीयं परिशिष्टम्

न्यायागमानुसारिण्याख्यव्याख्यायुते द्वादशारनयचक्रे निर्दिष्टानां ग्रन्थानां ग्रन्थकृद्विशेषनाम्नां च सूची ।

द्वितीयं परिशिष्टम्

न्यायागमानुसारिण्याख्यायुते द्वादशारनयचक्रे निर्दिष्टानां ग्रन्थानां ग्रन्थकृद्विशेषनाम्नां च सूची ।

जैनदर्शनप्रसिद्धशब्दाः

तृतीयं परिशिष्टम्

परदर्शनप्रसिद्धशब्दाः

चतुर्थं परिशिष्टम्

पञ्चमं परिशिष्टम्

षष्ठ परिशिष्टम्

न्यायागमानुसारिणीसमेतनयचक्रनिर्दिष्टग्रन्थग्रन्थकारपरिचयः

… = अज्ञातकर्तृकी छंद वर्तन-सौर्वधर्मोनी भावना आराधक.

…र्हन = अष्टप्रातिहार्य युक्त प्रशममूर्ति पूजन स्मरक, मोक्षाराधक जीवोना उपास्य एवा अर्हन् कहेवाय छे तेमना सम्बन्धी.

…रमेश्वर = जगतना बीजा तमाम पदार्थो उपर प्रभुत्व धारण करनार साकार-अनन्तवाद छे.

…ल = आ सांख्यमतप्रवर्तक पुरातन कालना महर्षि छे.

…णभुज = आ महर्षि कणाद मतानुयायी वैशेषिक छे.

…द = आ महर्षि वैशेषिक मतना प्रवर्तक छे एने उलूक पण कहेवामां आवे छे

…पादः = आ महर्षि न्यायशास्त्रना प्रवर्तक छे एने गौतम पण कहेवामां आवे छे.

…स = पुराणो तथा महाभारत अने ब्रह्मसूत्रना कर्ता मनाय छे.

…दनि = शुद्धोदनना पुत्र सिद्धार्थ एज बुद्धदेव छे अने बौद्धमतनी स्थापना करी.

…री = आ गुरुपरम्परावर्तीन आजीविक सम्प्रदायना मान्यनीय उपदेशक छे आ परिव्राजक न हतो अनर्थकारी … समकालीन मगध ना निवासी हता एमनो विशेष परिचय बौद्ध अने जैन ग्रंथोमां वर्णित छे.

…जलि = पाणिनिव्याकरणसूत्र उपर महाभाष्य नामनी टीकाना कर्ता छे योगसूत्रोना पण कर्ता मनाय छे.

…र्थसंग्रहादि = आ ग्रन्थ अनुपलब्ध अने अद्भुत पण छे तथा नाममां पण शंका छे के अर्थसंग्रह अथवा तत्त्वार्थसंग्रह या तत्त्वार्थसूत्र छे एम निश्चय नथी.

…पुरन्दर = आ सङ्ग्रह बीज सङ्ग्रह तथा कर्ता बेन आ अप्रगट छे.

…त्र = अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्। अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥ पदोना सिद्धान्तने संक्षेपथी बतावनार वचनने सूत्र कहेवामां आवे छे.

…स्वभाष्यवृत्तिकार = भाष्यकार एटले सूत्रो उपर वृत्तिका कर्ता.

…भाष्यकार = सूत्र उपर वृत्तिना विचारथी व्याख्या करनार.

…टीकाकार = सामान्यरूपे मूलनी व्याख्या करनार.

…सार्वीय = आर्हत मतने माननाराओ.

…सुगतीय = बुद्धना मतने माननाराओ

…न्दी = वैशेषिक सूत्रो उपरनी टीका छे.

…प्रमति = वैशेषिक सूत्र उपर टीका करनार विद्वान छे.

…वादिसिद्धसेन = जैन मतना सुप्रसिद्ध प्रभावक अने ग्रन्थोना रचयिता वैयाकरण तार्किक एवा आचार्य सिद्धसेन दिवाकर महाराज छे.

…अभिधर्मकोश अभिधर्म, अभिधर्मपिटक } बुद्धवचन अने उपदेशोना संग्राहक ग्रन्थने पिटक कहेवामां आवे छे. ते त्रण छे विनय-पिटक, सूत्रपिटक अने अभिधर्मपिटक। अभिधर्म एटले सिद्धान्त या आगमनुं पर्यन्त प्रतिपादन करनार वचन.

…प्रकरण = अभिधर्मना व्याख्यानरूप प्रकरणस्थान नो प्रसिद्ध ग्रन्थ छे अने ग्रन्थ भगवान बुद्धे विशेष करीने प्रथम सम्मिलित रच्या छे.

…धर्मभेद = वसुबन्धुये सर्वभेद बतावतो ग्रन्थ छे जेमां अभिधर्मना अवयव भावनी चर्चा करवामां आवी छे.

…सौत्रान्तिक = पदार्थ न तत्त्व रूप छे बीजा पण एक प्रकार छे एम माननार बौद्धविभाग.

…बन्धु = अभिधर्म कोशना कर्ता

…तिक = बुद्धबुद्धना शिष्य दिङ्नागनुं अपर नाम छे.

…न्याय = एनुं बीजुं नाम आ प्रमाणसमुच्चय छे अथवा तेने दिङ्नागनुं एक न्यायग्रन्थ पण कहेवामां आवेलुं छे।

पञ्चमं परिशिष्टम्

नास्तिविनिर्मोक्षस्य विशेषे पुनरिस्वरश्चे—पृ० २१
अस्मदादीनामशोषणे निर्विर्भाव ३६ —
इति सम्यते व्यभिचारे च विशेषपरिक्षेपमात्रा । ८९
पुनाद्यन्तम् (भाष्य)—पृ० १००
द्वि.प्रतिबन्धक प्रयत्नादे—पृ० ६११

पुरात्मविशुद्धत्वम्—पृ० ३८६
भवपर्यन्तमाः ५ ६
पदार्थमात्रत्वम्—पृ० ७३६
धौताश पुनश्चरणम्—पृ० १ १६

धर्मानिकाय = भारतमां कण मार्वाकि बौद्ध निम्नमत, नाम्राजन शिवादन ऐतिहासिक पद, जैमिनि आदि दर्शन वादिओना मतने महान चार ग्रंथोमां आवे छे भगवन्तना प्रथम भरता अन्तमां महावीरप्रभु ना जैमि- मतनुं खण्डन करीने बीजा भरमां निराकरण कर्युं छे

भारतरामायण = व्यासरचित भारत छे अने रामायण वाल्मीकि ऋषिनी कृति छे.

वेद = हिन्दुओना आचारविचार रहनसहन धर्मकर्मने सारी रीते बतावनार ऋषिओ द्वारा अनुभूत अध्यात्मविषयक तत्त्वोनी राशिनो बोध आपनार ग्रन्थ.

मीमांसक = जैमिनि दर्शनने माननार कर्मकाण्डी दार्शनिक.

योगशास्त्र = योगोनी उत्पत्तिना प्रकार विगेरे नो दर्शावनार पूर्वाचार्योनी अपूर्व महान कृति छे.

निरुक्त = वेदमां आवेला कठिन शब्दोनो ज्ञानुक्रमे निरुक्त जेना वडे सहायकी यास्कर छे तेवी व्याख्याने निरुक्त कहेवामां आवे छे। निरुक्त चतुर्दश छे एम दुर्गाचार्ये कह्युं छे. एमां यास्क रचित निरुक्त ज उपलब्ध छे.

वैद्यक = आयुर्वेदना ग्रन्थ छे जेम चरक, सुश्रुत वगेरे.

ब्रह्माद्वैतवाद = निश्चयनयथी आ मत मिथ्या नथी किन्तु एक व्यावहारिक सिद्धान्त छे आ मतनुं मन्तव्य आ छे के आखा ब्रह्माण्ड सम्पूर्ण प्रपंच जेम सूर्य चंद्र आकाश पाताल, भूमि, दिग्दिगन्तरादि पर्वत गंगा-यमुना वगेरे आदि नदीओ अने जे नानी मोटी स्थूल सूक्ष्म वस्तु छे ते बधी मायाब्रह्मनी कल्पना छे आ रहस्यने जाणीने ब्रह्मनी प्राप्ति माटे प्रयत्न करवो जोइए जेम के ब्रह्मद्वारा सिद्धि थाय छे ब्रह्मज्ञाननी प्राप्ति अने निर्वाणनी प्राप्ति थाय छे. आ ब्रह्मनी सिद्धिथी परमात्मानी प्राप्ति थाय छे. जेम जीवनी जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति अने तुरीयावस्थात्मक चार छे तेम निर्वाण अवस्था पण व्यावहारिक जीव छे निर्वाणमां ते नाश करे छे. एवो एक मत छे के समष्टि-व्यष्टि रूपनी परमतत्त्वनुं प्रदर्शन आ महाब्रह्ममतमां करवामां आवे छे. आ मत पण प्राचीन छे. माटे आम मत अत्र अहीं निरूपित होय !

जैनदर्शन = आनी उपर दर्शनकारनो निर्देश होय

भाष्य = अल्पाक्षरार्थमितेषु भाष्य तथा भाषणनुं भाष्य आवश्यु. जेम के व्यावहारिक अने टीकाना पर्यायोनी व्यावहारिक सूक्ष्मान्तरात्मक छे. एम मालूम पडे छे.

षड्दर्शनखण्डन = षड्दर्शन अने विविध प्रतिष्ठित शास्त्रनो खण्डनमतनो ग्रन्थ.

वैशेषिक = कणाद महर्षि ना मतने अनुसरनार.

बौद्ध = बुद्धना उपदेशने माननार.

सांख्य = कपिलमहर्षिना सिद्धान्त प्रकृतिपुरुषतत्त्ववादी

बृहस्पति = देवोमांना गुरु छे. बृहस्पतिना लोकायत उपर व्याख्यान लोकोना प्रचार करनार.

भर्तृहरि = वैयाकरण वाक्यपदीयना कर्ता शब्दब्रह्मवादी छे.

धर्मधर्मी = द्रव्यगुणक्रिया वगेरेनो भेद मानीने पदार्थ समवाय आदि सम्बन्धनी द्रव्यादिनो सम्बन्ध माननार वैशेषिक वगेरे.

वैयाकरण = पाणिनि आदि शब्दप्रमाणवादी

अनेकान्तवाद = आ जेम छे ते बराबर छाप नथी. अनुभवी ज प्रमाणथी सिद्धि थाय छे तेथी वस्तुनी सिद्धि थाय छे एम माननारो जैन वादी छे !

न्यायविद = वादनी उपेक्षा करीने पोतानी युक्तिथी वस्तुनी ज वस्तुतत्त्वनी व्यवस्था करनारो.

स्यादुदयनसिद्धान्तप्रतिपक्षेतरवादि = जैन बौद्ध, सांख्य वैशेषिक वेदान्त आदि वादो.

नयप्रमाणार्थ = नयोना समुदायथी विचार करनार वाद.

जैमिनीयोपनिषदादि = पूर्वोत्तरमीमांसा आदि.

प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार = प्रमाणनो नयोनुं वर्णन करनार सुप्राचीन वाद.

द्वादशारनयचक्र = बार नयोनुं वर्णन करनार प्रस्तुत ग्रन्थ.

सम्मतितर्काद्यादि = आ सिद्धसेनदिवाकर सूरिप्रणीत सम्मतितर्कन्यायावतार आदि ग्रन्थ.

– परिशिष्टमिदं समाप्तम् –